— प्रकाशक —
चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, वाराणसी-१

Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)
1957

— मुद्रक —
विद्याविलास प्रेस,
वाराणसी-१

चतुर्थावृत्ति का भूमिका

श्री विश्वनाथजी की परम कृपा से स्वास्थ्यविज्ञान और सार्वजनिक आरोग्य की यह चतुर्थावृत्ति चिकित्सक समाज और सर्व सामान्य जनता के उपयोग के लिए समुपस्थित करने का परम सौभाग्य आज प्राप्त हो गया है। इस आवृत्ति में तृतीय आवृत्ति का अद्ययावत् संशोधन तथा उसके अपूर्ण विषयों को पूर्ण किया गया है, अनेक विषयों का परिवर्धन एवं अनेक नये विषयों का समावेश किया गया है, आयुर्वेद तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण और उनके तुलनात्मक टिप्पण बढ़ाये गए हैं और विषयसूची अधिक विस्तृत बनाई गई है। इसके अतिरिक्त इस आवृत्ति में सर्वप्रथम अनेक चित्र दिये गये हैं तथा पारिभाषिक हिन्दी शब्दों की कठिनाई दूर करने की दृष्टि से अँग्रेजी-हिन्दी शब्दकोष के बदले हिन्दी-अँग्रेजी शब्दकोष दिया गया है। इससे पुराने स्वास्थ्यविज्ञान की पूर्ण कायापलट और ठोस कलेवर वृद्धि हुई है। हमें पूर्ण विश्वास है कि चिकित्सक समाज, सार्वजनिक आरोग्याधारी तथा जन साधारण इस संशोधित और परिवर्धित आवृत्ति को पहले की अपेक्षा अधिक उपयुक्त पायेंगे।

इस ग्रन्थ के लिखने में अनेक अँग्रेजी तथा संस्कृत ग्रन्थों से सहायता प्राप्त हुई है। अतः उन सब ग्रन्थकारों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इस चतुर्थावृत्ति के प्रकाशन का भार काशी के सुप्रसिद्ध चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय एवं चौखम्बा विद्याभवन के अध्यक्ष श्री जयकृष्णदासजी गुप्त ने अपने ऊपर ले लिया और आत्मीयता के साथ उसको बहुत अच्छी तरह और शीघ्रता से सुसंपन्न किया। इसके लिए हम उनके प्रति भी हार्दिक धन्यवाद प्रकट करते हैं।

ग्रन्थ के मुद्रण में शुद्धता रखने का यावच्छक्य प्रयत्न करने पर भी मुद्रण शीघ्रता से होने के कारण ग्रन्थ में कुछ दोष रह गये हैं। परन्तु जहाँ सारा संसार राक्षसों से संत्रस्त है वहाँ मुद्रण क्षेत्र उनसे मुक्त रहे यह असम्भव है। फिर भी हम यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य राक्षसों के समान ये घातक तथा अनर्थकारी नहीं दिखाई दिये। अतः अन्त में पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे इन मुद्राराक्षसों (Printers devil) से किसी प्रकार न डरें, केवल कुछ सतर्क होकर ग्रन्थ का पठन करें।

रामनवमी
शाके १८७६
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भास्कर गोविन्द घाणेकर
वासुदेव भास्कर घाणेकर

अध्यायानुक्रमणिका

चित्रसूची

|| श्रीः ||

स्वास्थ्य विज्ञान



प्रथम अध्याय

वायु

यो वायुर्वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्।
स प्राणाश्चाप्यवलम्बते । —सुश्रुत

वायु का महत्व—वायु, पानी और अन्न शरीर के तीन स्तम्भ हैं । इनमें वायु सबसे अधिक आवश्यक है, वायु के पश्चात् पानी और पानी के पश्चात् अन्न । इसका कारण यह है कि मनुष्य अन्न के बिना सप्ताहों तक जी सकता है तथा जल के बिना कई दिनों तक रह सकता है, परन्तु वायु के बिना एकाध कला भी जीना कठिन है। इसलिये वायु प्राण कहा जाता है। इस प्राणवायु का सेवन जन्म के क्षण से प्रारम्भ होकर मृत्यु के क्षण तक अनवरत जारी रहता है।

वातावरण (Atmosphere)—इस भूमण्डल के चारों ओर लगभग २००-५०० मील की ऊँचाई तक वायु का मण्डल होता है जिसको वातावरण कहते हैं। वातावरण की हवा अनेक वायु रूप पदार्थों के भौतिक मिश्रण से बनी है। यह हवा रंग, रूप, स्वाद से विरहित है। जब वह बहती है तब स्पर्शेन्द्रिय से हम उसका अनुभव कर सकते हैं। जब वह स्थिर होती है तब उसका स्पर्श भी हमें अनुभूत नहीं होता। यद्यपि हवा हलकी मालूम होती है तथापि उसका भी वजन होता है। एक प्रस्थ (Litre) हवा का वजन लगभग १·२ धान्य (Gram) होता है। दबाव से हवा बाइल के नियमानुसार (Boyles law) दबती है और उष्णता से चार्लस (Charles) के नियमानुसार फैलती है।

वातावरण का संघटन—यद्यपि हवा अनेक वायु रूप पदार्थों का भौतिक मिश्रण है तथापि प्रसरण, प्रवात और प्राणियों तथा वनस्पतियों के आदान प्रदान के कारण उसका संघटन सर्वत्र एकसा रहता है। व्यवहार के लिए उसके विविध संघटकों के स्थिर (Regular) और अस्थिर (Accidental) करके दो विभाग किये जाते हैं। स्थिर विभाग में जारक या प्राणवायु (Oxygen) भूयाति (Nitrogen) और प्रांगार द्विजारेय (Carbon dioxide) और अस्थिर विभाग में पानी की भाप, धूलि, तिक्ताति (Ammonia), प्रजारक (Ozone) सेन्द्रिय और खनिज द्रव्यों के कण इत्यादि समाविष्ट होते हैं।

प्राणवायु	२०.९६%
भूयाति	७९
प्रांगारिक अम्ल	.३—.४
तिक्ताति	लेशमात्र
जलवाष्प	तापमानानुसार बदल ने वाली
सन्द्रिय और खनिज द्रव्य	बदलने वाले

भूयाति—वातावरण का ४/५ भाग (७९%) इस वायु से बना है। विपुलता के कारण यह वायु भूयाति कहलाता है। मनुष्यों की तथा अन्य प्राणियों की दृष्टि से यह वायु अनुपयोगी है। न यह ज्वलन में सहायता करता है न जीवन के लिए उपयुक्त है। इसलिये इसको अजीवाति (Azote) कहते हैं। वातावरण के जारक वायु की जारण शक्ति को घटाना इसका एक कार्य है। इसका मुख्य कार्य निम्न प्रकार से वनस्पतियों का पोषण करने का है। (१) कई वनस्पतियाँ भूमिगत भूयनकर (Nitrifying) तृणाणुओं द्वारा अपनी जड़ों की सहायता से वातावरण के भूयाति को ग्रहण कर लेती हैं। (२) वर्षा ऋतु में विद्युल्लता से भूयाति का कुछ भाग भूयिक (Nitric) अम्ल में परिवर्तित होकर पानी के साथ पृथ्वी पर गिरता है और वनस्पतियों का पोषण करता है। संक्षेप में वनस्पतियों की खाद का मुख्य संघटक भूयाति होता है। भूयाति स्वाद रंग तथा गंध से विरहित है। भूयाति के साथ १% के प्रमाण में दूसरा एक वायु मिला है जो उसी के समान ज्वलन और जीवन के लिये अनुपयोगी है। इसको मन्दाति (Argon) कहते हैं। यह वायु भूयाति से भी अधिक मन्द और निष्क्रिय होने के कारण इसका उपयोग बिजली के लट्टू (Bulb) भरने के लिये किया जाता है।

प्राणवायु—यह वायु संपूर्ण हवा का १/५ भाग (२०.९%) है। प्राण धारण के लिए केवल इसी की आवश्यकता होती है। वातावरण के अन्य वायुरूप पदार्थ इस

दृष्टि से व्यर्थ होते हैं। इसलिए इसको प्राणवायु[1] कहते हैं। यह वायु भी रंग, स्वाद तथा गंध से विरहित है। जैसे जीवन के लिए यह नितान्त आवश्यक है वैसे ही जलन के लिए भी, क्योंकि ये दोनों कर्म वास्तव मे एक ही है, एक शरीर के भीतर होता है और दूसरा शरीर के वाहर होता है। जलाने के गुण के कारण इसको 'जारक' भी कहते है। जीवन और ज्वलन के लिए इसकी जितनी मात्रा आवश्यक होती है उससे वहुत अधिक मात्रा वातावरण में रक्खी गयी है। इस लिए मकानों में, इसकी कमी के दुष्परिणाम स्वास्थ्य पर नहीं हो सकते हैं। अनुभव से यह अनुमान किया गया है कि स्वास्थ्य पर दुष्परिणाम होने के लिए जारक की मात्रा २२-१५% तक कम होनी चाहिए। जव इसकी मात्रा ७% से कम होती है तव मनुष्य वेहोश होने लगता है।

प्रजारक (Ozone)—यह वायु जारक का ही अपरावर्तिक (Allotropic) योग है और इसका व्यूहाणु (Molecule) ३ परमाणुओं का (O_3) अर्थात् जारक से १ अधिक परमाणु का वना है। इसका रंग किंचित् नीलाभ है और अपनी विशेष प्रकार की गंध से यह पहचाना जाता है। कृत्रिम रीत्या विद्युत्-प्रवाह द्वारा यह वनाया जाता है। प्रकृति में यह वायु आकाश में वज्रापात से तथा जहाँ वडे पैमाने पर पानी की भाप होती है वहाँ पैदा होता है। इसलिए पर्वतीय स्थानों, समुद्र के पृष्ठ भागों और किनारों पर वहुतायत से पाया जाता है। वायुमण्डल में इसकी राशि वहुत कम (संभवतः १००० भाग में १ भाग) होती है। यह वायु वहुत जारणकर्ता (Oxidizing agent) है, इसलिए जव सेंद्रिय पदार्थों के साथ इसका संवंध आता है तव तुरन्त उनको जारित कर डालता है। शहरों तथा घनी वस्तियों में, जहाँ हवा में सेंद्रिय पदार्थ वहुतायत से पाये जाते हैं वहाँ यह वायु नही पाया जाता। पानी की शुद्धि करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है क्योंकि यह जीवाणुनाशक भी है। आगे पानी की शुद्धि देखिए।

प्रां० द्विजारेय (CO_2)—इसको प्रागारिक अम्ल वायु (Carbonic acid gas) भी कहते हैं। यह निर्गंध, रंग-रहित तथा खट्टे स्वादवाला है। हवा के सब घटकों की अपेक्षा यह वजनदार है। इसलिए यह कभी-कभी गहरे परन्तु

---

१. नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कंठाद्वहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्॥ शार्ङ्गधर॥

वातावरण का संघटन—यद्यपि हवा अनेक वायु रूप पदार्थों का भौतिक मिश्रण है तथापि प्रसरण, प्रवात और प्राणियों तथा वनस्पतियों के आदान प्रदान के कारण उसका संघटन सर्वत्र एकसा रहता है। व्यवहार के लिए उसके विविध संघटकों के स्थिर (Regular) और अस्थिर (Accidental) करके दो विभाग किये जाते हैं। स्थिर विभाग में जारक या प्राणवायु (Oxygen) भूयाति (Nitrogen) और प्रांगार द्विजारेय (Carbon dioxide) और अस्थिर विभाग में पानी की भाप, धूलि, तिक्ताति (Ammonia), प्रजारक (Ozone) सेन्द्रिय और खनिज द्रव्यों के कण इत्यादि समाविष्ट होते हैं।

प्राणवायु	२०.९६%
भूयाति	७९
प्रांगारिक अम्ल	.३—.४
तिक्ताति	लेशमात्र
जलवाष्प	तापमानानुसार वदल ने वाली
सन्द्रिय और खनिज द्रव्य	वदलने वाले

भूयाति—वातावरण का ⅘ भाग (७९%) इस वायु से वना है। विपुलता के कारण यह वायु भूयाति कहलाता है। मनुष्यों की तथा अन्य प्राणियों की दृष्टि से यह वायु अनुपयोगी है। न यह ज्वलन में सहायता करता है न जीवन के लिए उपयुक्त है। इसलिये इसको अजीवाति (Azote) कहते हैं। वातावरण के जारक वायु की जारण शक्ति को घटाना इसका एक कार्य है। इसका मुख्य कार्य निम्न प्रकार से वनस्पतियों का पोषण करने का है। (१) कई वनस्पतियाँ भूमिगत भूयनकर (Nitrifying) तृणाणुओं द्वारा अपनी जड़ों की सहायता से वातावरण के भूयाति को ग्रहण कर लेती हैं। (२) वर्षा ऋतु में विद्युल्लता से भूयाति का कुछ भाग भूयिक (Nitric) अम्ल में परिवर्तित होकर पानी के साथ पृथ्वी पर गिरता है और वनस्पतियों का पोषण करता है। संक्षेप में वनस्पतियों की खाद का मुख्य संघटक भूयाति होता है। भूयाति स्वाद रंग तथा गंध से विरहित है। भूयाति के साथ १% के प्रमाण में दूसरा एक वायु मिला है जो उसी के समान ज्वलन और जीवन के लिये अनुपयोगी है। इसको मन्दाति (Argon) कहते हैं। यह वायु भूयाति से भी अधिक मन्द और निष्क्रिय होने के कारण इसका उपयोग विजली के लट्टू (Bulb) भरने के लिये किया जाता है।

प्राणवायु—यह वायु संपूर्ण हवा का ⅕ भाग (२०.९%) है। प्राण धारण के लिए केवल इसी की आवश्यकता होती है। वातावरण के अन्य वायुरूप पदार्थ इस

दृष्टि से व्यर्थ होते हैं। इसलिए इसको प्राणवायु[1] कहते हैं। यह वायु भी रंग, स्वाद तथा गंध से विरहित है। जैसे जीवन के लिए यह नितान्त आवश्यक है वैसे ही जलन के लिए भी, क्योंकि ये दोनों कर्म वास्तव में एक ही है, एक शरीर के भीतर होता है और दूसरा शरीर के बाहर होता है। जलाने के गुण के कारण इसको 'जारक' भी कहते हैं। जीवन और ज्वलन के लिए इसकी जितनी मात्रा आवश्यक होती है उससे बहुत अधिक मात्रा वातावरण में रक्खी गयी है। इस लिए मकानों मे, इसकी कमी के दुष्परिणाम स्वास्थ्य पर नही हो सकते है। अनुभव से यह अनुमान किया गया है कि स्वास्थ्य पर दुष्परिणाम होने के लिए जारक की मात्रा २२-१५% तक कम होनी चाहिए। जब इसकी मात्रा ७% से कम होती है तब मनुष्य बेहोश होने लगता है।

प्रजारक (Ozone)—यह वायु जारक का ही अपरावर्तिक (Allotropic) योग है और इसका व्यूहाणु (Molecule) ३ परमाणुओं का (O_3) अर्थात् जारक से १ अधिक परमाणु का बना है। इसका रंग किंचित् नीलाभ है और अपनी विशेष प्रकार की गंध से यह पहचाना जाता है। कृत्रिम रीत्या विद्युत्-प्रवाह द्वारा यह बनाया जाता है। प्रकृति में यह वायु आकाश मे वज्रापात से तथा जहाँ बडे पैमाने पर पानी की भाप होती है वहाँ पैदा होता है। इसलिए पर्वतीय स्थानों, समुद्र के पृष्ठ भागों और किनारों पर बहुतायत से पाया जाता है। वायुमण्डल में इसकी राशि बहुत कम (संभवतः १००० भाग में १ भाग) होती है। यह वायु बहुत जारणकर्ता (Oxidizing agent) है, इसलिए जब सेंद्रिय पदार्थों के साथ इसका संबंध आता है तब तुरन्त उनको जारित कर डालता है। शहरों तथा घनी बस्तियों में, जहाँ हवा में सेंद्रिय पदार्थ बहुतायत से पाये जाते हैं वहाँ यह वायु नही पाया जाता। पानी की शुद्धि करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है क्योंकि यह जीवाणुनाशक भी है। आगे पानी की शुद्धि देखिए।

प्रां० द्विजारेय (CO_2)—इसको प्रागारिक अम्ल वायु (Carbonic acid gas) भी कहते हैं। यह निर्गंध, रंग-रहित तथा खट्टे स्वादवाला है। हवा के सब घटकों की अपेक्षा यह वजनदार है। इसलिए यह कभी-कभी गहरे परन्तु

---

१. नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्॥ शार्ङ्गधर॥

जल-शून्य कुओं की तली में इकट्ठा होता है। भूपृष्ठ से ८–१० फूट तक इसकी राशि अधिक होती है क्योंकि यह जमीन से बाहर आता है। यह वायु न ज्वलनशील है, न ज्वलन और जीवन का पोषक है; इसलिए इसमें रक्खा हुआ चिराग बुझ जाता है और मनुष्य भी इसमें नहीं बचता। हवा के १० हजार भाग में यह वायु ३–४ भाग होता है। श्वास-प्रश्वास कर्म, ज्वलन तथा सड़ी वस्तुओं से इसकी मात्रा बढती जाती है तथा वनस्पतियों द्वारा और बहुत पानी की उपस्थिति से घटती जाती है। इसलिए ग्रामों की अपेक्षा शहरों में यह वायु अधिक होता है। फिर भी ·५% से अधिक प्रायः नहीं होता और उससे स्वास्थ्य को हानि नहीं पहुँच सकती। इसलिए इसकी राशि केवल हवा की अशुद्धता की सूचक मानी जाती है। मनुष्यों और प्राणियों के स्वास्थ्य की दृष्टि से यद्यपि यह वायु इतना खतरनाक है, तथापि इस वायु से ही वनस्पतियाँ पुष्ट होती रहती हैं। सूर्य के प्रकाश में वनस्पतियाँ अपने पत्तों में उपस्थित रहनेवाले पर्णशाद (Chlorophyll) की सहायता से प्रां० द्वि० को चूस लिया करती है और फिर उसको विघटित कर प्रांगार को अपने शरीरस्थ धातु बनाने के काम में लाती है और जारक को मुक्त कर बाहर निकाल देती है।

यह क्रिया सूर्य के प्रकाश में ही हुआ करती है। रात में इसकी विपरीत क्रिया होती है अर्थात् वनस्पतियाँ जारक को चूसती हैं और प्रां० द्वि० को छोड़ती है। रात के समय वृक्षों के समीप न सोने[1] का यह मुख्य वैज्ञानिक कारण है।

जलवाष्प—हवा का यह अस्थिर संघटक है। सूर्य का ताप पानी को भाप के रूप में खींचा करता है। आप जो थोड़ा-बहुत पानी अपने यहाँ के बरतन में रख देते हैं वह धीरे-धीरे उड़ जाता है। जलवाष्प का मुख्य निकास समुद्र है। शास्त्रज्ञों की यह राय है कि सूर्य के ताप से प्रति मिनट समुद्र के एक वर्ग मील पृष्ट भाग से ३५०० सेर पानी की भाप बनती है। भाप की राशि वातावरण के ताप पर, आस-पास के पानी की राशि पर और कमरे के भीतर मनुष्यों की संख्या पर निर्भर होती है। परन्तु मुख्यतया हवा की सर्दी या गर्मी पर यह राशि आश्रित रहती है। जैसे, शीत प्रदेश की अपेक्षा उष्ण-प्रदेश में, भूपृष्ठ भाग की अपेक्षा समुद्र पृष्ट भागपर, शिशिर ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में और प्रातः तथा सायंकाल की अपेक्षा मध्याह्न में जलवाष्प की राशि अधिक होती है। निश्चित ताप (Temperature) पर हवा में जलवाष्प की राशि भी निश्चित रहती है। जब यह राशि पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है तब हवा को जल-

---

१. नक्तं सेवेत न द्रुमन्। —अष्टांगहृदय।

वाष्प संपूरित (Saturated) कहते हैं। जब यह जलवाष्प की राशि न्यून या अधिक हो जाती है तब हवा खुश्क या तर मालूम होने लगती है। रहने के कमरों में भाप की मर्यादा ७५% से अधिक न होनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के शरीर से २४ घटे में १-२ सेर के करीब पानी की भाप निकलती है जिसमें २५ तोले के करीब फुफ्फुसों से और ५०-७५ तोले के करीब त्वचा से निकलती है। यदि हवा मे पानी की भाप का भाग न होता तो सूर्य की गरमी से हमारे शरीर झुलस जाते और वनस्पतियाँ जलकर भस्म हो जाती। जब जलबाष्पपूर्ण हवा ठंडी होने लगती है तब भाप छोटी-छोटी बूँदों के रूप में जमा होती है और उसे कुहरा या ओस (Dew) कहते है।

धूलि—धूलि में सेंद्रिय तथा निरिंद्रिय पदार्थों के सूक्ष्मांश पाये जाते हैं। हवा में धूलि के जो निरिंद्रिय अंश पाये जाते हैं वे प्रायः बालू, चूना, कोयला इत्यादि के होते हैं। जो अंश घरों मे पाये जाते है वे घरेलू व्यवहार की चीजों के फूटने से अथवा धूम्ररज, राख के अंश से बनते हैं। यदि आस-पास कोयले की खानें, धूएँ के यन्त्र (एंजिन) रूई, ऊन तथा रेशम बनानेवाले कारखाने, अयस्, तांबा इत्यादि के तथा रासायनिक पदार्थों को बनाने के कारखाने हों तो उनके खनिज तथा अन्य पदार्थों के सूक्ष्मांश भी हवा में पाये जाते हैं। सेंद्रिय पदार्थों मे चरबी, त्वचा, बाल, पीप, थूक, इत्यादि के तथा मसूरिका, रोमांतिका इत्यादि विस्फोटक रोगों से पीडित रोगियों के दानों के सूक्ष्मांश पाये जाते हैं। धूलि हवा का एक आवश्यक संघटक है। धूलि के बिना ओस, बादल या बरसात नहीं हो सकती। हवा में जो पानी की भाप होती है वह धूलि के कणों को केन्द्र बनाकर उनके ऊपर जम जाती है। हवा में धूलि न होने से भाप प्राणियों के शरीरों, वनस्पतियों तथा घरों पर जम जायगी।

तृणाणु (Bacteria)—हवा में तृणाणु और उनके चुल्लक (Spore) भी पाये जाते हैं। सामान्यतः ये जमीन में रहते हैं और जब आँधी या हवा जोर से चलने लगती है तो गर्द के साथ हवा में उडने लगते हैं। इनमें जो रोगजनक जीवाणु होते है वे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास या व्रण द्वारा प्रवेश करके अनुकूल अवस्था प्राप्त होने पर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। वैसे ही खुले खाद्य द्रव्यों को दूषित करके मनुष्यों में रोग उत्पन्न कर सकते है। उच्च पर्वतों पर, समुद्र पर और जंगलों में तृणाणुओं की सख्या नगण्य सी रहती है। परन्तु बड़े-बड़े नगरों और घनी बस्तियों के वातावरण में ये अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

धूम्र—धुएँ में कोयले के कण, उदांगार (Hydrocarbons), कुछ विषैले वायु और खनिज अम्ल इत्यादि द्रव्य होते हैं। इनके अतिरिक्त धुएँ में जो अलकतरा होता है उससे वह जिस पर बैठता है उसको पकड़ता है और उसका नाश करता है। पत्थर के कोयले में गन्धक भी होता है और उससे बननेवाले द्रव्य (Sulphuric acid, Carbon bisulphide, Ammonium Sulphide इत्यादि) वातावरण को खराब करते हैं।

धुएँ से जैसे वस्तुओं को वैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है। धुएँ से श्वसनसंस्थान में विकृति होकर राजयक्ष्मादि रोग उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त धूमित वातावरण में शुद्ध हवा ठीक तौर पर आ नहीं सकती, प्रकाश कम होता है और नील लोहितातीत (Ultraviolet) किरणें घट जाती हैं।

(१) श्वास-प्रश्वास—इससे हवा में निम्न परिवर्तन हुआ करते हैं—

वातावरण अशुद्ध होने के कारण—विशुद्ध हवा मनुष्यों-प्राणियों की घनी वस्ती से दूर पहाड़ों, जंगलों और समुद्रों पर मिलती है। मनुष्यों की वस्ती के आसपास उसकी खराबी निम्न कारणों से हुआ करती है—

संघटक	श्वसित हवा	निश्वसित हवा
प्राणवायु	२०·९६%	१६·४०%
भूयाति (Nitrogen)	७९·००"	७९·१९"
प्रां० द्विजारेय (CO_2)	०·०३-०·०४	४·४१

इससे यह स्पष्ट है कि जो हवा प्रश्वास द्वारा बाहर आती है उसमें जारक की मात्रा घटती है, और प्रां० द्विजारेय की मात्रा सौ गुना अधिक हो जाती है। एक मनुष्य प्रति मिनिट १७ बार श्वास-प्रश्वास की क्रिया करता है और हरवक्त लगभग २५ घन इञ्च हवा को भीतर लेकर उतनी ही बाहर छोड़ता है। निश्वसित हवा में ४% प्रां० द्वि० रहने से २५ घनइञ्च में १ घनइञ्च उसकी मात्रा रहेगी। इस हिसाब से एक घंटे में १ मनुष्य १०२० घनइञ्च (१×१७×६०) या $\frac{१०२०}{१७२८}$ घनफुट (·६) प्रां० द्वि० बाहर छोड़ता है। यह राशि परिश्रम, वय तथा लिंग के अनुसार बदलती रहती है। कठिन परिश्रम के समय यह राशि बढ़कर २ घनफुट तक हो जाती है। स्त्रियों तथा बच्चों में ·६ घनफुट से कुछ कम होती है। तथापि जहाँ स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी रहते हैं वहाँ इसकी औसत मात्रा ·६ घनफुट के हिसाब से गिननी चाहिए। इस वायु के अतिरिक्त निश्वसित हवा में जलवाष्प और मैला भी रहता है। किसी शीशे पर श्वास छोड़ने से

जल-बाष्प का पता लग जाता है। निश्वसित हवा में जल वाष्प ५% हुआ करती है। फेफड़ों से २४ घंटे में २५ तोले पानी की भाप निकलती है।)

निश्वसित हवा में जो मैला निकलता है वह प्रत्येक मनुष्य के स्वास्थ्य के अनुसार बदलता रहता है। उसमें मनुष्य के मुख तथा फेफड़ों से निकले हुए उड़नशील (Volatile) सेंद्रिय पदार्थ, स्निग्ध अम्ल (Fatty acids) तथा मुख और फेफड़ों की झिल्ली के सूक्ष्मांश रहते हैं। ये सब पदार्थ दुर्गन्धित, और जीवाणुओं के लिये अच्छे पुष्टिकारक होते हैं। दूध, मांस तथा अन्य खाद्य पदार्थ इनके संपर्क से दूषित हो जाते हैं।

साधारणतया स्वस्थ मनुष्य की निश्वसित हवा में जीवाणु नहीं पाये जाते। परन्तु यदि मनुष्य इंफ्लुएंजा, खाँसी, राजयक्ष्मा इत्यादि श्वसन संस्थान तथा गले के रोगों से पीड़ित हो तो उसके खाँसने और छींकने के समय ये रोगोत्पादक जीवाणु बाहर निकलते हैं और अन्य मनुष्यों के मुख, नाक तथा गले की झिल्ली पर बैठकर अनुकूल परिस्थिति मिलते ही रोग उत्पन्न करते हैं। यदि अनुकूल परिस्थिति प्राप्त न हो तो वैसे ही निकल जाते हैं या मर जाते हैं। निश्वासित हवा का ताप (Temperature) शरीर की उष्णता के बराबर हो जाता है।

संक्षेप में निश्वसित हवा में जारक की मात्रा ४-५ % तक घट जाती है और करीब-करीब उतनी ही प्रां० द्विजारेय की मात्रा बढ़ती है। इन रासायनिक परिवर्तनों के अतिरिक्त ताप और भाप की वृद्धि ये दो भौतिक परिवर्तन भी होते हैं।

(२) ज्वलन—ज्वलन के लिये लकड़ी, कोयला, अनेक तरह के तेल, मोमबत्ती, अंगार वात (कोल गैस) तथा बिजली का प्रयोग किया जाता है। बिजली को छोड़कर हर एक प्रकार की ज्वलन क्रिया में एक ही रासायनिक क्रिया हुआ करती है। जारक के बिना कोई भी चीज नहीं जल सकती। यदि किसी जलते दिये को बंद पात्र में रख दिया जावे तो वह एक-दो मिनिट में बुझ जाता है। इसका कारण यह है कि पात्रस्थित प्राणवायु नष्ट होकर उसके स्थान पर प्रां० द्वि० बन जाता है। श्वास-प्रश्वास की अपेक्षा ज्वलन के लिये अधिक जारक की आवश्यकता होती है। यदि हवा में १०% प्राणवायु हो तो प्राणी सजीव रह सकता है, परंतु यदि प्राणवायु १६·५% से कम हो तो मोमबत्ती नहीं जल सकती। प्रां० द्वि० के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ के ज्वलन में और भी कई प्रकार के वायुरूप पदार्थ पैदा होते हैं। लकड़ी जलाने से प्रां० द्वि०, पानी की भाप और गंधक के दूसरे वायु रूप पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अंगार (कोयला)

जलाने से कज्जली, प्रांगार द्विजारेय, प्रां० एकजारेय (CO), शुल्वार्य (Sulphurous) और शुल्वारिक (Sulphuric) जारेय (Oxides) तथा पानी की भाप उत्पन्न होती है। अंगारवात (Coal gas) जलाने से भूयाति, प्रां० एक और द्विजारेय, तिक्ताति (Ammonia) और शुल्वार्य जारेय उत्पन्न होते हैं। तेल और मोमबत्ती जलाने से कज्जली, प्रां० द्वि० और पानी की भाप उत्पन्न होते हैं। जब हवा में जारक की मात्रा पर्याप्त नहीं होती है तब प्रां० एक जारेय (CO) उत्पन्न होता है। यह वात अत्यन्त विषैला है। शीत देशों में अंगेठी जला करके और दरवाजे खिड़कियाँ बंद करके सोने पर लोगों की मृत्यु इस वात के कारण हुआ करती है, क्योंकि दरवाजे खिड़कियाँ बंद करने से कमरे के भीतर जारक की कमी हो जाती है।

एक तिमिसिक्थवर्ति (Sperm candle यह सिक्थवर्ति तिमिंगिल (Whale) नामक बड़ी मछली की स्पर्म नामक चरबी से बनती है), जो १ घंटे में ६० रत्ती जलती है, जितना प्रकाश देती है उतने प्रकाश को एक बत्ती का प्रकाश (One candle power) मानते हैं। बत्ती जलाने के लिये सरसों, तिल्ली, एरण्डी, मिट्टी तथा अन्य अनेक प्रकार के तेल, मोम इत्यादि कामों में लाये जाते हैं। आज कल मिट्टी का तेल बहुत सस्ता और अधिक प्रकाशदायक होने के कारण उपयोग में अधिक आने लगा है। इन तेलों के अतिरिक्त बड़े-बड़े शहरों में बिजली और अंगार वात का भी उपयोग प्रकाश के लिये किया जाता है। इन बत्तियों के जलाने से मनुष्यों के श्वास-प्रश्वास के समान मकानों के भीतर की हवा खराब होती है। अतः मुख्य मुख्य बत्तियों के लिये १ घंटे में कितना प्राणवायु खर्च होता है, उनसे कितना प्रां० द्विजारेय उत्पन्न होता है और वे कितने मनुष्यों के बराबर हवा की खराबी करती हैं इसकी सारणी नीचे दी जाती है—

बत्ती	जारक व्यय	प्रां० द्वि० उत्पत्ति	मनुष्य
मोमबत्ती	१०.७ घनफुट	७.३ घनफुट	१२
मिट्टी का तेल	५.९	४.१ ,,	७
अंगार वात	६.५	२.८ ,,	४
अंगार वात उज्ज्वल	४.९	१.८	३
बिजली	०.०	०.०	०

इस सारणी से यह स्पष्ट होता है कि स्वास्थ्य की दृष्टि से बिजली की बत्ती सबसे अच्छी है, क्योंकि न तो उससे जारक घटता है, न प्रां० द्विजारेय बढ़ता है

जिससे हवा दूषित हो जाय। इसके अतिरिक्त अन्य बत्तियों की तुलना में उससे कमरे की उष्णता भी कम बढ़ती है। बिजली की बत्ती के पश्चात् उज्ज्वल (Incandescent) अंगार वात की बत्ती आती है क्योंकि उससे अन्य बत्तियों की अपेक्षा जारक व्यय कम होता है और प्रां० द्वि० की उत्पत्ति भी कम होती है। एक दोष यह है कि उससे कमरे की उष्णता बहुत बढ़ती है। संक्षेप में जलन कर्म से श्वास-प्रश्वास के समान हवा मे परिवर्तन हुआ करते है। फर्क इतना ही है कि ज्वलन शरीर के बाहर होता है और श्वसनकर्म भीतर होता है।

(३) सेन्द्रिय पदार्थों का विघटन—प्राणियों तथा वनस्पतियों के मरने से उनके शरीर सड़ने लगते हैं। यह कार्य भूमिगत पूत्युपजीवी जीवाणुओं द्वारा हुआ करता है। इस विघटन के कार्य में अनेक विषैले वायु (यथा, H_2S, NH_3, CS_2, इत्यादि) उत्पन्न होकर आस-पास के वातावरण को खराब कर देते हैं। मृत शरीरों के अतिरिक्त परनालों, मोरियों, अस्तबलों, गोशालाओं, पाखानों, पेशाबखानों में मलमूत्रादि सेन्द्रिय पदार्थों के विघटन से अनेक दूषित वायु उत्पन्न होते हैं। इनमें उदजन शुल्बेय (H_2S) इतना विषैला होता है कि ७००० भाग में एक भाग होने पर भी सजीव व्यक्तियों के लिए भयावह होता है।

(४) धूलि—इसका विवरण पीछे ५ पृष्ठ पर हो चुका है।

(५) जीवाणु—(Micro-organisms) वनस्पति श्रेणी के जीवाणुओं को तृणाणु (Bacterie) और प्राणिश्रेणी के जीवाणुओं को कीटाणु (Protozoa (कहते है। इनमें जो सजीव प्राणियों पर जीवन व्यतीत करते हैं वे परोपजीवी (Parasita), और जो सडी गली चीजों पर जीवन व्यतीत करते हैं वे पूत्युपजीवी (Saprophyte) कहलाते है। इनमें बहुत थोड़े जीवाणु रोगोत्पादक हैं। इनका मुख्य स्थान भूमि है। खादवाली जमीन तथा बगीचे की जमीन में ये अधिक पाये जाते हैं क्योंकि वहाँ उनके पोषण के लिए सब प्रकार से परिस्थिति अनुकूल रहती है। विशेष करके ये जमीन के ऊपरी भाग में ज्यादा होते हैं। जब आँधी या हवा जोर से चलने लगती है तो वे धूलि के साथ हवा में चले जाते हैं।

(६) स्थानिक तथा आकस्मिक कारण—चमार, कसाई, रंगरेज इत्यादि खराब रोजगार करनेवाले लोग अपने रोजगारों से हवा खराब कर डालते हैं। रासायनिक, धातुओं के तथा ऊन, रेशम, रूई इत्यादि के कारखानों

से भी हवा खराब हो जाती है। मुर्दा जलाने तथा दफ़न करने से भी हवा खराब हो जाती है।

प्रकृति में वातावरण की शुद्धि—उपर्युक्त कारणों से वातावरण की शुद्ध हवा यद्यपि निरन्तर खराब होती रहती है तथापि उसको शुद्ध करने के लिये प्रकृति में निम्न साधन उपस्थित रहते हैं, जो उसको फिर से विशुद्ध किया करते हैं।

(१) वनस्पतियाँ—प्राणियों के श्वास-प्रश्वास द्वारा प्राणवायु की राशि घटती है और प्रां० द्वि० की राशि बढ़ती रहती है। परन्तु वनस्पतियाँ प्रां० द्वि० से विपरीत क्रिया करती हैं। वे (पृष्ठ ५) प्रां० द्वि० को चूसती हैं और प्राणवायु को छोड़ती हैं। इन विरुद्ध क्रियाओं से वायुमण्डल गत प्राणवायु और प्रां० द्वि० की मात्रा में कोई फर्क नहीं होता। इस विषय में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वातावरण में प्राणवायु की राशि इतनी अधिक है कि इस प्रकार का प्रवन्ध न होने पर भी हजारों वर्षों तक उसकी राशि में परिणामकारी फर्क नहीं हो सकता।

(२) वर्षा—जब वर्षा-जल धारा रूप में पृथ्वी पर गिरता है तो गिरते समय कई वायु रूप पदार्थ, धूलि तथा अन्य अवलंबनस्थ पदार्थ अपने साथ लेकर गिरता है। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में, हवा इन अवलंबनस्थ पदार्थों से परिपूर्ण रहने के कारण उस समय के वर्षा जलपान का निषेध[1] किया गया है।

(३) हवा की गति—प्रकृति हवा में गति पैदा कर देती है जिससे खराब हवा झपाटे के साथ हमसे दूर हो जाती है और ताजी हवा के दूषित हवा के साथ मिलने से दोष की तीव्रता कम हो जाती है। वायु की गति उसके विभिन्न संघटकों की विभिन्न घनता तथा वातावरण के विभिन्न भागों के भिन्न ताप के कारण होती है।

प्रत्येक वायु की घनता (Density) अलग-अलग होती है और उसकी प्रसरण (Diffusion) शक्ति उसके घनता के वर्ग मूल के उलटे अनुपात से होती है। इससे यह सिद्ध है कि जितना वायु वजनदार होगा उतनी उसकी गति कम होगी

---

१. अनार्तवञ्च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत्।
लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् ॥ अष्टाङ्गहृदय
बलाहकाद्याः समदाः कीटा लूताश्च खेचराः।
तद्विषोत्सर्गसंसर्गादग्राह्यं तत्तदा जलम् ॥

और जितना हलका होगा उतनी उसकी गति ज्यादा होगी। घनता भिन्नता के अनुसार कमरे की हवा दरवाजों और खिड़कियों के छिद्रों से, ईंटों के बीच में से, छत के फूस से, तथा कच्ची दीवालों में से निकल कर बाहर चली जाती है और बाहर की हवा भीतर आती है। वायु की इस गति पर विशेष भरोसा न रखना चाहिए क्योंकि यह अवलंबनस्थ सूक्ष्म पदार्थों को बाहर नहीं ले जा सकती तथा इस गति से हवा में विशेष हलचल नहीं होती। गरमी से वायु विरल होकर हलकी हो जाती है और सर्दी से घन होकर भारी हो जाती है। इस भौतिक नियम के अनुसार श्वासोच्छ्वास तथा ज्वलन क्रिया द्वारा मकान के भीतर की हवा बाहर की हवा की अपेक्षा अधिक हलकी होकर कमरों के छिद्रों द्वारा बाहर निकल जाती है और बाहर की ठंढी हवा मकान के अन्दर आ जाती है। इसमें वायु में सदा गति रहती है। तथापि गरम मुल्कों में तथा गरमी के मौसिम में बाहर की और भीतर की हवा में कोई विशेष भेद नही होता। इसलिए इस पर भी विशेष विश्वास नहीं किया जाता।

वायुमण्डल का एक भाग सूर्य की गरमी से गरम होता है और उसके न होने से दूसरा भाग ठंढा रहता है। इन ठढे और उष्ण भागों में हमेशा अदला-बदली हुआ करती है और इसी से वायुमण्डल में प्रवात (Winds) पैदा होते हैं। वायुमण्डल का संघटन एकसा रखने का सबसे बडा यही साधन है।

(४) प्रजारक—हवा के जारक और प्रजारक उसको शुद्ध रखने में सहायभूत होते हैं। प्रजारक मे जारक से जारण करने का गुण (Oxidizing) ज्यादा है, और जब यह किसी सेंद्रिय पदार्थ से मिलता है तो उसे विघटित करके उसका जहरीलापन दूर करता है। इस कारण से प्रजारक शहरों के वायुमण्डल में, जहाँ सेन्द्रिय पदार्थ बहुत हुआ करते हैं, नहीं पाया जाता।

(५) सूर्य की किरणें—इनका महत्व रोगोत्पादक जीवाणुओं की दृष्टि से है। सूर्य की औष्ण्य और नीललोहितातीत (Heat and ultraviolet) किरणों के प्रभाव से वायुमण्डलस्थ रोगोत्पादक जीवाणु मर जाते हैं या उनकी रोगोत्पादक शक्ति घट जाती है।

—+—

प्रवीजन

(Ventilation)

यद्यपि रक्त जीवन का मुख्याधार है तथापि रक्त को जीवन का मुख्याधार विशुद्ध हवा ही बनाती है। खून शरीर में फिरा करता है और फिरते समय उसमें शरीर से बहुत सी अशुद्धियाँ मिल जाती हैं। ये अशुद्धियाँ त्वचा, फेफड़ों, वृक्कों द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती हैं। बाहर से श्वास द्वारा जो हवा हम फेफड़ों में लेते हैं उसमें खून की अशुद्धियों में से प्रां० द्विजारेय, पानी की भाप तथा उडनशील सेंद्रिय पदार्थ मिल जाते हैं और हवा का प्राणवायु खून के साथ मिलकर सारे शरीर में फिरता है। इस अदला-बदली पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है। इससे यह सिद्ध है कि श्वास के साथ भीतर लेने वाली हवा जितनी शुद्ध होगी उतनी खून की शुद्धि अधिक होगी। यदि किसी तंग कमरे में, जहाँ हवा की खुलासगी का प्रबंध नहीं है, मनुष्य श्वासोच्छ्वास की क्रिया करे तो (पृष्ठ ६) वहाँ की हवा में प्राणवायु कम होकर प्रां० द्वि० की मात्रा बढ़ेगी, जलवाष्प से हवा परिपूर्ण होगी और फेफड़ों तथा मुख से निकले हुए उडनशील सेंद्रिय और दुर्गंध युक्त पदार्थों से हवा बदबूदार होगी। इस दशा में ताजी हवा आने-जाने का अच्छा प्रबंध न होने के कारण हमारे ही शरीर से निकली हुई जहरीली हवा फिर हमारे शरीर में श्वास द्वारा प्रवेश करेगी। ऐसी हवा सेवन करने से खून की शुद्धि नहीं होती, और बेचैनी, सिर दर्द, जी मिचलाना, अग्निमांद्य, आलस्य, शरीर का भारीपन, शारीरिक मानसिक कमजोरी इत्यादि शिकायतें होने लगती हैं। अशुद्ध हवा सेवन करनेवाले लोग विशेष करके कठनाली और फेफड़ों के रोगों—यथा श्वास, कास, प्रतिश्याय, इन्फ्लुएंजा, राजयक्ष्मा इत्यादि—को अपने भीतर स्थान देते हैं और सामान्यतः उनकी जीव शक्ति (Vitality) निर्बल हो जाने से वे और और संक्रामक (Infectious) रोगों के शिकार बन जाते हैं। यदि निश्वसित खराब हवा के अतिरिक्त मकान में मलपथ, मोरियाँ, कूड़ा-कर्कट इत्यादि का प्रबंध ठीक न हो तो उनसे हवा और भी दूषित हो जाती है और सिर दर्द, आलस्य, वमन, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रंथिशोथ, ज्वर, सामान्य दुर्बलता इत्यादि लक्षण पैदा होते हैं। अतः स्वास्थ्य रक्षा के लिए विशुद्ध वायु का मिलना अत्यन्त आवश्यक है। इस आवश्यकता

को पूर्ण करने के लिए जो प्रबंध करना पडता है उसको प्रवीजन कहते हैं। वाहरी और भीतरी करके इसके दो प्रकार होते हैं।

वाहरी प्रवीजन (External ventilation)—नगरों तथा मनुष्यों की वस्तियों में नैसर्गिक साधनों द्वारा (पृष्ठ १०) वातावरण की जो शुद्धि होती है उससे लाभ उठाने के लिये जो प्रवध किया जाता है वह वाहरी प्रवीजन कहलाता है। इसके लिए नगरों की रचना मे निम्न वातों पर ध्यान देना चाहिए—

१—शहरों की गलियाँ तथा सडके चौड़ी और जहाँ तक हो सके सरल होनी चाहिएँ। इनकी चौडाई कम-से-कम ४०–५० फुट होनी चाहिए। जो सड़कें खास तौर पर भारी-भारी माल असवाव ढोनेवाली गाड़ियों के लिए होती हैं वे ६०–७० फुट तक चौडी होनी चाहिएँ।

२—सडकों पर सदैव, विशेप करके गरमी के मौसिम में पानी का छिड़काव करना चाहिए ताकि उनकी धूलि हवा में न उड़ पावे।

३—सडकों पर वृक्ष इस प्रकार से लगाने चाहिएँ कि वे छाया करें परंतु प्रवीजन मे वाधा न डालें।

४—मकानों की ऊँचाई सड़क की चौडाई से ज्यादा न हो।

५—प्रत्येक मकान के चारों ओर कम-से-कम आगे अवश्य ही खुला स्थान हो।

६—एक मकान दूसरे के साथ सटा न रहना चाहिए और जहाँ तक हो सके वे एक लकीर में हो ताकि प्रत्येक मकान प्रवात से ठीक लाभ उठा सके।

७—सडकों पर जो मैला और कूडा-कर्कट जमा होता है उसको सदैव उठाकर साफ रखने का ठीक प्रबंध हो।

८—शहर के मुहल्लों के वीच में बगोचे, खुले स्थान या क्रीडास्थान हों।

९—व्यापारिक कारखाने एक ओर अलग किये जाँय।

१०—चमार, कसाई, रँगरेज इत्यादि खराव पेशा करनेवालों की बस्ती शहर के एक अलग विभाग में हो।

अन्तः प्रवीजन (Internal ventilation)—इस प्रकार यदि नगरों में वाह्य प्रवीजन का उचित प्रबन्ध किया जाय तो संपूर्ण शहर में विशुद्ध हवा बिना रोक-टोक के प्रवाहित हो सकती है। इस विशुद्ध हवा से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए मकानों के भीतर जो प्रबन्ध करना पडता है उसको अन्तः प्रवीजन कहते हैं। इससे वाहर के वातावरण की शुद्ध वायु भीतर आती है, मकान के भीतर की हवा सदा गति में रहकर श्वसन और ज्वलन से खराब

हुई वायु वाहर चली जाती है और भीतरी वायु का ताप और आक्लेद अधिक नहीं होने पाते। अन्तः प्रवीजन अन्तरावहन, आचूषण (Aspiration), प्रसरण और ताप भिन्नता इन चार साधनों पर निर्भर होता है। इनसे होनेवाले प्रवीजन को नैसर्गिक (Natural) भी कहते हैं। जब वातावरण की शुद्ध हवा प्रवात (पृष्ठ ११) के रूप में तेजी से खुले दरवाजों और खिड़कियों में से भीतर प्रवेश करके भीतरी खराब हवा को बाहर निकाल देती है और स्वयं उसका स्थान लेती है तब उसको अन्तरावहन (Perflation) कहते हैं। जब आमने-सामने की खिड़कियों और झरोखों से हवा का अन्तरावहन होता है तब उसको पार प्रवीजन (Cross-ventilation) कहते है। पीठ पीछे और एक-दूसरे से सटे हुए (Back to Back) मकानों में पार प्रवीजन नहीं हो सकता। जब मकानों के दरवाजे और खिडकियाँ खुली नहीं होतीं तब जोर से वहनेवाली बाहर की हवा दरवाजों और खिडकियों तथा अन्य झरोखों में से भीतरी हवा को अपने साथ खींच लेती है। इसको आचूषण कहते हैं। भीतरी खराब हवा का आचूषण होने के पश्चात् बाहर की शुद्ध हवा दूसरे झरोखों और दरारों में से भीतर प्रवेश करती है। वातावरण के विविध संघटक घनता-भिन्नता के कारण (पृष्ठ ११) सदैव गतिमान् रहते हैं। वैसे ही मकानों के भीतर की हवा श्वसन और जलन के कारण (पृष्ठ ७) गरम होने से हलकी होकर बाहर चली जाती है और बाहर की शुद्ध हवा भीतर आती है। प्रवीजन के इन चार साधनों में अन्तरावहन ही कार्यक्षमता की दृष्टि से महत्व का साधन है, शेष साधन गौण होते हैं। अतः मकानों में काफी दरवाजे और वातायन होने चाहिएँ, वे जहाँ तक हो सके आमने-सामने होने चाहिएँ और खुले रखने चाहिएँ ताकि उससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। कहीं-कहीं ऐसा देखा जाता है कि मकानों में खिड़कियाँ और दरवाजे काफी होने पर भी वे दिन रात बन्द रक्खे जाते हैं। इससे उनका होना न होना दोनों बराबर हो जाता है। इसके अतिरिक्त दरवाजों और खिड़कियों के किवाड़ ऐसे होने चाहिएँ कि किवाड बन्द करने पर भी उनके बीच में से हवा भीतर-बाहर आ-जा सके। रात के समय, शीत देशों में और शिशिर ऋतु में जब रक्षा और शीत के लिए दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द करनी पड़ती हैं तब अन्तः प्रवीजन के लिए विशेष प्रकार के मार्ग बनाने पड़ते हैं जो वातायन (Ventilator) कहलाते हैं (चित्र १ देखो)। ये निम्न दो प्रकार के होते हैं—

अन्तःपथ—(Inlet) मकानों के भीतर हवा आने के लिए जो मार्ग होता है उसको अन्तःपथ कहते हैं। इनके प्रयोग में निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए॥

प्रवीजन

१—ये ऐसे स्थान में हों कि इनमें से आनेवाली हवा शुद्ध हो।

२—ये फर्श से ५-६ फुट ऊँचे स्थान पर हों।

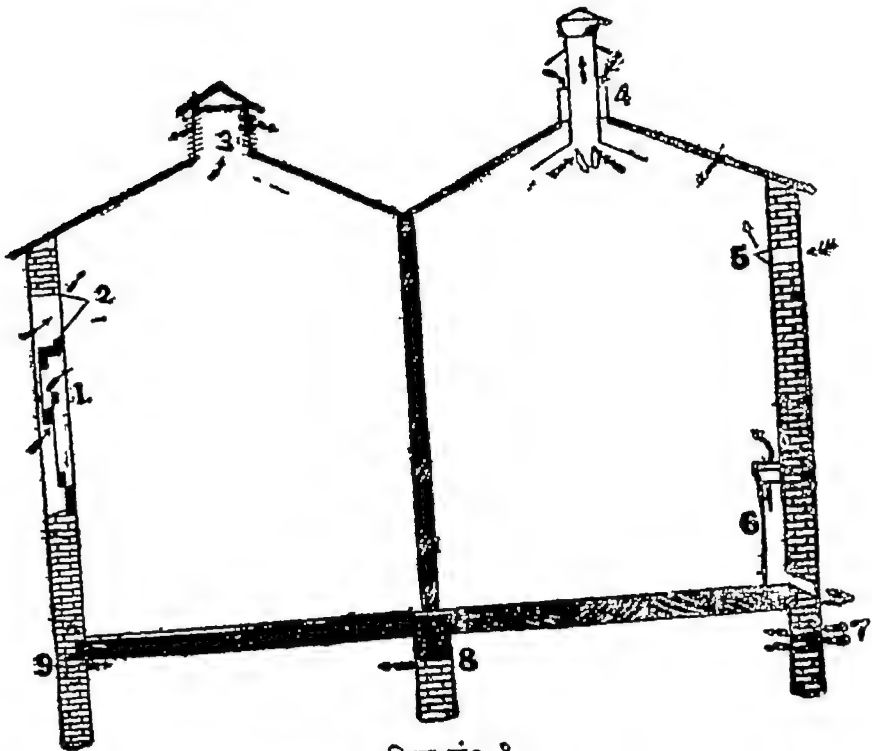
३—इनकी शक्ल शंकु की तरह, चौड़ा मुख कमरे की तरफ और तंग मुख बाहर की तरफ हो।

४—हवा के झोंके-झपाटे से बचने के लिए इनका रुख छत की ओर हो।

५—अन्तःपथों का अनुपात ६० घन-फुट स्थान के पीछे १ वर्ग इञ्च का हो या प्रत्येक व्यक्ति के लिए २४ वर्ग इञ्च (६ इञ्च लंबा और ४ इञ्च चौड़ा) क्षेत्रफल का अन्तःपथ हो।

बहिष्पथ (Outlet)—बहिष्पथ खराब हवा को मकानों के बाहर निकलवाने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। ये भी परिमाण में अन्तःपथ के बराबर होने

विविध वातायन



चित्र नं० १

१. सधार (श्याश) वातायन, २. अधोवाप (हापर) वातायन, ३. कूट वातायन, ४. म्याकिनेल वातायन, ५. शेरिंधामका कपाट, ६. टाविन की नलिका।

चाहिएँ और छत में या छत के समीप लगवाने चाहिएँ, क्योंकि अशुद्ध हवा

श्वासोश्वास या ज्वलन से गरम होकर ऊपर उठा करती है। वहिष्पथ के पास यदि बत्ती रख दी जावे तो हवा बाहर निकलने में सहायता होती है। चपटी छतों के लिए उनमें से एक ३-१२ इञ्च लंबाई की नलिका गुजारते हैं जो कि ऊपर और चारों ओर से जाली द्वारा ढकी रहती है। खपरैले छतों में कूट (Ridge) प्रवीजन का प्रबन्ध होता है। यदि कमरे में धूमनी (Chimney) हो तो उसके एक ओर नलिका (Shaft) लगा देते हैं और उसके मुख पर अर्नट या बाइल की द्वारिका का प्रयोग किया जाता है।

उत्तम प्रवीजन के लिये एक बड़ा अन्तःपथ और वहिष्पथ रखने की अपेक्षा अनेक स्थानों में अनेक छोटे-छोटे अन्तःपथ और वहिष्पथ रखना अच्छा होता है। उष्ण प्रदेशों में खिड़कियाँ आमने-सामने रखने से आवश्यकता के अनुसार अन्तःपथ और वहिष्पथ का काम किया करती हैं।

कृत्रिम प्रवीजन—इन उपर्युक्त विधियों में हवा की जो अदला बदली हुआ करती है वह हवा की नैसर्गिक गति पर निर्भर रहती है। तथापि जहाँ नैसर्गिक गति का फायदा उठाना मुश्किल होता है, या जहाँ काफी तादाद में शुद्ध हवा नहीं मिल सकती वहाँ हवा की खुलासगी के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है जिसको 'कृत्रिम-प्रवीजन (Artificialv entilation) कहते है। इसमें हवा में गति पैदा करने के लिये निम्न विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं।

१—प्रेरण विधि—(Plenum Sytsem)—इस विधि में बड़े-बड़े पंखों अथवा भाप के फुहारों (Steam gets) द्वारा कमरे में बाहर की हवा को प्रविष्ट किया जाता हैं, और इस दबाव के कारण कमरे का दूषित वायु वहिष्पथों द्वारा बाहर निकल जाता है। ये पंखे विद्युत्, वाष्प अथवा अन्य शक्ति द्वारा चलाये जाते हैं। इसमें हवा के प्रवेश का मार्ग कमरे के निचले हिस्से में और निकलने का मार्ग ऊपर के हिस्से में होना चाहिए।

२—शून्यक विधि—(Vacuum System)—इस विधि में अग्नि और धूम मार्ग (Fire and flue) या पंखों की सहायता से निस्सारण मार्गों (Extracion shafts) द्वारा कमरे की हवा बाहर निकाली जाती है। इसके लिए धूमनी के नीचे आग जलाते हैं जिससे आस-पास की हवा गरम होकर फैलकर ऊपर उठती है और चारों ओर की ठंडी हवा उसका स्थान लेती है। खानों में इसी विधि द्वारा हवा की खुलासगी की जाती है। रंग भूमि, सभागृह और अस्पताल इत्यादि-स्थानों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

निस्सारण मार्ग की हवा वाष्प या गरम जल की नलिका द्वारा भी गरम की जाती है। पंखों द्वारा भी यह काम किया जाता है जो कि निस्सारण मार्ग के ऊपर लगे रहते हैं और बिजली या अन्य शक्ति द्वारा घूमते रहते हैं। पंखों की यह रीति रूई, ऊन, रेशम इत्यादि के कारखानों में प्रयुक्त की जाती है।

३—मिश्र विधि—(Combined method)—मिश्रविधि दोनों से बेहतर होती है। इसमें प्रेरण और शून्य दोनों विधियाँ मिलायी जाती हैं। इसको संतुलित (Balanced) पद्धति भी कहते हैं। बहुत बड़े सभागृहों के लिए इसका उपयोग करते हैं। वैसे ही वातानुकूलन विधि (Airc onditioning) मे इसका उपयोग किया जाता है, जिसमें एक ओर से अनुकूल (Conditioned) वायु प्रविष्ट को जाती है और दूसरी ओर से खींच कर निकाली जाती है।

गुण-दोष—(१) कृत्रिम प्रवीजन में यह लाभ है कि कमरे के भीतर प्रवेश करने से पूर्व हवा को जरूरत के अनुसार गरम या ठंडा कर सकते हैं। परन्तु इससे हवा की शुद्धता जाती रहती है। परिणाम यह होता है कि वहाँ के रहनेवालों के अन्दर आलस्य अथवा ग्लानि पैदा होती है। (२) जहाँ पर नैसर्गिक विधि बेकार होती है, (जैसे खाने, नाटकगृह, सभागृह, इत्यादि) वहाँ पर कृत्रिम विधि उपयोगी होती है। (३) इस विधि को काम में लाने के लिये धन की आवश्यकता है।

हवा की अभीष्ट राशि—किसी मकान में हवा की खुलासगी ठीक है या नहीं इसको जानने का सबसे आसान तरीका यह है कि बाहर की स्वच्छ हवा में से मकान में जाकर यदि उससे कोई निकम्मापन, दुर्गंध या हेर फेर मालूम हो और वह मन को न भाये तो समझ लेना चाहिए कि मकान की हवा साफ और निर्मल नहीं है। विद्वानों ने अनुभव से यह सिद्ध कर दिया है कि वायुमंडल के १०००० भाग मे प्रां० द्विजारेय (CO_2) की मात्रा ६ भाग हो तो उस हवा से न कोई बेचैनी मालूम होती न स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। परन्तु यदि उसकी राशि ६ भाग से ज्यादा हो तो उस हवा से स्वास्थ्य को हानि पहुँचने लगेगी और हवा की गंध में फर्क मालूम होने लगेगा। इसलिए वायुमंडल के १०००० भाग में ६ भाग प्रां० द्विजारेय उचित प्रवीजन का मानबिंदु (Standard of efficient Ventilation) माना गया है। विशुद्ध हवा में प्रां० द्विजारेय की मात्रा १०००० भाग में ४ भाग होती है. इसलिए १०००० घनफुट में यदि २ घनफुट प्रां० द्वि० ज्यादा बढ़ जावे या एक घन फुट में ·०००२ घनफुट अधिक हो जावे तो यह राशि हवा की अशुद्धता की ग्राह्य मर्यादा (Permissible limit) मानी जाती है।

अभीष्ट राशि निकालने की रीति—

(१) रीति—इसका सूत्र—

$$\frac{\text{१ घंटे में निश्वसित प्रां० द्वि० की राशि}}{\text{ग्राह्य अशुद्धता की मर्यादा}} = \frac{\text{अभीष्ट}}{\text{राशि घनफुट में}}$$

पीछे बतलाया है कि आमतौर पर एक मनुष्य १ घंटे में ·६ घन फुट प्रां० द्वि० छोड़ता है, और ग्राह्य अशुद्धता ·०००२ है।

इसलिए $\frac{\cdot ६}{\cdot ०००२}$ = ३००० घनफुट हवा की अभीष्ट राशि होती है।

यदि कोई मनुष्य ज्यादा परिश्रम करने से १ घंटे में ·९५ घनफुट प्रां० द्वि० छोड़े तो उसके लिए १ घंटे में—

$\frac{\cdot ९५}{\cdot ०००२}$ = ४७५० घनफुट हवा की जरूरत होगी।

(२) रीति—यदि एक हजार घनफुट आयतन के कमरे में, जिसमें कि हवा आने जाने का मार्ग बिलकुल बन्द कर दिया है, एक आदमी १ घंटा तक श्वासोच्छ्वास करे तो एक घंटे के बाद उस कमरे में १ घनफुट (·४ घनफुट हवा में उपस्थित रहनेवाली और ·६ घनफुट निश्वास से पैदा हुई) प्रां० द्वि० तैयार होगा। इतनी राशि अस्वस्थकर होने से उस कमरे की हवा में विशुद्ध हवा मिलनी चाहिए जिससे कि उसकी मात्रा मानबिंदु तक अर्थात् एक हजार भाग में ·६ घनफुट तक आ जाय। यदि उस कमरे की हवा में २००० घनफुट हवा मिला दी जावे तो यह काम हो सकता है क्योंकि ३००० घनफुट में १·८ घनफुट (१ घनफुट प्रथम की राशि और ·८ घनफुट विशुद्ध हवा में रहनेवाली राशि) प्रां० द्वि० की राशि अर्थात् १००० घनफुट में ·६ होगी। इस रीति से भी यह स्पष्ट है कि साधारणतया प्रत्येक मनुष्य के लिए एक घंटे में ३००० घनफुट विशुद्ध हवा चाहिए।

सामान्यतः हवा की राशि का प्रमाण—

युवा पुरुष के लिए ३६०० घनफुट, युवा स्त्री के लिए ३००० घनफुट, बालक के लिए २००० घनफुट।

जहाँ स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी रहते हैं वहाँ हर एक के पीछे ३००० घनफुट हवा होनी चाहिए। खानों में काम करनेवालों को फुर्ती के साथ काम करने के लिए ६००० घनफुट के हिसाब से हवा की जरूरत पड़ती है।

रोगियों के लिये हवा—स्वस्थ की अपेक्षा रोगी से अधिक खराब हवा, मैल इत्यादि निकलते हैं, इसलिए उसको साफ हवा की अधिक जरूरत है। मामूली रोग में रोगी को तन्दुरुस्त से सवाई, और शीतला, आंत्रिक-ज्वर इत्यादि तीव्र रोगों में दुगुनी हवा चाहिए।

पशुओं के लिए हवा—मनुष्यों की तरह पशुओं को भी स्वच्छ हवा की जरूरत है। स्वच्छ हवा न मिले तो वे भी अस्वस्थ हो जाते हैं। इनके लिए प्रति आधा सेर भार के पीछे प्रति घंटा २५ घनफुट हवा चाहिए। घोड़ा या गौ के लिए १०००० से २०००० घनफुट हवा चाहिए। जानवरों को अधिक काल तक खुली हवा में ही रखना उचित है। घरेलू जानवरों की अपेक्षा जंगली जानवरों को ज्यादा हवा की जरूरत रहती है, तथा छोटे जानवरों को भार के प्रमाण की अपेक्षा ज्यादा हवा की जरूरत होती है।

प्रकाश के लिए हवा की राशि—प्रकाश के लिए जिन बत्तियों का उपयोग किया जाता है उनसे निकलनेवाली प्रां० द्वि० की राशि पृष्ठ ८ पर बतलाई गयी है। बत्ती के लिए सामान्य नियम यह है कि यदि किसी बत्ती से १ घण्टे में १ घनफुट प्रां० द्वि० बनता है तो उस बत्ती को १ घण्टे में एक हजार घनफुट हवा की जरूरत होती है।

मनुष्यों के लिए स्थान—हर एक मनुष्य के लिए कम से कम कितनी जगह चाहिए उसका परिमाण हवा के आवागमन पर आश्रित है। यदि हवा खूब खुलासगी के साथ आया जाया करे तो थोड़ी जगह में भी कई आदमी अच्छी तरह रह सकते हैं, और यदि हवा आने-जाने का प्रबंध उचित न हो तो अधिक जगह में भी अच्छी हवा नहीं मिल सकती। सामान्यतः एक मनुष्य के लिए एक हजार घनफुट स्थान अवश्य होना चाहिए जो कि १० फुट लम्बे १० फुट चौड़े और १० फुट ऊँचे कमरे के रूप में हो। ऐसे स्थान में हवा को १ घंटे में ३ बार बदलना पड़ेगा। यदि हवा की खुलासगी का प्रबंध बहुत ही ठीक हो तो हवा एक घंटे में ५-६ बार बदल सकती है। इस हिसाब से अच्छे खुलासे मकान में कम-से-कम प्रति मनुष्य ६०० घनफुट जगह चाहिए। इससे कम स्थान होने पर बिंदूत्क्षेप (Droplet) से रोग फैलने का डर रहता है। सभागृह, रंगभूमि इत्यादि स्थानों में, जो कि थोड़े समय के लिए काम में लाये जाते हैं, प्रत्येक मनुष्य के लिए २५० से ३०० घनफुट जगह से काम चल सकता है। अस्पतालों में हर एक रोगी के पीछे १५०० घनफुट स्थान और फर्श का क्षेत्रफल १४४ फुट होने चाहिए।

किसी स्थान में प्रमाण से अधिक मनुष्य इकट्ठा होने से उस स्थान में बेचैना-सी मालूम होने लगती है, आलस्य बढ़ता है और शारीरिक तथा मानसिक कमजोरी महसूस होने लगती है। इसका कारण हवा की खराबी है। श्वासोच्छ्वास से हवा में दो प्रकार की खराबियाँ हुआ करती हैं, एक रासायनिक और दूसरी भौतिक। बेचैनी हवा के निम्न भौतिक परिवर्तनों के कारण हैं—यथा, हवा की उष्णता का बढ़ना, पानी की भाप का बढ़ जाना और हल-चल बन्द हो जाना (Stagnation)। किसी भी रहने के कमरे में भाप ·७५% से अधिक न होनी चाहिए। हवा में जो ये भौतिक परिवर्तन होते हैं उनका शरीर के ताप-नियमन से गाढ़ा सम्बन्ध (Heat regulating mechanism) हुआ करती है। क्योंकि शरीर ताप-नियमन वातावरण की भौतिक स्थिति पर निर्भर होता है। यदि किसी कमरे में भीड़ की वजह से हवा स्थिर, गरम और तर हो गई तो शरीर की त्वचा से निकलनेवाली पानी की भाप शरीर के बाहर तर हवा की तह बना देती है, (Saturated layer of aerial envelope) जिससे त्वचा से पानी की अधिक भाप निकलना मुश्किल होकर बेचैनी इत्यादि लक्षण मालूम होने लगते हैं, यदि ऐसी अवस्था में हाथ या बिजली का पंखा[१] चला दिया जावे तो बेचैनी दूर हो जाती है यह अनुभव सिद्ध बात है। इसका कारण यह है कि पखों की सहायता से तर हवा की तह दूर हो जाती है और नियमन के लिए जितनी उष्णता शरीर से नष्ट होनी चाहिए उतनी उष्णता नष्ट हो जाती है।

---

१ निर्वाते व्यजनम्। हितोपदेश।

द्वितीय अध्याय

जल

अन्नपाने सलिलमेव श्रेष्ठम्। सर्वरसयोनित्वात् सर्वभूतसात्म्यांज्जीवनादि गुणयोगाच्च ॥ वाग्भट ॥

पानी का महत्त्व—स्वास्थ्य का दूसरा आधार पानी है। पानी का महत्त्व उसकी दुष्प्राप्यता होने पर अथवा जरूरत पर पानी न मिल सकने पर महसूस होने लगता है। जिस समय थोड़ी देर के लिए पानी नहीं मिलता उस समय प्राणी पानी के लिए छटपटाने लगता है और ऐसा मालूम होने लगता है मानो प्राण निकल जा रहे हैं। संस्कृत में इसलिए पानी को 'जीवन' संज्ञा दी गई है। क्या वनस्पति और क्या प्राणी, कोई भी इसके बिना जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य शरीर में करीब-करीब $\frac{3}{4}$ जल ही है। जल ही शरीर में भोजन के पाचन और प्रचूषण में मदद करता है और जल के सहारे ही शरीर के मल स्वेद मूत्रादि के द्वारा बाहर निकलते हैं।

पानी के उपयोग—पीने के अलावा रसोई बनाने, बर्तन माँजने, कपड़ा धोने और फर्श तथा मोरियाँ साफ रखने के लिए पानी की जरूरत होती है। इन घरेलू कामों को छोड़कर कल-कारखानों के लिए, शहर की सफाई रखने के लिए, सड़कों पर छिड़काव करने के लिए, आग बुझाने के लिए, परनाले-मोरियाँ साफ रखने के लिए तथा और-और कामों के लिए पानी की जरूरत पड़ती है।

पानी की राशि—पानी की राशि मनुष्यों के रहन-सहन, मौसिम तथा देश की जल-वायु पर आश्रित रहती है। ठंढे देशों तथा ठंढे मौसिम में गरम देशों की तथा गरम मौसिम की अपेक्षा पानी की आवश्यकता कम हुआ करती है। बड़े बड़े शहरों में पानी की राशि निश्चित करते वक्त उपर्युक्त सब बातों का अच्छी तरह से ख्याल करना चाहिए। मनुष्यों को पानी की राशि जरूरत से कम मिले तो स्वास्थ्य की दृष्टि से विघातक है। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य के पीछे २० आढक (Gallons) पानी शहरों में मिलना चाहिए।

अस्पतालों में सर्वसाधारण से दुगुना याने ४० से ५० आढक (ग्यालन) पानी प्रति मनुष्य को देना चाहिए। जानवरों के लिए पानी की राशि उनकी कद, परिश्रम तथा ऋतु-भेद पर आश्रित रहती है। तथापि सामान्यतः गौ और बैल

के लिए १२ आढक और घोड़े के लिए १५ आढक पानी कम से कम मिलना चाहिए।

विशुद्ध पानी के गुण—विशुद्ध[1] पानी पारदर्शक, गंध, स्वाद और रंग से विरहित होता है। प्रकृति में पानी घन, तरल तथा वायु-रूप में पाया जाता है। पानी ०° सेंटिग्रेड या ३२° फैरनहीट अंश पर घन बनता है और उस वक्त उसका आकार कुछ बढ़ जाता है। उसकी ज्यादा से ज्यादा घनता (Density) ४° सेंटिग्रेड पर होती है। १००° सेंटिग्रेड या २१२° फैरनहीट अंश पर पानी उबलने लगता है और भाप के रूप में बदल जाता है। यह उत्क्वथन विन्दु (Boiling point) वातावरण के निपीड (Atmospheric pressure) पर निर्भर रहता है। पानी एक रासायनिक संयोग है जिसमें दो भाग उदजन और एक भाग जारक (H_2O) होता है।

उपर्युक्त स्वरूप का विशुद्ध जल मिलना मुश्किल है, तथापि जो पानी पारदर्शक, गंध, स्वाद और रंग से विरहित हो; जिसमें ठोस पदार्थों की, विशेषतः चूना, आजातु (म्याग्नेशियम) की राशि उचित से अधिक न हो; जिसमें किसी प्रकार के भूयात्य (नेट्रोजन युक्त) सेंद्रिय पदार्थ न हों, जिसमें एक विशेष प्रकार की रौनक या चमक हो और जिसमें किसी प्रकार के जीवाणु न हों उस जल को विशुद्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं है। प्रकृति में पीने के पानी का एक मात्र निकास आंतरिक्ष जल ही है और यद्यपि आंतरिक्ष जल के गुण-धर्म सर्वत्र एक से ही होते हैं, तथापि भूमिगत जल के गुण-धर्म प्रत्येक स्थान में अलग-अलग हुआ करते हैं। क्योंकि अन्य पदार्थों को अपने भीतर विलीन करने का विशेष धर्म पानी में है, और इसी धर्म पर पानी के हितकर तथा अहितकर गुण-धर्म निर्भर रहते हैं।

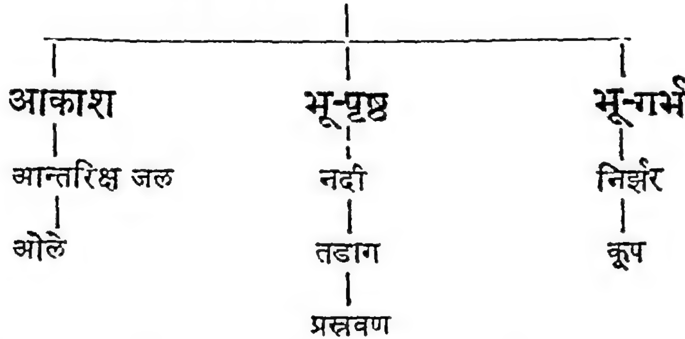
वस्तुतः आंतरिक्ष और भूमि का पानी एक[2] ही है, परन्तु भूमि के जल में

---

१. निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते॥ सुश्रुत॥
शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्।
प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते॥ चरक॥

२. जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्थलात्।
तत्पतत्पतितञ्चैव देशकालावपेक्षते॥
रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे, गुणेष्वेवमस्यास्त्वमविक्रियाः॥ रघुवंश॥

अनेक पदार्थों के मिल जाने से उसके गुणों में फेर-फार हो जाता है। जो लोग कार्यवश निरन्तर विभिन्न स्थानों में घूमा करते हैं वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि कई स्थानों का पानी पीने से भूख ज्यादा मालूम होने लगती है, पाखाना साफ होता है, शरीर में स्फूर्ति आती है और आम तौर से तबियत सुधरती है। इसके विरुद्ध कई स्थानों का पानी पीने से भूख नष्ट हो जाती है, कब्जियत होती है, शरीर में भारीपन मालूम होता है और तरह-तरह के खमरोग पैदा होते हैं।



आंतरिक्ष-जल—[1]समुद्र का पानी सूर्य की गरमी से भाप बनकर आकाश में मेघ बन जाता है। इस प्रकार से वर्षा-जल की उत्पत्ति होती है। भूमि पर गिरने के बाद आंतरिक्ष जल का कुछ भाग भाप बनकर फिर से आकाश में चला जाता है, कुछ भाग वनस्पतियाँ चूस लेती हैं, कुछ भाग भू-पृष्ठ पर नदों और नदियों के रूप में बहता है, कुछ भाग जमीन के छिद्रों द्वारा उसके भीतर शोषित होकर कूपों और गहरे स्रोतों को पानी देता है। शोषित-जल की राशि भूमि की प्रकृति पर आश्रित रहती है। केवल चिकनी मिट्टीवाली भूमि में यह बिलकुल शोषित नहीं होता, चूने के पत्थरवाली भूमि में लगभग २०%, खड़ियावाली भूमि में ४०% और रेतीली तथा कंकरीली भूमि में यह ६०% शोषित करता हुआ है। इस तरह से आंतरिक्ष जल भूमि-गर्भ और भू-पृष्ठ जल का उत्पादक है।

गुण-धर्म—प्रकृति में जो जल मिलता है उसमें वर्षा-जल जैसा[2] विशुद्ध,

---

१ द्विविध चोदकं प्रोक्तमातरिक्षं तथौद्भिदम् ॥ हारीत-संहिता ॥
कौप-सारस-ताडाग-चौड्य प्रास्रवणौद्भिदम् ।
वार्पी -नदी-तोयमिति तत्पुनः स्मृतमष्टधा ॥ वाग्भट ॥

२. आन्तरिक्षमुदकानाम् पथ्यतमम् ॥ चरक ॥

निर्मल और पथ्यकर दूसरा जल नहीं है, चूना और आजातु (मैग्नेशिया) के अभाव से यह बिलकुल मृदु (Soft) होता है और कपड़े धोना, रसोई बनाना, स्नान करना इत्यादि कामों के लिए बहुत फायदेमंद रहता है। इसमें रोगोत्पादक जीवाणु—विशेष करके आंत्रिक सन्निपात तथा विशूचिका के—नहीं पाये जाते। परन्तु इडिस इजिप्टी (Aedes aegypti) मच्छरी अन्य जल-संचयों की अपेक्षा वर्षा-जल के संचयों में अण्डे देना अधिक पसन्द करती है। भूमि-जल की अपेक्षा यह जल कम रुचिकर भी होता है। तथापि इसके बारे में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वायुमंडल की शुद्धा-शुद्धता पर आंतरिक्ष जल की शुद्धा-शुद्धता निर्भर रहती है, क्योंकि हवा में से जमीन पर गिरते समय हवा के कई वायु रूप पदार्थ, दूसरे ठोस अवलंबनस्थ सूक्ष्मांश, धूलि इत्यादि हवा के संघटक इसमें विलीन हो जाते हैं। सामान्यतः एक प्रस्थ वर्षा-जल में (१००० सी० सी०) $\frac{१}{४०}$ वाँ भाग वायु रूप पदार्थ विद्रुत रहते हैं जिसमें ६४% भूयाति, ३४% प्राणवायु और २% प्रां० द्वि० वायु होते हैं। समुद्र-तटवर्ती शहरों में वर्षा-जल में नमक भी होता है। बड़े-बड़े व्यापारी शहरों में कल-कारखानों से निकले हुए बहुत जहरीले और गन्दे वायु-रूप पदार्थ, कज्जली, धूलि और तरह-तरह के सूक्ष्मांश वर्षा-जल में विलीन हो जाते हैं। बरसात के शुरू मे वायु-मंडल इन पदार्थों से भरा रहता है। इसलिये वर्षा का प्रारम्भिक जल सेवन[१] न करना चाहिए।

यदि वर्षा जल साक्षात् अंतरिक्ष से इकट्ठा करना हो तो उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखकर स्वच्छ बर्तन में इकट्ठा करना चाहिए।

इकट्ठा करने की रीति—सामान्यतः वर्षा-जल घरों की छतों से इकट्ठा करते हैं और छोटे-छोटे मर्तबानों तथा हौजों में भरकर रख देते हैं। यह जल घास-पात तथा पक्षियों के मल-मूत्र, धूलि इत्यादि से दूषित रहता है। इसलिए शुरू का वर्षा-जल इकट्ठा न करना चाहिए। इस जल को इकट्ठा करने के लिये राबर्ट या गिब का वर्षा जल वेचक (Robert's or Gibb's Rain water separator) का प्रयोग किया जाय तो यह काम आप-से-आप हो जाता है। यह यंत्र इस तरह से बनाया गया है कि शुरू के दूषित जल को अदर नहीं आने देता, परन्तु थोड़ी देर के बाद इसका ढकना ऊपर उठ जाता है और शेष शुद्ध पानी को मर्तबान या नाली में, जो कि पानी के लिए बनायी गयी है, जाने देता

---

१. न पिबेत्। अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत्।
लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेपदूषितम् ॥ वाग्भट ॥

है। सर विलभिम म्याक् ग्रीगर ने (Sir William Mac Gregor) एक ऐसा प्रबन्ध किया है जिससे कि शुद्ध पानी जमा किया जा सकता है तथा उसे मच्छरों एवं अन्य छोटे-छोटे कीटों से सुरक्षित रक्खा जा सकता है।

भूमि से इकट्ठा करना—यदि वर्षाजल को भूमि पर से इकट्ठा करना हो तो उस स्थान की तली पर सीमेंट या अन्य अप्रवेश्य पदार्थ की तह बिछानी चाहिए और इसे नल के द्वारा जमीन के अन्दर के हौजों में ले जाना चाहिए। इस भूमि को, जिसे बंधभूमि (Catchment area) कहते हैं, बहुत साफ रखना चाहिए और उसके चारों ओर अहाता बनवाना चाहिए ताकि पशु इसके पास आकर गदगी न कर सकें। इस बंधभूमि से हौज तक जानेवाली नलिका भी हमेशा साफ रखनी चाहिए।

वर्षा जल का मापन—वर्षा का जो जल भूमि पर गिरता है उसका मापन वर्षमान (Rain gauge) से किया जाता है और उसकी राशि इञ्चों में बतायी जाती है। एक इञ्च वर्षा होने से, १ वर्गगज भूमि पर २४ सेर के करीब और एक एकड़ भूमि पर २७२५ मन के करीब पानी गिरता है।

कठिन जल—जिस जल में चूर्णातु (Calcium) और भ्राजातु (Magnesium) के लवण प्रांगारीय (Carbonates) और शुल्बीय (Sulphate) के रूप में विलीन रहते है वह जल कठिन कहलाता है। प्रकृति में आन्तरिक्ष जल को छोड़ कर बाकी सब जल कठिन ही होते हैं। कठिन पानी में निम्न दोष होते हैं—

(१) चूना और भ्राजातु के कारण पचन सस्थान में खराबी होती है।

(२) चूना और भ्राजातु के कारण साबुन का पानी फटकर साबुन निस्सादित होने से कपड़ा भली भाँति साफ नहीं होता।

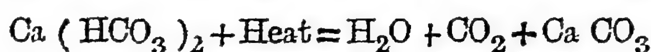
(३) मांस, दाल इत्यादि पदार्थ भली भाँति नहीं गल सकते।

कठिनता के प्रकार—स्थायी और अस्थायी करके कठिनता दो प्रकार की होती है। जब चूर्णातु और भ्राजातु के प्रांगारीय प्रांगारिक अम्ल (Carbonic acid) की सहायता से द्व्यगारीय (Bicarbonates) के रूप में जल में उपस्थित रहते हैं तब वह कठिनता अस्थायी (Temporary) कहलाती है। प्रांगारिक अम्ल की सहायता के बिना जब चूर्णातु और भ्राजातु के नीरेय (Chlorides) और शुल्बीय पानी में उपस्थित रहते हैं तब वह कठिनता स्थायी (Permanant) कहलाती है। पानी उबालने से पहले जो कठिनता होती है वह

सकल (Total) कठिनता कहलाती है। उबालने के पश्चात् जो बचती है वह स्थायी कठिनता कहलाती है। कठिनता का मापन क्लार्क की पद्धति से किया जाता है और अंशों में बतलाया जाता है। जब कठिनता १० अंशों से कम होती है तब पानी मृदु या मृदुनिभ, जब १०–१५ अंशों के बीच में होती है तब पानी मध्यम कठिन और जब १५–२० अंशों तक होती है तब बहुत कठिन समझा जाता है।

कठिन जल जिस प्रकार अन्न पकाना, कपड़े धोना इत्यादि घरेलू कामों के लिए अयोग्य होता है वैसे ही यन्त्र, गन्त्र (Engine), वाष्पित्र (Boiler), कल-कारखाने तथा अन्य औद्यमिक (Iudustrial) कामों के लिए भी अयोग्य रहता है। इसलिए पानी की कठिना दूर करना इष्ट होता है।

दूरीकरण पद्धतियाँ—(१) उबालना—अस्थायी कठिनता दूर करने की यह पद्धति है। अस्थायी कठिनता उत्पन्न होने की जो प्रक्रिया होती (पृष्ठ २५) है उससे विरुद्ध प्रक्रिया उबालने से होती है। अर्थात् उबालने से प्रां० द्विजारेय, जिसकी सहायता से प्रांगारीय पानी में विलीन होता है, हवा में निकल जाता है और प्रांगारीय असहाय होकर नीचे तली में बैठ जाता है।



$$Ca(HCO_3)_2 + Heat = H_2O + CO_2 + Ca\,CO_3$$

उबालने का कार्य थोड़े पानी के लिये ही हो सकता है। इसलिए घर घरेलू कामों के लिए यह पद्धति उत्तम है।

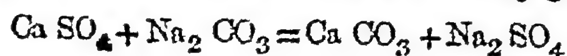
(२) क्लार्क की पद्धति—इसका भी उपयोग अस्थायी कठिनता के लिए ही होता है। परंतु इससे बहुत अधिक पानी को मृदु कर सकते हैं। उसमें पानी में दग्ध चूना (Burnt lime) मिलाया जाता है जिससे पानी के चूने के विलेय लवण अविलेय होकर निस्सादित हो जाते हैं—



$$Ca(HCO_3)_2 + CaO = H_2O + 2\,CaCO_3$$

कठिनता के १ अंश के पीछे ७००० सेर पानी में ५ तोले दग्ध चूना छोड़ा जाता है।

(३) तृतीय पद्धति—इससे स्थायी कठिनता दूर की जाती है। इसमें पानी के साथ क्षारातु प्रांगारीय (Sodium Carbonate) मिलाया जाता है। इससे चूने का प्रांगारीय निस्सादित होकर पानी में क्षारातु शुल्वीय रह जाता है—



$$Ca\,SO_4 + Na_2\,CO_3 = Ca\,CO_3 + Na_2\,SO_4$$

(४) चतुर्थ पद्धति—जब पानी में दोनों प्रकार की कठिनताएँ रहती हैं तब उसमें क्षारातु उद्जारेय (Sodium hydroxide) मिलाया जाता है। इससे अस्थायी कठिनता प्रथम दूर हो जाती है—



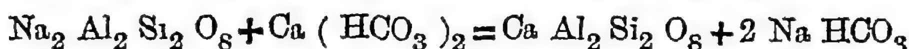
$$Ca(HCO_3)_2 + 2\,NaOH = CaCO_3 + Na_2CO_3$$

इस अदला-बदली में जो क्षारातु प्रांगारीय बनता है वह पश्चात् तृतीय पद्धति के अनुसार (पृष्ठ २६) चूर्णातु शुल्बीय के साथ मिलकर उसको चूर्णातु प्रांगारीय के रूप में निस्सादित कर स्थायी कठिनता को दूर कर देता है।

(५) जलम्रद (पर्म्यूटिट) पद्धति—इसमें जलम्रद (पर्म्यूटिट) नामक कृत्रिम स्फट क्षार सैकतीय (Sodium aluminium silicate) काम में लाया जाता है। जब कठिन पानी का इस लवण से सम्बन्ध होता है तब चूर्णातु स्फटयातु सैकतीय निस्सादित होकर पानी में क्षारातु के प्रांगारीय और शुल्बीय रह जाते हैं।



$$Na_2Al_2Si_2O_8 + CaSO_4 = CaAl_2Si_2O_8 + Na_2So_4$$



$$Na_2Al_2Si_2O_8 + Ca(HCO_3)_2 = CaAl_2Si_2O_8 + 2\,NaHCO_3$$

इससे दोनों प्रकार की कठिनताएँ दूर हो जाती हैं। इस विधि का उपयोग घर में जल मृदुकरण के लिए कर सकते हैं। क्योंकि आजकल इसके जल-मृदुकर पात्र (Water softener) मिलते हैं जिनमें बीच में जल-म्रद रक्खा रहता है और ऊपर डाला हुआ पानी उसमें से छनकर और मृदु होकर नीचे की ओर आता है।

(१) भूपृष्ठ जल (Surface water)—नदी-नदी का जल भूपृष्ठ-जल और स्रोत जल का मिश्रण है जो भाँति-भाँति के स्तरों और चट्टानों में से बहकर आता है। भूमिगत जल से यह अधिक मृदु होते हुए भी इसमें सेन्द्रिय द्रव्य अधिक रहता है। भारतवर्ष के सब प्रमुख नगर तथा असंख्य ग्राम नदीतट पर ही बसे हैं और सब कामों के लिए नदी जल का ही उपयोग वहाँ के रहनेवाले किया करते हैं। यदि नदी में पानी बहुत हो तथा पानी का बहाव ठीक हो तो पीने के लिए भी नदी का पानी काम में ला सकते हैं, क्योंकि वह नैसर्गिक साधनों द्वारा शुद्ध होता रहता है। परन्तु बारहों मास अधिक पानी और प्रवाह की नदियाँ बहुत कम होती हैं और निम्न कारणों से उनका पानी बराबर दूषित होता रहता है—

(१) वर्षा ऋतु में नदी के पानी में चारों ओर की गन्दगी जल के साथ बह

कर मिल जाती है। इसलिए वर्षा ऋतु में नदी का पानी खराब[1] और पीने के लिए अयोग्य रहता है।

(२) बहुतेरे नगरों के परनाले नदियों में छोड़ दिये जाते हैं। इससे नदी का पानी बारहों मास पीने के लिए अयोग्य हो जाता है।

(३) नदी तट पर बसनेवाले नगरों और गाँवों के लोग रोगियों के कपड़े तथा अन्य दूषित पदार्थ नदी में धोते है या छोड़ते हैं। इससे त्रिसूचिका, आंत्रिक, अतिसार, कृमि इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।

(४) किसान लोग गाय, बैल, भैंस इत्यादि के, झुण्ड के झुण्ड नदी में लाकर धोते हैं।

(५) सैकड़ों आदमी सुबह-शाम नदी के किनारे पाखाना फिरते हैं और पेशाब करते हैं। जिस समय नदी का पानी बढ़ता है उस समय ये सब गन्दे पदार्थ नदी में जाकर मिलते हैं।

(६) नदी के किनारे पर मुर्दे जलाते तथा गाड़ते हैं। कभी-कभी मनुष्यों की तथा जानवरों की लाश नदी में पड़कर उसी में गल-पच जाती है।

(७) कहीं-कहीं कल-कारखानों का खराब पानी नदी में छोड़ देते हैं।

(८) झाड़ियों में से होकर बहनेवाली नदियों का पानी वनस्पतिज अशुद्धियों से भरा रहता है।

(९) यदि नदी किसी खादवाली जमीन में से बहती हो तो खाद की गन्दगी भी उसमें मिली रहती है।

इसलिये इन सब बातों को देखकर यह कहना पड़ता है कि यदि नदी का पानी पीना हो तो बहुत सावधानता से पीना चाहिए। पीने के लिए किनारे के नजदीक का पानी न लेकर बीचोबीच का पानी लेना चाहिए, क्योंकि उथले स्थान से गहरे स्थान का पानी कहीं अच्छा होता है तथा बीच में प्रवाह होने से अशुद्धियाँ बह जाती हैं।

(२) प्राप्लवण जल (Upland Surface water)—यह वर्षा-जल है जो कि भूमि से शोषित न होकर भू-पृष्ठ पर नदियों के मुख के नजदीक पहाड़ों के ऊपर इकट्ठा हो जाता है। ये प्राकृतिक जल संचय होते हैं और भारत में बहुत स्थानों पर इनका पानी बरता जाता है। यह पानी अक्सर पहाड़ी और निर्जन

---

(१) वर्षानादेय जलानाम् (अपथ्यकरम्) ॥ चरक ॥

प्रदेशों से आकर इकट्ठा होता है और सामान्यतया 'आंतरिक्षानुकारी' रहता है। यह वर्षा-जल सा ही मृदु होता है एवं इसमें भूयित और भूयीय (नायट्राईट और नाइट्रेट) इत्यादि लवण भी ज्यादा नही होते। इसमें वर्षा जल की अपेक्षा वनस्पतिज सेंद्रिय पदार्थ ज्यादा हुआ करते हैं। यदि पहाड़ों के माथे पर जीर्णक (Peat) नामक मिट्टी हो तो वह भी पानी में मिल जाती है और बहुत अधिक मात्रा में होने से प्रवाहिका पैदा कर देती है। य दि जीर्णक नामक द्रव्य न हो तो यह पानी पीने के लिए काफी विशुद्ध रहता है। आधुनिक खोज से यह साबित हुआ है कि जीर्णकमिट्टी में अम्लजनक (Acid producing) जीवाणु हुआ करते हैं, जिनसे इस पानी की प्रतिक्रिया अम्ल (Acid reaction) होती है। ऐसा पानी जब सीसे की नलिकाओं द्वारा शहर में पहुँचाया जाया करता है तब सीसे को घोलकर पीनेवालों में सीस-विषता (Plumbism) पैदा कर देता है।

(२) तालाब—ये जमीन में लम्बे-चौडे गड्ढे खोदकर या किसी तंग घाटी में एक तरफ बाँध बना करके तैयार किये जाते हैं और उनमें बरसात का पानी चारो तरफ से आकर इकट्ठा होता है। इन्हीं का नाम तालाब या तलैया है। भारतवर्ष के बहुत से देहातों मे इनका ही पानी पीने के लिए बरता जाता है। कितने ही तालाब सोतेवाले होते है। अर्थात् इनमें झरना आया करता है जिससे उनमें सदा सर्वदा पानी भरा रहता है। कितने ही केवल बरसात के पानी से भर जाते हैं और गर्मी के दिनों मे अक्सर सूख जाया करते हैं। बरसात का पानी आस-पास की जगहों में से आकर इकट्ठा होता है और थोड़े ही दिनों में निर्मल हो जाता है। यदि इसके पानी में किसी तरह की गन्दगी न किया जाय तो पानी पीने के लिए उपयोगी हो सकता है। बहुतेरे लोग स्वास्थ्यरक्षा के विषय में इतने अज्ञानी होते हैं कि वे जिस स्थान का पानी पीने के लिए इस्तेमाल करते हैं उसी स्थान पर और-और मलिनताएँ पैदा कर पानी खराब कर डालते हैं। यदि तालाब का पानी पीना हो तो नीचे लिखी बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। सूर्यप्रकाश और उष्णता के कारण भारतवर्ष में तालाब का पानी नैसर्गिक रीत्या (पृष्ठ ४१) शुद्ध होता है।

(१) तालाब अच्छी जगह में खुदवाना चाहिए और उसके आस-पास पाटस्थली (Made soil) तथा गदे पानी का सचय न होना चाहिए। (२) तालाब के ढालू किनारे पर घास लगवाना चाहिए तथा उसके चारो ओर ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि तालाब तथा उसकी बंध-भूमि (Catch water area) के सिवा दूसरे किसी स्थान का पानी उसके भीतर न आ सके। (३) उसके

चारों ओर प्राकार चाहिए ताकि जानवर उसमें जाकर गंदगी न कर सकें। (४) तालाब के नजदीक पेड़ न होने चाहिएँ। (५) उसमें छोटी-छोटी मछ-लियाँ होनी चाहिएँ जो मच्छड़ों की इल्लियों (Larvae) तथा अन्य सेंद्रिय अशुद्धियों का नाश करें। (६) उसके घाट पर तथा पानी में नहाना, कपड़े धोना, बासन माँजना, मल-मूत्र त्याग करना, कूड़ा-कर्कट फेंकना इत्यादि कर्म न करने चाहिएँ। (७) उसमें काई, सिवार इत्यादि जो समय-समय पर तैयार हो जाते हैं उनको निकलवा देना चाहिए। (८) उसमें से पानी निकलवाने की स्वतन्त्र व्यवस्था करनी चाहिए।

भू-गर्भगत जल—यह एक आंतरिक्ष जल का ही भाग है जो कि जमीन के छिद्रे (Porous) भाग को लाँघकर चट्टानों के अप्रवेश्यस्तर (Impervious Layer) के ऊपर और नीचे तक पहुँचकर निर्झर अथवा कूप की शक्ल में पानी का निकास बन जाता है। भूगर्भगत जल स्वाभाविक शुद्ध रहता है क्योंकि अप्रवेश्यस्तर तक पहुँचते-पहुँचते स्वयं ही उसका नितरण हो जाता है। तथापि प्रां० द्वि० जारेय की तथा भूमिगत पदार्थों की राशि अधिक होने के कारण यह पानी अधिक कठिन रहता है।

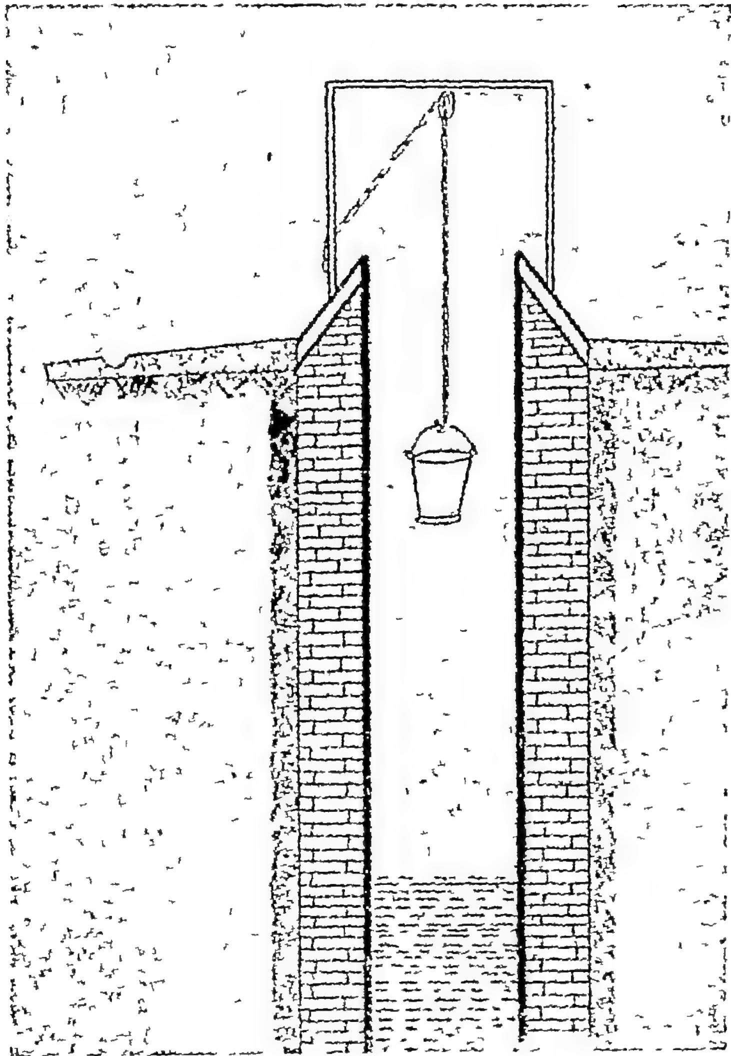
(१) निर्झर—(Springs) निर्झर प्रायः पहाड़ों के आसपास की तराई, घाटियों, दरियों तथा समुद्र इत्यादि के मध्य-भूमि में पाये जाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं, एक भू-पृष्ठ निर्झर और दूसरा भू-गर्भ निर्झर।

भू-पृष्ठ निर्झर—(Land springs)—ये उस पानी से बनते हैं जो कि पृथ्वी के अप्रवेश्य स्तर के ऊपर-ऊपर फैली हुई रेतीली अथवा कंकड़ीली तह में संचित हुआ रहता है। फलतः ये भूमिगत जल-संचय से निकलते हैं। ये गरमी के मौसिम में बन्द हो जाते हैं और बरसात के बाद फिर शुरू हो जाते हैं।

भू गर्भ निर्झर—(Deep springs)—जो जल भू-गर्भ में रहता है वह जोर लगाकर फूटने का प्रयत्न करता है। उसी जोर के ये परिणाम हैं। ये जमीन की खड़िया, रेतीली, पत्थरवाली तहों से निकलते हैं। इनका पानी स्वच्छ और चमकीला होता है, और फूटने के समय मार्ग में छन जाने के कारण इसमें मलिनता का भी डर नहीं होता। इसमें कठिनता होती है। ये प्रायः स्थायी होते हैं। इनके पानी की रक्षा करने के लिये इनके चारों ओर एक छोटी मुंडेर बनवानी चाहिए जिससे भू-पृष्ठ का जल दूर से बहकर चला आवे। इनके आस-पास घास-पात न होना चाहिए, परन्तु थोड़ी दूर पर घास अवश्य होनी चाहिए

ताकि पानी की रक्षा धूलि से हो सके। इनके पास जानवरों को न आने देना चाहिएँ तथा टट्टियाँ न बनवानी चाहिएँ।

आदर्श कूप

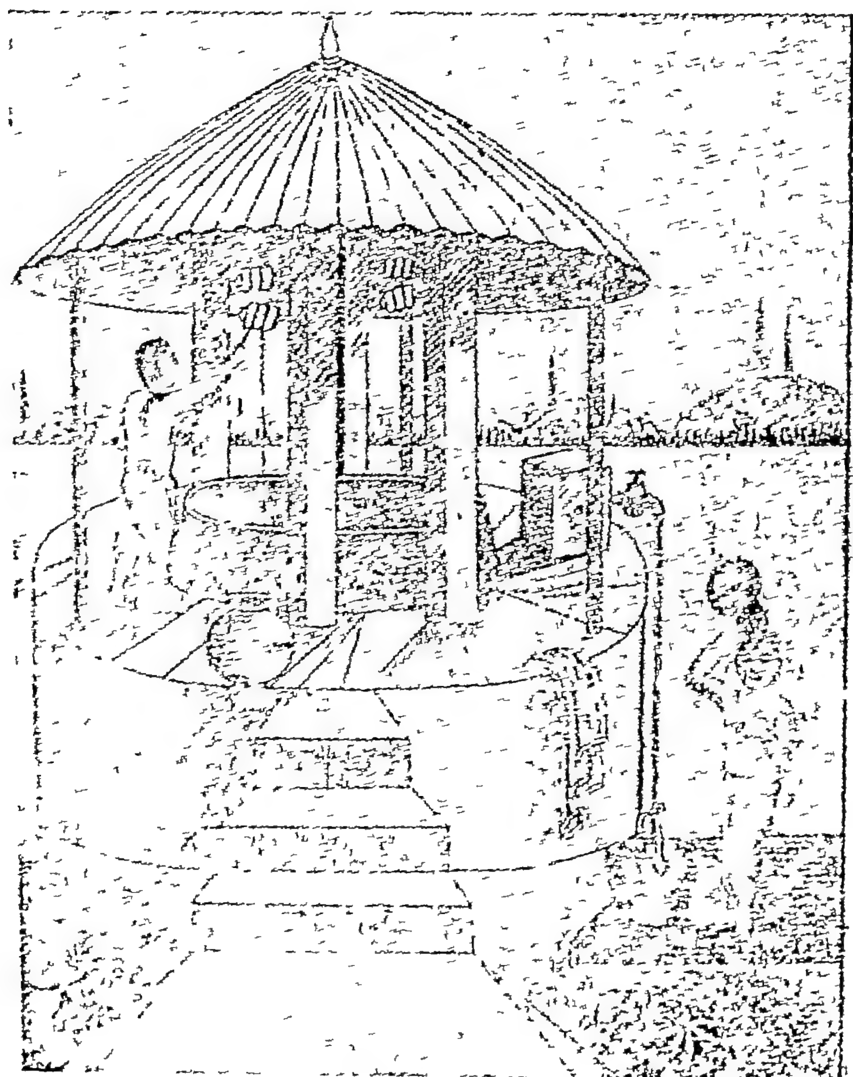


चित्र नं० २

(२) कूप—भूगर्भ गत जल को प्राप्त करने के लिये पृथ्वी में जो गड्ढा खोदा जाता है उसे कुआँ कहते हैं। कुआँ पक्का करने के लिए उसे बाँधने

की आवश्यकता होती है। जब वह अल्पकाल के लिए काम में लाया जाता है, तब मामूली तौर पर लकड़ी से बाँधते हैं। इसे कठकुइयाँ कहते हैं। परन्तु इसका विचार यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है। स्वास्थ्य की दृष्टि से कुआँ पक्का होना

आदर्श कूप



चित्र नं. ३

चाहिए। यह कार्य निम्न दो प्रकार से किया जाता है और उसके अनुसार कुएँ के दो प्रकार किये जाते हैं।

जब कुएँ की दीवाल की जोड़ाई ईंट, पत्थर, चूना, सीमेंट इत्यादि के द्वारा की जाती है तब उस कुएँ को इष्टिका कूप (Masonary well) या केवल कूप (कुआँ) कहते हैं। जब कुएँ की दीवाल नाली से बनती है तब उस कुएँ को नलिका कूप (Tube well) कहते हैं। फिर इन कुएँ के उथला और गहरा करके दो विभाग किये जाते हैं।

(क) उथला कूप—जिसकी तली भूगर्भगत अप्रवेश्य स्तर (Impervious layer) के ऊपर होती है उस कुएँ को उथला कुआँ कहते हैं। इसमें अनुस्थली का जल (Subsoil water) आया करता है, इसलिए उथले कुएँ का पानी भूपृष्ठगत खराबी से दूषित होने की अधिक सम्भावना होती है। अतः उथले कुएँ का प्रबन्ध निम्न प्रकार से करना आवश्यक है।

१—कुएँ की भीतर की दीवाल ईंटों से पक्की बनवाकर फिर उसके ऊपर सीमेंट या दूसरे अप्रवेश्य पदार्थों का पलस्तर करवाना चाहिए।

२—कुएँ के चारों ओर ५-६ फुट तक सीमेंट जैसे पदार्थों का पक्का चबूतरा बनवाकर उसका खराब पानी नाली से प्रभावक्षेत्र (पृष्ठ ३५) से दूर छोड़ना चाहिए।

३—कुएँ के मुख पर एक फुट ऊँचाई की चहारदीवारी करना चाहिए, ताकि खराब पानी की छींटे भीतर न जा सकें।

४—कुएँ को ढाकने के लिए सच्छिद्र ढक्कन होना चाहिए।

५—कुएँ के आस-पास ५० फुट की दूरी में कोई टट्टी, पाखाना या खराब पानी का पोखरा न होना चाहिए।

६—कुएँ की तली में एक कङ्कड़ की तह और उसके ऊपर बालू की तह बिछानी चाहिए ताकि नीचे से आनेवाला पानी उस तह में से होकर आ जाय।

(ख) गहरा कूप (Deep well)—इस कुएँकी तली भूगर्भगत अप्रवेश्य स्तर के निचले जलाधार स्तर में (Water bearing strata) होती है। गहरे कुएँ का पानी उथले कुएँ की अपेक्षा अधिक निर्मल और स्वच्छ होता है, उसमें पानी खराब होने का डर बहुत नहीं होता तथा सामान्यतया सेंद्रिय अशुद्धियाँ भी बहुत कम होती हैं। इसका भी प्रबन्ध उथले कूप के समान होना चाहिए।

(ग) नलिका कूप (Tube wells)—इनका प्रथम आविष्कार फ्रान्स के आर्टोइस (Artois) प्रान्त में हुआ। इनके बनाने की विधि यह है कि १½ से २ इञ्च व्यास वाली लोहे की लम्बी नलियाँ जो कि पेचों द्वारा एक दूसरे के साथ जुटी रहती है, जमीन में यंत्र की सहायता से गाड़ी जाती हैं। सबसे नीचे के नल का निचला सिरा नुकीला और सछिद्र होता है। इसे तब तक जमीन में गाड़ते हैं जब तक कि पानी की अभीष्ट राशि नहीं प्राप्त होती है। इसके बाद ऊपर की नलीका के साथ पम्प लगाकर पानी निकालते हैं। शुरू में खराब पानी आता है परन्तु होते होते साफ पानी आने लगता है। इनके लिए खड़ियाली, कंकड़ीली और नरम जमीन तथा नदी के बालुकामय प्रदेश बहुत फायदेमन्द होते हैं। ये मटीयाले (Clay) और रेतीले (Fine sand) प्रदेशों में अच्छी तरह काम नहीं देते क्योंकि नलिका के निचले छिद्रों में चिकनी मिट्टी और महीन बालू बैठकर उनको बन्द कर देती हैं। उनके भी निम्न तीन प्रकार होते हैं—१ अबीसीनिअन कूप, २ अर्टसिअन कूप, ३ गहरा कूप।

(१) नार्टन का अबीसीनिअन (Norton's Abysssnian) कूप—ये उथले कुएँ हैं जो २०-२५ फूट की गहराई के होते हैं। जहाँ पर अनुस्थली जल समीप रहता है वहाँ पर उनका उपयोग किया जाता है। पंप के द्वारा पानी खींचा जाने के कारण इनका पानी खराब होने का डर कम रहता है। परन्तु कुएँ के आस पास की गन्दगी से पानी की खराबी रोकने के लिए इनके ऊपर का भाग चूना और सीमेंट द्वारा पक्का बनवाना चाहिए। जब थोड़े समय के लिए अथवा थोड़ी राशि में पानी की आवश्यकता होती है तब ये कुएँ अच्छा काम देते हैं। इसलिए सैनिकों के स्कन्धावारों में (Camps), धार्मिक या सामाजिक मेलों में और अकेले दुकेले मकानों में पानी के लिए ये बहुत उपयोगी होते हैं।

(२) फुहारी कुआँ (Artesian well)—जब ऊँचाई में स्थित और दो अप्रवेश्य स्तरों के बीच में अटके हुऐ पानी में संयोगवश कुए की नली घुस जाती है तब फुहारे के तौर पर बड़े जोर के साथ पानी आप से आप बाहर निकलता रहता है और पंप की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार के कुएँ को फुहारी कूप कहते हैं। फ्रान्स के आर्टाइस (Artois) नामक प्रान्त में ये प्रथम मिले। इसलिए इनको आर्टेसियन नाम दिया गया। भारतवर्ष में ये कूप पांडिचेरी, दक्षिण अर्काट और सिलहट (आसाम) में कहीं-कहीं पाये जाते हैं।

(३) गहरा नलिका कूप—इसकी गहराई १००-१००० फूटतक भी हो सकती है। यह कुआँ नीचे की भूमि के अनुसार १ घंटे में ५००० से २५००० सेर तक पानी दे सकता है। ढाई इञ्च व्यास की नली का कुआँ १ घंटे में १५००० सेर पानी दे सकता है।

इन नलिका कूपों में भी नाली के चारों ओर के दरार सीमेंट, चूना इत्यादि से वंद कर देने चाहिएँ तथा ऊपर जगत (चबूतरा) बनवानी चाहिए ताकि गन्दा पानी नलिका के चारों ओर की दरारों में से भीतर जाकर कुएँ के पानी को न खराब कर सके।

प्रभावक्षेत्र (Zone of influence)—सामान्यतया कूप की गहराई की चौगुनी दूरी से या इससे भी कुछ अधिक दूरी से कूप में पानी आ सकता है। कुएँ के चारों ओर के जितने क्षेत्र में से रिसकर पानी कुएँ में आ सकता है वह कुएँ का प्रभावक्षेत्र है, इसकी आकृति शंकू (Cone) के समान होती है और शंकू का नुकीला भाग कुएँ की तली में और चौड़ा भाग ऊपर रहता है। यदि किसी कुएँ की गहराई ५० फुट हो तो उसके चारों ओर २०० फुट दूरी में कोई गंदे पानी का नाला, पोखरा या संचय हो तो उससे कुएँ में पानी आ सकता है। इसलिए कुएँ के प्रभावक्षेत्र में चौबच्चा, नाला, पोखरा, पाखाना इत्यादि न होने चाहिएँ।

कूप के पानी को दूषित करनेवाले कारण—

१—प्रभाव क्षेत्र में चौबच्चा, नाला, मोरी, पाखाना इत्यादि का होना। २—नदी का साक्षात् संबंध। ३—कुएँ के नजदीक मुर्दा गाड़ने की भूमि या श्मशान। ४—चूहों के बिल ५—वृक्षों का कूप के नजदीक अस्तित्व। ६—कुएँ के नजदीक की जमीन के दरार।

कूप का दूषण जानने के उपाय—कुएँ का किसी खराब पानी के संचय के साथ संबंध जानने के लिए संदिग्ध संचय में दह विक्षार (Caustic soda) और भ्राशि (Fluorescin) (दोनों १%) का मिश्रण डाल दिया करो। यदि उस संचय का और कुएँ का कुछ भी संबध हो तो थोड़े ही समय में भ्राशि (फ्लोरोसिन) कुएँ के पानी में पाया जायगा। यह पदार्थ सूर्य-प्रकाश में हरा या नीला सा रंग देता है। यह परीक्षा इतनी सूक्ष्मवेदी है कि पानी के २० लक्ष भाग में यदि इसका १ भाग भी हो तो भी इसका पता लग सकता है। परन्तु इससे

यह ध्यान रखना चाहिए कि यह द्रव्य अम्ल-जल के साथ कोई रंग नहीं देता, इसलिए यदि कुएँ के जल की प्रतिक्रिया अम्ल हो तो उसमें तिक्षाति (अमोनियाँ) डालना चाहिए। आशि के शिवाय खाने के लवण का संकेन्द्रित घोल और प्रॉडिजिओसस दण्डाणु प्रनिलम्ब (Emulsion of bacillus prodigiosus) इनका भी प्रयोग किया जाता हैं। जमीन से कोई छेद सीधा कुएँ में आता है या नहीं इसको जानने के लिए उस स्थान पर मिट्टी का तेल डालने से पहचान हो सकती है।

कूप की परीक्षा—कुएँ की परीक्षा में निम्न-लिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिए।

१—कुएँ के चारों ओर की सफाई की दृष्टि से परिस्थिति तथा दूषित स्थानों की कुएँ से दूरी। २—कुएँ की भीतरी दीवार की स्थिति। ३—कुएँ की गहराई। ४—कुएँ के पानी की गहराई। ५—जिस भूमि में कुआँ खोदा गया है उसकी प्रकृति। ६—कुएँ के बाहर जो खराब पानी गिरता है उसका प्रबंध। ७—किस काम के लिए कुएँ का उपयोग किया जाता है। ८—कुएँ का उपयोग करनेवाले लोगों की रहन-सहन। ९—पंप करने का प्रभाव।

भारतवर्ष में पानी के लिए कुएँ के पानी का प्रयोग बहुत स्थानों में किया जाता है। इसलिए स्वास्थ्य की दृष्टि से आदर्श कूप (पृष्ठ ३१-३२) कैसा होना चाहिए इसका वर्णन नीचे दिया जाता है।

आदर्श कूप (चित्र २, ३) १—जिस भूमि में कुआँ खोदना हो उस भूमि की प्रकृति उत्तम होनी चाहिए। पानी के गुणों का सबसे बड़ा आधार जमीन (पृष्ठ २२) है। यदि कुए की जमीन खराब हो तो कुए का जल भी खराब हुआ करता है।

२—जहाँ तक हो सके कुआँ मैदान में और ऊँचे स्थान में ही होना चाहिए ताकि उसमें सूरज की रोशनी पड़ सके और बरसात का पानी उसमें न जा सके।

३—कुएँ के नजदीक पेड़-पालव न होने चाहिएँ। यदि हों तो तोड़ डालने चाहिएँ, क्योंकि पेड़ों के पत्ते सूखकर उसमें गिर पड़ते हैं और सड़कर पानी को गंदा (पृष्ठ २८) कर डालते हैं; पेड़ों की जड़ें कुएँ में जाकर उसकी दीवाल को विदलित करती हैं, जिससे गंदा पानी कुए में जाने की बहुत संभावना होती है; पेड़ों के ऊपर

पत्तियों के वैठने से उनकी बीट पानी में गिरा करती है और पेड़ों की छाया से कुएँ में सूर्य की रोशनी अच्छी तरह से नहीं पड़ती।

४—मनुष्यबस्ती से कुआँ कम से कम २५० फुट दूरी पर होना चाहिए, तथा उसकी गहराई के चौगुने पंचगुने फासले में परनाला, मोरी, अस्तबल, पेशाबखाना, पाखाना इत्यादि न होने चाहिएँ, क्योंकि इनकी खराबियाँ कुए में जाने की संभावना होती है।

५—कुआँ गहरे प्रकार का होकर पक्का बँधवाना चाहिए। इसके भीतर की दीवाल भूमिगत अप्रवेश्य स्तर तक सीमेंट की होनी चाहिए, ताकि अनुस्थली का जल (Subsoil water) उसमें न आ सके। कच्चे कुएँ की दरारों और गड्ढों में कबूतर आदि घर बनाते हैं और कुएँ के जल में बीट किया करते हैं।

६—कुएँ के पृष्ठ-भाग के ऊपर चारों ओर २ फुट ऊँचाई की चहार-दीवारी या मुँडेर बनवाना चाहिए, ताकि छींटे अन्दर न जा सकें।

७—कुएँ के चारों ओर ५-६ फुट तक सीमेंट का पक्का चबूतरा बनवाना चाहिए और वहाँ का खराब पानी पक्की नाली द्वारा दूर (पृष्ठ ३२) छोड़ देना चाहिए।

८—कुएँ से पानी निकलवाने के लिए एक डोलची और डोर सदा के लिए रखना चाहिए और जिसको जल लेना हो वह अपने घड़े या बालटी से पानी न निकलवाकर उससे पानी निकलवा कर अपने घड़े में लेवे। यदि पम्प बैठाया जाय तो सबसे अच्छा है।

९—कुएँ के ऊपर टिन आदि का एक सछिद्र ढकना होना चाहिए, जिससे उसमें धूल और पेड़ों को पत्तियाँ न जा सकें। जिस समय कुआँ उपयोग में न हो तथा रात के समय ढक्कन ऊपर डाल देना चाहिए।

१०—कुएँ के नजदीक स्नान करना, कपड़े धोना, बासन माँजना इत्यादि कर्म करना उचित नहीं है। इससे गन्दे पानी के छींटे कुएँ में जाकर तमाम पानी को दूषित कर देते हैं।

११—प्रति वर्ष गर्मी के मौसम के अन्त में कुएँ का कीचड़ निकलवाकर उसकी मरम्मत और सफाई करवानी चाहिए।

जल विशुद्धिकरण

विण्मूत्रतृणनीलिकाविपयुतं तप्तं घनं फेनिलम् ।
दंतग्राह्यमनार्तवं हि सजलं दुर्गन्धि शैवालजम् ॥
नानाजीवविमिश्रितं गुरुतरं पर्णौघपंकाविलम् ।
चन्द्रार्कांशु सुगोपितं नच पिवेन्नीरं सदा दोषलम् ॥ हा० सं०

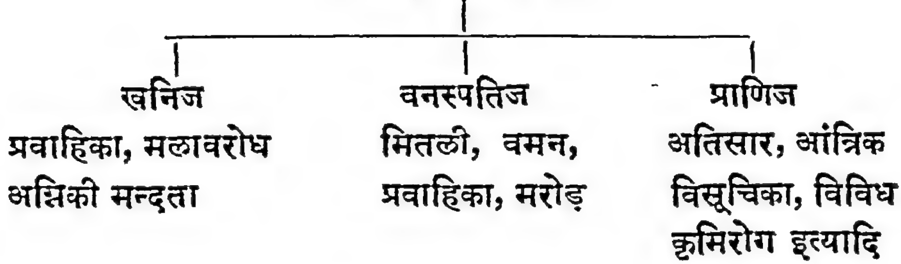
जीव-रक्षा करने के लिए पानी आवश्यक होने पर भी यदि विशुद्धावस्था में न मिले तो वह तरह-तरह की बीमारियाँ पैदाकर जीवन की रक्षा करने के बजाय जीवन का अकाल नाश करने में सहायभूत होता है। केवल विशुद्ध जल की ही 'जीवन' संज्ञा हो सकती है। बहुत से लोगों को यह भी पता नहीं है कि पानीय-जल द्वारा तरह-तरह के रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं, और इसी अज्ञानता के कारण ये लोग पानी में और-और मलिनताएँ पैदाकर वही पानी पीने में लेते हैं। अनेक औपसर्गिक रोग पीनी के पानी द्वारा ही उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलिए पानी की कौन-कौन सी अशुद्धियाँ हैं, उनको किन-किन साधनों से दूर करना चाहिए इसका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होना आवश्यक है।

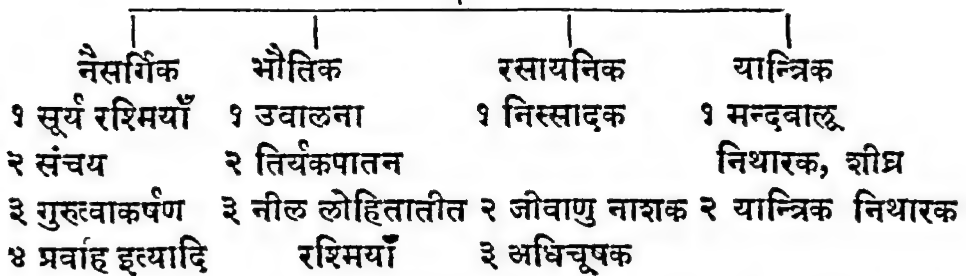
नीचे पानी की अशुद्धियाँ और उनसे उत्पन्न होनेवाले विकार बताये जाते हैं।

(१) वनस्पतिज—यह अशुद्धि वनस्पतियों के सूखे पत्तों तथा अन्य पदार्थों के पानी में सड़ने से उत्पन्न होती है। इससे पानी का रंग बदलकर दुर्गन्ध आने लगती है। काई, सिवार इत्यादि भी अधिक मात्रा में हो तो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं। वनस्पति की अशुद्धता से दस्त, मरोड़ इत्यादि विकार पैदा होते हैं।

जल की अशुद्धियाँ

विलीन (Dissolved)	(Suspended) अवलंबनस्थ
प्रां० द्विजारेय, प्राणवायु उदजन शुल्वेय, तिक्ताति इत्यादि वायु, चूना, भ्राजातु अयस् इत्यादि खनिज और भूमिगत सेन्द्रिय पदार्थ	वालु, मिट्टी, अभ्रक इत्यादि खनिज, काई, सीवार इत्यादि वनस्पतिज, कीटाणु, तृणाणु कृमि के अण्डे इत्यादि प्राणिज





(२) खनिज—जिन-जिन स्थानों में से पानी आता हैं या जिस स्थान में कुआँ, तालाव इत्यादि खुदा होता है उस स्थान की प्रकृति पर यह अशुद्धता निर्भर रहती है और प्रत्येक अशुद्धता का असर भी भिन्न भिन्न होता है। पार्थिव अशुद्धता से पानी के रंग-रूप में विशेष फर्क नही होता तथापि उसकी रुचि में फर्क पड़ता है।

पानी में यदि अयस् (Iron) का अंश अधिक हो तो अग्निमांद्य और कब्ज, चूना और जसद हो तो सख्त कब्जियत, तथा अभ्रक और भ्राजातु (Magnesium) हो तो प्रवाहिका रोग उत्पन्न होते हैं।

कभी-कभी गहरे कूपों के पानी में तरस्विनी (Fluorine) होता है। उससे बच्चों के दाँतों का दुष्पोषण (Dystrophy) होकर उनके कवच पर दागी पड़ जाती है।

गलगण्ड (Goitre)—इसकी उत्पत्ति के संबंध में अब भी वहुत मत-भिन्नता पाई जाती है। कुछ शास्त्रज्ञ पीने के पानी में जम्बुकी (आयोडीन) की कमी इसका कारण मानते हैं। म्याक् क्यारिसन (Mc Carrison) नामक शास्त्रज्ञ ने बतलाया है कि यह रोग विशेष जीवाणु के कारण होता है। ये जीवाणु जमीन में

रहते हैं, पानी के द्वारा मनुष्यों के पेट में प्रवेश करते हैं और आन्त्र में विष उत्पन्न करके तद्द्वारा अवटुका (Throid) ग्रंथि की अभिवृद्धि करते हैं।

सीसविष (Plumbism)—सीसयुक्त जल का सेवन अधिक काल करने से यह विकार उत्पन्न होता है। सीस नैसर्गिक जल में नहीं होता। सीसे के नल में से पानी आने से या सीसे के हौजों में संचय करने से पानी में सीस आ जाता है। सीसे को घोलने की शक्ति निम्न प्रकार के पानी में (पृष्ठ २९) होती है—

१—सबसे विशुद्ध जल तथा जिसमें प्राणवायु की मात्रा बहुत हो, ऐसा जल, यथा आंतरिक्ष और प्रास्रवण जल; २—जिसमें भूयित भूयीय और नीरेय हों ऐसा जल, ३—जिसमें धरणिक (Humic) अम्ल हो ऐसा जल; ४—तिर्यक्पातित पानी (Distilled water) ५—नदी का कीचड़युक्त पानी। कठिन जल में सीस घुलता नहीं।

५ सेर पानी में यदि $\frac{१}{२०}$ रत्ती भी सीस हो तो वह पानी पीने के लिए हानिकारक समझना चाहिए। सीस का विष संचायी (Accumilative) स्वरूप का है, इसलिए यदि पानी में $\frac{१}{४०}$ रत्ती सीसा हो तो भी लगातार ऐसा पानी पीने से सीसक रोग हो सकता है। इस रोग के प्रधान लक्षण-अजीर्ण, अग्निमांद्य, मलावरोध, मुँह का जायका मीठा, मसूढ़ों पर नीली लकीर, आंत्रशूल, टांगों की पेशियों में ऐंठन, हाथ की प्रसारक पेशियों का घात होने के कारण मणिभ्रंश, (wrist drop) जोड़ों में दर्द, अश्मरी वृक्क हृदय मस्तिष्क के उपद्रव आँखों में रोशनी की कमी और अंत में अंधता।

(३) प्राणिज—यह सबसे महत्त्वपूर्ण तथा हानिकारक अशुद्धि है, और बड़े-बड़े जानपदिक रोग इस अशुद्धता से ही पैदा होते हैं। यह अशुद्धि रोगी के मल-मूत्र का पानी के साथ ससर्ग होने से पैदा होती है। इससे निम्नलिखित रोग होते हैं।

विषूचिका (Cholera)—पानी से फैलनेवाले रोगों में यह प्रधान रोग है और इस रोग के फैलाव में रोगी के मल और वमन से दूषित पानी का विशेष भाग है। हैजे का वक्राणु (Vibrio) मनुष्य के शरीर में अधिकतर जल के साथ ही जाता है। इस रोग से पीड़ित रोगी के कै, दस्त किए हुए कपड़े कितने ही लोग नदी, कुएँ पर ले जाकर धोते हैं। इस तरह पानी खराब हो जाता है और जो लोग इसे पीते हैं वे इससे पीड़ित हो जाते हैं। कभी-कभी यह रोग उन बर्तनों में भोजन करने से, पानी पीने से होता है जो कि हैजे के वक्राणु से दूषित पानी में धोये गए हैं।

आन्त्रिक ज्वर (Typhoid fever)—यह भी प्रायः पानी द्वारा फैलता है। जो मनुष्य इस रोग से पीड़ित मनुष्य के मल-मूत्र से दूषित पानी पीता है वह इस रोग से पीड़ित होता है।

पलितमज्जाशोथ (Poliomyelitis)—इसको शैशवीय अंगघात (Infantile paralysis) कहते हैं। इसके विषाणु (Virus) रोगी के मल से निकलते हैं। ऐसे मल से दूषित जल रोग का संक्रमण करता है।

आन्त्रकृमि रोग (Entozoal diseases)—कृमि रोग से पीड़ित मनुष्यों के पुरीष में कृमियों के असंख्य अंडे होते हैं। यदि ऐसे मल से दूषित पानी को पिया जाय तो अण्डे आंत्र में पहुचकर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार फैलते हैं। इस तरह गण्डूपद कृमि (Round worm), सूत्र कृमि (Thread worm), अंकुश कृमि (Hook worm), प्रतोद कृमि (Whip worm) स्नायुक कृमि (Guinea worm), और यकृत् कृमि (Distoma Hepaticum), शरीर में प्रवेश करते हैं। इनके अलावा खराब पानी से नेत्राभिष्यन्द, दाद, प्रवाहिका, अतीसार इत्यादि भी रोग पैदा होते हैं।

ये अशुद्धियाँ उद्गमस्थान (Source) से, रास्ते में बहते समय (Transit), संग्रहस्थान से और वितरण के समय (Distribution) पानी में आ सकती हैं।

पानी का विशोधन

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि मनुष्य यदि दूषित जल-जन्य रोगों से अपनी रक्षा करना चाहे तो उसे पानी विशुद्ध करके पानी चाहिए। पीना में जो अवलम्बनस्थ, और विलीन पदार्थ होते हैं उनको पानी से अलग करना पानी के विशोधन का उद्देश्य होता है।

पानी का विशोधन नैसर्गिक और कृत्रिम दो प्रकारों से होता है। निसर्ग में वायुमण्डल की तरह कुछ नैसर्गिक साधनों से जल की शुद्धि होती रहती है। परन्तु इन साधनों के ऊपर हवा की तरह पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः आवश्यकता पड़ने पर कृत्रिम साधनों द्वारा भी विशोधित करना पडता है।

१—पानी की नैसर्गिक शुद्धि—यह शुद्धि नदी, तालाब या जहाँ पानी बहुत होता है वहाँ हो सकती है। इसमें निम्न साधन सहायभूत होते हैं।

(१) पानी का बडा सचय—पानी बहुत होने से मैले की तीव्रता कम हो

जाती है। (२) पानी का प्रवाह[1]—इससे पानी में जो मैला आता है वह एक स्थान में इकट्ठा न होकर तमाम पानी में मिलता है तथा नीचे निकल जाता है। (३) सूर्य की किरणें—सूर्य अपनी नीललोहितातीत किरणों के द्वारा जल-गत जीवाणुओं का नाश करता है। (४) काई, सिवार इत्यादि जलवासी वनस्पतियाँ—ये प्राणवायु को पानी में छोड़कर मैले को जारित (भस्म) करती हैं। (५) मछलियाँ कछुआ इत्यादि जलवासी जीव—ये मैले को खाते हैं। (६) जीवाणु—जल में पूत्युपजीवी (Saprophytic), तृणाणुभक्षक (Bacteriophage) और वातपी (Aerobe) तृणाणु होते हैं। इनमें से पहले मृत सेन्द्रिय द्रव्यों का और दूसरे रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश करते हैं। तीसरे सेंद्रिय द्रव्यों को जारित करते हैं। (७) प्राणवायु—यह वायु वातपी जीवाणुओं को जारण कर्म में सहायता करता है। (८) गुरुत्वाकर्षण और अवसादन (Gravity or Sedimentation)—इससे जलस्थित अवलम्बनस्थ पदार्थ नीचे तली में बैठ जाते हैं। ये पदार्थ अपने साथ जलस्थ जीवाणुओं को भी ले जाते हैं। (९) समय—जल के स्वाभाविक विशोधन में समय एक महत्व का साधन है। अधिक समय तक सूर्य की किरणों तथा अवसादन का कार्य होने से जल करीब-करीब शुद्ध हो जाता है। यान्त्रिक विशोधन में प्रथम नैसर्गिक साधनों का ही उपयोग किया जाता है।

२—कृत्रिम शुद्धि—इसमें भौतिक, रासायनिक और यान्त्रिक विधियों द्वारा कृत्रिम तौर से पानी की शुद्धि की जाती है। भौतिक में तिर्यक्पातन और उत्क्वथन, रासायनिक में अवसादन और जीवाणुनाशन तथा यान्त्रिक में शीघ्र और मन्द निस्यंदन इन साधनों का समावेश होता है।

तिर्यक्पातन (Distillation)—तिर्यक्पातन करने से पानी विशुद्ध हो जाता है, तथापि व्यवहार में बड़े पैमाने पर इसका उपयोग नहीं कर सकते। इस

---

१. नदीवेगेन शुद्ध्यति। मनु। नदीप्रवाहश्च श्लेष्माद्यशुचिदूषितो वेगेन शुद्ध्यति। कुल्लूकभट्ट। वहता पानी निर्मला बँधा गंदा होय।

२. मनुस्मृति में सूर्य, काल तथा वायु दूषित वस्तुओं की शुद्धि के साधन बताये गये हैं—ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्। वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेःकर्तृणि देहिनाम्॥ पथानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशु मारुतैः॥ आयुर्वेद में भी जल शुद्धि में इन साधनों का निर्देश किया गया है—दिवासूर्यांशु संतप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्। कालेन पक्वं निर्दोष-मगस्त्येनाविषीकृतम्। हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि। स्नानपानावगाहेषु हित-मम्बु यथामृतम्॥ चरक॥

विधि का विशेष उपयोग जहाजों पर किया जाता है। इस विधि से शुद्धिकृत पानी रुचिकर नहीं होता, इसलिए पीने के पहले इसको वातेरित (Aerated) करना पडता है। सीस, जसद इत्यादि धातुओं पर इसका असर (पृष्ठ ४१) जल्दी होता है। इसलिए इन धातुओं के वर्तनों में इसका संचय न करना चाहिए। एदन और लाल समुद्रवर्ति कुछ नगरों मे कुँओं का पानी खारा होने से इस विधि का उपयोग करते हैं।

उत्क्वथन—घरेलू व्यवहार के लिए जल विशोधन की यह उत्तम और सुलभ विधि है। उबालने से पानी की अस्थायी कठिनता (पृष्ठ २६) निकल जाती है, रोगोत्पादक जीवाणु मरते हैं, और पानी में विलीन हुए तिक्ताति (Ammoina) आदि वायुरूप पदार्थ निकल जाते हैं। विशोधन की विधियों में उत्क्वथन[1] संशयातीत श्रेष्ठ विधि है।

रासायनिक शुद्धिकरण—(१) निस्सादक (Precipitants)—इन द्रव्यों से पानी में निस्साद बनकर उसके साथ अवलम्बनस्थ द्रव्य और जीवाणु नीचे तली में बैठ जाते हैं। इनका उपयोग जहाँ पर निस्साद पूर्णतया दूर करने का प्रबन्ध होता है वहाँ पर ही जलशुद्धि के लिए कर सकते हैं। निम्न द्रव्यों का उपयोग इसके लिए किया जाता है।

चूना—इसका उपयोग अस्थायी कठिन पानी को मृदु करने के लिए होता है। और इससे चूर्णातु प्रांगारीय (पृष्ठ २६) तली में बैठ जाता है।

फिकटरी (Alum)—फिटकरी पानी में चूर्णातु प्रांगारीय ($Ca\ CO_3$) होने पर कार्य करता है। इससे पानी में स्फटधातु उद्रीय (अल्यूमिनम हयाड्रेट) का ऊनी निस्साद (Flocculent) बनकर वह जीवाणुओं तथा दूसरी अशुद्धियों को अपने साथ लेकर नीचे तली में बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ पानी रहता है। फिटकरी की मात्रा पानी की शुद्धाशुद्धता पर तथा चूर्णातु प्रांगारीय की राशि पर निर्भर रहती है, तथापि ५ सेर पानी के लिए १–४ रत्ती फिटकरी पर्याप्त होती है। बरसात के दिनों में पानी बहुत मटियाला होने से अधिक फिटकरी की आवश्यकता होती है। फिटकरी के बाद २ रत्ती चूना पानी में डाला जाय तो पानी की निर्मलता ज्यादा हो जाती है।

आजकल स्फट्ययसिक (अल्युमिना फेरिक) एक ग्यालन में एक ग्रेन की मात्रा में अधिक प्रयुक्त किया जाता है। इसका उपयोग यान्त्रिक निस्यन्दक में

---

१. व्यापन्नस्याग्निक्वथनम् । सुश्रुत ॥

पानी छोड़ने से पहले किया जाता है। फिटकरी जीवाणुनाशक नहीं परन्तु उससे जीवाणुओं की संख्या बहुत कम होती है।

अयस् अतिनीरेय (Iron perchloride)—१० सेर पानी के लिए २½ रत्ती मात्रा में इसका उपयोग किया जाता है।

निर्मली[1]—निर्मली का फल (Strychnos potatorum) पानी के साथ रगडकर पानी में मिला देने से थोड़ी देर में पानी की सारी मैल नीचे तली में वैठ जाती है। ५०० सेर पानी के लिये १५ रत्ती निर्मली का फल काफी हो जाता है।

(२) जीवाणुनाशक—निम्न द्रव्य जलस्थित जीवाणुओं का नाश करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

दहातु अतिलोहकित ($KMnO_4$)—जिन सेंद्रिय पदार्थों पर जीवाणु पलते हैं उनको जारित करके यह द्रव्य अप्रत्यक्षतया जीवाणुनाशक होता है। यह दुर्गन्धहर (Deodorant) भी है। हैजे के जीवाणुओं से दूषित जल को विशुद्ध करने लिए इसका प्रयोग प्रथम हंकिन नामक शास्त्रज्ञ ने वतलाया, इसलिए इस विधि को हकिनीकरण (Hankinisation) की विधि कहते हैं। यह विधि कुओं का या टंकियों का पानी शुद्ध करने के लिए आम-तौर पर प्रयुक्त की जाती है। पानी में इसकी राशि इतनी डालनी चाहिए कि पानी का रंग हलका-सा गुलावी हो जावे और कुछ घण्टों तक वैसा ही रहे। साधारणतया ५ फूट व्यास और ८ फूट गहराई के कुएँ के लिये १-२ तोला अतिलोहकित पर्याप्त होता है। इसका उपयोग संध्या के समय करने से सुवह के समय कुएँ का पानी पीने योग्य हो जाता है। एक लाख भाग में यदि ½ भाग भी इस द्रव्य का हो तो ४-६ घण्टों की अवधि में ९८% जीवाणु मर जाते हैं। यह द्रव्य महंगा है, इसका कार्य सतत नहीं होता, विकारी तृणाणुओं पर कार्य करने से पहले यह जलगत सेन्द्रिय (Organic) द्रव्यों पर कार्य करके वेकार होता है और तालाव जैसे बड़े जलाशयों के लिए उपयुक्त नहीं किया जा सकता ये इसके दोष हैं।

तुत्थ—(Copper Sulphate)—इसको पानी में डालने से काई, सिवार (Algi) इत्यादि जलवासी वनस्पतियों की वृद्धि रुक जाती है, तथा रोगोत्पादक जीवाणुओं का भी विनाश होता है। दस लाख भाग में इसका केवल ०·१ भाग ही इस काम के लिए पर्याप्त होता है। एक भाग हो तो आंत्रिक ज्वर के तथा दूसरे

---

१. फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादनम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसादति॥ मनु॥

रोगोत्पादक जीवाणु २४ घंटे के अन्दर नष्ट हो जाते हैं। ताम्रनीरेय (Copper chloride) तुत्थ से अधिक परिणामकारक है। पानी में १२ घण्टों तक सिर्फ ताँबे का पतला पत्रा डालने से भी जंतु विनाश[1] का काम हो सकता है।

तुत्थ की पोटली को रस्सी में बाँधकर पानी मे घुमाने-फिराने से जलाशय की शुद्धि हो जाती है।

नीरजी—(Colorine)—दस लाख भाग पानी में १ भाग यह वायु मिलाने पर रोगोत्पादक जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। पानी विशुद्ध करने का यह बड़ा सस्ता और आसान तरीका है। यान्त्रिक नितारक से निकले हुए पानी के लिए इस वायु का उपयोग किया जाता है। इससे जीवाणुनाशन भली-भाँति होता है, वायु की मात्रा कम लगती है और पानी में उसकी गन्ध कम आती है।

इस विधि से पानी अच्छी तरह नीरजित (Chlorinated) हुआ है या नहीं यह जानने के लिए पानी विशुद्ध होने के आधे घंटे के बाद उस पानी में मण्ड (स्टार्च) के ताजे घोल की कुछ बूँदें डालें फिर उसमें दहातु जम्बेय (पोटयाशिअम आयोडाईड) का एक छोटा स्फटिक डालें। यदि पानी अच्छी तरह नीरजित हुआ हो तो पानी का रंग नीला हो जायगा। नीरजी के बदले विरंजन चूर्ण (Bleaching powder) या चूने के उपनीरित (Calcium hypochlorite) का भी प्रयोग किया जाता है। उत्तम विरंजन चूर्ण में ३५ प्रतिशत नीरजी होती है। १००० सेर पानी को शुद्ध करने के लिए ३० रत्ती और ८ फुट व्यास और ५ फुट गहराई के कुएँ के लिए १ से २ तोला विरंजन चूर्ण पर्याप्त होता है। नीरजी की मात्रा कम होने से तथा पानी में सेन्द्रिय द्रव्य, मैला, अयस् इत्यादि पदार्थ होने से विरंजन चूर्ण की अधिक राशि आवश्यक होती है। नीरजी का कार्य पानी पर चार घन्टे तक होना चाहिए। तालाव या टंकी के विशोधन के लिए वोरे में विरंजन चूर्ण भरकर वे बोरे पानी में रस्सी को बाँधकर चारों ओर भली-भाँति घुमाये जाते हैं। क्लोरास, क्लोरीजन, इलेक्ट्रोलिटिक क्लोरिन इत्यादि नीरजी के अनेक द्रव्य आजकल बाजार में पानी शुद्ध करने के लिए मिलते हैं। इनमें २½–१०% नीरजी उपलभ्य होती है। इसके अतिरिक्त नीरतिक्ती (Choramine) और ताम्रनीरतिक्ति (Cupri chloromine) इनका भी उपयोग किया जाता है। इनमें ताम्रनीरतिक्ती जीवाणुनाशन की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

---

१. आयुर्वेद में पीने का पानी रखने के लिए ताम्रपात्र प्रशस्त माना गया है—जलपात्रं तु ताम्रस्य। भाव प्रकाश।

दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुश्रृत पयः पानीयम्। सुश्रुत।

क्याट्याडिन पद्धति (Catadyn process)—कुछ धातु अति सूक्ष्मांश में (Infinitesimal) जीवाणु नाशन करते हैं। इस तत्व के आधार पर यह पद्धति निर्माण हुई है। इसमें चाँदी का उपयोग स्पंज के समान विरल (Spongy) रूप में किया जाता है। ऐसी चाँदी के साथ पानी का सम्बन्ध होने पर पानी में चाँदी अयन (Ions) के रूप में विलीन होकर जल में विलीन प्राणवायु को आकर्षित करती है और उससे जलस्थित जीवाणु कुछ घंटों में नष्ट होते हैं। इस पद्धति से जलस्थित जीवाणुओं का नाशन करने के लिए पानी निस्यन्दित (Filtered)स्वच्छ होना जरूरी है। पानी के विशोधन के लिए क्याट्याडिन बोतलें या अक्षमालाएँ मिलती हैं। ये अक्षमालाएँ (Beads) पानी में घंटे दो घंटे के लिए रक्खी जाती हैं। इससे पानी जीवाणुरहित हो जाता है। यदि ये मालाएँ पानी में थोड़ी देर रक्खी जायँ तो पश्चात् दो घण्टे के लिए पानी वैसा ही रखना चाहिए।

जम्बुकी और नेसफील्ड की वटिकाएँ (Nesfield's tablets)—इनमें क्षारातु-जम्बेय जम्बीय (Sodium iodide–iodate) रहता है। ४० सेर पानी में दो रत्ती की वटिका तथा १ रत्ती निम्बविक अम्ल डालने से विषूचिका और आंत्रिक ज्वर के जीवाणु कुछ मिनटों में नष्ट हो जाते हैं। इसकी जीवाणुनाशन शक्ति स्वतन्त्र जम्बुकी (Iodine) के ऊपर निर्भर होती है, जो निम्बविक अम्ल (Citric acid) का जम्बेय के ऊपर कार्य होने से उत्पन्न होती है। लुगोल का घोल (Lugol's) १००० भाग पानी में १ भाग डालने से १० मिनट में जल निर्जीवाणुक हो जाता है।

प्रजारण (Ozonization)—बड़े पैमाने पर पानी विशुद्ध करने के लिए प्रजारक का उपयोग किया जाता है थोड़े जल के लिए नहीं। यह विधि बहुत खर्चीली है। वह वायु सेंद्रिय अशुद्धियों को (पृष्ठ ३, ११)और जलवासी रोगोत्पादक जीवाणुओं को नष्ट कर डालता है। खनिज अशुद्धियों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए इसका प्रयोग करने के पहिले खराब पानी को नितारक से निर्मल करना पड़ता है। एक प्रस्थ (लिटर) पानी के लिए प्रजारक का १–२ सहस्रिधान्य पर्याप्त होता है।

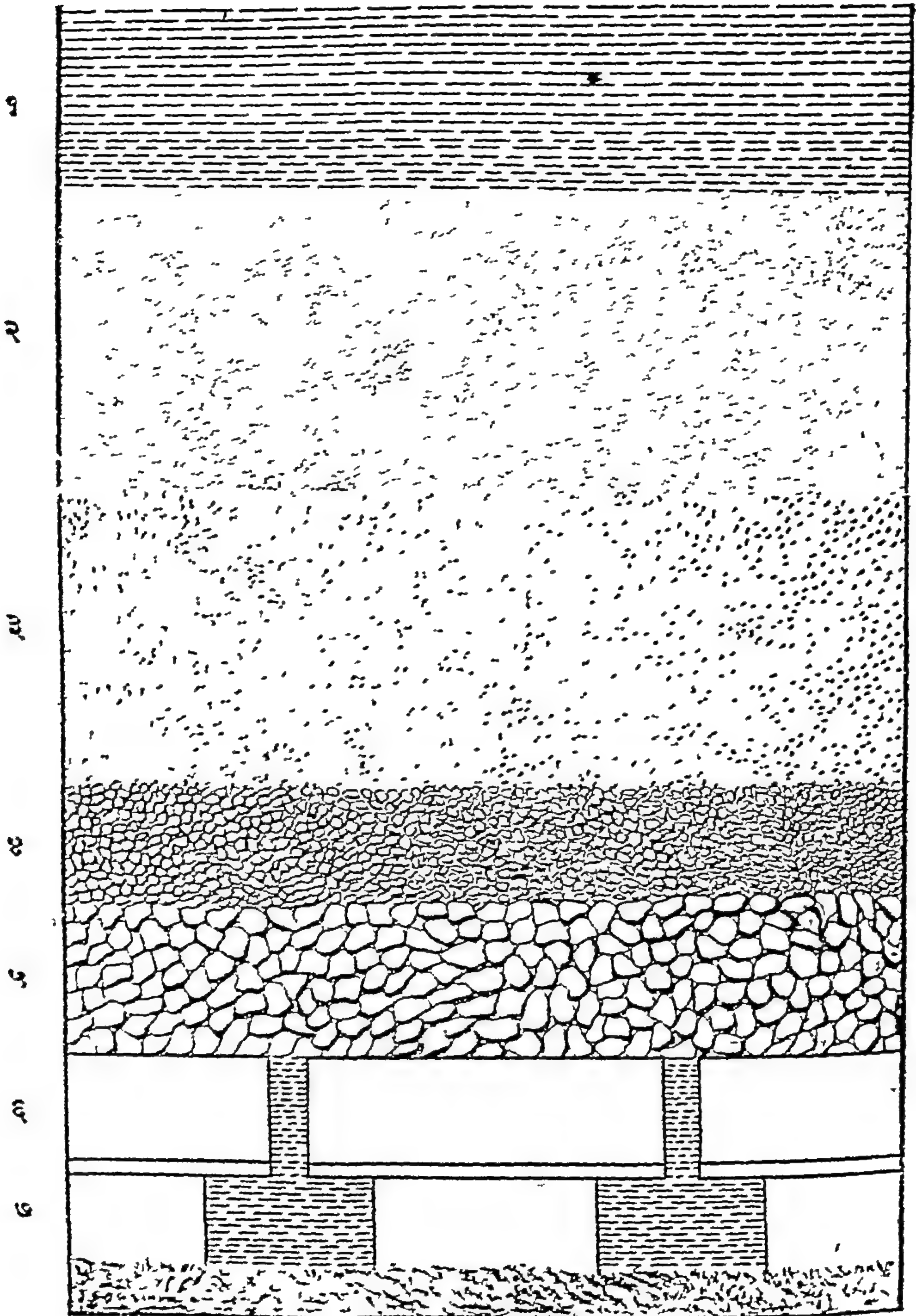
प्रजारक को पहिले एक कमरे में बिजली की सहायता से उत्पन्न करते हैं और फिर जलाशय के तल पर पहुँचाते हैं। ऊपर की ओर फैलता हुआ प्रजारक पानी के साथ मिलकर उसे शुद्ध कर डालता है।

नील लोहितातीत रश्मियाँ (Ultra-violet rays)—पानी विशुद्ध करनेकी यह विधि वास्तव में भौतिक है, क्योंकि ये रश्मियाँ पानी में कोई रासायनिक फर्क नहीं करतीं तथा पानी के साथ कोई रासायनिक पदार्थ नहीं बनातीं। केवल अपने प्रभाव से जल-स्थित जीवाणुओं को नष्ट कर डालती हैं। ये रश्मियाँ कृत्रिम-रीत्या पारदवाष्प विद्युद्दीप (Westing house Cooper Hewitt Mercury lamp) से तयार की जाती है। प्रकृति में ये सूर्य-प्रकाश में पायी जाती है, और इन पर सूर्य-प्रकाश का जीवाणुनाशक गुण-धर्म विशेष करके (पृष्ठ ११) निर्भर है। यह दीप पाषाण-स्फटिक या क्वार्ट्ज़ (Fused rockcrystal or quartz) की नलिका में रखा जाता है, और शुद्ध जल उस नलिका के ऊपर बहता रहता है, ताकि इनका पानी के ऊपर अधिक से अधिक प्रभाव हो। पानी का मटियालापन या उसमें किसी प्रकार के पिच्छिल द्रव्य की विद्यमानता इनकी क्रिया में बाधा डालती है, इसलिए इनका प्रयोग करने से पूर्व यांत्रिक नितारक द्वारा पानी निर्मल होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा इनका प्रभाव बहुत धीरे-धीरे होता है। जितना पानी निर्मल होता है, उतना इनका जीवाणुमारक प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। पानी में ये रश्मियां स्थूलान्त्र दण्डाणुओं (Coli bacilli) को १५ से २० सेकंड में, आंत्रिक ज्वर के दंडाणुओं को १० से २० सेकंड में और तृणाणुओं के चुल्लको (Spores) को ३० से ६० सेकंड में नष्ट करती है।

अधिचूपक (Adsorbents)—ये द्रव्य अपने छिद्रों में जलगत रंग, गंध, वायु, जीवाणु इनको अधिचूषित करके जल को शुद्ध करते हैं। इनमें लकड़ी कोयला (Charcoal) मुख्य हैं जो बहुत पहले से इस काम के लिए प्रयुक्त किया जा रहा था। चिप्रकारित (Activated) कोयलों में यह शक्ति अधिक होती है। इसका उपयोग निस्यन्दकों में, जलाशयों में निस्सादकों के साथ किया जाता है। कुछ काल के बाद इसकी शक्ति घट जाती है। तब उसको भाप से या क्षारातु उदजारेय (Sodium Hydroxide) से पुनः चिप्रकारित (Reactivate) करके काम में लाना पड़ता है।

(१) यान्त्रिक पद्धतियाँ—(१) मन्द बालू नितारक (Slowsand filter)—इसमें पानी की शुद्धि करने के लिए बालू का प्रयोग किया जाता है इसको 'अंग्रेजी पद्धति' (English system) कहते हैं। ये नितारक सामान्यतया शहर के बाहर नदी के समीप होते हैं। शहर के ऊपर एक विशिष्ट स्थान से जहाँ पर पानी शुद्ध रहता है, नदी का पानी लेकर वह बड़े-बड़े प्रक्षेपक जलाशयों में (Settling tank) कुछ काल तक संचित किया जाता है।

मन्द वालू नितारक



चित्र न० ४

१. पानी का स्तर ३ से ६ फूट। २., ३. महीन और मोटी रेत २ से ३ फूट। ४, ५. छोटे और बड़े कंकड़ ½ से १ फूट। ६., ७. शुद्ध जल के लिए नालियाँ

इससे ठोस अवलंवनस्थ पदार्थ तलों में निस्सादित हो जाते हैं। यह निस्साद सामान्यतः वालू, खनिजक्षार तथा मिट्टी का होता है। इस निस्साद को समय-समय पर तली से खरोंचकर निकालना पड़ता है, इसलिए प्रक्षेपक जलाशय अनेक होने की जरूरत है। डाक्टर हाउस्टन ने यह वतलाया है कि इन जलाशयों में यदि पानी उचित काल तक सचित रहे तो जारण और सूर्यप्रकाश से (पृष्ठ ४२) अधिक-संख्य रोगजनक जीवाणु नष्ट हो जाते है तथा निस्सादन से पानी निर्मल हो जाता है। चौवीस से अड़तालीस घटे के वाद इनमें से पानी दूसरे स्थान में पहुँचाया जाता है जिसको नितारक कहते हैं। वर्षा में इससे भी अधिक काल तक इनमें पानी सचित करना पड़ता है। इस प्रकार को असतत (Discontinuous) पद्धति कहते है। कहीं-कहीं सतत (Continuous) पद्धति के जलाशय होते हैं जिनमें पानी मंद गति से वहता है और वहते समय निस्साद नीचे वैठ जाया करता है।

नितारक (Filter beds)—ये पक्के, वड़े, और चौकोर होकर १२ फुट गहराई के ईंट और सीमेंट के वने रहते हैं। इनकी तली पर ईंटों की दो स्तरों से इस प्रकार नालियाँ वनी होती हैं कि जिनमें निथरा हुआ पानी आसानी से वह सके। ईंटों के वीच में तथा ईंटों के ऊपर ½–१ फुट गहराई का कंकड़ों का स्तर होता है। इस स्तर में वडे-वड़े कंकड़ नीचे और छोटे-छोटे ऊपर रक्खे जाते हैं। इन कंकड़ों के स्तर का मुख्य कार्य ऊपर के वालू के स्तर को सहारा देने का है। कंकड़ों के इस स्तर के ऊपर २–३ फुट गहराई का रेत का स्तर होता है। इस स्तर में भी वड़ी रेत नीचे और महीन रेत ऊपर रहती है। महीन रेत का यही स्तर पानी को निर्मल करने का कार्य करता है। यह रेत समुद्र के किनारे से या नदी की मध्यभूमि से ली जाती है। रेत न बहुत महीन न बहुत मोटी होनी चाहिए। इसकी औसत मोटाई ⅓ सहस्रिमान (Millimeters) रहे और उसमें अभ्रक या शृंगाधन (Hornblende) वहुत कम रह कर वह स्फटिक (quartz) की हो। रेत के इस स्तर के ऊपर पानी का स्तर होता है जिसकी ऊँचाई ३–६ फुट तक होती है। चित्र ४ देखिये।

इस नितारक से पानी की शुद्धि भौतिक, रासायनिक और जैविक (Biological) पद्धति से होती है। जो निस्साद पहिले प्रक्षेपक जलाशय की तली में नहीं बैठता प्रायः इस रेतीली स्तर पर आकर बैठ जाता है। दो-तीन दिन के वाद इस स्तर के उपर तथा रेती के बीच में एक चिपचिपा-सा पतला स्तर वन जाता है, जो कि पानी से जीवाणु अलग करने में विशेष उपयुक्त होता है। इसलिए इसको मर्मस्तर (Vital layer) कहते हैं। यह स्तर काई तथा अन्य निम्न

श्रेणी की वनस्पतियों से (Algi fungi etc) बनता है। इसलिए तीन दिन के बाद जब कि यह स्तर ठीक तौर से बन जाता है, पानी का नितरण अच्छा होने लगता है। बहुत दिन के बाद जब यह स्तर मोटा होकर नितरण धीरे-धीरे होने लगता है तो इस स्तर को हटाना आवश्यक हो जाता है। इस स्तर के हटाने के बाद नया दूसरा स्तर तैयार होने तक जो पानी नितारक से आता है उसे विशुद्ध जल के संचायक में न छोडना चाहिए। हर वक्त यह स्तर हटाने के समय रेत का ½ इञ्च गहराई का भाग निकल जाता है। ऐसे कई बार होने के बाद जब रेत के स्तर की गहराई १२ इञ्च से कम होती है तब पुरानी रेत को हटाकर नई रेत बिछानी पडती है। इस नितारक से पानी विशुद्ध होने के लिए निस्यन्दन की गति प्रतिघंटा चार उदग्र (Vertical) इंचों से अधिक होनी चाहिए। निस्यन्दन की गति (Rate of filtration) का नियन्त्रण करने के लिए निस्यन्दक का पानी एक कूप में ग्रहण किया जाता है। यह निस्यन्दकूप (Filter well) कहलाता है। इस कूप से बाहर जानेवाले पानी का नियन्त्रण कपाट Ualue) के द्वारा, नीचे ऊँचे होनेवाली पातनाड द्वारा (Penstock), या मुडी नलिका (Siphon) द्वारा करके तथा निस्यन्दक के पानी के पृष्ठ भाग (level) में उचित निस्यन्दन शीर्ष (Filtration head) रख के नितारक में निस्यन्दन की गति का नियमन किया जाता है। प्रारंभ में पृष्ठ भाग का अन्तर अधिक रखने की आवश्यकता नहीं होती, परंतु आगे चलकर जब बालू के ऊपर काफी मोटी तह बन जाती है तब अंतर अधिक रखना पड़ता है। जब यह अंतर डेढ़ से २ फुट तक हो जाता है, तब निस्यन्दन की गति बहुत ही मंद हो जाती है और काई सीवार की तह को हटाकर निस्यदक को फिर से ठीक करना ही प्रशस्त होता है। नितारक ठीक बनाने पर, निस्यंदन की गति उचित रखने पर तथा उसके काम पर ठीक देख-भाल करने पर निस्यंदक से छने हुए पानी में बहुत कम जीवाणु मिलते है। अच्छी तरह निस्यंदित १ घ. शि. मा. (सी. सी.) पानी मे एक दो से अधिक वातजनक स्थूलान्त्र दण्डाणु (B. coli aero' genes) न होने चाहिएँ।

(२) शीघ्र या यांत्रिक नितारक—बालू के नितारक में यह दोष है कि इसके आयोजन करने में, साफ करवाने में खर्च, ध्यान और अधिक समय की जरूरत पडती है, और इतना होने पर भी नितारण क्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है। इसलिए यांत्रिक (Mechanical) नितारकों का उपयोग हो रहा है। ये नितारक सस्ते, आयोजन में सरल, कम स्थान घेरनेवाले और जल्दी नितारण करनेवाले होते हैं। इसलिए शीघ्र (Rapid) नितारक भी कहलाते हैं। ये हमेशा

वन्द कमरे में या छायादार स्थान में होते हैं और लकड़ी अयस् या सीमेंट के वने वेलन (Cylinder) जैसे रहते हैं। इनकी गहराई ७ फूट होकर नितरण करने के लिए कंकड़-पत्थर के स्तर पर ४–५ फुट गहराई के स्फटिक (क्वार्टझ) की रेत का प्रयोग किया जाता है। मटियाले पानी के लिए ये बहुत फायदे मन्द होते हैं। इन शीघ्र नितारकों के एक वर्गफुट क्षेत्रफल से ५०० से ६०० सेर या एक एकड़ क्षेत्रफल से ५० करोड सेर पानी प्रति-दिन निथारा जाता है।

इन नितारकों की विशिष्टता यह है कि पानी में एक रासायनिक पदार्थ मिलाया जाता है जो कि पानी पर एक चिपचिपा सा स्तर पैदा करता है। फिर इस पानी को नितारक में छोडा जाता है। यह पदार्थ स्फटधातु शुल्वीय (अल्यूमिनम सल्फेट) है जो पानी में रहनेवाले क्षारिय मृद् के साथ मिलकर स्फटधातु उदजारेय (अल्यूमिनम हाइड्रोक्साईड) का चिपचिपा या ऊनी (Flocculent) स्तर बनाता है।



$$Al_2(SO_4)_3 + 3Ca(HCO_3)_2 = Al_2(OH)_6 + 3\,CaSO_4 + 6\,CO_2$$

यह प्रतिक्रिया ठीक तौर पर होने के लिए पानी में चूर्णातु द्वंयगारीय काफी तादाद में होना चाहिए। यदि उसकी कमी होतो विक्षार (सोडा) या चूना मिलाने की जरूरत पड़ती है। स्फटधातु उदजारेय का स्तर नितारक की रेती के ऊपर बैठ जाता है, और जैसे मद नितारक में काई, सिवार इत्यादि का स्तर (पृष्ठ ४९) काम करता है उसी के अनुसार यह चिपचिपा स्तर इसमें उपयोगी पड़ता है। स्फटधातु उदजारेय की राशि प्रति १० सेर १-४ रत्ती तक लगती है और यह राशि पानी के साथ विशेष यन्त्र द्वारा मिलाकर पानो कई घण्टों तक वैसा ही रक्खा जाता है। इसके बाद यह पानी बड़े जोर के साथ नितारक में छोड़ा जाता है।

शीघ्र नितारक में निम्न फायदे होते हैं।

१—नितरण की क्रिया पचास गुना तेज होती है।

२—यह विधि सस्ती और थोड़े स्थान में होती है।

३—नितरण की क्रिया संतत होनी है।

४—नितारक-स्तर को बदलने की जरूरत नहीं पड़ती और उसकी सफाई भी आसानी से कुछ कलाओं में हो सकती है।

५—इसमें नितारक स्तर २० मिनट में तैयार हो जाता है। मन्द नितारक में तीन दिन स्तर तैयार होने के लिए लग जाते हैं।

६—पानी मटियाला होने पर भी ये काम देते हैं।

इन शीघ्र नितारकों में दोष इतना ही है कि जीवाणुओं की दृष्टि से पानी की जितनी शुद्धता होनी चाहिए उतनी (पृष्ठ ५०) नहीं हो सकती।

इस प्रकार के नितारकों में प्याटरसन (Paterson), और कैंडी (Candy) विशेष प्रचलित हैं। इनमें कैंडी दवाव से (Pressure filter) और प्याटरसन गुरुत्वाकर्षण से (Gravity) काम करता है। जीवाणु पूर्णतया दूर न होने के कारण इनसे नितारित्त पानी नीरजी (पृष्ठ ४९) प्रजारक, नीललोहितातीत किरणें इनके द्वारा फिर से जीवाणुरहित किया जाता है।

घरेलू नितारक—वडे-वड़े शहरों में जहाँ नगरसमिति (म्युनिसिपल कमेटी) होती है वहाँ विशुद्ध पानी का प्रवन्ध सामान्यतः होता है, तथापि देहातों में, छोटी-छोटी वस्तियों में जहाँ ऐसा प्रवंध नहीं है, मनुष्यों को घर में ही पानी विशुद्ध करना पड़ता है। इसके लिए उत्क्वथन, रासायनिक द्रव्य और घरेलू निथारकों का उपयोग किया जाता है।

सवसे उत्तम नितारक वह है जो कि पानी अच्छी तरह से विशुद्ध करता है। ये अक्सर वत्ती की शकल के और मिट्टी (Clay) चीनी मिट्टी (Porcelain), युक्ताप्य (Infusorial) मिट्टी इनके या इनके मिश्रण में होते हैं। ये चीनी मिट्टी के वेलनाकार वर्तन में पेंच के द्वारा जुटे हुए रहते हैं, और इसका सवंध नीचे नल के साथ रहता है। इनमें पाश्चर चेंवरलेंड (Pasteur Chamberland) और वर्केफिल्ड (Berkefeld) विशेष प्रचलित हैं।

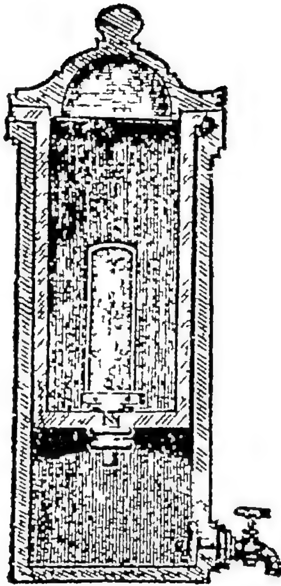
पाश्चर चेंवरलेण्ड (पृष्ठ ५२)—यह चीनी मिट्टी का वना रहता है। इसमें पानी निथारने के लिए अनेक वत्तियाँ होती हैं और निस्यंदन होने के लिए पानी के दवाव की जरूरत रहती है, अन्यथा इससे पानी वहुत मंदता से निथरता है। इससे जलवासी जीवाणु तथा अवलंवनस्थ सूक्ष्मांश सव दूर होकर पानी के रासायनिक संघटना में कोई फर्क नहीं होता। जलविशुद्धीकरण की दृष्टि से यह निस्यंदक विश्वसनीय और टिकाऊ है।

वर्केफेल्ड (पृष्ठ ५२)—युक्ताप्यमृद (Kiesselgurh) नामक मिट्टी से इसकी वत्ती वनायी जाती है। इसमें एक ही वत्ती होती है इसकी रचना प्रथम प्रकार के समान होती है तथापि यह विशेष छिद्री रहती है। इस कारण से इसमें नितरण के लिए पानी के दवाव की आवश्यकता नहीं होती तथा पानी भी शीघ्र निथारित हो जाता है।

परन्तु यह इतना विश्वसनीय नहीं होता। लगातार इसका उपयोग करने से इन वत्तियों के सूराख वन्द हो जाते हैं और उनमें जीवाणुओं की वृद्धि होने लगती

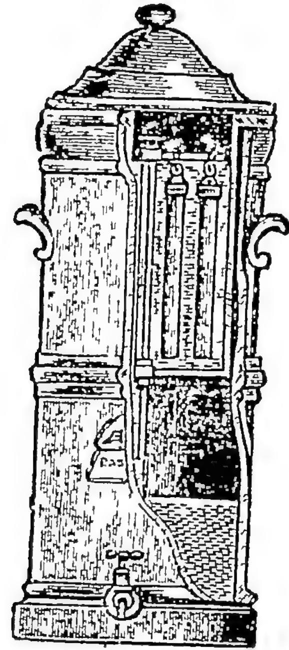
है। इसलिए जलवाह्य रोगों से पूर्ण बचना हो तो इनकी बत्तियों को प्रति तीसरे दिन खौलते हुए पानी में कुछ काल रखकर निर्जीवाणुक और स्वच्छ करना चाहिए। इससे रोगों से भी रक्षा होती है और पानी का नितरण भी ठीक होता रहता है।

बर्कफेल्ड



चित्र न० ५

पाश्चर चेंबरलेंड



चित्र न० ६

चार या तीन घडा निथारक—पानी शुद्ध और ठंडा करने के लिए इस प्रकार के निथारक का प्रचार भारतवर्ष में विशेष है। इसमें तीन या चार घडे एक दूसरे के ऊपर घड़ौंची पर रखे जाते हैं। ये घडे प्रायः मिट्टी के बने रहते हैं। सबसे ऊपर के घडे में कपड़े से छना हुआ खराब पानी रक्खा जाता है। इस घड़े की पेंदी में एक छोटा सुराख रहता है, जिसमें रूई का फोया होता है और जिसमें से होकर पानी दूसरे घड़े में टपकता है। इस दूसरे घड़े में सबसे नीचे तिहाई कंकड, उसके ऊपर तिहाई लकडी का कोयला और उसके ऊपर महीन रेती का स्तर रहता है। जो पानी ऊपर के घडे से धीरे-धीरे टपकता है पहिले रेत में होकर छनता है, जिससे अवलंबनस्थ सूक्ष्मांश रेत में रह जाते हैं। उसके बाद कोयले की तह पर पहुँचता है। कोयले में खराब वायुओं को सोखने की शक्ति है। इसलिए पानी में घुले हुए (पृष्ठ २४) वायु कोयले में सोख जाते हैं। इसी तरह से दूसरे घडे में पानी शुद्ध

होकर तीसरे में आता है। कभी-कभी तीन के स्थान में चार घड़े होते हैं, तब दूसरे घड़े में आधा कोयला होता है, तीसरे घड़े में कंकड़ तथा महीन रेत होती है और चौथे में निथरा हुआ शुद्ध पानी रहता है। इसमें जो कोयला वरता जाता है उसको सप्ताह में एक वार वदलना चाहिए तथा कंकडों और रेत को हफ्ते में एक वार खौलते पानी से साफ करके सूर्य प्रकाश में सुखाना चाहिए।

मामूली तरह से इन निथारकों का जल शुद्ध रहता है तथापि जव जलवाह्य रोगों यथा विसूचिका, आंत्रिक ज्वर, अतिसार इत्यादि—की महामारी जारी रहती है तव निथारण करने के वाद भी पानी को खूव अच्छी तौर से खौलाकर पीना उचित है।

जलविशुद्धिकरण की दृष्टि से १९५५ के दिसम्वर में औद्योगिक मेला और प्रदर्शनी (Industrial Fair and exhibition) के समय देहली में जो कामला की महामारी प्रादुर्भूत हुई थी उसका उदाहरण विचार करने योग्य है। अव तक यह मानी हुई वात थी कि उपर्युक्त जलविशुद्धिकरण की भौतिक, रसायनिक और यान्त्रिक पद्धतियों से जलगत जलवाह्य रोगों के कारणभूत जीवाणु नष्ट या दूर होकर जल जीवनयोग्य हो जाता है। इस कामला ने मानी हुई इस वात को जवर्दस्त धक्का दिया। सालभर में उससे २०००० से ऊपर लोग पीडित हुए। इसके मरक का अन्वेपण करने पर निम्न वातें अव तक मालूम हुई हैं—

(१) यह उपसर्गी यकृच्छोथ (Infective hepatitis) है।

(२) दूपित जल तथा अन्य खाद्य पेयों के सेवन से यह रोग फैलता है।

(३) मोरी परनाले के खराव पानी से पीने का पानी मिश्रित होने से यह रोग होता है।

(४) इसका कारणभूत जीवाणु कोई सूक्ष्मदर्शकातीत (Ultra microscopic) विपाणु (Virus) है।

(५) यह विपाणु पाश्चरचेम्वरलण्ड या अन्य घरेलु निथारकों से निस्यन्दित होकर पानी में आता है।

(६) नीरजी (पृष्ठ ४५) तथा अन्य रसायनिक द्रव्यों का पानी पर संस्कार करने से यह मरता नहीं है।

(७) दूपित दूध या पानी थोड़ी देर उवालने से भी यह नष्ट नहीं होता। परन्तु ५ मिनिट से अधिक उवालने पर ही नष्ट हो सकता है।

पानी विशुद्ध करने के वाद यदि उसके संचय में सावधानता न रखी जाय तो फिर पानी खराव होने की संभावना वहुत होती है। जल रखने के लिए सबसे

चढिया वर्त्तन पीतल या ताँबे का होता है। इनको स्वच्छ तथा चमकीले रखने चाहिएँ। धूलि, मिट्टी इत्यादि से वचाने के लिए इनके मुख पर सदा ढक्कन रखने चाहिएँ। इन्हें कभी भी सीढ़ियों के नीचे तथा आस-पास न रखने चाहिएँ क्योंकि मनुष्यों के आवागमन के कारण इनमें धूलि पड़ने की वहुत संभावना होती है। गरमी के मौसिम में इन धातुओं के वर्तनों में पानी गरम हो जाता है, इसलिए मिट्टी के वर्तनों का प्रयोग करना जरूरी है, तथापि यह ध्यान में रखना चाहिए कि इनको जल्दी-जल्दी वदलना जरूरी है। लकड़ी के वर्तनों में पीने का पानी कभी न रखे क्योंकि वे जल्दी गलकर पानी को खराव कर डालते हैं।

पानी का वँटवारा—बड़े-बड़े शहरों में पानी का प्रवंध करने के लिए पानी सामान्यतः नदी-नहर से, नदी के किनारे खोदे हुए कूपों से, तालावों या पहाड़ों के माथे पर किए हुए सरोवर से लिया जाता है। किसी भी निकास से पानी लिया गया हो, उसे प्रथम नितारक द्वारा शुद्ध करके तदनंतर सग्रह जलाशय में (Storage reservoir) रखते हैं और वहाँ से वंद नलोंद्वारा शहर में पहुँचाते हैं। पहुँचाने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, शहर यदि नीची सतह में हो तो पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से मिलती है। परतु यदि शहर ऊँची सतह पर हो या उसका तल सग्रहजलाशय से ऊँचा हो तो शहर में पानी पहुँचाने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पडता है। सग्रहजलाशयोंका आयतन इतना होना चाहिए कि वे शहर को ८ दिन पानी की रसीद पहुँचा सके। इन जलाशयों को ३ महीने में एक वार साफ करवाना चाहिए। इन से बड़े नलों के द्वारा शहर के भिन्न-भिन्न भागों में पानी पहुँचाया जाता है। ये अयस् के बने रहते हैं और उनके भीतर पानी का असर न होने के लिये अगसस्मिथ का घोल (Angus smith Solution यह द्रव कोलतार, राल और अतसी के तेल का बना रहता है) या चमकीला वार्निश (Vitrius glaze) पोत देते है। ये सड़कों के पृष्ठ भाग से तीन फुट गहराई पर विछाने चाहिए, ताकि सर्दी-गरमी इत्यादि का इनके ऊपर वहुत कम परिणाम हो सके।

इन मुख्य नलिकाओं से छोटी-छोटी नलिकाओं द्वारा पानी घर-घर में पहुँचाया जाता ह। ये नलिकाएँ कुप्यासाधित (ग्यालह्वनाइजड) अयस् की होती है। घरों में पानी का नियमन टोंटी द्वारा होता है। नलकों और नलिकाओं के जोड़ इतने पक्के होने चाहिएँ कि उनमें से पानी न टपके। इन नलिओं को परनाले के नज़दीक न रखने चाहिएँ, अन्यथा इनका पानी परनाले की दूषित हवा से खराब होने का डर रहता है।

दरिद्रता के कारण जो लोग घर में पानी की टोंटी नहीं ले सकते है, उनके लिए सडकों में फासले-फासले पर पानी का कल खंवा (Stand post) रखना जरूरी है। ये कल इस प्रकार होने चाहिएँ कि आप से आप बन्द रहें और दवाने पर ही पानी वाहर आ सके।

जहाँ पानी की कमी से विशुद्ध जल हर कामों के लिए देना मुश्किल होता है वहाँ शुद्ध और अशुद्ध जल का प्रवन्ध भिन्न-भिन्न रहता है। शुद्ध जल पीना, रसोई बनाना इत्यादि कामों के लिए थोड़े समय के लिए दिया जाता है और अशुद्ध जल मोरियाँ साफ करने के लिए सड़कों पर छिड़काव करने के लिए, आग बुझाने के लिए, कपड़े धोने के लिए दिया जाता है। ऐसा करने से शुद्ध जल वहुत कम लगता है तथापि इसमें डर ऐसा होता है कि गलती से अशुद्ध जल पीने के लिए प्रयुक्त हो जाने की संभावना होती है, और शुद्ध जल की नलिका अशुद्ध जल के वड़े नलकों के साथ जोड़ने की संभावना होती है। इस पद्धति को दोहरी पद्धति (Dual system) कहते हैं।

शहर में पानी का प्रवन्ध संतत या खंडित दो प्रकार का हो सकता है। संतत (Constant) में पानी चौवीस घंटे रहता है, और खंडित में पानी का समय नियत और नियमित रहता है। संतत में घर में पानी का संचय करने की जरूरत नहीं पडती तथापि इसमें पानी के व्यर्थ खर्च होने की वहुत संभावना होती है। जल-मापक (Water meter) का प्रयोग करने से पानी के व्यर्थ खर्च को रोक सकते हैं।

खंडित या असंतत (Intermittent) में पानी की कुछ वचत हो सकती है, तथापि आखिर में यह पद्धति लाभदायक नहीं होती। कारण, नलिकाओं के कुछ समय खाली रहने के कारण परनाले से या नजदीक की मोरियों से गन्दे पदार्थ या हवा भीतर आने का डर रहता है। पानी का संचय करने के लिए वडे-वड़े हौजों की जरूरत होती है। थोडे समय में तमाम शहर को पानी देना पड़ता है और कहीं आग लग जाने पर पानी मिलना मुश्किल हो जाता है।

सार्वजनिक प्रतरण जलावगाह—(Public swimming baths)—आज कल वड़े शहरों में तैराकी के लिए सार्वजनिक स्थान वनाये जा रहे हैं। इनके जल में अनेक तृणाणु पाये जाते हैं। जो प्रायः मनुष्य के शरीर से सम्वन्धित पूत्युप-जीवी (Saprophytes) जाति के होते हैं। परन्तु जव मनुष्यों की प्रतिकारिता सर्दी इत्यादि से तथा पानी में अधिक काल रहने से कम होती है तव ये रोग

उत्पन्न कर सकते हैं। सार्वजनिक जलावगाह में स्नान करने से नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis), नासाकोटर शोथ (Sinusitis), कर्णशोथ (Otitis media), उपसर्गी गलक्षत (Infectious sore throat) इत्यादि रोग अनेक बार तथा आन्त्रिक ज्वर, अतिसार (Dysentery) त्वग्रोग, भगयोनिशोथ (Valvo vaginitis) आँखों में रोहें (Trachoma) इत्यादि रोग कभी-कभी उत्पन्न हुए हैं। अतः इनका पानी दूषित न होने की दृष्टि से निम्न स्वरूप का प्रबन्ध होना चाहिए—

(१) रोगी (विशेषतया त्वचा के और सर्दी, जुकाम, खाँसी इत्यादि श्वसन संस्थान के) उसमें प्रवेश न करें।

(२) प्रथम मल-मूत्रोत्सर्ग कर लें। पश्चात् शरीर पर साबुन लगा कर धारा स्नान कर लें। पश्चात् पादावगाह (Foot bath) में पैर स्वच्छ करके प्रतरणजलावगाह में प्रवेश करें। पादावगाह के जल में १ ग्यालन के पीछे १½ औंस विरंजन चूर्ण (पृष्ठ ४५) रहे।

(३) तैरने के समय पहनने के वस्त्र स्वच्छ, निर्जीवाणुक और ताजे होने चाहिएँ।

(४) तैरते समय श्लेष्मा को या मुख से पानी को लेकर उसको जलाशय में न थूकना चाहिए।

पानी की शुद्धि—(१) यदि जलाशय बहुत बड़ा रहा और उसमें नैसर्गिक जलवासी वनस्पतियाँ रहीं तो उसकी शुद्धि नैसर्गिक रीत्या (पृष्ठ ४१) हो सकती है।

(२) छोटे जलाशयों की शुद्धि नीरजी (Chlorine) से हो जाती है जिसके लिए विरंजन चूर्ण का प्रयोग कर सकते हैं।

(३) बड़े जलाशयों की शुद्धि सतत नितरण (पृष्ठ ४९), वातेरण (Aeration) और नीरजन (Chlorination) से की जाती है।

(४) पुराने जल को निकाल कर नये जल को भरने से भी पानी की शुद्धि हो जाती है। परन्तु यह पद्धति महँगी होती है।

पानी में नीरजी की मात्रा एक करोड़ भाग के पीछे ३ भाग से कम और ५ भाग से अधिक न होनी चाहिए। कम होने पर जीवाणुनाशन का कार्य ठीक नहीं होता और अधिक होने पर आँखों को तकलीफ होती है और जी मिचलाता है।

तृतीय अध्याय

अन्न—सामान्य वर्णन

प्राण· प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति ।
वर्णप्रसाद· सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ॥
तुष्टि· पुष्टिर्वलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ चरक ॥
आहार प्राणिन: सद्यो वलकृद् देहधारकः ।
आयुस्तेज·समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धन· ॥ सुश्रुत ॥

शरीर का तीसरा उपस्तम्भ अन्न है, परंतु इस संसार में अन्न की जितनी कदर की जाती है उतनी शायद ही दूसरी किसी वस्तु की की जाती हो। इसका एकमात्र कारण यह है कि प्राणिमात्र को अन्न प्राप्त करने के लिए कष्ट उठाना पड़ता है, मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती है, देश या विदेश ढूंढ़ने पड़ते है, तिस पर भी कई बार पेट भर अन्न मिलना मुश्किल हो जाता है। परमेश्वर की यह परम कृपा समझनी चाहिए कि हवा और पानी के लिए प्राणिमात्र को कष्ट उठाना तथा धन खर्चना नहीं पडता है। इन तीनों के लिए यदि मनुष्य को कष्ट उठाना पडे तो इस संसार में रहना भी मुश्किल हो जायगा।

अन्न के कार्य

(१) क्षतिपूरण—हमारा शरीर जब से इस संसार में अवतीर्ण होता है तब से मरते दम तक कुछ न कुछ कार्य करता रहता है। जब हम गाढ़ निद्रा मे होते हैं तब हमारे शरीर को कुछ आराम मिलता है। तथापि शरीर के समस्त अंगों को सपूर्ण आराम जब तक मनुष्य जीवित है तब तक नहीं मिल सकता; मृत्यु ही एक मात्र पूर्ण आराम है। गाढ निद्रा में भी हृदय से संकोच विकास का, फेफड़ों से श्वासोच्छ्वास का, आँतों से पाचन-परिसर्पण (Peristalsis) का काम होता रहता है। सक्षेप में शरीर में प्रतिक्षण कुछ न कुछ कार्य, मनुष्य गाढ़ निद्रा में क्यों न हो, होते रहते हैं। अंग-प्रत्यंगों की इन विविध क्रियाओं के कारण शरीर के असंख्य परमाणु[1] (आधुनिक परिभाषा में कोशाएँ Cells) प्रतिक्षण नष्ट होते

---

(१) शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्याद-तीन्द्रियत्वाच्च ॥ चरक ॥ प्रतिक्षणं शीर्यते इति शरीरम् ॥

रहते है और मल, मूत्र, थूक, स्वेद इत्यादि के साथ शरीर के बाहर उत्सर्गित होते रहते हैं। कई शास्त्रज्ञों ने यह अनुमान किया है कि हमारा शरीर प्रत्येक सात वर्ष मे नया बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि सात वर्ष के पहले हमारे शरीर में जो परमाणु थे वे आज नहीं हैं और आज हमारे शरीर में जो परमाणु है वे सात वर्ष के पश्चात् नही पाये जायँगे।

हमारे शरीर में होनेवाली इस ह्रास की यदि पूर्ति न होती तो अल्पकाल में हमारे शरीर दुवले-पतले और क्षीण होकर प्राणधारण करने योग्य न रहते। परंतु स्वस्थावस्था में उचित मात्रा में अन्न मिलने पर शरीर क्षीण होने के बदले हृष्ट-पुष्ट होकर मनुष्य अल्पायु होने के बदले दीर्घायु होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारे शरीरों में जो क्षतियाँ होती रहती हैं उनकी पूर्ति अन्न से हुआ करती है। अन्न को छोड़कर अन्य उपस्तम्भों से, वे शरीर के लिए कितने ही आवश्यक क्यों न हों, नही हो सकती। अन्न से ही शरीर की नष्ट हुई कोशाओं के स्थान में नयी कोशाएँ बनती हैं और शरीर ज्यों का त्यों रहता है। क्षति की पूर्ति अन्न का प्रथम कार्य है।

(२) धातुबृंहण—जन्म के समय हमारे शरीर का तौल ३–४ सेर तक का होता है, लम्बाई १८–२२ इञ्च तक होती है और शरीर के दूसरे नाप-तौल इन दोनों के अनुसार छोटे रहते है। तब से जवानी तक हमारा शरीर चन्द्र कला के समान बढ़ता ही जाता है और जवानी में उसका तोल ७५–१०० सेर तक होता है, लम्बाई ६०–७० इञ्च तक हो जाती है और शरीर के दूसरे नाप-तौल इन दोनों के अनुसार बढे हुए रहते है। अन्य प्राणियों में भी जन्म से जवानी तक इसी प्रकार की शरीर-वृद्धि हुआ करती है। बाल्य और यौवन के शरीर-संघटन में ये जो महदन्तर होता है उसका एक मात्र कारण अन्न है। हँसना, रोना, खेलना, कूदना, पाचन, प्रश्वसन, रक्तपरिभ्रमण इत्यादि अनेक ऐच्छिक क्रियाओं के कारण शरीर में होनेवाली क्षति की पूर्ति करने के अतिरिक्त अन्न शरीर की सम्पूर्ण धातुओं की तथा अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि करके शरीर में यह स्थित्यन्तर पैदा करता है। अन्न का यह दूसरा कार्य है।

(३) उष्णताजनन—मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के शरीरों में सदैव एक प्रकार की ज्वलन क्रिया होती रहती है जो उनके शरीरों को गरम रखती है। मनुष्यों के शरीर का ताप, देश-काल ऋतु, प्रकृति, वयभेद होते हुए भी प्रायः ९८–४ फै. पर स्थिर रहता है। यह ताप जीवन का एक प्रधान लक्षण है। शरीर के भीतर उत्पन्न होनेवाली उष्णता जो शरीर को बराबर गरम रखती है, अन्न ही से उत्पन्न होती है। अन्न का यह तीसरा कार्य है।

(४) ऊर्जोत्पादन—मनुष्यों का शरीर एक जीवित यन्त्र है जिसकी तुलना ऊष्म गन्त्र (Heat engine) के साथ कर सकते हैं। जैसे गन्त्र में कोयला जलने से उष्णता उत्पन्न होती है और उस उष्णता का कुछ भाग ऊर्जा (Energy) में परिवर्तित होता है वैसे ही मनुष्यों के शरीरों में अन्न के जलने (जारण oxidation) से उष्णता उत्पन्न होती है और उसका कुछ भाग ऊर्जा (शक्ति) में परिवर्तित हो जाता है। इन वातों में मनुष्यों का शरीर ऊष्म गन्त्र से कहीं अच्छा है, क्योंकि ऊष्म गन्त्र में जितना कोयला जलता है उसका २२·७–३३·७% भाग उष्णता में परिवर्तित होता है और जितनी उष्णता उत्पन्न होती है उसका $\frac{1}{7}$ भाग ऊर्जा में परिवर्तित होता है। इसकी तुलना में मनुष्य जितना अन्न सेवन करता है उससे अधिक से अधिक ४५% उष्णता उत्पन्न होती है और जो उष्णता उत्पन्न होती है उसका $\frac{1}{5}$ भाग ऊर्जा में परिवर्तित होता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य शरीर ऊष्मगन्त्र की अपेक्षा दुगुना कार्यक्षम है। शरीर में जो यह शक्ति उत्पन्न होती है वह अन्न से ही उत्पन्न होती है। अन्न का यह चौथा कार्य है। इस प्रकार शरीर में अन्न के द्वारा निम्न चार कार्य होते हैं—

१ क्षतिपूरण, २ धातुबृंहण, ३ उष्णताजनन, और ४ ऊर्जोत्पादन।

अन्न का संघटन

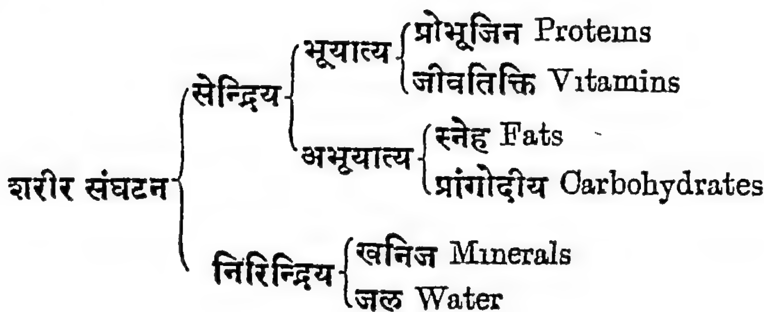
उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि जो खाद्यद्रव्य सेवन करने पर उपर्युक्त चतुर्विध कार्यों से एक या अनेक कार्यों को सुसंपन्न कर सकता है वही हमारे अन्न का सघटक हो सकता है और वही अन्न कहा जा सकता है। मनुष्य के शरीर के विविध अंग-प्रत्यंग तथा धातूपधातु अन्न के विविध द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। इस लिए अन्न के विविध द्रव्यों में वे सघटक होने चाहिएँ जो शरीर में होते हैं। जिन अन्न-द्रव्यों में शरीरगत सघटक पूर्णतः या अंशतः नहीं होंगे उन्हें वस्तुतः अन्न कहना ही अनुचित है। अतएव अन्न के सघटकों का विचार करने से पहले शरीर के सघटकों का विचार करना जरूरी है। यह विचार निम्न दो प्रकार का होता है—

(१) तात्त्विक—रसायन शास्त्र की दृष्टि से यह पृथ्वी ९० के करीब तत्त्वों (Elements) से बनी है। इनमें से शरीर की बनावट में २३ तत्त्व पाये जाते हैं। इनमें १३ तत्त्व विशेष परिमाण में और शेष अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण में शरीर में उपस्थित रहते हैं। एक युवा मनुष्य के शरीर में जिसका तौल ७४ सेर है, ये १३ तत्त्व निम्न प्रमाण में पाये जाते हैं—

प्राणवायु (O_2)	४६·२ सेर	नीरजी (Cl)	·६ सेर
प्रांगार (C)	१५·८ "	क्षारातु (Na)	·६ "
उदजन (H)	७३ "	अयस् (Fe)	·०१ "
भूयाति (N)	२·३	दहातु (Ka)	·१७ "
भास्वर (P)	·७	भ्राजातु (Mg)	·०२ "
चूर्णातु (Ca)	१·४	तरस्विनी (F)	·०१ "
शुल्वारी (S)	·१२		७४·०

ये सब तत्त्व अन्न से शरीर को प्राप्त होते हैं। इनमें प्राणवायु, उदजन और प्रांगार यद्यपि शरीर की बनावट में भाग लेते है तथापि उनका मुख्य कार्य उष्णता और ऊर्जा पैदा करने का है। भूयाति यद्यपि उष्णता एवं ऊर्जा उत्पन्न कर सकता है तथापि उसका मुख्य तथा नैत्यिक कार्य शरीर-धातुओं को बनाने का है। इन चार तत्त्वों के अतिरिक्त चूर्णातु, भ्राजातु, क्षारातु, दहातु, भास्वर, इनका अस्थि बनाने में, अयस् का लालकणों का रागक बनाने में और अवशिष्ट तत्त्वों का शरीर के दूसरे कामों में उपयोग होता है। ये सब तत्व मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के और वनस्पतियों के शरीरों मे भी रहते हैं। परन्तु प्राणवायु के कुछ अंश को छोड़कर सब तत्त्व तत्त्व के रूप में न रहते हैं न अपना काम कर सकते हैं। इस लिए अन्न का तात्त्विक संघटन व्यावहारिक दृष्ट्या विशेष उपयोगी नहीं होता।

(२) संयोगिक—मनुष्यों के शरीरों में मिलनेवाले सब तत्त्व, प्राणवायु का कुछ अंश छोड़कर, विशिष्ट रासायनिक संयोगों (Compounds) के रूप में पाये जाते हैं। ये सब संयोग रसायन शास्त्र की दृष्टि से प्रांगार या सेन्द्रिय (Organic) और अप्रांगार या निरिन्द्रिय (Inorganic) करके दो भागों में बाँटे जाते हैं। प्रांगार विभाग के भूयात्य (Nitrogenous) और अभूयात्य (Non-nitrogenous) करके दो भाग किये जाते है।



शरीर के तात्विक संघटन की जानकारी की अपेक्षा संयोगिक संघटन की जानकारी व्यवहारिक दृष्ट्या अधिक उपयोगी है, क्योंकि शरीर के अंगप्रत्यंग इन्हीं संघटकों के सेवन से बनते हैं, न कि लकड़ी के कोयले (प्रांगार) से या वातावरण के भूयाति से। ये संघटक प्राणियों और वनस्पतियों में भी होते हैं और 'सामान्यं वृद्धिकारणं', इस सिद्धान्त के अनुसार उन्हीं के सेवन करने पर पाचन, प्रचूषण और पुनः संश्लेषण से मनुष्यों के शरीर में इनकी उत्पत्ति हुआ करती है।

इसलिए अन्न उन खाद्य द्रव्यों को कह सकते हैं जिनमें प्रोभूजिनादि षट् संघटकों में से एक या अनेक संघटक विद्यमान रहते हैं तथा जिनसे चतुर्विध कार्यों में से एक या अनेक कार्य हुआ करते हैं और पूर्णान्न उस द्रव्य को कह सकते हैं जिसमें छहों संघटक विद्यमान रहते हैं और जिससे चतुर्विध कार्य हुआ करते हैं।

अन्न का वर्गीकरण

अन्न के द्वारा शरीर में जो विविध कार्य होते हैं उनके अनुसार उपर्युक्त अन्न-द्रव्यों के निम्न तीन वर्ग किये जाते हैं—

(१) ऊर्जाप्रद (Energy producing)—प्रांगोदीय और स्नेह मुख्य, प्रोभूजिन गौण।

(२) धातुवर्धक (Body building)—प्रोभूजिन मुख्य, प्रांगोदीय, स्नेह गौण।

(३) शरीररक्षक (Protective)—खनिज और जीवतिक्तियाँ।

प्रोभूजिन—इनमें भूयाति होने के कारण इनको भूयात्य अन्नद्रव्य कहते हैं। इनका तात्विक संघटन निम्न प्रकार का है—भूयाति १६%, प्रांगार ५४%, प्राणवायु २२%; उदजन ७%, गंधक १%। इनसे शरीर के धातु, विशेषकरके मांस उत्पन्न होने के कारण इनको मांसोत्पादक (Flesh forming) द्रव्य भी कहते हैं। शरीर की जीवित धातुकोशाओं में प्रचुरता से पाये जाने वाले संघटकों में जल के पश्चात् यही दूसरे क्रमांक का द्रव्य है। प्रोभूजिन वनस्पति और प्राणि इन दोनों में पाये जाते हैं। इनकी उपयोगिता तद्गत तिक्तीअम्लों (Amino-acids) के प्रकारों पर निर्भर होती है और उनके अनुसार इनके दो भेद किये जाते हैं।

उत्कृष्ट प्रोभूजिन—शरीरगत प्रोभूजिनों के संश्लेषण में आवश्यक तिक्ती अम्ल जैसे—(Lysin, cystin, Tryptophane, tyrosine) जिन प्रोभूजिनों में विद्यमान होते हैं वे उच्च या उत्कृष्ट (Superior) या प्रथमवर्ग प्रोभूजिन कहलाते हैं। इस वर्ग में किलाटि (Casein) शुक्लि (Albumin) आवर्तुलि (Globulin) तन्त्वि (Fibrin) आश्लेप (Gluten) इत्यादि दूध, अण्डा मांस इत्यादि के प्राणिज प्रोभूजिन आते हैं।

निकृष्ट प्रोभूजिन—जिन प्रोभूजिनों में शरीरगत प्रोभूजिनों के संश्लेषण के लिए आवश्यक तिक्ती-अम्लों की अल्पता तथा तदितर तिक्तीअम्लों की उपस्थिति होती है वे निकृष्ट (Inferior) द्वितीय वर्ग प्रोभूजिन कहलाते हैं। इनको शुक्ल्याभ (Albuminoids) भी कहते हैं। प्रायः वनस्पतियों के तथा अस्थि, तरुणास्थि, शृंग, खुर, नख, कोश, तान्तव धातु इत्यादि प्राणिज प्रत्यगों के प्रोभूजिन इस वर्ग में आते है।

धातुबृंहण और क्षतिपूर्ति के लिए उत्कृष्ट प्रोभूजिन सर्वोत्तम होते है। परन्तु आहार मे सब प्रोभूजिन उत्कृष्ट रहने की आवश्यकता नही होती, आहार्य प्रोभूजिनों की कुल मात्रा का ⅓ हिस्सा उत्कृष्ट प्रोभूजिनों का रहने से प्रोभूजिनों का कार्य ठीक हो जाता है।

उत्कृष्ट और निकृष्ट प्रोभूजिनों की तुलना

प्रोभूजिन	प्रांगार-भूयाति अनुपात	पाचन	प्रचूषण
निकृष्ट	५½ : : २	भारी	८५%
उत्कृष्ट	७ : : २	हलका	९७%

कार्य—(१) शरीर के धातुओं की क्षतिपूर्ति और वृद्धि करना।

(२) प्राणवायु के प्रचूषण और उपयोगीकरण में सहायता करके शरीर समवर्त (Metabolism) को उत्तेजित करना। आवश्यकता पड़ने पर या विशिष्ट परिस्थिति में उष्णता और ऊर्जा उत्पन्न करके प्रांगोदीयों का कार्य करना। इनका ६०% भाग प्रांगोदीयों में परिवर्तित हो सकता है।

(४) इनसे कभी-कभी स्नेह भी उत्पन्न होता है। दूध का स्नेह प्रायः प्रोभूजिनों से ही बनता है।

(५) शरीर के पाचक रसों और प्रस्रावों (Secretions) के विविध किण्वों (Ferments) को उत्पन्न करना।

इतने विविध कार्य करते हुए भी इनका प्रधान कार्य क्षतिपूरण और धातुबृंहण है इसको कदापि न भूलना चाहिए। यह कार्य ऐसा है जो दूसरे खाद्य द्रव्यों से कदापि नहीं हो सकता। इसलिए खाद्य द्रव्यों में इनका कोई प्रतिनिधि नही हो सकता।

प्रोभूजिनों की उपयुक्तता के अनुसार अन्नवर्गीकरण

(१) उपयुक्त प्रोभूजिनों के द्रव्य—दूध और दुग्धद्रव्य, अण्डा, वृक्क, यकृत, मांस, मछली, पालक जैसे शाक। संपूर्ण गेहूँ के आटे में कुछ

(२) अल्पोपयुक्त प्रोभूजिनों के द्रव्य—आटा, बजड़ा, चावल, मटर, आलू, गाजर, साबूदाना, सेम की बीया, मेवा, फल और तरकारियाँ (सब्जी छोड़कर), शलगम (Turnip)

(३) अनुपयुक्त (Unsuitable) प्रोभूजिनों के द्रव्य—प्रमृष्ट (Polished) चावल, मैदा, मकई

(४) प्रोभूजिनरहित द्रव्य—प्राणिज और वनस्पतिज तेल, स्नेह और शर्करा।

स्नेह या उदांगार (Hydrocarbons)—ये मधुरी (Glycerine) और स्निग्ध अम्ल (Fatty acids) के संयोग हैं। इनमें प्रांगार, उदजन और जारक तीन ही तत्व होते हैं, परन्तु इनमें संपूर्ण उदजन के साथ मिलकर पानी बनाने के लिए जितना जारक आवश्यक होता है (अर्थात् उदजन से आधा) उतना जारक नहीं रहता।

काय (१) इनका मुख्य कार्य शरीरगत शुक्लीय समवर्त (Albuminous metabolism) को कम करने का है। इसलिए स्नेह प्रोभूजिन—मितव्ययी (Sparing) अन्न कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि यदि नैत्यिक शरीर का क्षतिपूरण केवल मांस, दूध तथा अन्य प्रोभूजिनों द्वारा किया जाय तो उनकी बहुत अधिक राशि सेवन करनी पड़ेगी। परंतु यदि उनके साथ स्नेह-सेवन किया जाय तो नैत्यिक क्षतिपूरण का कार्य अल्प प्रोभूजिन के सेवन से हो जायगा।

(२) उष्णता और ऊर्जा उत्पन्न करना। इस कार्य में इनकी बराबरी करनेवाला कोई दूसरा अन्न संघटक नहीं। इनकी उपकरी अर्हा (Calorific value) औरों से ढाई गुनी अधिक है। इसका अर्थ यह है कि १ तोला मांस या चीनी सेवन करने पर शरीर में जितनी उष्णता उत्पन्न होती है उससे ढाई गुनी उष्णता १ तोला घी या तेल से उत्पन्न होती है। अर्थात् उष्णता के प्रमाण में ऊर्जा भी अधिक उत्पन्न होती है। इसलिए शीत प्रदेशों में, शीत ऋतुओं में तथा कड़े परिश्रम में जहाँ शरीर से अत्यधिक उष्णता का नाश होता है या अत्यधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है, आहार में स्निग्ध द्रव्यों की अधिकता रहती है और रहनी चाहिए। व्याया म या कड़े परिश्रम का, इसलिए, स्नेह समवर्त के ऊपर जितना परिणाम होता है उतना प्रोभूजिनों के समवर्त के ऊपर नहीं होता।

(३) उष्णता और ऊर्जा के लिए आवश्यक मात्रा का व्यय होने के पश्चात् अधिक राशि में सेवन करने के कारण यदि स्नेह का कोई अंश बच जाता है तो वह शरीर के त्वचा, उदर आदि अंगों में इकट्ठा होता है। यह स्नेह-संग्रह

शीतोष्ण से शरीर की रक्षा करने में सहायता करता है तथा आहार में उष्णतोत्पादक द्रव्यों की कमी होने पर उष्णता और ऊर्जा उत्पन्न करने में खर्च होता है। यही कारण है कि मेदी मनुष्य मरिअल मनुष्य की अपेक्षा अनशन को अधिक सह सकता है।

(४) इनके सेवन से शरीर को क और घ जीवतिक्तियाँ मिल जाती हैं, क्योंकि ये स्नेहविलेय (Fat soluble) होती हैं।

(५) अन्न की कुल राशि को कम करना। स्नेह की उष्णतोत्पादन की शक्ति औरों की अपेक्षा ढाई गुना (पृष्ठ ७९) अधिक होने के कारण आहार में उसका समावेश करने से आहार की कुल राशि कम हो जाती है और आमाशय पर अन्न का बोझ कम पड़ता है। इसका कारण यह है कि दैनिक अन्न की राशि तोल पर निश्चित न होकर इसकी उषंकरी अर्हा पर निश्चित की जाती है। इसके अतिरिक्त स्निग्ध द्रव्यों से जीवतिक्ति ख, की दैनिक आवश्यकता (Requirements) घट जाती है।

घी, मक्खन, चरबी, तेल ये सब स्नेह के उदाहरण हैं और वनस्पति तथा प्राणी दोनों में बहुतायत से पाये जाते है। इनमें प्राणिज स्नेह पचन मे हलके और क तथा घ जीवतिक्ति युक्त होते हैं। वनस्पतिज स्नेह द्रव्योंमें ये जीवतिक्तियाँ नहीं होतीं, परन्तु कुछ वनस्पतिज तैलों में जीवतिक्ति ङ (E) और ट (K) और लाल-ताल तैल (Red palm oil) में जीवतिक्ति क होती हैं।

प्रांगोदीय—उदांगार के समान ये भी प्रांगार, उदजन और जारक के संयोग हैं, परन्तु पानी में उदजन और जारक का जो अनुपात होता है वही अनुपात इनमें भी रहता है। प्राणिज अन्न द्रव्यों में ये बहुत ही कम और वनस्पतियों में बहुत ही अधिक रहते है। पाचन और प्रचूषण में ये प्रोभूजिनों या स्निग्ध द्रव्यों से अधिक हलके होते है। ये सस्ते और सुलभ होने के कारण भोज्य द्रव्यों में अधिक राशि में सेवन किये जाते हैं। आलू, चावल, चीनी, शकरकदी, साबूदाना इनके मुख्य द्रव्य हैं। इनका मुख्य कार्य उष्णता और ऊर्जा उत्पन्न करने का है। सेवन करने पर प्रांगोदीय पाचक रसों से द्राक्षाशर्करा (Grape sugar) या मधुम (Glucose) में परिवर्तित होते हैं और उसी रूप में और द्रव्यों से पहले प्रचूषित होकर शरीर को ऊर्जा और उष्णता देने का काम आरम्भ करते है। इनका जारण (Oxidation) मुख्यतया पेशियों में होकर उसीसे उष्णता और ऊर्जा उत्पन्न होती है। रक्त में जब इनकी राशि आवश्यकता से अधिक हो जाती है (जैसे भोजन के पश्चात्) तब इनका अधिक भाग मधुजन (Glycogen) में परिवर्तित होकर पेशियों और यकृत में सग्रहित होता है और आवश्यकता पड़ने पर फिर से

मधुम में परिवर्तित होकर काम में आ जाता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर इनका कुछ अंश स्नेह में परिवर्तित शरीर में संग्रहित होता है और स्नेह के समान ऊर्जासचिति का काम करता है।

शाकाम्ल (Vegetable acids)—यद्यपि इनको सचमुच खाद्य नहीं कह सकते तथापि स्वास्थ्य के लिए ये आवश्यक होते हैं। ये शाकों और फलों में या तो स्वतन्त्र रूप में या लवणों के रूप में पाये जाते हैं। निम्बविक (Citric), उत्कोलिक (Malic), न्यासविक (Tartric) और तिंगिमक (Oxalic) अम्ल इस वर्ग के प्रधान उदाहरण हैं। पाचन से ये प्रांगारीय (Carbonate) में परिवर्तित होकर उसी स्वरूप में प्रचूषित होते हैं और रक्त की तथा अन्य शरीर द्रव्यों की क्षारीयता स्थिर रखने में सहायता करते हैं। इस प्रधान काम के अतिरिक्त शरीर में कुछ उष्णता और ऊर्जा की भी उत्पत्ति किया करते हैं।

खनिज—शरीर का $\frac{१}{२०}$ वाँ हिस्सा खनिज द्रव्य होते हैं। ये शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में, धातूपधातु में, कोशा में पाये जाते हैं। करीब १५ प्रकार के खनिज (पृष्ठ ६१) तत्त्व शरीर में पाये जाते हैं। इनमें चूर्णातु, दहातु, क्षारातु, अयस, भ्राजातु, लोहक (Manganese), भास्वर, शुल्वारि, जंबुकी, नीरजी, तरस्विनी (Fluorine) और संकता (Silicon) ये प्रधान हैं। इनमें चूर्णातु से लोहक तक क्षारजनक (Alkali forming) और शेष अम्लजनक खनिज होते हैं। ये सब खनिज प्राणिज और वनस्पतिज खाद्य द्रव्यों से शरीर को प्राप्त होते हैं। लवण (नोन) ही एक ऐसा खनिज है कि आवश्यकता अधिक होने के कारण खाद्य द्रव्यों के अतिरिक्त स्वतन्त्रतया सेवन किया जाता है। ये खनिज शरीर की प्रत्येक कोशा के संघटक होते हैं और स्वेद, मूत्र, मल के साथ उत्सर्गित होने के कारण प्रतिदिन खाद्य द्रव्यों के साथ सेवन करने पड़ते हैं।

कार्य—(१) अस्थि, दाँत, रक्त का रागक इत्यादि धातुओं की उत्पत्ति करना।
(२) आसृतीय पीडन (Osmotic pressure) बराबर जारी रख के जल के स्थानांतर में सहायता करना।

(३) रक्त की क्षारीयता बनाये रखना। स्वास्थ्य के लिए उदजनायन संकेन्द्रण (pH) ७.३-७.५ के बीच में रहना आवश्यक होता है। संकेन्द्रण इससे अधिक या इससे कम होने पर स्वास्थ्य खराब होकर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। जब यह संकेन्द्रण ७.० से कम और ७.८ से अधिक होता है तब जीवन असंभव होता है। उ० अ० संकेन्द्रण की स्थिरता प्रांगारियों और क्षारीय भास्वीयों

(Phosphates) की क्षारसंचिति के साथ प्रांगारिक अम्ल, भास्वीयों (प्रोभूजिनों) की अम्ल संचिति के बलाबल पर निर्भर होती है। ये खनिज द्रव्य मध्यस्थ (Buffer) का काम करते हैं और शरीर समवर्त में रक्त की प्रतिक्रिया में होनेवाले अन्तर को परस्पर दूर कर देते हैं।

जल—शरीर का दो तिहाई (६४%) भाग जल है। जल आहार की एक बहुत महत्त्व की वस्तु है। प्रतिदिन मनुष्य को तीन सेर के लगभग पानी की आवश्यकता होती है। यह राशि रहन-सहन, परिश्रम, आहार, जलवायु, वातावरण का ताप और आक्लेद (Humidity) देश-भेद, ऋतु-भेद इत्यादि अनेक बातों पर निर्भर होती है। परिश्रम, ताप, मांसाहार, घनाहार (Solid food), ग्रीष्म ऋतु, उष्ण देश ये सब पानी की राशि को बढ़ाने वाले होते हैं। इसके विरुद्ध शीत ऋतु, शीतदेश, वातावरण में आक्लेद का कम होना, आराम, द्रवाहार, शाकाहार ये सब पानी की राशि को कम कर देते हैं।

प्रतिदिन शरीर को जितना पानी आवश्यक होता है उतना सब जल के रूप में नहीं सेवन किया जाता। उसमें २०-३०% खाद्य द्रव्यों से मिलता है, ८% खाद्य द्रव्यों के पाचन में उत्पन्न होता है और अवशिष्ट भाग जलपान या दूध इत्यादि पेयों के रूप में सेवन किया जाता है।

प्रतिदिन मनुष्य के शरीर से ३ सेर के लगभग पानी बाहर निकलता है। उसमें ३५% त्वचा द्वारा, २०% प्रश्वास द्वारा, ३% मल, थूक तथा अन्य स्रावों द्वारा और अवशिष्ट (४०%) मूत्र द्वारा निकल जाता है। इस प्रकार शरीर से जो जल निकल जाता है उसकी पूर्ति करने के लिए पानी का सेवन करने की आवश्यकता होती है जो हमें प्यास से मालूम होती है। सेवन किया हुआ पानी शरीर में निम्न कार्य करता है—

शरीर की कोशाएँ जलवासी (Aquatic) जीवजन्तु की भाँति हैं। वे जल के बिना कुछ नहीं कर सकतीं। शरीर के भीतर खाद्यद्रव्यों का पाचन, प्रचूषण और सात्म्यीकरण जल की ही सहायता से होता है। शरीर समवर्त में जो विविध मल रूप पदार्थ बनते हैं वे जल की सहायता से शरीर के बाहर निकल जाते हैं। जल ही रक्त को तरल रखता है और उसके संचार से सहायता करता है। जल की ही सहायता से शरीर की पाचक और अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ अपने पाचक रसों और अन्तःस्रावों को उत्सर्गित कर सकती हैं। संक्षेप में जल की सहायता से शरीर के भीतर सब परिवर्तन भलीभाँति हुआ करते हैं। जल की कमी होने से सब कार्य ठीक न होकर अस्वास्थ्य उत्पन्न होता है।

जीवतिक्तियाँ (Vitamins)—उपर्युक्त प्रोभूजिनादि द्रव्यों से यद्यपि मनुष्य शरीर का तथा अन्न का संघटन भलीभाँति बताया जा सकता है तथापि यदि किसी मनुष्य को ये प्रोभूजिनादि पदार्थ शुद्ध रासायनिक अवस्था में दिये जायँ तो उसके शरीर का विकास ठीक न होकर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नैसर्गिक खाद्यद्रव्यों में इन प्रोभूजिनादि द्रव्यों के अतिरिक्त और भी कुछ द्रव्य उपस्थित रहते हैं जिनका सेवन स्वास्थ्यरक्षा के लिए अर्थात् जीवनकार्य ठीक चलने के लिए आवश्यक होता है। इसलिए ये द्रव्य जीवतिक्तियाँ कहलाते हैं। जो द्रव्य प्रोभूजिनादि द्रव्यों के पाचन, प्रचूषण और सात्म्यीकरण में सहायता करके वयानुसार यथाप्रमाण शरीर धातुओं का विकास और विवर्धन करते हैं—स्वास्थ्य को बनाये रखते हैं, संक्रामक रोगों से शरीर की रक्षा करते हैं तथा जिनके न होने से विशेष प्रकार के हीनान्न रोग (Deficiency diseases) उत्पन्न होते हैं वे जीवतिक्तियाँ हैं।

स्वरूप—जीवतिक्तियाँ सूर्य-रश्मियों के प्रभाव से केवल वनस्पतियों में उत्पन्न होती हैं और उनके सेवन से प्राणियों के शरीर में पायी जाती हैं। दुधार जानवरों के दूध में पाई जाने वाली तथा अन्य प्राणियों के यकृत् में मिलनेवाली जीवतिक्तियाँ घास-फूस तथा वनस्पतियों से ही प्राप्त होती हैं। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि समुद्र की विविध मछलियों के (Cod, Halibut इत्यादि) यकृत् में मिलने वाली जीवतिक्तियाँ भी समुद्र की सूक्ष्माप्य वनस्पतियों (Dia-tom) के सेवन से उन मछलियों के यकृत् में इकट्ठा होती हैं। वनस्पतियों में इनकी राशि अत्यल्प होती है और मनुष्य शरीर में भी अत्यल्प राशि में ये अपना काम कर सकती हैं। इसका कारण यह है कि शरीर में न इनसे शरीर का कोई अंग-प्रत्यंग बनता है न इनमें स्वयं कोई परिवर्तन होता है। शरीर में ये इतने विविध कार्य किस प्रकार करती हैं इसका अभी तक कोई ठीक ज्ञान नहीं हो सका। कुछ लोगों का यह मत है कि ये अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को उत्तेजित करके उनके स्रावों (Hormones) द्वारा कार्य कराती हैं। कुछ लोग इनके कार्य करने की पद्धति की तुलना रासायनिक योगवाही (Catalyst) द्रव्यों से, कुछ लोग प्रस्तरैल वहित्र (Petrol motor) में विद्युत् स्फुलिंग से और कुछ गृह-निर्माण में राजगीर से करते हैं। इनमें अब संदेह नहीं रहा कि कुछ जीवतिक्तियाँ शरीरगत जारण-प्रशमन (Oxidation-reduction) प्रक्रियाओं में सहायता करती हैं। शरीर-निर्माण में ये प्रोभूजिनादि द्रव्यों को सहायता करती हैं। इसलिए 'गौण या सहायक अन्नांग' (Accessory food factors) भी कहलाती हैं। खाद्य द्रव्यों के सूखने से, सड़ने से, अतितप्त होने से या अधिक काल तक संग्रह करने से ये अकार्यक्षम होती

हैं या नष्ट हो जाती हैं। अनेक जीवतिक्तियों के रासायनिक संघटन का पता लग गया है और उनमें कई जीवतिक्तियों के संश्लेषण में भी सफलता मिली है। इसलिए आजकल कृत्रिम तौर पर बनायी गयी अनेक जीवतिक्तियाँ उपलब्ध हो गयी हैं। आज तक सात जीवतिक्तियों का पता लग गया है और भविष्य में इससे अधिक जीवतिक्तियों का पता लग सकता है। विलेयता के अनुसार जल विलेय (Water soluble) और स्नेह विलेय (Fat soluble) करके इनके दो वर्ग किये जाते हैं। प्रथम विभाग में ख, ग और प्र तथा द्वितीय विभाग में क, घ, ङ और ट समाविष्ट होती हैं।

जीवतिक्ति क (A)—गाजर, पालक, शलगम इत्यादि वनस्पतियों में गर्जरेण्य (Carotene) या गर्जरि (Carotin) नामक पीले रंग का रागक (Pigment) रहता है जो इस जीवतिक्ति का पूर्वसर (Precursor) होता है और प्राणियों के शरीर में जाकर यकृत् में जीवतिक्ति में परिवर्तित तथा संग्रहित हो जाता है। प्राणियों के शरीर में यह जीवतिक्ति संश्लिष्ट करने की शक्ति नहीं है, परन्तु वनस्पतियों में मिलनेवाले गर्जराभों (Carotinoids) को परिवर्तित करने की शक्ति होती है। यही कारण है कि भेड़, बकरी, मछलियाँ इनके यकृत् में विशेषतया मछलियों के यकृत् के तेल में यह जीवतिक्ति बहुत अधिक राशि में पायी जाती है। यकृत् के अतिरिक्त दूध, मलाई, मक्खन, प्राणिज स्नेह, अण्डा, गाजर, पालक, गोभी इत्यादि इसके निकास होते हैं। शाक पत्तियाँ सूखने पर भी यह नष्ट नहीं होती। वनस्पतिज तेलों में यह नहीं पायी जाती। इसके लिए अपवाद लाल-ताल तेल (Red palm oil) है। जिसमें यह बहुत होती है। यह स्नेहविलेय जीवतिक्ति है। हवा की विद्यमानता में गरम करने पर इसका नाश होता है परन्तु शून्यक (निर्वात) में गरम करने पर यह नष्ट नहीं होती। दूध उबालने से या पाश्चरीकृत करने से इसका नाश नहीं होता। इसके प्रचूषण और उपयोगीकरण की दृष्टि से निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं। स्नेहविलेय होने के कारण तथा स्नेह के प्रचूषण में पित्त की आवश्यकता होने के कारण आहार में स्नेह की और आन्त्र में पित्त की यथेष्ट राशि होने से इसका प्रचूषण आसानी से होता है। वनस्पतियों के गर्जरेण्य का परिवर्तन यकृत् में होने के कारण इसके उपयोगीकरण की दृष्टि से यकृत् स्वस्थ होना चाहिये। जब यकृत् विकृत रहता है, आहार में स्नेह की कमी रहती है और आन्त्र में पित्त की अल्पता होती है तब खाद्यद्रव्यों में इसका होना न होना दोनों बराबर हो जाते हैं अर्थात् खाद्यद्रव्यान्तर्गत यह द्रव्य बेकार होता है।

कार्य—(१) शरीर के भीतरी तथा बाहरी संपूर्ण अधिच्छदीय (Epithelial) आवरणों का स्वास्थ्य बनाये रखना।

(२) शरीर के वर्धन और विकास में सहायता देना। इस कार्य के कारण इसको उद्वर्धक (Growth promoting) जीवतिक्ति भी कहते हैं।

इन दो कामों के अतिरिक्त मस्तिष्क संस्थान और नेत्रों का स्वास्थ्य बनाये रखना, सक्रामक रोगों से शरीर की रक्षा करना आदि अनेक काम इसके द्वारा होते हुए दिखाई देते हैं।

रोग—इसीलिए इसकी कमी से संपूर्ण शरीरगत अधिच्छदीय आवरण कमजोर और अपजनित (Degenerated) हो जाते है। यह परिणाम लालाग्रन्थि आन्त्र की श्लेष्मल कला पर और बाह्य त्वचा पर विशेष रूप से दिखाई देता है। सबसे अधिक और प्रकट परिणाम नेत्र के भीतरी और बाहरी त्वचा पर होकर रतौंधी, शुष्काक्षिपाक (Xerophthalmia) और कृष्णमंडल मृदुता (Kerato malacia) इत्यादि रोग हो जाते हैं।

जीवतिक्तिक के मुख्य खाद्य द्रव्य और तद्गत मात्रा।

५० तोला दूध में	२००० एकक (unit)
२॥ तोला मक्खन में	” ”
१ पाव गाजर में	” ”
आधा पाव गोभी में	” ”
१ अण्डे में	६०० ”
६० बूंद काडमछली तेल में	२००–१२००० एकक
१ बूंद हलीबट यकृत् तेल में	६००–१२०० ”

जीवतिक्ति—घ (D)—यह भी क के समान स्नेहविलेय है। वनस्पतियों में रुक्छत्रव (Ergosterol) करके पैत्तव (Cholesterol) के समान एक द्रव्य रहता है। यह द्रव्य जीवतिक्ति घ का पुरःसर (Precursor) होता है। दोनों का सूत्र एक ही है, केवल रचना में भेद होता है। इसलिए जी० घ रुक्छत्रव का समाजिक (Isomeric) रूप माना जाता है। यह परिवर्तन नीललोहितातीत प्रकाश से होता है। यह जीवतिक्ति आजकल शुद्ध स्फटिकों के रूप में प्राप्त हो रही है। इस को घ$_2$ (D_2) या चूर्णियव (Calciferol) कहते हैं। वैसे ही प्राणियों की त्वचा के नैसर्गिक तेल (Sebum) इस जीवतिक्ति का दूसरा एक पुरःसर रहता है जिसको च्युदपैत्तव (Dehydrocholes terol) कहते हैं। इसके ऊपर नीललोहितातीत प्रकाश का परिणाम होने से यह जीवतिक्ति घ में परिवर्तित

होता है और रक्त के द्वारा संपूर्ण शरीर में संचार करके अपना काम करता है तथा अधिक होने पर यकृत् में संग्रहित होता है। यही कारण है कि वह जीवतिक्ति भी क के समान यकृत् में तथा यकृत् के तेलों में पायी (Codliver और Halibu-tliver) जाती है। यकृत् तथा यकृत्तेलों के अतिरिक्त यह जीवतिक्ति दूध, मक्खन, अण्डा इनमें भी पायी जाती है। वनस्पतिज द्रव्यों में यह बहुत कम और प्राणिज द्रव्यों में प्रामुख्यतया मिलती है। यदि गौ सूर्य प्रकाश में घूमघामकर घास-चारा आदि खाया करे तो उसके दूध में यद्यपि जीवतिक्ति क का राशि में कोई अन्तर नही होता तथापि इसकी राशि बढ़ती है। इसलिए शिशिर ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में गौ के दूध में यह जीवतिक्ति अधिक रहती है। यद्यपि दूध में इसकी मात्रा बहुत कम होती है तथापि उसमें चूना और भास्वर होने के कारण फल की दृष्टि से वह अल्पराशि भी बहुत कार्यक्षम होती है। यह जीवतिक्ति उष्णता और जारण का प्रतिकार क जीवतिक्ति से अधिक करती है इसलिये दूध के उबालने से यह नष्ट नहीं होती।

कार्य—यह जीवतिक्ति चूर्णातु-भास्वर समवर्त नियामक है। इसके होने से आहार गत चूना और भास्वर अधिक से अधिक राशि में प्रचूषित होकर रक्त में पहुँचने के पश्चात् अधिक से अधिक उपयोग में लाए जाते है। इसके न होने से आहारगत चूर्णातु-भास्वर भली-भाँति प्रचूषित न होकर मल के साथ उत्सर्गित होते हैं और रक्त में उनकी राशि बहुत घट जाती है।

रोग—इसके न होने से रक्त में चूने की कमी होकर बढ़ती हुई हड्डियों के टोकों पर चूर्णीभवन (Calcification) का काम ठीक नहीं होने पाता और केवल तरुणास्थि या पूर्वास्थिक धातु (Preosseous) बढ़ती है जो मृदु होने के कारण टेढ़ी हो जाती है और अस्थिवक्रता (Rickets) उत्पन्न होती है। यह बचपन का रोग है। जवान स्त्रियों में गर्भधारण और स्तन्यकाल में इसी प्रकार की विकृति होती है जिसको अस्थिमृदुता (Osteomalacia) कहते हैं। इसकी कमी का परिणाम दाँतों पर भी होकर कृमिदन्त (Caries) भी उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में इसकी हीनता का मुख्य रोग अस्थिवक्रता होने से इसको अस्थिवक्रता प्रतिषेधक (Artirachitic) कहते हैं।

जीवतिक्ति घ के मुख्यद्रव्य और तद्गत मात्रा

६० बूंद काडयकृत्तेल	५००	एकक	२॥ तोला मक्खन	१०-१००	एकक
१ " हलीवट "	५०	"	अण्डा	६०	"
५० तोला दूध	४०	"			

(३) जीवतिक्ति ङ (E)—यह भी स्नेह विलेय है। वढ़ती हुई चीजों में यह पायी जाती है। गेहूँ के अंकुर (Wheatgerm) में इसकी मात्रा सबसे अधिक होती है और उसीसे यह जीवतिक्ति बनायी जाती है। गोधूमांकुरों के अतिरिक्त दूध; शाकपत्ती, अण्डा, मांस, बैल यकृत् वनस्पतियों के बीज जैसे कार्पासबीज (Cottonseed) मकई, यव, मटर इत्यादि में न्यूनाधिक मात्रा में यह पायी जाती है। मछली के तेलों में यह नहीं पायी जाती।

कार्य—इसका मुख्य संबन्ध प्रजोत्पादक अंगों से होता है। इसके होने पर पुरुषों की वृषण ग्रंथियों में शुक्राणुजनन (Spermatogenesis) का कार्य भली-भाँति होता रहता है और स्त्रियों के गर्भाशयों में गर्भ का आधान और अपरा की वृद्धि होकर गर्भ अच्छी तरह पूर्ण काल तक वढ़ता है। प्रजाजनन के अतिरिक्त इस जीवतिक्ति का संबंध पेशियों के तथा नाड़ी संस्थान के स्वास्थ्य के साथ भी होता है।

रोग—इसके न होने से शुक्राणुजनन ठीक न होकर पुरुष षंढ बनता है और स्त्रियों में गर्भजनन होने पर भी गर्भाशय में उसका अवस्थान ठीक न होकर अल्पकाल में गर्भस्राव (Abortion) होता रहता है। संक्षेप में स्त्री और पुरुष दोनों में इसकी हीनता का फल प्रजा न उत्पन्न होने में होता है अर्थात् दोनों वन्ध्य हो जाते हैं। इसके होने से या देने से वन्ध्यता दूर हो जाती है, इसलिए इसको वन्ध्यता प्रतिषेधक (Antisterility) जीवतिक्ति कहते हैं।

(४) जीवतिक्ति ट (K)—यह भी स्नेह विलेय है। यह जीवतिक्ति वनस्पतियों की नयी पत्तियों में, गेहूँ में, विलायती घास (Alfalfa) में बहुत होती है। विलायती घास इसका मुख्य निकास है जिससे यह बनायी जाती है। इसके अतिरिक्त पालक, टोमाटो, गाजर, पत्ता गोभी, सोयाबीन, सूअर के यकृत् की चरबी इत्यादि में यह पायी जाती है।

कार्य—रक्त जमने के लिए अनेक रासायनिक द्रव्यों की आवश्यकता होती है जिनमें पूर्वघनास्नि (Prothrombin) एक द्रव्य होता है। इसकी उत्पत्ति यकृत् में होती है। परंतु इस जीवतिक्ति की अनुपस्थिति होने पर यकृत् इसको नहीं बना सकता जिससे रक्त में पूर्वघनास्नि की मात्रा प्रकृत से कम हो जाती है और रक्तस्राव की प्रवृत्ति वढ़ती है। इसके होने से यह प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए यह जीवतिक्ति रक्तस्राव प्रतिषेधक (Anti hemorrhagic) कहलाती है। इसकी हीनता से कोई खास रोग नहीं उत्पन्न होता।

जीवतिक्ति ख (B)—यह जल विलेय जीवतिक्ति है। यह अनेक संघटकों से बनी है, इसलिए इसको जटिल (Complex) जीवतिक्ति ख कहते हैं। इसमें जो अनेक जलविलेय संघटक होते हैं उनके दो विभाग किये हैं—एक उष्णसर (heat labile) और दूसरा उष्मस्थिर (heat stable)। पहिले विभागमें केवल एक ही संघटक है और इसको ख१ (B_1) कहते हैं। दूसरे में अनेक संघटक होते हैं।

जीवतिक्ति ख के संघटक—

(१) (Aneurine or thiamine) ख१।
(२) (Riboflavin or lacto flavin)।
(३) (Nico tinic acid or niacin) त्वग्ग्राह प्रतिषेधक।
(४) (Pyridoxine) ख६, चर्मशोथप्रतिषेधक।
(५) (Pantothe nic acid)।
(६) (Folic acid) पालकाम्ल।
(७) (Biotin)
(८) (Inositol)।
(९) (Para-amino benzoicacid)।
(१०) जीवतिक्ति ख१२।
(११) (Choline)

यह जीवतिक्ति अनेक नैसर्गिक खाद्य द्रव्यों में पायी जाती है। परंतु इसकी मात्रा अत्यल्प होती है। शूक (Cereals) जैसे चावल, गेहूँ और शिम्बी (Pulses) धान्यों के अंकुरों में तथा उनकी भूसी में इसकी अधिक मात्रा होती है। इनके अतिरिक्त मांस, केला, गोभी, संतरा, मछली, दूध, यकृत्, अण्डा, नारियल की गरी, अखरोट, मूंगफली का बीज, सालड़, पालक, टोमाटो, खमीर (yeast) इत्यादि द्रव्यों में भी सबसे अधिक यह जीवतिक्ति पायी जाती है। सुखाने से या पकाने से इसका नाश नहीं होता। अधिक निपीड के साथ अधिक ताप (१२०° से) पर पकाने से इसका नाश होता है। पकाने पर पानी में इसका २५—३० % भाग निकल जाने के कारण उस पानी को फेंक देने से मनुष्यों को इसकी उतनी हानि हो जाती है। यदि पकाते समय खाद्य द्रव्यों में क्षारातु द्वयंगारीय (Na_2CO_3) मिलाया जाय तो इस का अधिक नाश होता है। अम्ल-द्रव्यों के साथ पकाने से यह नष्ट नहीं होता। इस विषयमें ग जीवतिक्ति से यह अधिक स्थिर और अन्यों से कम स्थिर है।

कार्य—ख१ प्रांगोदीयों के समवर्त के लिए आवश्यक होती है। इसके न होने से प्रांगोदीयों का जारण ठीक न होकर दुग्धिक (Lactic) तथा अन्य अम्ल रक्त में अधिक मात्रा में इकट्ठा होकर नाडी कोशाओं (Nerve cells) पर

विषैला परिणाम करते हैं और उससे नाडियों में दुर्बलता आ जाती है। इसलिए इसको अनाटिकि (Aneurin) या प्रतिनाडिवीय (Anti-neuritic) कहते हैं। नाडी दुर्बलता का परिणाम हृदय, आन्त्र और पेशियों की दुर्बलता में हो जाता है।

ताम्रकूटिधिक अम्ल (Nicotinic acid)—यह द्रव्य यकृत, खमीर (किण्व yeast), गेहूँ के अंकुर, सोयाबीन, मटर इनमें बहुतायत से पाया जाता है। इसकी कमी से त्वग्ग्राह (Pellagra) नामक रोग होता है। परन्तु इसकी उत्पत्ति में अन्य अनेक कारण होते हैं। इसलिए त्वग्ग्राह नैकहीनता रोग (Multideficiency) माना जाता है। इसके लिए प्रत्यक्ष यह उदाहरण है कि यद्यपि चावल और मकई दोनों में यह अंश कम रहता है तथापि केवल मकई के सेवन से यह रोग होता है, चावल के सेवन से नहीं।

जीवतिक्ति ख६ (Pyridoxine)—त्वग्ग्राह की उत्पत्ति में इसकी भी कमी सहायक होती है।

पालकाम्ल (Folic acid)—पालक में यह अम्ल संयुक्तावस्था में रहता है। इसका उपयोग श्वेतकायाणु और रुधिरकायाणु इनके विकास में होता है। विशेषतया रुधिरकायाणुओं के। इसलिए वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious Anaemia) में यह फायदा करता है।

जीवितिक्ति ख१२—वैनाशिक रक्तक्षय की यह खास औषधि है। इसलिए इसको वैनाशिक रक्तक्षयान्तक अंश (Anti pernicious factor) कहते हैं।

रोग—जीवतिक्ति ख की हीनता से वातवलासक (Beri-Beri) और त्वग्ग्राह (Pellagra) ये दो विशेष रोग उत्पन्न होते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये केवल जीवतिक्ति हीनता के रोग नहीं हैं, इनकी उत्पत्ति में और भी कुछ कारण सहायक होते हैं।

(२) जीवतिक्ति ग (C)—यह जलविलेय जीवतिक्ति है। यह द्रव्य सेम, गाँठगोभी, फूलगोभी, मूली, प्याज, लहसुन, आलू, मटर, मिर्च, गाजर, टोमाटो, शलगम, खीरा, पालक, मूली की पत्ती इत्यादि शाक पत्तियों में, नीबू, संतरा, आँवला, पानी फल, कैथ, आम, अंगूर, सेब, पपीता, केला, अमरूद इत्यादि फलों में पायी जाती है। शूक और शिम्बी धान्यों में यह नहीं पायी जाती, परन्तु पानी में भिगोकर अंकुरित हुए (Germinated) धान्यों में यह उत्पन्न होती है। मांस, दूध तथा अन्य प्राणिज खाद्य द्रव्यों में यह बहुत कम रहती है। सेंजन,

नीबू, संतरा, द्राक्षा, अमरूद (१०० धान्य में ३०० सहस्रि धान्य mg.) आँवला और टोमाटो में यह बहुत अधिक रहती है। आँवले में इसकी राशि सबसे अधिक (१०० धान्य (Gram) आँवले में ६०० सहस्रि धान्य mg.) रहती है। इसलिए इस जीवतिक्ति को ग्रामलक (Ascorbic) अम्ल कहते हैं। फलों और शाक पत्तियों में इसका जो अंश होता है वह उनके बासी होने पर, अधिक काल रखने पर, सूखने पर और गरम करने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए ताजे फलों, शाक पत्तियों और कच्चे दूध के सेवन से ही शरीर को इसकी प्राप्ति हो सकती है। आँवले में इसकी मात्रा बहुत अधिक होने से तथा इसके साथ दूसरे (अम्लादि संरक्षक) द्रव्य उपस्थित रहने से सुखाने पर या उबालने पर भी वह पूर्णतया नष्ट नहीं होती। इसलिए सुखाये हुए आँवलों में तथा पकाकर बनाये हुए आँवलों की औषधियों में (जैसे च्यवनप्राश) जीवतिक्ति ग विद्यमान रहती है।

सेवन करने के पश्चात् प्रचूषण होकर इसका कुछ अंश रक्त में रहता है और कुछ अंश उपवृक्क्य ग्रंथियों में, आन्त्र प्राचीर में तथा अन्य अंगों में सग्रहित होता है। मनुष्यों के शरीर में उपवृक्क्य ग्रंथियों में यह जीवतिक्ति पायी जाती है। कुछ लोगों का यह मत है कि उपवृक्क्य ग्रथियाँ इसको शरीर में संश्लिष्ट करती हैं। इसलिए उनमें यह पायी जाती है। इसमें संदेह नही है कि मनुष्येतर प्राणियों की उपवृक्क्य ग्रंथियों में इसको संश्लिष्ट करने की शक्ति होती है।

कार्य—(१) अस्थि, तरुणास्थि, दन्त, रक्तवाहिनियों के अन्तस्तर तथा अन्य संयोजक धातुओं की कोशाओं का संयोजन करने के लिए आवश्यक श्लेषजन (Collagen) नामक वज्रण द्रव्य (Cementing material) की उत्पत्ति में सहायता करना इसका प्रधान कार्य है।

(२) लाल कणों की उत्पत्ति में सहायता करना।

(३) कोशिकीय समवर्त और धातुश्वसन (Tissue respiration) में सहायता करके तद् द्वारा क्षुधावर्धन, धातुबृंहण और बल धारण करना।

(४) उपसर्गज तथा कुछ रासायनिक विषों से शरीर की रक्षा करना।

रोग—इसकी हीनता से केशिकाओं की प्राचीर कमजोर होकर उससे रक्तस्राव होने लगता है, टूटी हुई प्राचीर भली-भाँति जुड़ नहीं सकती, व्रणों का रोपण नहीं होता और लाल कणों का विकास ठीक न होकर रक्तक्षय हो जाता है। परन्तु इसके न होने से जो खास रोग है, उसको प्रशीताद (Scurvy) कहते हैं। इसलिए इसको प्रतिशीताद (Anti scorbutic) जीवतिक्ति भी कहते हैं।

(३) जीवतिक्ति प्र (P)—यह जलविलेय है। आमलक अम्ल के साथ नीबू के रस में यह पायी जाती है। इसलिए इसको निम्ववि (Citrin) कहते हैं। इसका कार्य केशिका प्राचीर प्रवेश्यता को वनाये रखने का है। इसके न होने से केशिकाओं की प्रवेश्यता बढ़कर उनसे रक्त वाहर निकलने लगता है और रक्तस्राव की प्रवृत्ति बढ़ती है। प्रशीताद में रक्तस्रावी प्रवृत्ति बढ़ने में इसकी भी सहायता होती है। केशिका प्रवेश्यता के (Permea bility) साथ संबंध होने के कारण इसको प्र (P) नाम दिया है। इसकी कमी से रक्तष्ठीवन और फुफ्फुसों में राज यक्ष्मा के समान चिन्ह दिखाई देते हैं।

अन्न मात्रा

वयानुसार विविध जीवतिक्तियों की दैनिक मात्रा की सारणी (अन्तर्राष्ट्रीयएकक)

वयोवस्था	क	ख	ग	घ
२ वर्षतक	३०००–६०००	१००–१५०	२००–३००	६००–१०००
२–८ वर्षतक	६०००–८०००	१५०–२००	३००–५००	७००–१०००
९–१५ वर्षतक	८०००–१००००	३००–५००	३५०–६००	६००–१०००
प्रौढावस्था	३०००–६०००	३००–६००	७००–१०००	४००–८००
सगर्भावस्था और स्तन्यकाल	८०००–१००००	४००–६००	९००–१२००	८००–१५००

अन्तर्राष्ट्रीय एकक (I. U.) और सहस्रिधान्य (mg) की सारणी

जीवतिक्ति	क	१ सहस्रिधान्य	= १६६६ एकक
”	ख	”	= ३३३ ”
”	ग	”	= २० ”
”	घ	”	= ४०००० ”

अन्न मात्रा

इस संसार में अन्य किसी भी देश के निवासी भारतवासियों के समान अल्पायु नहीं हैं। पराधीनता, दारिद्र्य, अज्ञान, पर्दे की प्रथा, शहरों और वरों में प्रवीजन और प्रकाश का अनुचित प्रवन्ध, असंतुलित आहार, मादक पदार्थों का सेवन, खाद्यपेयों की अस्वच्छता, परनाले, मोरियाँ, कूडाकर्कट इत्यादि का अनुचित प्रबंध इत्यादि अल्पायु होने के कई कारण वताये जाते हैं। इसमें सदेह नहीं कि प्रत्येक कारण में कुछ तथ्य है, परन्तु इन सब कारणों में असंतुलित आहार अल्पायु होने का प्रधान कारण है। इससे शरीर की जीवशक्ति और रोगक्षमता कम हो जाती है और शरीर रोगों के साथ झगड़ने में असमर्थ होकर अकाल में किसी न किसी

रोग का शिकार बन जाता है। इसलिए स्वास्थ्यरक्षार्थ और दीर्घायुप्राप्त्यर्थ उचित आहार पर ध्यान देना परमावश्यक होता है।

संतुलित आहार[1] (Balanced diet)—अन्न के जो चार कार्य बताये गये हैं ये कार्य यथाप्रमाण, यथायु और यथाव्यवसाय जिस प्रकार के आहार से सुसंपन्न होते हैं उसको संतुलित आहार कह सकते हैं। इसके निम्न लक्षण हैं—

(१) अवस्था, व्यवसाय, देश, ऋतु, इत्यादि के अनुसार जितनी उष्णता आवश्यक होती है उतनी उष्णता उत्पन्न करने की शक्ति (उषंकरी अर्हा Calorific value) आहार की सकल राशि में होनी चाहिए। दिन रात पूर्ण आराम करनेवालों को आहार की उषंकरी अर्हा शरीर भार (सेरों में) के ६ गुना, मध्यम परिश्रम (दिन में ८ घंटा) करनेवालों के आहार की १० गुना होनी चाहिए। पूर्ण आराम के समय की उषंकरी अर्हा को पैठिक (Basal) कहते हैं। इतनी उष्णता केवल शरीरगत जीवनव्यापारों के लिए आवश्यक होती है। इससे कम उष्णता यदि आहार से उत्पन्न हो जाय तो जीना असंभव होता है।

(२) आहार्य द्रव्यों में धातुवर्धक और उष्णतोत्पादक प्रोभूजिनों, स्नेहों और प्रांगोदीयों का उचित प्रमाण होना चाहिए। केवल आहार की उषंकरी अर्हा उचित होने से काम नहीं चल सकता।

(३) उष्णतोत्पादक द्रव्यों के अतिरिक्त खनिज, जल और जीवतिक्तियाँ इनकी उचित मात्रा आहार में होनी चाहिए।

(४) आहार के सब द्रव्य पाचन और प्रचूषण की दृष्टि से हलके होने चाहिए।

(५) आहार्य द्रव्यों में कुछ कोशाधु (Cellulose) जैसा रेशादार दुष्पाच्य पदार्थ भी आवश्यक होता है। इससे मलोत्सर्जन में सहायता होती है।

---

१. आयुर्वेद में सतुलित आहार को 'नियमित मात्राहार' कहते हैं। उषंकरी अर्हा की दृष्टि से आहार की सकल राशि को 'सर्वग्रह' और प्रत्येक उपादान की पृथक् राशि को 'परिग्रह' कहते हैं—राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः। तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रह.। परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम्। सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः, सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते (चरक, विमान १) राशि. प्रमाणम्। मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थं इति मात्रावदाहारस्यौषधस्य च यत् फल शुभम्, अमात्रस्य हीनस्यातिरिक्तस्य वा यत् फलमशुभम्। सर्वस्येति मिश्रीकृतस्यान्नमांससूपादेरेकपिण्डेन मानम्। परिग्रह विवृणोति—एककैश्येनेति अन्नस्य कुडव', सूपस्य पलं, मासस्य द्विपलमित्याद्यवयवमानपूर्वक समुदायमानम्। सर्वग्रहे प्रत्यवयवमाननियमो नास्ति। सर्वतः प्रत्येकावयवतः। (चक्रपाणिदत्तटीका)

(६) यह सब कुछ होते हुए भी आहार प्रत्येक व्यक्ति की रुचि और इच्छा के अनुसार होना चाहिए। इसके विरुद्ध होने से मन अप्रसन्न होकर अन्न का पचन ठीक नहीं होता। इसके साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि संतुलित आहार में रुचि का महत्व गौण है। यदि उचित आहार में रुचि भी अनुकूल हो जाय तो सोने में सुगंध की सी बात हो जाती है। इस प्रकार की रुचि उत्पन्न करने का अभ्यास प्रारंभ से करना चाहिए। (आगे मसाले अचार देखो)

आहार में प्रोभूजिनादि का अनुपात—प्रोभूजिन, प्रांगोदीय और स्नेह ये अन्न के संघटक धातुबृंहण और ऊर्जोत्पादन करते हैं। इनमें प्रोभूजिनों से धातुबृंहण और अन्यो से ऊर्जोत्पादन होता है। मनुष्य के दैनिक आहार में प्रोभूजिनों की राशि में दिनों दिन फर्क करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि क्षतिपूरण और धातुबृंहण प्रत्येक अवस्था में नियत रहता है। परन्तु उष्णता और ऊर्जा की आवश्यकता देश, काल, व्यायाम, परिश्रम, व्यवसाय इत्यादि के अनुसार बदलती रहती है। इसलिए स्नेह और प्रांगोदीयों की मात्रा दैनिक आहार में दिनों दिन बदल सकती है और प्रायः बदलती है। साधारणतया मनुष्य को १ सेर भार के पीछे १–१$\frac{3}{8}$ धान्य (माशा gram) प्रोभूजिन की आवश्यकता होती है। न्यूनाधिक परिश्रम करने पर भी इस राशि में बहुत फर्क करने की जरूरत नहीं होती। उष्णता के लिए कोयले (प्रांगार) की आवश्यकता होती है जो स्नेह और प्रांगोदीयों से प्राप्त होता है। ऊर्जा और उष्णता की दृष्टि से यद्यपि स्नेह और प्रांगोदीयों में अभिन्नता होती है तथापि अर्थ और पचन की दृष्टि से दोनों में बहुत भेद होता है। स्नेह द्रव्य महंगे और पचन में गरिष्ट होने के कारण उष्णतोत्पादन के लिए आवश्यक मात्रा यदि केवल स्नेह द्रव्यों से ग्रहण की जाय तो भोजन का व्यय बहुत अधिक होगा तथा पचन संस्थान उतने स्नेह को पाचित करने में असफल होगा और यदि लगातार स्नेह द्रव्यों का ही सेवन किया जाय तो पचन संस्थान सदा के लिए कमजोर हो जायगा। यदि आहार में स्नेह न लेकर केवल प्रांगोदीय ग्रहण किये जायँ तो उष्णतोत्पादन शक्ति कम होने के कारण उनकी राशि बहुत अधिक लेनी पड़ेगी जिससे आमाशय और आंत्र पर बड़ा भारी बोझ होकर पाचन में खराबी हो जायगी, यद्यपि प्रांगोदीय पचन में स्नेह और प्रोभूजिनों की अपेक्षा लघु होते हैं। इन सब बातों का विचार करके उष्णता और ऊर्जा के लिए जितना कोयला आवश्यक होता है उतना स्नेह और प्रांगोदीयों के मिश्रण से ग्रहण करना सर्वथैव लाभदायक होता है। साधारणतया स्नेह की राशि प्रोभूजिनों के बराबर (१ सेर भार के पीछे १–१$\frac{3}{8}$

धान्य) रखकर शेष प्रांगोदीयों से लेना चाहिए। इस दृष्टि से तीनों का सामान्य अनुपात १:१:५ होता है।

खाद्यद्रव्यों की उषंकरी अर्हा (Calorific value)—खाद्य द्रव्यों के जो छः संघटक होते हैं उनमें उष्णता उत्पन्न करने का गुण केवल स्नेहों, प्रोभूजिनों और प्रांगोदीयों में होता है। इनसे जो उष्णता उत्पन्न होती है वह उष (Calory) में प्रदर्शित की जाती है। ४० तोले पानी का ४° अंश (फे) ताप बढ़ाने के लिए जो उष्णता आवश्यक होती है वह एक उष कहलाती है। नीचे १ धान्य प्रोभूजिनादि की उष्णतोत्पादक शक्ति बतायी जाती है।

उष्णता (उष)	प्रोभूजिन	स्नेह	प्रांगोदीय
लभ्य	५·७४७	९·४२२	४·११६
लब्ध	४·४२४	९·४२२	४·११६

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्नेह और प्रांगोदीयों से जितनी उष्णता उत्पन्न हो सकती है उतनी शरीर में उत्पन्न हो जाती है। परन्तु प्रोभूजिनों से जितनी उत्पन्न हो सकती है उतनी नहीं उत्पन्न होती। इसका कारणय ह है कि उसका कुछ अश पूर्णतया जारित न होकर शरीर के बाहर मिह (Urea) के रूप में निकल जाने से उष्णता उत्पन्न करने की दृष्टि से बेकार होता है। अब नीचे प्रोभूजिनादि संघटन के अनुसार प्रधान खाद्य द्रव्यों की उषकरी अर्हा बतायी जाती है।

खाद्य द्रव्यों की उषंकरी अर्हा (प्रति २० तोला)

मक्खन	१७५० उष	चावल	८२५ उष
दूध	१५० ”	रोटी गेहूँ	६०० ”
छेना	१००० ”	दाल	८०० ”
मलाई	४५० ”	अण्डा (एक)	६० ”
घी	१८०० ”	आलू (उबाला)	२१५ ”
मछली कृश	१७५ ”	चीनी (श्वेत)	९०० ”
” स्निग्ध	४४० ”	गुड	८०० ”
मांस (बकरी)	३०० ”	साग सब्जी	४० ”

पूर्ण आराम करने वाले मनुष्य को अन्न से प्रतिदिन करीब-करीब १७००–१८००, मध्यम परिश्रम करनेवाले मनुष्य को २२५० और कठिन परिश्रम करनेवाले मनुष्य को ३००० या इससे अधिक उष उष्णता मिलनी चाहिए। इसमें १२–१५% प्रोभूजिनों से, २५–३०% स्नेह से और अवशेष प्रांगोदीयों से मिलनी चाहिए।

मात्रा निर्णय में ध्यान देने योग्य वातें—इस प्रकार आहारज्ञों ने प्रयोग, परिश्रम और पर्यालोचन से उत्तम आहार के संबंध में वहुत नियम और सूत्र वनाये हैं। ये प्रमाप आहार (Standard dieteries) कहलाते हैं। ये प्रमाप आहार, वंदिशाला, पाठशाला, छात्रावास, अनाथालय इत्यादि सार्वजनिक सांघिक संस्थाओं में सर्वसाधारण मार्गदर्शन के लिए वहुत उपयोगी होते हैं। परंतु इनसे व्यक्ति मात्र के उचित आहार का प्रश्न निर्णीत नहीं हो सकता। इसके लिए निम्न वातों पर ध्यान देना चाहिए—

(१) देश प्रकृति—शीत देशों में शरीर से उष्णता का अधिक नाश होने के कारण उष्णतोत्पादक द्रव्यों की अधिक आवश्यकता होती है और यह कार्य स्नेह[1] से ही करना पड़ता है। ग्रीनलैण्ड जैसे अत्यन्त शीत प्रदेश में, इसलिए मछली की चरवी का तेल का अधिक उपयोग किया जाता है। उष्ण प्रदेशों में इसके विपरीत स्थिति होती है।

(२) ऋतु—शीत ऋतु में उपर्युक्त कारण से ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा अधिक उष्णतोत्पादक खाद्य द्रव्यों की आवश्यकता मालूम होती है और उनका सेवन स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से जरूरी भी होता है। ग्रीष्म ऋतु में इसके विपरीत स्थिति होती है।

(३) अवस्था—शरीर की दृष्टि से वाल्य वृद्धिकाल, यौवन स्थितिकाल और वार्धक्य हानिकाल होता है। वाल्य में क्षतिपूरण के अतिरिक्त शरीर की संपूर्ण धातुओं की वृद्धि हुआ करती है। भार की दृष्टि से शरीर के पृष्ठभाग का क्षेत्र अधिक रहता है और वालक सदैव उद्योगशील रहते हैं। इसलिए वाल्य में धातुवर्धक प्रोभूजिनों की तथा ऊर्जोत्पादक स्नेह एव प्रांगोदीयों की अधिक आवश्यकता होती है। जव शरीर की पूर्ण वृद्धि हो जाती है तव प्रोभूजिनों की आवश्यकता केवल क्षतिपूरण के लिए ही रहती है। अत एव उनकी मात्रा कम करनी पड़ती है। वार्धक्य में क्षतिपूरण भी ठीक नहीं होने पाता। इसलिए उस समय प्रोभूजिन और भी कम करने पड़ते हैं।

(४) लिंग—साधारणतया पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम अन्न की आवश्यकता होती है क्योंकि उनका काम हलका, घरेलू और मामूली होता है। यह नियम एक समाज या जाति के लिए लागू है। विभिन्न समाज, वर्ण या वर्ग के

---

[1]. शीते स्निग्धं सदा हितम्॥ शीते शीतानिलस्पर्शसंरुद्धो बलिनां बली। पक्ता भवति हेमन्ते मात्राद्रव्यगुरुक्षमः। (सुश्रुत)

स्त्री-पुरुषों का विचार करने पर यह नियम उलटा हो सकता है। श्रमजीवी जाति की मिहनत-मजूरी करनेवाली स्त्रियों को बुद्धिजीवी जाति के पुरुषों की अपेक्षा अधिक अन्न की आवश्यकता होती है।

(५) व्यवसाय—संसार में मनुष्यों के मुख्य दो भेद होते हैं—श्रमजीवी और बुद्धिजीवी। बुद्धिजीवियों की अपेक्षा श्रमजीवियों को उष्णतोत्पादक अन्न की आवश्यकता अधिक होती है। इसलिए मिहनत-मजदूरी करनेवाले लोग चावल, आलू, शकरकंदी इत्यादि प्रांगोदीयों पर अपना निर्वाह भली-भाँति कर सकते हैं। बुद्धिजीवियों से शारीरिक श्रम कम होने के कारण उनको उष्णतोत्पादक द्रव्यों की आवश्यकता कम होती है और प्रोभूजिनों की आवश्यकता अधिक होती है। इसलिए उनको प्रांगोदीय अधिक खाकर अपना पेट भारी न करना चाहिए। उसके बदले दूध-मलाई, घी-बादाम इत्यादि प्रोभूजिन स्नेहयुक्त भोजन करना चाहिए।

(६) आयाम और संहनन (Height and built)—शरीर के तोल, लंबाई, विस्तार इत्यादि के अनुसार अन्न की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। भारी, लम्बे और स्थूल मनुष्य को हलके, ठिगने और पतले मनुष्य की अपेक्षा अधिक अन्न की आवश्यकता होती है।

(७) अभ्यास[1]—अधिक मात्रा में अन्न सेवन करने का अभ्यास रखने से मनुष्य को अधिक अन्न की और कम मात्रा में सेवन करने का अभ्यास रखने पर कम अन्न की आवश्यकता मालूम होती है। बहुतेरे लोग अल्प मात्रा में अन्न सेवन करके बहुत अधिक काम करते हुए दिखाई देते हैं। यह सब अभ्यास का ही फल है।

अन्न की पोषणअर्हा (Nutritive value)

शरीर का पोषण ठीक होने के लिए आहार संतुलित होना चाहिए इसमें जरा सा भी संदेह नहीं है। परंतु आहार संतुलित होने से ही पोषण ठीक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि जो आहार्य द्रव्य हम सेवन करते हैं उनका रासायनिक संघटन शरीर-संघटन से कुछ भिन्न होने से उनके ऊपर पाचन, और प्रचूषण के संस्कार होने पर वे शरीर पोषण योग्य हो जाते हैं जिनसे अन्न द्रव्यों की पोषणार्हा घटने की संभावना हो सकती है। इसके लिए उनका विचार यहाँ पर किया जाता है।

पाच्यता (Digestibility) महास्रोत के पाचक रसों के द्वारा आहार्य द्रव्यों के बड़े-बड़े जटिल संयोगों का छोटे-छोटे प्रचूषणयोग्य संयोगों में

१. उद्योगः कलहः कण्डूर्द्यूतं मद्यं परस्त्रियः। आहारो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं तु वर्धते।

परिवर्तित होना पाचन कहलाता है। आहार्य द्रव्यों का उत्तम पचन होने के लिए उनका सुपाच्य होना आवश्यक होता है जो निम्न बातों पर निर्भर करता है।

(१) भौतिक स्थिति[1]—कठिन और ठोस पदार्थ मृदु और तरल पदार्थों की अपेक्षा पचने में भारी होते हैं। इसका कारण यह है कि ठोस और कठिन पदार्थों के साथ पाचक रस भली-भाँति नहीं मिल सकते। इसको भौतिक गुरुता कहते हैं जो चर्वण के द्वारा मनुष्य दूर कर सकता है। अन्न की पोषणार्हा बढ़ाने में, इसलिए चर्वण बहुत उपयोगी होती है।

(२) रासायनिक संघटन—अन्न के संघटकों में जल, खनिजों और जीवंतिक्तियों को पाचन की आवश्यकता नहीं होती। प्रोभूजिन, स्नेह और प्रांगोदीयों को पाचन की आवश्यकता होती है। इनमें पचन में स्नेह सबसे गुरु और प्रांगोदीय सबसे लघु होते हैं। प्रांगोदीयों में भी एक शर्करेय (Mono saccharides) सबसे हलके (जैसे मधु), द्विशर्करेय (जैसे गुड़, चीनी) उससे भारी और बहुशर्करेय तथा कोशाणुयुक्त (Cellulose) द्रव्य सबसे अधिक भारी होते हैं। यही कारण है कि थकने के पश्चात् गुड़ या चीनी पानी के साथ सेवन करने से दूसरे खाद्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से आराम मालूम होता है।

(३) अग्नि संस्कार[2]—इससे खाद्य द्रव्यों का स्वाद बढ़ता है जो पाचन में सहायता करता है। इसके अतिरिक्त उनकी भौतिक और रासायनिक स्थिति में भी परिवर्तन करता है जिससे पाचन में लघुता आ जाती है। यथा चावलों की अपेक्षा धान की खील अधिक लघु होती है। कच्चे अण्डे की अपेक्षा हलका उबाला हुआ अण्डा लघु होता है। शाकाहार सामान्यतया अग्नि संस्कार से हलका हो जाता है। अग्निसंस्कार जैसे खाद्य द्रव्यों को हलका बनाता है वैसे उनको गुरु भी बना देता

---

१. पेयलेह्यखाद्यभक्ष्याणां गुरुविद्याद्यथोत्तरम् ॥ (सुश्रुत)

आहारं षड्विधं चूष्यं पेयं लेह्यं तथैव च।

भोज्यं भक्ष्यं तथा चर्व्यं गुरु विद्याद्यथोत्तरम् ॥ (भावप्रकाश)

चूष्य—गन्ना, अनार, संतरा इत्यादि। पेय—दूध, शरबत, पानक इत्यादि। लेह्य—विविध अवलेह, पाक इत्यादि। भोज्य—भात, खिचड़ी, हलुआ इत्यादि। भक्ष्य—विविध लड्डू। चर्व्य—चना, सूखे फल इत्यादि।

२. नैसर्गिक खाद्य द्रव्यों की पोषण शक्ति उनकी भौतिक स्थिति तथा उनके ऊपर किये हुए संस्कारों से परिवर्तित होती है इसका स्पष्ट उल्लेख आयुर्वेद में खाद्य द्रव्यों के गुण-धर्मों में पाया जाता है—द्रव्यसंयोगसंस्कारविकारान् समवेक्ष्य तु। भिषग्यथास्वं भक्ष्याणामादिशेद्गुरुलाघवम् ॥ (चरक)

है। अण्डा अधिक उबालने पर पचने में कठिन होता है। चावलों से चिवड़ा भारी होता है। सामान्यतया मांसाहार अग्नि संस्कार से भारी हो जाता है।

(४) जठराग्नि—जिन पाचक रसों के द्वारा खाद्य द्रव्यों का पाचन होता है उसके बलाबल पर द्रव्यों की पाचनक्षमता निर्भर होती है। जठराग्निबल बढ़ाने में खाद्य द्रव्यों की रुचि और गंध सहायता करती है और रुचि बढ़ाने में चटनी, अचार, मसाले इत्यादि सहायता करते हैं। जठराग्निबल बढाने का दूसरा साधन चर्वण है। चर्वण जैसे खाद्य द्रव्यों की भौतिकस्थिति में परिवर्तन करके पाचन में सहायता करता है वैसे ही लालास्राव को बढाकर तद्द्वारा जाठर रस और आन्त्र रस को बढ़ाकर पाचन में सहायता करता है।

प्रचूषणक्षमता (Absorbability)—जब खाद्य द्रव्यों का पाचक रसों के द्वारा भली-भाँति पाचन होकर वे प्रचूषण योग्य संयोगों में परिवर्तित होते हैं तब आन्त्र की श्लेष्मल कला से उनका प्रचूषग होता है। प्रचूषण का कार्य रासायनिक नहीं है, आस्रुति (Osmosis) और प्रसृति (Diffuiion) इत्यादि भौतिक विधियों द्वारा हुआ करती है। इसलिए खाद्य द्रव्यों की पाचनक्षमता और प्रचूषणक्षमता समान नहीं होती। प्रोभूजिनों की अपेक्षा स्नेह और प्रांगोदीय तथा वनस्पतिज प्रोभूजिनों की अपेक्षा प्राणिज प्रोभूजिन अधिक प्रचूषणक्षम हुआ करते है।

अन्नरंधन या अग्निपाचन (Cooking)

अन्य जीवधारियों की भाँति मनुष्य अपना अन्न अपक्वावस्था में नहीं सेवन करता। प्रारंभ में मनुष्य भी कच्चा अन्न सेवन करते थे, परन्तु सहस्रावधि वर्षों के अभ्यास से उनका पचनसंस्थान इस योग्य नहीं रहा। पकाने से अन्न प्रायः सुपाच्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसका स्वाद बढ़कर वह अप्रत्यक्षतया पाचन में सहायता करता है। पकाने से उसका काठिन्य दूर होकर चर्वण में आसानी मालूम होती है और अधिक चर्वण से भी उसकी पाच्यता बढ़ती है। शाकाहार पकाने से अधिक सुपाच्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि शाकाहार में जो मण्ड (Starch) रहता है वह कोशाधु (Cellulose) के खोल में बन्द रहता है और उस पर पाचक रसों का कार्य भली भाँति नहीं हो सकता। पकाने से कोशाधु की खोल फटकर मण्ड स्वतन्त्र होता है और पाचक उस पर अपना पाचन का कार्य भलीभाँति कर सकते हैं। पकाने से खाद्य द्रव्यों के भीतर जो अनेक विकारी जीवाणु या कृमियों के अण्डे तथा कोष्ठ हो सकते हैं उनका भी नाश हो जाता है। अन्न पकाने का सबसे बड़ा लाभ यही है। सक्षेप में अग्नि संस्कार से अन्न द्रव्य सुपाच्य तथा निर्जीवाणु हो जाते हैं। पकाने में यद्यपि इतने लाभ हैं तथापि

उससे खाद्य द्रव्यों की पोषणार्हा कुछ घट जाती है। इसलिए पकाने में इस बात पर सदैव ध्यान देकर कार्य करना चाहिए कि खाद्य की पोषणार्हा में विशेष कमी न होने पावे।

शाक—बहुतेरे लोग शाकों को अधिक पानी में पकाते हैं और शाक गल जाने के बाद पानी को फेंक देते हैं। शाकों में हमारे शरीर के लिए बहुत लाभदायक अनेक खनिज लवण होते हैं। ये जल में विलेय होने के कारण पानी में निकल आते हैं और पानी फेंकने पर उनके साथ चले जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि पकाने के पश्चात् शाकों का पानी फेंक देने से हम इन खनिज द्रव्यों से वंचित हो जाते हैं। अतः शाकों को पकाते समय इस बात पर ध्यान दिया जाय कि इनका खनिजांश नष्ट न हो जाय। वास्तव में शाकों को पकाते समय उनमें पानी डालने की जरूरत ही नहीं होती, क्योंकि उनमें बहुत जल होता है। यदि उन पर ढक्कन रक्खा जाय तो उनके जल से ही वे गल जायँगी। यदि शाक बहुत ही शुष्क हो गयी हो तो उसमें थोड़ा-सा पानी डालकर पकाना चाहिए। परंतु कदापि पकाने पर पानी न फेंकना चाहिए। शाकों में पकाते समय इमली डालने का जो रिवाज है वह बहुत अच्छा है। इससे शाकों की रुचि बढ़ती है और उसके साथ-साथ अत्यम्लता के कारण शाकों में तथा अन्य द्रव्यों में होने वाली ख, ग, घ जीवतिक्तियों की रक्षा होती है।

चावल—इनके बारे में भी यही बात ध्यान में रखनी चाहिए। चावलों के ऊपर जो भूसी या कन्ना होता है उसमें खनिज और जीवतिक्ति ख विद्यमान रहती है। यंत्र से साफ किये हुए प्रमृष्ट चावलों में यह कन्ना नष्ट हो जाता है और यद्यपि देखने में सफेद और सुन्दर दिखाई देते हैं तथापि उनकी पोषणार्हा बहुत घट जाती है और उनके लगातार सेवन से वात बलासक रोग (पृष्ठ ७४) उत्पन्न होने में सहायता होती है। हाथ से कुटे चावलों में यह डर नहीं होता क्योंकि उनके ऊपर का कन्ना पूर्णतया नष्ट नहीं होता। परन्तु इन चावलों को अधिक पानी डालकर पकाया जाय और पानी फेंक देने के पश्चात् सेवन किया जाय तो इससे उनका कना नष्ट होकर वे यंत्र से कूटे हुए चावलों के समान पोषणार्हा की दृष्टि से निकृष्ट हो जाते हैं। इसलिए चावलों को आवश्यक पानी डालकर ही पकाना चाहिए। चावल पकाने पर पानी फेंकने का रिवाज कुछ लोगों में है, वह स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर है।

पकाने का परिणाम जीवतिक्तियों पर जो होता है उसका विवरण पीछे प्रत्येक जीवतिक्ति के विवरण में दिया गया है।

पकाने की पद्धतियाँ—(१) तलना या कड़कड़ाते हुए तेल या घी में डालकर पकाना। अन्न पकाने की यह विधि सबसे निकृष्ट है। यद्यपि इससे पदार्थों की रुचि कुछ बढ़ जाती है तथापि वे अधिक ताप पर पकने के कारण दुष्पाच्य और विदाही हो जाया करते हैं और लगातार सेवन करने से अग्निमान्द्य, अम्लपित्त इत्यादि पाचन की खराबियाँ उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त खाद्य द्रव्यों की पोषणार्हा भी कम हो जाती है।

(२) उबालना—इसमें पानी की सहायता से अन्न पकाया जाता है। अधिकतर खाद्य द्रव्य इसी पद्धति से पकाये जाते हैं। इससे खाद्य द्रव्यों की पाचनक्षमता बढ़ जाती है। इस विधि से अन्न पकाते समय केवल एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि आवश्यकता से अधिक पानी न डाला जाय तथा यदि एकाध बार पानी अधिक हो जाय तो भी उसको फेंका न जाय।

(३) भूनना—इसमें आग पर रखकर या बालू मे डालकर खाद्य द्रव्य पकाये जाते हैं। यह पद्धति अच्छी है। इसमें खाद्य द्रव्य अपने भीतर के जल की भाप से पकते हैं। इसके अतिरिक्त भुने हुए द्रव्यों में एक प्रकार का बढ़िया स्वाद उत्पन्न होता है जो पाचकाग्नि को तेज करता है। बाजरा, जुआर, गेहूँ, मकई के बाल, शकरकंदी तथा जो भी अन्य द्रव्य इस पद्धति से पकाये जा सकते हैं उनको इसी रीति से पकाकर खाना हितकर होता है।

(४) भापना—इसमें पानी की भाप से खाद्य द्रव्य पकाये जाते हैं। भुनने और भापने में फर्क इतना ही है कि भुनने में पानी बाहर से नहीं डाला जाता और भापने में बाहर के पानी की भाप से पकाया जाता है। इस पद्धति से खाद्य पकाने पर उनकी पोषणार्हा जरा-सी भी कम नहीं हो सकती। इस पद्धति से पकाने के लिये दोहरे बर्तन की आवश्यकता होती है। बाहर के बर्तन में पानी भरा जाता है और भीतर के बर्तन में पकानेवाली वस्तु। दोनों के ऊपर ढकना रहता है। आजकल इस पद्धति से रसोई बनाने के लिये स्वतन्त्र बर्तन मिलते हैं जो रंधनित्र (Cooker) कहलाते हैं।

खाद्य पदार्थों को पकाने में यह ध्यान में रखना चाहिए कि बहुत तेज आँच पर पकाये हुए पदार्थों की अपेक्षा मध्यम आँच पर पकाये हुए पदार्थ स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक लाभदायक होते हैं। क्योंकि तेज आँच पर पकाने से उनका बहुत सा भाग जलकर (Overcooked) नष्ट होता है या शरीर की दृष्टि से अनुपयोगी हो जाता है। इसलिए रसोई बनाते समय कोई पदार्थ आवश्यकता से

उससे खाद्य द्रव्यों की पोषणार्हा कुछ घट जाती है। इसलिए पकाने में इस बात पर सदैव ध्यान देकर कार्य करना चाहिए कि खाद्य की पोषणार्हा में विशेष कमी न होने पावे।

शाक—बहुतेरे लोग शाकों को अधिक पानी में पकाते हैं और शाक गल जाने के बाद पानी को फेंक देते हैं। शाकों में हमारे शरीर के लिए बहुत लाभदायक अनेक खनिज लवण होते हैं। ये जल में विलेय होने के कारण पानी में निकल आते हैं और पानी फेंकने पर उनके साथ चले जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि पकाने के पश्चात् शाकों का पानी फेंक देने से हम इन खनिज द्रव्यों से वंचित हो जाते हैं। अतः शाकों को पकाते समय इस बात पर ध्यान दिया जाय कि इनका खनिजांश नष्ट न हो जाय। वास्तव में शाकों को पकाते समय उनमें पानी डालने की जरूरत ही नहीं होती, क्योंकि उनमें बहुत जल होता है। यदि उन पर ढक्कन रक्खा जाय तो उनके जल से ही वे गल जायँगी। यदि शाक बहुत ही शुष्क हो गयी हो तो उसमें थोड़ा-सा पानी डालकर पकाना चाहिए। परंतु कदापि पकाने पर पानी न फेंकना चाहिए। शाकों में पकाते समय इमली डालने का जो रिवाज है वह बहुत अच्छा है। इससे शाकों की रुचि बढ़ती है और उसके साथ-साथ अत्यम्लता के कारण शाकों में तथा अन्य द्रव्यों में होने वाली ख, ग, घ जीवतिक्तियों की रक्षा होती है।

चावल—इनके बारे में भी यही बात ध्यान में रखनी चाहिए। चावलों के ऊपर जो भूसी या कन्ना होता है उसमें खनिज और जीवतिक्ति ख विद्यमान रहती है। यंत्र से साफ किये हुए प्रमृष्ट चावलों में यह कन्ना नष्ट हो जाता है और यद्यपि देखने में सफेद और सुन्दर दिखाई देते हैं तथापि उनकी पोषणार्हा बहुत घट जाती है और उनके लगातार सेवन से वात बलासक रोग (पृष्ठ ७४) उत्पन्न होने में सहायता होती है। हाथ से कुटे चावलों में यह डर नहीं होता क्योंकि उनके ऊपर का कन्ना पूर्णतया नष्ट नहीं होता। परन्तु इन चावलों को अधिक पानी डालकर पकाया जाय और पानी फेंक देने के पश्चात् सेवन किया जाय तो इससे उनका कना नष्ट होकर वे यंत्र से कूटे हुए चावलों के समान पोषणार्हा की दृष्टि से निकृष्ट हो जाते हैं। इसलिए चावलों को आवश्यक पानी डालकर ही पकाना चाहिए। चावल पकाने पर पानी फेंकने का रिवाज कुछ लोगों में है, वह स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर है।

पकाने का परिणाम जीवतिक्तियों पर जो होता है उसका विवरण पीछे प्रत्येक जीवतिक्ति के विवरण में दिया गया है।

पकाने की पद्धतियाँ—(१) तलना या कड़कड़ाते हुए तेल या घी में डालकर पकाना। अन्न पकाने की यह विधि सबसे निकृष्ट है। यद्यपि इससे पदार्थों की रुचि कुछ बढ़ जाती है तथापि वे अधिक ताप पर पकने के कारण दुष्पाच्य और विदाही हो जाया करते हैं और लगातार सेवन करने से अग्निमान्द्य, अम्लपित्त इत्यादि पाचन की खराबियाँ उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त खाद्य द्रव्यों की पोषणार्हा भी कम हो जाती है।

(२) उबालना—इसमें पानी की सहायता से अन्न पकाया जाता है। अधिकतर खाद्य द्रव्य इसी पद्धति से पकाये जाते हैं। इससे खाद्य द्रव्यों की पाचनक्षमता बढ़ जाती है। इस विधि से अन्न पकाते समय केवल एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि आवश्यकता से अधिक पानी न डाला जाय तथा यदि एकाध बार पानी अधिक हो जाय तो भी उसको फेंका न जाय।

(३) भूनना—इसमें आग पर रखकर या बालू में डालकर खाद्य द्रव्य पकाये जाते हैं। यह पद्धति अच्छी है। इसमें खाद्य द्रव्य अपने भीतर के जल की भाप से पकते हैं। इसके अतिरिक्त भुने हुए द्रव्यों में एक प्रकार का बढ़िया स्वाद उत्पन्न होता है जो पाचकाग्नि को तेज करता है। बाजरा, जुआर, गेहूँ, मकई के बाल, शकरकंदी तथा जो भी अन्य द्रव्य इस पद्धति से पकाये जा सकते हैं उनको इसी रीति से पकाकर खाना हितकर होता है।

(४) भापना—इसमें पानी की भाप से खाद्य द्रव्य पकाये जाते हैं। भुनने और भापने में फर्क इतना ही है कि भुनने में पानी बाहर से नहीं डाला जाता और भापने में बाहर के पानी की भाप से पकाया जाता है। इस पद्धति से खाद्य पकाने पर उनकी पोषणार्हा जरा-सी भी कम नहीं हो सकती। इस पद्धति से पकाने के लिये दोहरे बर्तन की आवश्यकता होती है। बाहर के बर्तन में पानी भरा जाता है और भीतर के बर्तन में पकानेवाली वस्तु। दोनों के ऊपर ढकना रहता है। आजकल इस पद्धति से रसोई बनाने के लिये स्वतन्त्र बर्तन मिलते हैं जो रधनित्र (Cooker) कहलाते हैं।

खाद्य पदार्थों को पकाने में यह ध्यान में रखना चाहिए कि बहुत तेज आँच पर पकाये हुए पदार्थों की अपेक्षा मध्यम आँच पर पकाये हुए पदार्थ स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक लाभदायक होते हैं। क्योंकि तेज आँच पर पकाने से उनका बहुत सा भाग जलकर (Overcooked) नष्ट होता है या शरीर की दृष्टि से अनुपयोगी हो जाता है। इसलिए रसोई बनाते समय कोई पदार्थ आवश्यकता से

अधिक[१] या कम न पकाया जाय, इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उत्तम पकाया हुआ पदार्थ खाने में स्वादिष्ट और अधिक-से-अधिक पोषणक्षम होता है।

यद्यपि पकाने से इतने लाभ होते हैं। तथापि कुछ खाद्य पदार्थ ऐसे हैं जो विना पकाये खाए जा सकते हैं तथा दूसरे ऐसे हैं जिनको पकाने की आवश्यकता ही नहीं होती। दूध, चना, कुछ कंद प्रथम वर्ग में और विविध फल दूसरे वर्ग में समाविष्ट होते हैं। यदि दूध को विना पकाये सेवन करना हो तो वह सदैव धारोष्ण, स्वस्थ गौ के स्वच्छ थनों से, स्वच्छ हाथों से, स्वच्छ वर्तन में दूहा हुआ और स्वच्छ कपड़े से छाना हुआ होना चाहिए। चना-उड़द इत्यादि पदार्थ पानी से स्वच्छ धोने पर पानी में रखकर अंकुरित होने के वाद सेवन करने चाहिएँ। फल को भली-भाँति देख भाल करके पानी से धोकर खाना चाहिए। पकाये पदार्थ पोषण-क्षमता में विना पकाये नसर्गिक ताजे पदार्थों का कदापि मुकावला नहीं कर सकते। इसलिए दैनिक आहार में इस प्रकार के पदार्थों का थोड़ा वहुत समावेश होना जरूरी है।

अन्नपरिरक्षण (Preservation)

प्राणिज और वनस्पतिज खाद्यद्रव्य पूतिजनक तथा विकारी जीवाणुओं के संसर्ग से सड़ने-गलने लगते हैं। यह संसर्ग प्रायः वाहर से होता है। ऐसे सड़े-गले पदार्थों के सेवन से शरीर को कुछ न कुछ हानि पहुँचती है और कई वार अन्न-विषता (Food poisoning) उत्पन्न होती है। इसलिए अन्न का परिरक्षण एक महत्त्व का कार्य है। खाद्य द्रव्यों का टटकापन (Freshness) और स्वाद ज्यों का त्यों रखकर उनकी पोषणक्षमता में जहाँ तक हो सके फर्क न होने देना अन्नपरि-रक्षण का उद्देश्य होता है। इसके लिए निम्न विधियाँ काम में लायी जाती हैं। इन विधियों से वाह्य जीवाणुओं का संबंधविच्छेद किया जाता है तथा भीतर प्रविष्ट हुए जीवाणुओं की वृद्धि रोकी जाती है।

(१) शीत (Cold)—हिमविंदु के नीचे का ताप जीवाणुवृद्धि का विरोधक होने के कारण आजकल शीत का प्रयोग अन्नरक्षा के लिए वहुत किया जाता है। इस ताप पर वहुतेरे परोपजीवी (Parasites) मर जाते हैं। अन्न परिरक्षण की दृष्टि से यह पद्धति श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे खाद्य द्रव्यों की नैसर्गिक रुचि या गंध में जरा सा भी फर्क नहीं होता, उनकी पाच्यता वटती नहीं तथा उनकी पोषणार्हता जैसी की तैसी वनी रहती है। केवल तद्गत जीवतिक्तियों की शक्ति कुछ घट

(१) आयुर्वेद में तेज आँच पर जलाये हुए खाद्य द्रव्यों का निषेध किया है—[illegible] चान्नं विवर्जयेत्। सुश्रुत॥ [illegible]मिति अतिपाकत्वेन ज्वलितम्। डल्हण।

जाती है यह इसका अल्प दोष है। परन्तु सबसे महत्व का दोष यह ही है कि शीत से खाद्य द्रव्यान्तर्गत जीवाणुओं का नाश न होने के कारण यदि पहले से खाद्य द्रव्य जीवाणुदूषित रहे हों तो शीत के बाहर आते ही तद्गत जीवाणुओं की वृद्धि प्रारंभ होकर वे सड़ने लगते हैं। इस पद्धति का उपयोग मांस-मछली, अण्डा, फल, दूध इत्यादि खाद्य द्रव्यों के लिए किया जाता है। बड़े पैमाने पर अन्न की परिरक्षा करने के लिए तथा एक देश से दूसरे देशों में मांस मछली भेजने के लिए इसका बहुत उपयोग होता है। खाद्य द्रव्यों को रखने के लिए बड़े-बड़े प्रशीतक (Refrigerators) बनाये जाते हैं। एक प्रांत से दूसरे प्रान्त में लोहमार्ग के (Railway) द्वारा खाद्य द्रव्य भेजने के लिए प्रशीतक डिब्बे बनाए जाते हैं तथा समुद्र मार्ग द्वारा अन्न भेजने के लिए प्रशीतक पोत (Ships) रहते हैं। घरेलू कामों के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है क्योंकि विद्युत्प्रवाह पर चलनेवाले छोटे-छोटे प्रशीतक बनाए गए है।

(२) शुष्कीकरण या द्रवापहरण (Drying or Dehydration)—जीवाणुओं की वृद्धि के लिए जलांश की आवश्यकता होती है। यदि खाद्य द्रव्यों में से जलांश निकाल दिया जाय तो वे अधिक काल तक सेवनयोग्य रह सकते हैं। अनेक शाक, कन्द, फल (आलू, आँवला, कच्चा आम, नारियल की गरी, किसमिस, मेवे इत्यादि) सुखाकर रक्खे जाते हैं। बिस्कीट और दूध की बुकनी शुष्कीकृत द्रव्यों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। सुखाने से जीवतिक्ति क ख और घ में कोई फर्क नहीं पड़ता, परन्तु ग का कुछ अंश नष्ट हो जाता है। आजकल मांस और अण्डे भी विशेष पद्धति से सुखाकर रक्खे जा रहे है।

(३) लवणीकरण और अचार (Salting and Pickling)—नमक का उपयोग (१८–२५%) मांस मछली के लिए किया जाता है। नमक से जीवाणुओं की वृद्धि रुक जाती है परन्तु उनका नाश नहीं होता। विविध अचारों की परिरक्षा में नमक एक प्रधान परिरक्षी (Preservative) द्रव्य होता है।

(४) धूपन (Smoking)—मांस-मछलियाँ इस प्रकार से भी रक्खी जाती हैं। प्रथम उन पर लवण का प्रयोग किया जाता है। तदनंतर धूम का प्रयोग करते हैं। धूपन के समय मांस-मछलियों का जलांश कम हो जाता है और उन पर धुएँ से निकले हुए कुछ द्रव्यों (Pyroligneons) की एक पतली तह बनती है जो कुछ अंश तक जीवाणुनाशन का काम करती है। परन्तु इसका असर गहराई तक नहीं होता और चूँकि यह मांस फिर से पकाकर नही सेवन किया जाता इसलिए यदि भीतर कोई परोपजीवी रहा हो या मांस सड़ गया हो तो उससे हानि हो सकती है।

(५) तपन और डिब्बीभरण (Heat and canning)—इसमें खाद्य द्रव्य उबाल कर निर्जीवाणुक करके पश्चात् गरम करके निर्जीवाणुक किये हुए डिब्बों में वे भर दिए जाते हैं। पश्चात् उनका मुख बंद किया जाता है। डिब्बों में कुछ शून्यक (Vacuum) बनता है जिसके कारण उनके दोनों पृष्ठ भीतर दब जाते हैं। इस पद्धति से मांस, मछली, फल, फूलों के रस तथा अनेक खाद्य द्रव्य रक्खे जाते हैं। अन्नपरिरक्षण की यह सबसे अधिक व्यवहृत और सर्वोत्तम पद्धति है। इसमें केवल जीवतिक्ति ग की थोड़ी सी हानि होती है।

(६) अवलेहिका—चीनी जब अवलेह या पाक (Syrup) के रूप में परिणत होती है तब उसमें जीवाणुनाशक और वृद्धिविरोधक गुण उत्पन्न होता है। फलों के मुरब्बे, पाक, अवलेह इसी कारण से टिकाऊ होते हैं।

(७) रासायनिक द्रव्य—इसमें धूपिक (Benzoic) अम्ल और धूपीय (Benzoates), टांकिक (Boric), अम्ल और टंकण (Borax), नम्रलिक (Salicylic) अम्ल, वन्नसुद्युद (Formaldehyde) उदजन अतिजारेय (H_2O_2), क्षारातुद्वयंगारीय इत्यादि रासायनिक द्रव्य खाद्य द्रव्यों में छोड़कर उनकी रक्षा की जाती है। जहाँ तक हो सके अन्नरक्षा के लिए रसायनों का प्रयोग न करना चाहिए। अनेक देशों में इनका प्रयोग प्रतिषिद्ध किया गया है। अन्नपरिरक्षा की विधियों में प्रशीतक की विधि उत्कृष्ट, रसायनविधि निकृष्ट और शेष विधियाँ मध्यम होती हैं।

(८) वातानुकूलन (Airconditioning)—वात संचार, आक्लेद (Humidity), प्राणवायु और प्रां. द्विजारेय (CO_2) इनका अनुकूल नियन्त्रण करने से अनेक द्रव्यों का परिरक्षण होता है। इसका उपयोग आजकल फल-मांस इत्यादि के लिए किया जाता है। प्रां. द्विजारेय का वातावरण तृणाणुओं का यद्यपि नाश नहीं कर सकता तथापि उनकी वृद्धि को रोक सकता है। इसको वातसंग्रहण (Gas storage) भी कहते हैं।

(९) आलेपन (Glazing)—इसका उपयोग मुख्यतया अण्डों के लिए किया जाता है। इसमें क्षारातु सैकतीय (Sodium silicate) का लेपन उन पर किया जाता है।

(१०) तैलन (Oiling)—तेलों में डुबोयी हुई चीजें अच्छी तरह रहती हैं। इसके लिए मुख्यतया सरसों का तेल प्रयुक्त किया जाता है। शाक फलों के अचार तेलों में ही बनने के कारण टिकाऊ होते हैं। नमक भी इसमें सहायता करता है।

—:o:—

आहार से संबन्धित रोग

येषामेव हि भावाना संपत् संजनयेन्नरम् ।
तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत् ॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून् ।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥ चरक ॥

अन्न जैसे निर्दोष, संतुलित और युक्तियुक्त होने पर मनुष्यों को सशक्त और स्वस्थ बनाकर शतायु कर सकता है, वैसे ही सदोष, असंतुलित और अयुक्तियुक्त होने पर उनको अशक्त और अस्वस्थ बना कर अल्पायु भी कर सकता है। अतः जिन कारणों से अन्न स्वास्थ्यहानिकर होता है उन कारणों को मालूम करके उनको टालने का प्रयत्न करना प्रत्येक का कर्तव्य है। अन्न निम्न कारणों से स्वास्थ्यहानिकर होता है—

(१) अत्यन्नयोग (Excess of food)—अपनी पाचनशक्ति से अधिक से अधिक मात्रा में जब अन्न सेवन किया जाता है तब उसको *अतियोग* कहते हैं। अधिक मात्रा[1] में अन्न सेवन करने से पचन, हृदय रक्त संवहन और मलोत्सर्जन के संस्थानों पर अधिक काम पड़ता है। पचन संस्थान पर अधिक काम पड़ने से अपचन, आन्त्र में अन्न का सडना, आध्मान, आन्त्रशूल, मलावरोध या प्रवाहिका, अम्लपित्त इत्यादि अजीर्ण[2] के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि अन्न का अतियोग नैत्यिक हो जाय तो आन्त्रगत सड़न के विष रक्त में जाकर आत्मान्तर्विषता[3] (Auto intoxication) उत्पन्न करते हैं। इस विषता का परिणाम हृदय, रक्तवाहिनियों, वृक्कों के ऊपर होकर मधुमेह, वातरक्त, स्थूलता, परमनिपीडता (रक्तभार का बढ़ना Hyperpiesis) इत्यादि अनेक[4] रोगों की उत्पत्ति होती है।

---

१. यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकाल जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यम्। चरक ॥ अमात्रा पुनरशनस्य हीनताऽधिक्यं वा। अष्टागसंग्रह ॥

२. अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ सुश्रुत ॥

३. इसी को आयुर्वेद में आमविषता कहते हैं—विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनः पुनरामदोषमामविषमामनन्ति विषसदृशलिंगत्वात् ॥ अष्टागसंग्रह ॥

४. अतिमात्रभोजनं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमाहुः। अष्टागसंग्रह ॥

(२) हीनान्नयोग[1]—जब अन्न की सकल राशि (उपंकरी राशि) तथा अन्न के विविध संघटकों में से एक की या अनेकों की राशि उचित राशि से कम रहती है तब उसको हीनयोग कहते है। इसी को आधुनिक परिभाषा में हीन (Deficient) और असंतुलित आहार कहते हैं। स्वास्थ्यहानिकर हीनयोगों में कुल राशि के, उच्च प्रोभूजिनों के, खनिजों के और जीवतिक्तियों के हीनयोग महत्व के हैं।

(अ) अन्न के सब संघटकों की कमी होने से भारक्षय, रक्तक्षय, बलक्षय, धातुक्षय इत्यादि शरीरक्षयकर और दौर्बल्यकर अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। पूर्ण अनशन से शरीर शीघ्रता से कृश होता है, श्लेष्मलावरण सूख जाते हैं, हृदय और श्वसन का कार्य ठीक नहीं चलता, मन्दज्वर, बेचैनी, प्रलाप इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर सन्यास से मृत्यु हो जाता है। छोटे बच्चे अनशन को सह नहीं सकते और जल्दी मर जाते हैं। चिरकालिक अनशन के (जैसे भूख हड़ताल) शरीर पर बहुत ही खराब परिणाम हुआ करते हैं। पचन संस्थान उससे इतना दुर्बल हो जाता है कि आगे चलकर उचित अन्न देने पर भी वह उसको पाचित नहीं कर सकता न प्रचूषित कर पाता। परिणाम यह होता है कि अन्न सेवन करने पर भी उसका मृत्यु अनशन से ही हुआ करता है।

(आ) अन्न में उत्कृष्ट प्रोभूजिनों की (पृष्ठ ६३) कमी होने से शरीर पर सूजन उत्पन्न होती है जिसको अपतर्पणज या अपोषणज (Nutritional) शोफ कहते हैं तथा अपतर्पणज परमवर्णिक रक्तक्षय (Hyperchromic anaemia) जैसे उष्णकटिबंधक रक्तक्षय विशेषतया गर्भिणी स्त्रियों में उत्पन्न होते हैं।

(इ) खनिज द्रव्यों में चूने की कमी से अस्थिविकार, अयस की कमी से रक्तक्षय, जम्बुकी (Iodine) की कमी से (पृष्ठ ३९) गलगण्ड (Goitre) इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।

(ई) जीवतिक्तियों में क की कमी से रतौंधी, शुष्काक्षिपाक, ख की कमी से वात-चलासक (Beri.Beri), त्वग्ग्राह, ग की कमी से प्रशीताद, शैशवीय प्रशीताद, और घ की कमी से अस्थिवक्रता, अस्थिमृदुता इत्यादि विकार होते हैं। जीवतिक्तियों के हीनयोग से होने वाले रोगों को ही साधारणतया हीनान्नरोग (Deficiency diseases) कहते हैं।

---

१. तत्र हीनमात्रमशनं बलवर्णोपचयमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं विबन्धकृदवृष्यमनायुष्यमनौजस्यं सारविध्मापनमलक्ष्म्यजननमशीतेश्च वातविकाराणामायतनम् ॥ अष्टांगसंग्रह, सूत्र ११ ॥

अन्नज अनूर्जता (Food allergy)—कुछ लोग सहज या जन्मोत्तर प्राप्त अपनी अज्ञातप्रकृति (Idiosyncrasy) के कारण कुछ खाद्य द्रव्यों के लिए अक्षम होते हैं जिससे उन द्रव्यों के सेवन से केवल उन्हीं में अनवधानता (Anaphylaxis) के समान विशिष्ट रोग या लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये अनूर्जिक (Allergic) रोग कहलाते हैं। जैसे, नासास्राव, तृणपुष्पाख्य ज्वर (Hayfever), श्वास, शीतपित्त, उदर्द (Jiant urticaria), वमन, प्रवाहिका, अर्धावभेदक, मृगी इत्यादि। अनूर्जिक रोग उत्पन्न करनेवाले द्रव्य अधिकतर प्रोभूजिनभूयिष्ठ होते हैं—जैसे, अंडा, पनीर, मछली, सीप मछली (Shellfish) घोंघा, सूअर का मांस इत्यादि।

(३) विषान्न-योग (Endogenous food poisoning)—इसमें स्वभावतः विषैले खाद्य द्रव्यों के सेवन से होनेवाले रोगों का समावेश किया जाता है। जैसे विषैले छत्रक (Mushrooms), मछलियाँ (ये मछलियाँ अधिकतर जापान के समुद्र में पायी जाती हैं), आलू के अंकुर, आकते की दाल इत्यादि। छत्रकों और मछलियों के सेवन से जठरान्त्रिक क्षोभ, अवसाद इत्यादि से मृत्यु होता है। आकते की दाल (Vicia sativa) से कलायखञ्ज (Lathyrism) और भडभाँड या सत्यानाशी (Argemone) के तेल से मरक शोफ होते है।

(४) दूषितान्न-योग (Exogenous food poisoning)—इसके खाद्य द्रव्य उपर्युक्त के समान स्वभावतः मनुष्यों के लिए विषैले नहीं होते, परन्तु बाहर से उनमें कुछ विषैले द्रव्य मिल जाने से हानिकर होते हैं। इसके निम्न भेद होते हैं—

(१) रसायन विषयोग—इसमें डिब्बों में बन्द किए हुए खाद्य द्रव्यों का समावेश होता है। जैसे, फल, मुरब्बे, मछलियाँ, अचार इत्यादि। कभी-कभी इन द्रव्यों के अम्लों का या इन खाद्यों में उत्पन्न हुए अम्लों का डिब्बी की धातु पर परिणाम होकर वह धातु खाद्य को विषाक्त कर देती है। ताम्रपात्र का उपयोग खट्टे पदार्थों को रखने के लिए करने से भी वे पदार्थ ताम्रविषाक्त हो जाते हैं। कभी-कभी अन्नरक्षा के लिए टंकणादि रसायनों का (पृष्ठ ८८) प्रयोग किया जाता है। उनका सेवन करने से विषैले लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) छत्रक विषयोग—कभी-कभी शूक धान्यों पर रुक्छत्रक (Ergot fungus) उत्पन्न होते हैं और उनके साथ इनका भी सेवन किया जाता है जो रुक्छत्रकता (Ergotism) नामक विकार उत्पन्न करते है। इसमें हाथ-पैर-कान-नाक इत्यादि अंगों में कोथ (Gangrene), हाथ पैरों में सुन्नता, झुनझुनी, खाज, पेशियों में जकड़न, लड़खड़ाहट इत्यादि लक्षण होते हैं।

(३) तृणाणु विषयोग (Bacterial poisoning)—इसमें तृणाणुओं के उपसर्ग से होनेवाले विकारों का समावेश किया जाता है। इसके निम्न प्रकार होते हैं—

(अ) सालमोनेल्लाविषता (Salmonella poisoning)—इसमें सालमोनेल्ला वर्ग के तृणाणुओं (B enteritidis (gartner), B aertrycke, B. typhi murium इत्यादि) से अन्न विशेष-तया मांस उपसृष्ट होता है और उसमें ये तृणाणु वृद्धि करते हैं। इस प्रकार दूषित मांस के सेवन से वमन, रक्त और आँव के साथ पतले दस्त, पेट में शूल, पिंडिकोद्वेष्टन, शरीर का ठंडापन, हृदय-दौर्वल्य इत्यादि लक्षण होते हैं।

(आ) कृप्यन्नता (Botulism)—इसमें खाद्य द्रव्यों में कृप्यन्न गदाणु (वैसीलस वोटुलिनस) नामक तृणाणुओं के विष का सम्बन्ध आता है। यह तृणाणु तीव्र वहिर्विष उत्पन्न करता है। डिब्बों के फल, मांस, शाक इत्यादि इससे दूषित हो सकते हैं। यह दण्डाणु स्वयं मनुष्यों में कुछ भी विकार नहीं कर सकता। मांसादि में इसकी वृद्धि होने से जो विष उत्पन्न होता है उससे यह विकार उत्पन्न होता है। यह विकार बहुत घातक है। इससे पीड़ितों में ५०% रोगी २ दिन के भीतर मर जाते हैं। इस विष का परिणाम मस्तिष्क नाडियों और सुषुम्ना पर होकर भ्रम, द्वितयदृष्टि (Diplopia), स्वरघ्न, श्वसन और हृदय का अतिपात (Failure) इत्यादि लक्षण होकर रोगी का मृत्यु हो जाता है। इसमें मलविबंध होता है और वमन भी बहुत कम होता है और जब होता है तब रोग की असाध्यता का सूचक होता है।

(इ) प्राणियों के रोग—जब प्राणी राजयक्ष्मा, माल्टाज्वर, ऐन्थ्राक्स इत्यादि से स्वय पीड़ित रहता है तब उसके मांस या दूध में तृणाणु उपस्थित रहते हैं जो मांस या दूध के साथ मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न किया करते हैं।

(ई) वाह्योपसर्ग—वाहक या रोगी के हाथों से, मक्खियों से अन्न दूषित होकर उसमे अतीसार, आन्त्रिक, विसूचिका, रोहिणी, विविधकृमि इत्यादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

(४) कृम्युपसर्ग—प्राणियों के शरीर में अवस्थान करनेवाले अनेक कृमि होते हैं। इन कृमियों के कोष्टों से (cysts) जब प्राणियों का मांस दूषित रहता है तब उसके सेवन से ये कृमि मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं। इसमें विविध स्फीनकृमि (Tenia) आते हैं। इन कृमियों का निवास मुख्यतया गौ, बैल, सूअर और मछलियाँ इनमें हुआ करता है।

अन्नविषोद्भेदानुसंधान—जब कहीं पर अन्नविष का उद्भेद (Outbreak) हो जाता है तब उसका अनुसंधान (Investigation) निम्न प्रकार से करना चाहिए—

(१) पीड़ित लोगों की संख्या, लक्षण और अन्नविषता से सम्बन्धित अन्न का पता लगाना।

(२) संचय काल देखना—जब अन्न पहले से विषाक्त रहता है तब लक्षण जल्दी उत्पन्न होते हैं और जब अन्न रोगाणुदूषित रहता है तब जरा विलम्ब से लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(३) प्रयोगशाला में संशयित अन्न का, रोगी के मल-वमन का भौतिक रासायनिक, जीवाणुवैज्ञानिक तथा सांवर्धिक (Caltural) परीक्षण करना।

(४) यदि कोई मर गया हो तो उसके आन्त्र-यकृत्-प्लीहादि अंगों का मरणोत्तर परीक्षण करना।

(४) यदि रोगी ७-८ रोज तक बच गया हो तो उसकी रक्तलसीका का ज्ञात जीवाणु के साथ अभिश्लेषण कसौटी (Agglutination test) पर परीक्षण करके कारणभूत जीवाणुओं का पता लगाने का प्रयत्न करना।

संतुलित भोजनों के कुछ नमूने

अब यहीं पर संतुलित भोजनों के विविध उषंकरी अर्हा के कुछ नमूने दिये जाते हैं। इनमें अपना वय, धर्म, परिस्थिति, प्रकृति, व्यवसाय इनका विचार करके जो पसंद हो उसको न्यूनाधिक परिवर्तन करके सेवन कर सकते हैं। यहाँ पर दी हुई मात्रा २४ घंटे की अर्थात् दिन भर की है।

(१)

चावल	३ छटांक	घी	½ छटांक
गेहूँ का आटा	३ "	चीनी या गुड़	१ "
दाल	१ "	शाक फल	६ "
दूध	८ "	उष्णता	२०५० उष

(२)

गेहूँ का आटा	४ छटाँक	मांस	२ छटाँक
दाल	१ e	चीनी या गुड़	१ "
दूध	८ "	शाक फल	६ "
घी	१ "	उष्णता	२१५० उष

(३)

आटा गेहूँ	५ छटाँक	घी	१ छटाँक
दाल	१ "	शाक फल	६ "
मछली	२ "	उष्णता	२२६० उष
अंडा	१		

(४)

गेहूँ आटा	४ छटाँक	चीनी	१ छटाँक
दूध	२० "	शाक फल	६ "
दाल	१ "	उष्णता	२४०० उष
घी	१ "		

(५)

गेहूँ का आटा	६ छटाँक	चीनी	½ छटाँक
दाल	१½ "	शाक फल	६ "
दूध	१२ "	उष्णता	२६०० उष
घी	१ "		

(६)

गेहूँ का आटा	३ छटाँक	घी	१½ छटाँक
चने का आटा	२ "	चीनी	१ "
दाल	१ "	शाक फल	६ "
दूध	१२ "	उष्णता	२७०० उष

(७)

गेहूँ आटा	६ छटाँक	मांस	२ छटाँक
चावल	४ "	घी	½ "
दाल	१ "	शाक फल	४ "
दूध	८ "	उष्णता	२९०० उष

(८)

चावल	२½ छटाँक	घी	१ छटाँक
दाल	१ ,,	चीनी	½ ,,
मछली	३ ,,	दही	२ ,,
शाक फल	५ ,,	उष्णता	३००० उष
गेहूँ आटा	५ ,,		

(९)

चावल	४ छटाँक	मछली	२½ छटाँक
आटा	३ ,,	दूध	६ ,,
दाल	२ ,,	शाक फल	३ ,,
घी	१½ ,,	उष्णता	३०३० उष

(१०)

आटा	७ छटाँक	दूध	१२ छटाँक
चावल	२ ,,	चीनी	१ ,,
दाल	१ ,,	शाक फल	४ ,,
घी	१ ,,	उष्णता	३३५० उष

—००:०:००—

अन्न—विशेष विवरण

दूध

तत्वनेकौपधिरसप्रसादः क्षीरतां गतः ।

सर्वप्राणभृतां तस्मात् साम्यं क्षीरमिहोच्यते । सुश्रुत ॥

व्याध्यौपधाध्वभाष्यस्त्रीलंघनातपकर्मभिः ।

क्षीणे वृद्धे च वाले च पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ॥ वाग्भट ॥

दूध स्तनग्रन्थियों का स्राव है जो चरवी के निलम्बन (Emulsion) के रूप में होता है और जिसके जलांश में प्रोभूजिन, लवण और प्रांगोदीय (Carbohydrate) घुले हुए रहते हैं।

खाद्यद्रव्यों में यह एक ऐसा अद्वितीय पदार्थ है कि जिसका मुकावला दूसरे किसी खाद्यद्रव्य से कदापि नहीं हो सकता । इसके निम्न कारण हैं—

(१) पूर्णाहार—हमारे शरीर के धारण-पोषण-रक्षण के लिए जिन-जिन उपादानों की आवश्यकता हुआ करती है वे सब उपादान दूध में न्यूनाधिक अंश में विद्यमान रहते हैं जिससे मनुष्य केवल दुग्ध सेवन करके जीवित रह सकता है। इसलिए दूध को पूर्णान्न (पृष्ठ ६२) कहते हैं। दुग्धाहार से स्वास्थ्य कदापि नहीं बिगड़ता, बल्कि सुधरता है। शैशवावस्था में दूध ही आहार होता है। बाल्य-सम, वृद्धावस्था में, रुग्णावस्था में और श्रान्तावस्था में दूध जितना हितकर होता है उतना दूसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता।

(२) अहिंसकाहार—मांसाहार के लिए प्राणियों की हत्या करनी पड़ती है यह सबको भली भाँति विदित है। परन्तु शाकाहार में भी शाक-कंद-फल-मूल इनकी हत्या होती है यह लोक नहीं समझते। दूध के लिए किसी की भी हत्या करनी नहीं पड़ती।

(३) विविधाहार—दूध और दूधविकृतियों से असंख्य खाद्य पेय पदार्थ बनाये जाते हैं।

भौतिक गुणधर्म—शुद्ध दूध काचपात्र में रखने से पारान्ध (Opaque) और सफेद होता है तथा उसमें कोई निस्साद (तलछट) नहीं बनता। उसका स्वाद

मीठा होकर उसमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं होती। थोड़ी देर रखने के पश्चात् उसके ऊपर मलाई जमने लगती है जो ८-१२%तक होती है। ताजे दूध की प्रतिक्रिया उभयविध (Amphoteric) होती है। कभी-कभी दूध अप्रतिक्रिय (Neutral) भी होता है। दूध की गुरुता १०१७-१०३४ तक होती है। पानी डालने से वह कम होती है। ६०° फै० के ऊपर १० अंश तापवृद्धि के पीछे गुरुता एक अंश कम होती है। दूध की गुरुता दुग्धमापक (Lactometer) से नापी जाती है। दूध में यदि पानी की मिलावट हो तो इस यन्त्र से उसका पता लग जाता है। परन्तु यदि उसमें चीनी इत्यादि की मिलावट हो तो उसका पता नहीं चलता। इसलिए दुग्धमापक से गाँवों में, जहाँ इस युक्ति से ग्वाले नावाकिफ होते है, विश्वास-पूर्वक काम लिया जा सकता है, परन्तु शहरों में चतुर ग्वाले दूध में चीनी आदि की मिलावट करके इस यन्त्र को बेकार कर देते हैं।

दूध की मिलावट—मांसाहारियों के लिए मांस का जो महत्त्व है वही शाकाहारियों के लिए दूध का है। इसलिए दूध का सेवन विशुद्धावस्था में करना अत्यन्त आवश्यक है। दूध एक ऐसा खाद्य पदार्थ है कि उसमें मिलावट आसानी से की जा सकती है और महँगा होने के कारण मिलावट करने से बहुत लाभ भी हो जाता है। इसलिए आजकल बिना मिलावट का दूध, चाहे देहातों में जाओ चाहे शहरों में, मिलना असम्भव सा हो गया है। दूध में निम्न प्रकारों से मिलावट की जाती है—

(१) पानी-मिलावट यह सामान्य प्रकार है। प्रायः यह पानी खराब भी रहता है।

(२) चीनी, बताशा या अन्य मीठा पदार्थ।

(३) मलाई निकाल लेना। इससे दूध की गुरुता बढ़ती है। उसको ठीक करने के लिए उसमें पानी मिलाते हैं। या मलाई निकाले हुए सायंकाल के दूध में प्रातःकाल का दूध मिला देते हैं।

(४) आटा, पिष्टमय अन्य पदार्थ (Starchy) गोंद इत्यादि को मिलाना।

(५) विभिन्न प्राणियों के दूधों को मिश्र करना। जैसे बकरी, भेड, भैंस इत्यादि का दूध गौ के दूध में मिला देना।

मिलावट की जाँच—दूध में पानी की मिलावट जानने के लिए उसको शुद्ध सफेद बर्तन में रखना चाहिए। इसमें जहाँ दूध और बर्तन मिलते हैं वहाँ पर एक फीकी नीली रेखा दिखाई देती है। दूध में चीनी की मिलावट जानने के लिए

थोड़ा सा मिलावटी दूध लेकर उसमें उतना ही मंद उदनीरिक (Dilute HCl) अम्ल डाले। उसके बाद उसमें शेयास (Resorcin) की दो चार रत्ती बुकनी छोड़कर गरम करे। चीनी की मिलावट होने से दूध रक्त के समान लाल हो जाता है। आटा या पिट्ठी की मिलावट जानने के लिए दूध में जम्बुकी (Iodine) का थोड़ा सा द्रव डालें। मिलावट होने पर नीला रंग बनता है।

मिलावटी दूध शुद्ध दूध की अपेक्षा जल्दी खराब हो जाता है। उसकी प्रतिक्रिया दुग्धिक (Lactic) या घृतिक (Butyric) अम्ल उत्पन्न होने से अम्ल हो जाती है। यदि गौ बीमार या सद्यःप्रसूता हो तो उसके दूध की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। प्रतिक्रिया के अतिरिक्त वर्ण, गंध, रस इत्यादि में भी खराब[1] दूध में फर्क होता है।

बाजार का या ग्वालों का दूध बिना मिलावट का मिलना असंभव है। इसलिए विशुद्ध दूध प्राप्त करने का एक मात्र उपाय घर में गाय या भैंस को पालना है। यदि यह न हो सके तो अपने स्वच्छ पात्र में अपने सामने दूध दोह कर लेना अच्छा है।

दूध का संघटन—शरीर-धारण-पोषण के लिए या संतुलित आहार के लिए आवश्यक सब संघटक दूध में विद्यमान रहते हैं। इन विविध संघटकों का प्रमाण प्रत्येक दुधार प्राणी के दूध में उसके वंश (नसल), जाति, आहार-विहार, रहन-सहन, प्रसूति के पश्चात् की अवधि, इत्यादि के तथा जलवायु, ऋतुभेद, देशभेद इत्यादि के अनुसार भिन्न-भिन्न रहता है। परन्तु इससे न दूध का सामान्य संघटन बदलता है न उसके पूर्णान्न होने में किसी प्रकार की कमी पैदा होती है।

प्रोभूजिन—दूध में सामान्यतया ३·५% प्रोभूजिन होते हैं। ये प्रोभूजिन अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें किलाटिजन (Caseinogen) ३% होता है और यही मुख्य प्रोभूजिन है। अम्ल से यह निस्सादित होता है, परन्तु ताप का असर उस पर नहीं होता। किलाटिजन भास्वप्रोभूजिन (Phospho-protein) है और चूर्णातु भास्वीय (Calcium Phosphate) के साथ दूध में विलीन (घुला हुआ) रहता है। दूसरा प्रोभूजिन दुग्धशुक्लि (Lactalbumin) है जो दूध में केवल ०·४% होता है। परंतु सद्यःप्रसूता गौ के दूध में इसकी राशि बहुत अधिक रहती है और इसके कारण दूध में प्रोभूजिनों की प्रतिशतिकता भी बहुत अधिक हो जाती है। गौ के समान स्त्री, भैंस, इत्यादि के दूध में भी यही स्थिति रहती है। प्रसूति के

---

१. अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत्।
वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत्॥ (सुश्रुत)

पश्चात् अधिक प्रोभूजिन युक्त नव दूध को पीयूष[1] या खीस (Colostrum) कहते हैं। दुग्धशुक्ति की अधिकता के कारण स्त्री के दूध में प्रारंभ में प्रोभूजिनों की राशि ८·५% और गौ के दूध में २१% तक होती है। इसमें भास्वर न होकर शुल्वारी होता है। ताप से यह शीघ्र निस्सादित होता है परंतु अम्ल का असर इस पर कुछ भी नहीं होता। पचन में दुग्धशुक्ति लघु होती है, परंतु गर्भावस्था और शैशवावस्था में शरीरवृद्धि की दृष्टि से किलाटजन या किलाटि अधिक हितकर है। दूध में और भी एक प्रोभूजिन होता है जिसको दुग्धावर्तुलि (Lactoglobulin) कहते हैं। इसकी प्रतिशतिकता बहुत की कम (०·१%) होती है और इसके गुणधर्म दुग्धशुक्ति के समान होते हैं।

स्नेह—दूध में स्नेह का अनुभाग ३–६% तक होता है। यह स्नेह अत्यन्त सूक्ष्म गोलिकाओं के रूप में रहता है यहाँ तक कि दूध के एक बूँद में १५ लक्ष के लगभग गोलिकाएँ हो सकती हैं। दूध का स्नेह घृतिक (Butyric), तालिक (Palmitic) और त्रसिक (Oleic) अम्ल के मधुरेयों (Glycerides) से बनता है। दूध जब किसी पात्र में कुछ समय तक रक्खा रहता है तब संपूर्ण दूध में फैली हुई स्नेह की गोलिकाएँ धीरे-धीरे ऊपर उठकर एक तह बना देती हैं। इसमें दूध का लगभग सब स्नेह रहता है। इसके अतिरिक्त विमेदवर्ण (Lipochrome) करके दूध का रंगद्रव्य, दुग्धगत लगभग सब तृणाणु तथा प्रोभूजिनों का कुछ अंश स्नेह गोलिकाओं के साथ फँसकर इसमें आ जाते हैं। इस तह को मलाई (Cream) और नीचे के हिस्से को निःशर (Skimmed) दूध कहते हैं। अच्छे दूध में ८–१२% तक मलाई (Cream) बनती है। मलाई निकालने का काम यन्त्र के द्वारा भी किया जाता है।

प्रांगोदीय— दूध में जो प्रांगोदीय है वह शर्करावर्ग का है। इसको दुग्धमधु (Lactose) या दुग्ध-शर्करा (Milk Sugar) कहते है। यह द्विशर्करेय (Disaccharide) है। दूसरे किसी भी नैसर्गिक द्रव्य में यह शर्करा नहीं पायी जाती। माता के दूध में इसकी अधिकता होने से वह गौ के दूध की अपेक्षा अधिक मीठा रहता है, इसलिए बच्चे माता के दूध को गौ के दूध से अधिक पसन्द करते हैं। गौ के दूध में इसकी राशि ४–५% तक होती है। मलाई निकालने के बाद भी यह शर्करा दूध में ही रहती है। जब दूध मन्दोष्ण ताप पर कुछ काल तक खुला रहता है तब कुछ जीवाणुओं की क्रिया से यह शर्करा दुग्धिक अम्ल में परिवर्तित होती है। फिर यह अम्ल दूध के चूर्णातु किलाटिजनीय (Calcium caseinogenate)

---

१. क्षीरं सद्यःप्रसूतायाः पीयूषमतिसंज्ञितम्।

के चूने (चूर्णातु) के साथ मिलकर चूर्णातु दुग्धीय (Cal lactate) में परिवर्तित होता है और किलाटिजन नीचे बैठता है। यदि दूध बंद निर्जीवाणुक पात्र में रक्खा जाय तो यह प्रतिक्रिया नहीं हो पाती।

खनिज—दूध में चूना, दहातु, क्षारातु, अयस, आजातु (Magnesium) इनके नीरजी (Chlorine), भास्वर और शुल्वारी (Sulphur) के साथ बने हुए लवण (जैसे नीरेय Chlorides, भास्वीय Phosphates इत्यादि) पाये जाते हैं। अयस् माता के दूध मे बहुत ही कम होता है। माता के दूध से गौ के दूध में अयस् तीन गुना अधिक रहता है। फिर भी अन्य खनिजों की तुलना में दूध में अयस् की राशि इतनी कम होती है कि अयस् की दैनिक आवश्यकता पूरी करने के लिए प्रतिदिन गौ का ३ सेर दूध पीना पड़ेगा। दूध में सबसे अधिक चूना होता है। बकरी के दूध में शुल्वारी और जम्बुकी (Iodine) ये दो उग्र गंध के तत्त्व विद्यमान होते हैं और प्रायः इन्हीं के कारण बकरी का दूध राजयक्ष्मा में लाभदायक होता है।

इन प्रधान खनिजों के अतिरिक्त दूध में अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में तांबा, लोहक (Manganese), सीस (Lead,) स्फटयातु (Aluminium), कुप्यातु (Zink), वर्णातु (Chromium), रोचातु (Vanadium), रांगा (Nickel), रंजातु (Titanium) इत्यादि खनिज रहते हैं। इन खनिजों की विविधता दूध की अद्वितीयता बढ़ाने का एक महत्त्व का कारण है।

जीवतिक्तियाँ—दूध में करीब-करीब सब जीवतिक्तियाँ न्यूनाधिक अनुभाग में विद्यमान रहती हैं। जीवतिक्ति क दूध में सबसे अधिक मात्रा में होती है, ताजा हरा चारा मिलने पर बढ़ती है और स्नेह के साथ मिली हुई रहती है। इसलिए निःशार (Skimmed) दूध में यह नहीं के बराबर हो जाती है। जी० ख के दोनों भाग दूध में अधिक न हो तो भी कामचलाऊ अनुभाग में उपस्थित रहते हैं। जी० ग भी पर्याप्त मात्रा में उपस्थित होती है। जी० घ की मात्रा अल्प होते हुए भी माता के दूध से अधिक होती है। परन्तु उसके साथ चूना होने के कारण अल्प मात्रा में होने पर भी अपने योगवाही (Catalyst) गुण से वह बहुत कुछ काम किया करती है। इसके अतिरिक्त यदि गौ धूप में चरती रहे तो इसकी राशि बढ़ती है। जी० ङ भी दूध में कम नहीं होती। संक्षेप में शरीर स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक पांचों जीवतिक्तियाँ दूध में उपस्थित रहती है। जीवतिक्तियों के संबन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो दुधार प्राणी शाक, पत्ती, हरियाली, खली, चुन्नी, भूसी इत्यादि पर निर्वाह करते हैं तथा धूप में कुछ काल तक घूमा करते हैं उनके दूध में इनकी राशि अधिक रहती है। माता के दूध में जीवतिक्तियों

की बहुत कमी होती है और जो केवल मांसाहार पर रहती है उनके दूध में नहीं के बराबर होती है। इसलिए माताओं को भी स्तन्यकाल में धूप में कुछ काल बिताना तथा साग सब्जी, दूध, फल इत्यादि का सेवन करना चाहिए।

पाचक अन्तःकिण्व—(Digestive enzymes)—दूध में प्रोभूजिनों, स्नेह और प्रांगोदियों के पाचन के लिए उपयोगी अन्तः किण्व विद्यमान रहते है। ये भी जीवतिक्तियों के समान योगवाही (Catalytic) होने के कारण अल्पांश में रहने पर भी बहुत कुछ काम कर सकते हैं। परन्तु दूध गरम करने से ये अन्तःकिण्व तथा उनके साथ उनके पाचक गुण नष्ट हो जाते है। धारोष्ण दूध के गुणोत्कर्ष के जो विविध कारण होते हैं उनमें एक कारण पाचक अन्तःकिण्वों की विद्यमानता है।

दुधार प्राणियों के दुग्धों का तुलनात्मक संघटन

प्राणि	किलाटि	शुक्ति-आवर्तुलि	स्नेह	शर्करा
स्त्री	०·८ से ०·९	०·६ से ० ७५	२·० से ३·६५	५·८ से ६·५
गौ	३·० से ३ ४	०·४ से ०·६	३·० से ३·८५	४·५ से ५·२
गदही	१ २ से १·३	०·४ से ०·७	१·३ से १·५	६·२८ से ६·८
बकरी	३·२ से ५·५	०·४ से ०·७	३·२ से ३·९५	४·० से ५·३
भेड़	४·० से ५·२	१·८ से २·३	५·२ से ८·६	४·५ से ५·०
भैंस	४·५ से ५·२	०·८ से ०·९५	६·५ से ८·७५	५·० से ५·४

दूध दूषित होने के कारण—दूध एक ऐसा खाद्य द्रव्य है कि उसको स्वच्छ, शुद्ध और अदूषित रखना महान कठिन कर्म है। वह आसानी से दूषित किया जा सकता है, किया जाता है और दूषित होता है। उसके दूषित होने से अनेक रोग उत्पन्न होकर असख्य लोगों का मृत्यु तक हुआ करता है। खाद्य द्रव्यों में स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से शुद्ध दूध जैसे सर्वश्रेष्ठ होता है वैसे स्वास्थ्य नाश की दृष्टि से अशुद्ध दूध भी सर्वश्रेष्ठ ही होता है, क्योंकि दूषित दूध से जितने रोग और जितना मृत्यु हुआ करता हैं उतने रोग और उतना मृत्यु दूसरे किसी भी खाद्य द्रव्य से नहीं होता। इसलिए दूध दूपित होने के कारणों का ज्ञान व्यक्तिमात्र को होना अत्यावश्यक है। दूध निम्न कारणों से दूषित होता है या दूषित रहता है।

(१) दुधार प्राणियों के अस्वस्थ होने से।

(२) प्राणियों के थनों की स्वच्छता की ओर ध्यान न देने से।

(३) दूध दोहने के पात्रों और हाथों की अस्वच्छता से ।

(४) दूध दोहने वाला मनुष्य यदि किसी संक्रामक रोग से पीड़ित हो तो हस्त-पात्रादि की सफाई रखने पर भी उससे ।

(५) निकाला हुआ दूध खुला रखने पर धूलि, मक्खियाँ दूषित वायु इत्यादि के द्वारा ।

(६) असंरक्षित स्थिति में अधिक काल तक रखने से ।

(७) पानी, आटा इत्यादि की मिलावट से ।

इन कारणों में हस्त-पात्रादि की अस्वच्छता, रखने का अनुचित प्रबन्ध और मिलावट ये दूध दूषित होने के सामान्य प्रधान कारण होते हैं ।

दूध में पाये जानेवाले जीवाणु—साधारणतया स्तनों के भीतर दूध जीवाणुरहित रहता है तथा उसमें किञ्चित् जीवाणुनाशक शक्ति भी होती है। स्वच्छता के साथ निकाले हुए ताजे दूध में साधारणतया १ घ. शि. मा. में (Cubic Centimeter) १००-५०० तक जीवाणु हो सकते हैं । तथापि भारतवर्ष में ग्वाले जिस अस्वच्छ पद्धति से दूध निकालते और रखते हैं उस पद्धति से निकाले हुए दूध में उतनी ही राशि में करोड़ों जीवाणु पाए जाते हैं। दूध में जीवाणु प्रवेश के निम्न तीन मार्ग होते हैं—

(१) जब दुधार प्राणि रोगोपसृष्ट रहता है तब उसके रोगों के जीवाणु दूध में प्रायः आ जाते हैं—जैसे, स्तनशोथ (Mastitis) होने पर दूध में मालागोलाणु (Streptococci), स्तवकगोलाणु (Staphylococci), दुग्धिक अम्ल दण्डाणु, स्थूलान्त्र दण्डाणु (B. Coli) इत्यादि पूयजनक तृणाणु, खुरपका (Foot and mouth disease) रोग होने पर उसके विषाणु, राजयक्ष्मा से पीड़ित होने पर यक्ष्म दण्डाणु (Tubercle bacilli), माल्टा रोग से उपसृष्ट होने पर ब्रूसेला मेलिटेन्सिस (Brucella melitensis), ऐन्थ्राक्स से पीड़ित होने पर ऐन्थ्राक्स दण्डाणु (B Anthrax) और गर्भपात दण्डाणु (B. abortus) से उपसृष्ट होने पर वे दूध में मिल जाते है ।

(२) चौपायों के थन सदैव मल-मूत्र तथा कीचड़ से गन्दे रहने के कारण दोहने से पहले उनकी सफाई न करने से मल-मूत्र-भूमि के पूत्यूपजीवी जीवाणु दूध में आ जाते हैं ।

(३) दोहनेवाले रोगी या वाहक मनुष्य से तथा मिलावट के खराब पानी से आन्त्रिक, अतीसार, विसूचिका, रोहिणी इत्यादि के दण्डाणु दूध में आ जाते हैं ।

दुग्धोत्पन्न रोग—जिस प्रकार मनुष्य दूध पर अच्छी तरह परिपुष्ट होते हैं उसी तरह जीवाणु भी। इसलिए अन्य अन्न द्रव्यों की अपेक्षा दूध से जीवाणुजन्य रोग अधिक होते है तथा उनका स्वरूप प्रायः अधिक तीव्र हुआ करता है। दूषित दूध से निम्न रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

(१) यदि गौ राजयक्ष्मा से उपसृष्ट हो तो उसका दूध पीने से राजयक्ष्मा हो जाता है।

(२) यदि गौ गर्भपाती दण्डाणु से और बकरी बैसीलस मेलीटन्सिस से उपसृष्ट हो तो मनुष्यों में उनके दूध के सेवन से लहरी (Undulent) या माल्टा ज्वर उत्पन्न होता है।

(३) यदि गौ खुरपका रोग से पीड़ित हो तो उसके दूध से मनुष्यों में मरक मुखपाक (Epidemic stomatitis) उत्पन्न होता है।

(४) यदि गौ में स्तनप्रकोप हो तो मनुष्यों में जठरशोथ (Gastritis) उत्पन्न होता है।

(५) दूध खट्टा होने पर उसमें उत्पन्न हुए दुग्धिक अम्ल के दण्डाणु बच्चों में वमन, आध्मान, प्रवाहिका इत्यादि विकार उत्पन्न करते हैं।

(६) वाहक, रुग्ण मनुष्य से या खराब पानी के मिलावट से आन्त्रिक, अतीसार, विसूचिका, रोहिणी इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।

इनमें क्षय, मरक मुखपाक और माल्टा या लहरी ज्वर ये रोग दुधार जानवर के दूध में थनों के भीतर विद्यमान रहने वाले जीवाणुओं के कारण होते है और शेष रोग बाहर से जीवाणु प्रविष्ट होने के पश्चात् उत्पन्न होते है। भारतवर्ष में यूरुप के समान बहुत अधिक गायों में न राजयक्ष्मा पाया जाता है न उनका कच्चा दूध पीने का रिवाज है। दूध उबाल कर ही पीने की सामान्य पद्धति होने के कारण ग्वालों के द्वारा वितरित दूध आरोग्य दृष्टया सब प्रकार से गया गुजरा होने पर भी उससे जितने रोग उत्पन्न होने की आशका की जा सकती है उससे बहुत कम रोग प्रत्यक्षतया उत्पन्न हुए दिखाई देते हैं।

दुग्धोत्पन्न रोगों की विशेषता—१—इन रोगों का प्रारम्भ विस्फोटक (Explosive) स्वरूप का अर्थात् एकदम होता है और दूध बन्द करने पर वे धीरे-धीरे बन्द हो जाते हैं।

२—प्रायः रोग उन परिवारों में होता है जिनमें दूध का सेवन अधिक किया जाता है और परिवार के एक से अधिक लोग बीमार होते हैं।

३—गरीब तथा जवान लोग दूध कम लेने के कारण दूषित दुग्धोत्पन्न रोग जवानों और गरीबों की अपेक्षा बच्चों और धनवानों में ज्यादा हुआ करते हैं।

४—एक ही काल में बहुत लोग बीमार होते हैं।

५—जीवाणुओं की तीव्रता के कारण रोग का संचयकाल (Incubation period) बहुत थोड़ा होता है।

६—पीड़ित परिवारों में प्रायः एक ही स्थान का या ग्वाले का दूध हुआ करता है।

दुग्धोत्पन्न रोगों से बचने के उपाय—१—रोगी पशु तथा व्रणित स्तनवाले पशुओं का दूध न पीना चाहिए।

२—दूह दुहने से पहले थनों को साफ पानी से खूब धोना चाहिए।

३—दूध दुहने से पहले हाथों को साफ धोकर साफ कपड़े पहनना चाहिए ताकि दुहते वक्त कपड़ों से हाथ फिर से दूषित न हो जाँय।

४—दूध दुहनेवाला तथा उसे घर-घर पहुँचानेवाला स्वस्थ, विशेष करके संक्रामक रोग से अपीडित, संक्रामक रोग से पीड़ित मनुष्य से संबंध न रखनेवाला तथा किसी संक्रामक रोग का अवाहक हो।

५—क्षीरपात्र दूध दोहने के पहले अच्छी तरह से खौलाये हुए जल से धोने चाहिएँ और दूध दोहने के बाद उसको ढक्कन से ढककर रखना चाहिए।

६—दूध दुहते समय दुधार पशु की पूँछ बाँधकर रखना चाहिए, अन्यथा उसके हिलाने से दूध में मल-मूत्र के छींटे पड़ने की संभावना होती है।

७—दूध रखने की जगह खुली हवादार और मोरी परनालों से अलग होनी चाहिए, क्योंकि दूध में खराब हवा को सोख लेने की शक्ति है। दूध रखने के स्थान में कदापि किसी को भी न सोना चाहिए। उस स्थान को हमेशा अच्छी तरह से धुलवा कर धूलि रहित रखनी चाहिए।

८—यद्यपि उबालने से दूध का कुछ पौष्टिक भाग (पृष्ठ १०५) नष्ट हो जाता है, यथापि जीवाणुजन्य रोगों से बचने के लिए यही सर्वोत्कृष्ट और निश्चित उपाय है। इसलिए बजारू दूध हमेशा उबाल कर पीना चाहिए।

९—दुधार पशुओं की गोशाला खुली और हवादार होनी चाहिए और वहाँ की फर्श सीमेंट या पत्थर की होनी चाहिए।

१०—नगर-समिति की ओर से खराब दूध बेंचना कानूनन बन्द करना चाहिए, तथा दूध बिक्री के लिए ग्वालों को नगर-समिति की ओर से अनुज्ञप्ति (Liscence) की जरूरत रखनी चाहिए। लोगों को दूध देने के लिए दुग्धपात्र

ऐसा हो कि नाप उसमें डुबने की आवश्यकता ही न पड़े या नाप डंडीवाला हो कि उसके डुबोने पर हाथ की अँगुलियाँ दूध में न चली जायँ।

दूध का परिरक्षण—दूध को खट्टा होने से या विघटित होने से बचाने के लिए निम्नलिखित विधियों का उपयोग किया जाता है—

(१) उत्क्वथन—दूध के परिरक्षण का यह सामान्य तरीका है; इससे दूध १२ से २४ घण्टे तक ठीक रह सकता है। उबालने से दूध में निम्न फर्क होते है।

१—दूध में घुले हुए वायु निकल जाने से उसकी रुचि बदल जाती है।

२—दुग्ध शर्करा का कुछ भाग जल जाने से उसका रंग कुछ भूरा हो जाता है।

३—उसके प्रोभूजिन विघटित हो जाते हैं।

४—सेंद्रिय (Organic) भास्वर निरिंद्रिय अवस्था में परिवर्तित हो जाता है।

५—उसकी कुछ जम्बुकी (Iodine) उड़कर कम हो जाती है।

६—चूना और अजातु के लवण निस्सादित हो जाते हैं।

७—दूध के किण्व (Ferment) नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रज्ञों की यह राय है कि दूध में (पृष्ठ १०१) सात प्रकार के किण्व हैं, जो कि उसके भिन्न संघटकों को पचाने में सहायभूत होते है।

८—उसकी जीवतिक्तियाँ भी अंशतः नष्ट होती हैं।

९—यद्यपि उबालने से दूध में कई दोष उत्पन्न होते है, तथापि मुख्य लाभ यह है कि उसमें मिले हुए विकारी जीवाणु नष्ट हो जाते हैं जिससे दूषित दुग्ध-जन्य रोग उत्पन्न होने का जरा सा भी डर नहीं रहता।

(२) वैद्युतिक जीवाणुनाश—इस विधि में दुग्ध विद्युत्-प्रवाह से जीवाणुरहित किया जाता है। यह विधि बहुत खर्चीली है।

(३) पाश्चरीकरण—(Pasteurisation)—इस विधि के दो प्रकार हैं। प्रथम प्रकार को मन्द (होल्डर) पद्धति कहते हैं। इसमें दूध को ३० मिनट १४५°-१५०° फै० तक गर्माते हैं और फिर फौरन ५५° फै० तक ठण्डा करते हैं। वह विधि यदि यथाशास्त्र प्रयुक्त की जाय तो दूध का रक्षण भली-भाँति होकर उसके पौष्टिक भाग में कुछ फरक नहीं होता। इस विधि से रक्षित दूध तीन-चार दिन से अधिक दिन तक नहीं रहता है, क्योंकि उसमें रहनेवाले पूतिजनक (Putrefactive) जीवाणु इस विधि में नष्ट नहीं होते। दूसरी पद्धति को शीघ्र (Flash) कहते हैं। इसमें दूध शीघ्रता से १६५° फै० तक गरम करके फिर ठंढा किया जाता है। यह पद्धति विश्वसनीय नहीं हैं।

(४) शुष्कीकरण (Drying)—इस विधि में दूध का जलीय अंश तप्त बेलन की सहायता से सूखा बनाकर चलनी द्वारा बिलकुल महीन किया जाता है, और डिब्बे में भरकर भेज दिया जाता है। वक्त जरूरत पर इसमें पानी डालकर बनावटी दूध तैयार हो सकता है, और विशेष करके प्रवास के लिए बहुत उपयोगी होता है। इसमें हानि यह है कि जीवतिक्तियों का कुछ भाग नष्ट हो जाता है।

(५) सघनन (Condensation)—बन्द बरतन में कम वायुनिपीड पर (under diminished pressure) दूध ५५° से ६५° सें० तक गरम किया जाता है जिससे उसका जलीय अंश कम होकर दूध चौथाई हो जाय। फिर उसमें शक्कर मिलाकर या न मिलाकर हवाबन्द निर्जन्तुक डिब्बे में बन्द करते हैं। ऐसे दूध को संघनित (Condensed) दूध कहते हैं। भारत में इसकी आयात दिन प्रति दिन बढ़ रही है। इसका डिब्बा खोलने के बाद जल्दी खतम करना चाहिए, अन्यथा दूध खराब होने की संभावना होती है। ये दूध पूर्ण दूध से या निःशर (Skimmed) दूध से तयार किये जाते हैं। दूसरे प्रकार से तयार किया हुआ दूध बच्चों को न देना चाहिए, क्योंकि उसके सेवन से बच्चों में अस्थिवक्रता (Rickets) रोग पैदा होता है।

(६) रसायनों का उपयोग—दूध के रक्षण के लिये टंकणक्षार, फार्मोलिन इत्यादि जन्तुघ्न द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इनका प्रयोग न करना चाहिए, क्योंकि स्वास्थ्य के लिये ये हानिकारक हैं।

(७) दूध में उद्‌जन अतिजारेय ($H_2 O_2$) डालकर तीन घण्टा ५१° से० पर गरम किया जाता है। इसको बुडाइजड (Buddeised) दूध कहते हैं। यह दूध हफ्ते भर ठीक रहता है।

दुग्ध-सेवन सम्बन्धी कुछ नियम

शाकाहारी के लिए दूध एक आवश्यक खाद्य है। पीने के लिए सबसे उत्कृष्ट और पौष्टिक धारोष्ण दूध है। खौलाया और अधिक खौलाया हुआ दूध पचनीयता और पौष्टिकता की दृष्टि से हीन हो जाता है—

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं युक्त्या श्रृतमतोन्यथा।
भवेद् गरीयोऽतिश्रृत धारोष्णममृतोपमम्॥ अष्टाङ्गहृदय॥

धारोष्ण दूध अपने स्वच्छ हाथों से स्वच्छ बर्तन में स्वस्थ गौ के स्वच्छ थनों से निकालकर स्वच्छ कपड़ों से छानकर जब तक उसकी उष्णता शरीर की उष्णता के बराबर है तब तक पीना चाहिए। ऐसा न हो सके तो कच्चा

ठंढा दूध न पीना चाहिए। दूध अच्छी तरह से उबाल कर पीना ठीक है। दूध हमेशा प्रातःकाल या सोने के पहिले पीना प्रशस्त होता है।

निशान्ते च पिबेद्वारि वासरान्ते पिबेत्पयः।

दूध पचने में सबसे हलका है। उसका पाचन आन्त्र में अग्न्याशय रस से पूर्ण होता है तथा उसका प्रचूषण आन्त्र से पूर्णांश में होता है। हचीसन का कहना है कि गो-मांस के प्रोभूजिन और स्नेह से दूध के प्रोभूजिन और स्नेह अधिक प्रचूषित होते हैं। इसलिए दूध उससे भी अधिक पौष्टिक है। उसको पचाने में तथा उसके त्याज्य भाग को शरीर के बाहर निकलवाने में शरीर को कम से कम कष्ट उठाना पड़ता है तथा शरीर का ह्रास भी कम होता है। दूध आँतों में जन्तुघ्न द्रव्य का तथा विषनाशन (Antitoxic) का काम करता है। पाँच दिन यदि केवल दूध ही सेवन किया जाय तो आँतों के जीवाणु बहुत कम हो जाते हैं। यह क्रिया विशेष करके दूध में जो दुग्धशर्करा होती है, उससे होती है। यह शर्करा आँतों में दुग्धिक तृणिक अम्ल (Lactic andSuccinic) में परिवर्तित होकर उनकी सहायता से आँतों में जीवाणुनाशन का काम करती है।

दूध यद्यपि तरल होता है तथापि आमाशय में पहुँचते ही वह दही-सा जम जाता है। उसका हलका या भारीपन इस जमने की स्थिति पर निर्भर रहता है। सामान्यतः उसका एक ग्लास २ घण्टे में आमाशय से आँतों में जाता है। यह अवधि उसकी अवस्था पर आश्रित रहती है।

कच्चा दूध	(५० तोला)	२ घण्टे में बाहर जाता है।
मलाई रहित दूध	"	२½ "
खट्टा दूध (तक्र)	"	३ "
उबाला हुआ दूध	"	४ "

सामान्यतः पीने के लिए गौ के दूध का प्रयोग किया जाता है। माता के दूध की अपेक्षा उसमें किलाटि और लवण ज्यादा होते हैं और दुग्धशर्करा कम होती है। दूध के जम जाने की घनता किलाटि और चूने पर निर्भर रहती है, और गौ के दूध में ये अधिक होने के कारण मा के दूध की अपेक्षा गौ का दूध आमाशय में अधिक कठिनावस्था में जम जाता है और पचने में कुछ भारी पड़ता है। बच्चों को माता के दूध के अभाव में गौ का दूध देते समय इस बात पर जरूर ध्यान देकर गौ का दूध माता के दूध के बराबर गुण में तयार कर देना चाहिए।

इसको मानवोचित किंवा मानवीकृत (Humanised) दूध कहते हैं। इसको बनाने के लिये गौ के दूध में समान हिस्से में पानी तथा थोड़ी सी शर्करा मिलानी

पड़ती है। मानवीकृत दूध संघटन में माता के दूध के बराबर भले ही हो, गुण में वह माता के दूध का मुकाबला कदापि नहीं कर सकता।

मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये।
स्तन्याभावे पयः छाग गव्यं वा तद्गुण पिबेत्॥

इसका कारण यह है कि माता का दूध बालक को ताजा, शुद्ध, शरीरताप के बराबर ताप का, बिना किसी चीज के मिलावट का, बाहरी जीवाणुओं से अदूषित और बालक की आयुर्वृद्धि के अनुसार संघटन में सूक्ष्म परिवर्तन होकर मिलता है। इसके विपरीत मानवीकृत बाहर का दूध पानी, चीनी इत्यादि की मिलावट का, बाहर के जीवाणु से थोड़ा-सा उपसृष्ट, बासी, शरीर के ताप से न्यून या अधिक ताप का बोतल, हाथ इत्यादि अनेक वस्तुओं से सम्बन्धित अतएव दूषित ऐसा मिलता है। जौ या चूने का पानी तथा क्षारातु निम्बवीय (सोडिअम सायट्रेट) दूध में डालने से यह जमने की क्रिया बहुत विरल हो जाती है।

गौ-दुग्ध का संघटन गौ की जाति, आयु, खाना और प्रसूति के बाद की अवधि इत्यादि पर आश्रित रहता है।

गौ के सिवा भैंस का भी दूध पीने के काम में आता है, तथापि उसमें चिकनाई ज्यादा होने के कारण पचने में जरा भारी होता है। गधी के दूध का संघटन स्त्री के दूध के समान होने के कारण माता के दूध के अभाव में बच्चों को देना ठीक है। बकरी के दूध का भी प्रयोग किया जाता है।

दुग्ध-विकृतियाँ—दूध से बननेवाले पदार्थ

मलाई—दूध कुछ देर तक पड़ने के बाद उसके पृष्ठभाग पर जो स्निग्ध भाग जम जाता है उसको मलाई कहते हैं। इसको मथित्र (Churning machine) द्वारा जल्दी अलग कर सकते हैं। घर में तयार की हुई मलाई में स्नेह का अनुभाग १५-२०% तक और यन्त्र द्वारा तयार की हुई मलाई में ३०-५०% तक होता है। स्नेह के अतिरिक्त इसमें प्रोभूजिन और लवण का भी कुछ अंश रहता है और दुग्धवर्ण (Lactocrome) इसी में आने के कारण इसका रंग पीलापन लिए सफेद होता है।

दधि—यह दूध पर दुग्धिक अम्ल तयार करनेवाले जीवाणुओं की (Lactic fermenting microbes) क्रिया से तयार होता है। ये जीवाणु दूध शर्करा का कुछ भाग दुग्धिक अम्ल में परिवर्तित कर डालते हैं। दही के गुण मुख्यतया इसी अम्ल पर निर्भर होते हैं। दही का शेष संघटन दूध का सा होता है।

दही तयार करने की विधि : दूध को अच्छी तरह से उबाल कर कुछ ठण्डा करके उसमें कुछ मट्ठा मिला दिया जाता है और फिर कई घण्टों तक उसको रख दिया जाता है। पौष्टिकता की दृष्टि से दही दूध के समान है, तथापि उसमें निम्न फर्क होते है।

१—दही में दुग्धाम्ल जीवाणु विद्यमान् होने के कारण दूसरे जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, इसलिए दूषित दूध के समान दही से विशेष प्रकार की हानि नहीं हो सकती।

२—दूध के समान दही भी आंतों में आहार के हानिकारक विघटन को रोकता है, तथापि दूध से दही की क्रिया अधिक होती है। इसलिए दैनिक आहार में दही का सेवन फायदेमन्द है।

३—दूध अन्न के साथ लेना विशेष लाभदायक नहीं तथापि दही अन्न[1] के साथ ले सकते हैं।

४—मेचनीकोव (Metchnikoff) नामक शास्त्रज्ञ ने जांच करके यह बतलाया है कि यथाविधि दही सेवन करने से आँतों में रहनेवाले हानिकर जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, उनका विष (Toxin) निर्विष हो जाता है, और अनेक प्रकार के रोगों से तथा बुढ़ापे से शरीर की रक्षा होती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आँतों में हानिकर जीवाणु मौजूद रहते हैं और वयोवृद्धि के साथ-साथ उनकी संख्या तथा उनसे निकलनेवाला विष भी बढ़ता जाता है। यही विषद्रव्य शरीर में जल्दी बुढ़ापा लाने का एक प्रधान कारण है। दही सेवन करने से इन जीवाणुओं तथा विष का नाश हो जाता है।

नवनीत, मक्खन—निम्न ताप (Low temparature) पर दही या मलाई मथने से विदीर्ण हुआ स्नेह गोलिकारूप में जमकर मक्खन बनता है। इसका औसतन संघटन यह है—१२% पानी, १% किलाटि, ८३% स्नेह भाग, १% दुग्ध-शर्करा और १.५% लवण। इसके सिवा इसमें क और ध जीवतिक्तियां भी मौजूद होती हैं। इसका रक्षण करने के लिए इसको पानी में रख देते हैं या नमक (१२% तक) डालते हैं। खाद्य द्रव्यों में मक्खन बहुत सुपाच्य पदार्थ है तथा उसका कुल

---

१. शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम्।
रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेष्वहितं च तत्॥
न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम्।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना॥ चरक संहिता॥

भाग आंतों से प्रचूषित हो जाता है। इसलिए अग्निमांद्य, क्षय, मधुमेह इत्यादि रोगों में विशेष करके बच्चों को[1] उपकारी है।

मक्खन में सामान्यतः पानी की मिलावट रहती है। उत्तम मक्खन में १५% से ज्यादा पानी न होना चाहिए। पानी के सिवा इसमें हलका घी, चरबी, दही इनकी भी मिलावट होती है। तथापि दूध या घी जितना मिलावटी होता है उतना मक्खन नहीं होता। विलायत में मक्खन में मार्गराइन (Margarine) नामक द्रव्य मिलाया जाता है।

मार्गराइन—प्राणिज और वनस्पति चरबियों और तैलों में बनाया हुआ यह खाद्य द्रव्य है। नवनीत की गंध लाने के लिए इसमें थोडा सा दूध मिलाया हुआ रहता है। पहले यह द्रव्य गौ, बैल, बकरी इनकी चरबी से बनाया जाता था। अब प्रायः वनस्पति तैलों से बनाते हैं।

घी—यह एक प्रकार का शुद्ध मक्खन ही है और मक्खन को गरम करके तैयार किया जाता है। मिठाई बनाने में तथा खाने में इसका विशेष प्रयोग किया जाता है। गौ और भैंस दोनों के दूध से यह निकाला जाता है। गौ का पीला तथा सुगंधित और भैंस का सफेद होता है। घी में जीवतिक्ति ध और १००% स्नेह ही होता है। जीवतिक्ति क अधिक ताप से नष्ट होती है।

घी टिकाऊ खाद्यद्रव्य है। मक्खन जल्दी खराब होता है। इसलिए भारत जैसे उष्ण देश में मक्खन की अपेक्षा घी खाने का अधिक रिवाज है।

घोल, छाछ या मट्ठा—मट्ठा दही को मथनी द्वारा मथकर तैयार किया जाता है, और पानी के अनुभाग के अनुसार उसके अनेक प्रकार[2] होते हैं। यह बहुत पौष्टिक तथा पचने में हलका होता है, और पाचन की व्याधियों में हितकर रहता है।

छेना और मस्तु—जरा से गरम (१४०° फै०) दूध को वत्सातंच (Rennet), नीबू का रस या अन्य मन्द अम्ल से फाड़कर और पानी को निचोड़

---

१. नवनीतं हिमं गव्यं वृष्यं वर्णबलाग्निकृत्।
संग्राहि वातपित्तार्शःक्षयेष्वर्दितकासजित्॥
तद्धितं बालके वृद्धे विशेषादमृतं शिशोः॥ योगरत्नाकर॥

२. ससरं निर्जलं घोलं, मथितं त्वसरोदकम्।
तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्विदर्धवारिकम्॥
छच्छिका सारहीना स्यात् स्वच्छा प्रचुरवारिका॥ भावप्रकाश॥

कर जो चीज बनती है उसको छेना (Curd) कहते हैं और जो पानी नीचे निकलता है उसको मस्तु (Whey) कहते हैं। छेने में २४·०६% प्रोभूजिन, २·५% स्नेह और १·१ लवण होते हैं। मस्तु में सर्व शर्करा, अधिकांश खनिज और केवल ·८% प्रोभूजिन होते हैं।

पनीर या किलाट (Cheese)—यह द्रव्य छेना, संपूर्ण दूध, निःशर दूध या पूर्ण दूध और मलाई इनसे बनाया जाता है। इसमें २०% प्रो०, २५% स्नेह और ६% लवण होते हैं। स्नेहाधिक्य के कारण यह कुछ दुष्पाच्य होता है, परंतु जो इसको हजम कर सकते हैं उनके लिए यह बड़ा सस्ता पौष्टिक खाद्य है। इसकी पौष्टिकता मांस से दुगनी होती है। उष्ण प्रदेशों और ऋतुओं में छेना जल्दी खराब हो जाता है।

कौमिस और केफीर—ये अभिषुत (Fermented) दूध के पेय हैं जिनमें दुग्धशर्करा के अभिषंग से विविध प्रकार के अम्ल और अल्प मात्रा में कोहल (Alcohol) विद्यमान् रहते हैं।

कौमिस (Koumis)—इसको दुग्ध मद्य (Milk-wine) भी कहते हैं। यह पेय दक्षिण एशिया के लोगों में और टार्टर लोगों में व्यवहृत होता है। यह घोड़ी के दूध से बनाया जाता है। दुग्धशर्करा अधिक (६-८·५%) होने से इसमें दुग्धिक अम्ल, कोहल और प्रां० द्विजारेय ये द्रव्य विद्यमान रहते हैं।

केफीर (Kefir)—यह पेय गौ के दूध से बनाया जाता है। इसमें शुक्तिक (Acetic), दुग्धिक (Lactic) अम्ल, कोहल और प्रां० द्विजारेय (CO_2) ये द्रव्य रहते है। यह पेय काकेशियन लोगों का है।

व्युत्पादित दूध (Derived Milks)

(१) निःशर (Skimmed) दूध—इसमें हाथ से या यन्त्र से मन्थन करके मलाई निकाली जाती है। हाथ से निःशर किये हुए दूध में १% स्नेह और यन्त्र से निःशर किये हुए दूध में इससे कम स्नेह रहता है। यन्त्र निःशर दूध को पृथक्कृत (Separated) दूध भी कहते हैं।

निःशर दूध अग्निमान्द्य से पीड़ितों के लिए हितकर होता है। तथा इसमें भूयात्य (Nitrogenous) भाग रहने के कारण मस्तु से यह अधिक पौष्टिक है जो छोटे बच्चों को छोड़कर अधिक उम्र के बच्चों के लिए हानिकर नहीं है।

(२) उद्वाष्पित (Evaporated) दूध—इसमें उद्वाष्पीकरण (Evaporation) से दूध की राशि आधा की जाती है।

(३) यव्यित दूध—यह दूध की बुकनी होती है जो दूध के साथ गेहूँ का आटा और यव्यित जौ (Malted Barley) मिला करके आंशिक शून्यक (Partial vacuum) में बनायी जाती है।

(४) एकरूपी दूध (Homogenised)—इसमें दूध की मलाई अलग नहीं होने देते। यह कार्य उच्च निपीड़ के (High pressure) नीचे १४०°-१४५° फ़ै० पर छोटे-छोटे सुराखों में से दूध को बराबर निकाल कर किया जाता है। इससे मलाई के कण बहुत सूक्ष्म बन जाते हैं और दूध एकरूप हो जाता है।

(५) संघनित (Condensed) दूध—यह दूध विशिष्ट पद्धति से चौगुना गाढ़ा बनाया जाता है। इसके तीन प्रकार होते हैं—

(१) संघनित संपूर्ण दूध शर्करा युक्त
(२) " " शर्कराविहीन
(३) " निःशर दूध शर्करा युक्त

(६) मानवीकृत संघनित दूध (Humanised)—यह संघनित दूध होता है जिसमें दुग्धशर्करा और मलाई मिलायी हुई रहती है। जब उचित प्रमाण में उसके साथ पानी मिलाया जाता है तब उसका संघटन लगभग मानवी-दूध के समान हो जाता है।

(७) शुष्कीकृत (Dried) दूध—संघनित दूध के बदले आजकल इसीका अधिक व्यवहार किया जा रहा है। इसमें जीवतिक्तियों की कुछ कमी होती है। इसलिये बच्चों के लिए इसका उपयोग करते समय संतरे का रस, मछली का तेल इत्यादि खाद्य भी बच्चों को देने चाहिएँ।

मांस (Meat)

न हि मांससमं किञ्चिदन्यद्देहबृहत्वकृत् ॥ वाग्भट ॥
शरीरबृंहणे नान्यत्खाद्यं मांसाद्विशिष्यते ॥ चरक ॥

संसार की जनता का बहुत बड़ा हिस्सा अपनी गुजर बसर मांस सेवन करके करता है। विशेष करके शीत प्रदेशों में मांस खाने का रिवाज अधिक है। प्राणियों की हत्या करके मांस प्राप्त किया जाता है और विभिन्न देशों में विभिन्न प्राणियों का मांस पसंद किया जाता है। मांस के लिए मुख्यतया गाय, बैल, बछड़ा, भेड़, बकरी, सुअर, मुर्गी, शिकार के पक्षी, इनका और कहीं-कहीं भैंस और घोड़े का भी उपयोग किया जाता है।

विभिन्न प्राणियों के मांस का संघटन

प्राणि	प्रोभूजिन	स्नेह	प्रांगोदीय	लवण	जल
गौ	२१४	५ २	—	१·१५	७२·२५
सुअर	१४·५	२०·०	—	१	६४·५
बकरी	१७·११	५·७७	—	१ ३३	७५·९९
मुर्गी	१९ ७२	१ ४२	—	१·३७	७६ २२

संघटन—मांस पेशीतन्तुओं से बनता है और इन तन्तुओं को संयुक्त रखने के लिए उनके साथ संयोजक धातु भी होता है।

मासरस—इन तन्तुओं में एक तरल पदार्थ होता है जिसको मांसरस (Musole juice or muscle plasma) कहते हैं। इस रस में भूयात्य (Nitrogenous) द्रव्य, लवण और अन्य खुशबूदार पदार्थ होते हैं।

प्रोभूजिन—पिशिति (Myosin), मांसशुक्ति (Muscle albumin) और शोण-वर्तुलि (Hemoglobin) ये मांस के प्रोभूजिन हैं। शरीर में जो मरणोत्तर काठिन्य (Rigor mortis) आता है वह पिशिति के जमने से होता है। कुछ समय के पश्चात् वहाँ पर अम्ल उत्पन्न होकर वह मांस को मृदु तथा सुगधी बनाता है। इसलिए मरणोत्तर काठिन्य समाप्त होने के बाद मृत प्राणियों का मांस खाना चाहिए। ये अम्ल कड़े परिश्रम से जो प्राणी मरते हैं उनके मांस में अधिक उत्पन्न होते हैं, इसलिए मृगया (शिकार) करके जो पशु मारा जाता है उसके मांस में विशेष खुशबू रहती है।

सयोजक धातु (Connective tissue)—इससे मांस पकाने के बाद श्लिषि (Jelatin) तैयार हो जाती है। यह सयोजक धातु वृद्ध जानवरों के मांस में अधिक होने के कारण उनके मांस को अधिक समय तक पकाना पड़ता है।

प्रांगोदीय (Carbohydrate)—मांस में प्रांगोदीय बिल्कुल (ऊपर की सारणी देखिये) नहीं होते।

स्नेह—स्नेह की राशि संयोजक धातु में होकर भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न होती है। गोमास, सूकरमांस, मेषमांस, और चलचर मांस में प्रांगोदीय (Carbohydrate) नहीं होते। पाच (प्लववर्ग) मांस में स्नेह अधिक होता है। जलचरों में पानी पर तैरने की दृष्टि से शरीर को हलका बनाने के लिए

तथा ठंडक से शरीर को बचाने के लिए अर्थात् अधिकताप उत्पन्न करने के लिए अधिक स्नेह होता है। स्नेह अधिक होने से मांस का पचन कठिनता से होता हैं। जिस मांस में स्नेह अधिक होता है उसमें पानी कम होता है परंतु प्रोभूजिनों की राशि कम नहीं होती।

खनिज—मांस में दहातु, भास्वर और अयस् के लवण होते।

निर्व्यूह (Extractives)—इन उपर्युक्त पदार्थों के अलावा मांस में ऐसे कुछ पदार्थ होते हैं जो मांसाहार की खुशबू और रुचि बढ़ाते हैं, तथा पाचन-शक्ति को उत्तेजित करते हैं। परन्तु इनमें पोषकता बिलकुल नहीं होती।

मांस की पाच्यता—मांस एक अत्यंत पौष्टिक और सुपाच्य द्रव्य है। इसका पाचन जठर में होता है। कुल मांस का ९५% भाग सारभूत होकर आँतों में प्रचूषित हो जाता है और केवल ५% भाग किट्ट होकर बाहर निकलता है। मांस की पचनीयता उसका संगठन, प्राणियों की जाति, वय, शरीरावयव तथा रसोई बनाने के तरीके पर आश्रित रहती है। मोटे लम्बे तन्तुओंके मांस की अपेक्षा पतले और मोटे तन्तुओंका मांस तथा अतिस्निग्ध (Fat) मांस की अपेक्षा अल्प स्निग्ध (Lean) मांस पचने में अधिक हलका होता है।

मास पकाना (Cooking)—पकाने से मांस के निर्व्यूह बहुत कुछ नष्ट होते हैं, उसके प्रोभूजिन जम जाते हैं, उसका संयोजक धातु श्लिपि (Gelatin) में परिवर्तित होता है, उसकी चरबी पिघल कर संयोजक धातु के बाहर आती है और पेशीतन्तु फूलते और फूटते हैं। सबका परिणाम मांस पचने में कुछ भारी होने में होता है। मांस ताप का अच्छा वाहक न होने से पकाने का काम धीरे-धीरे और अधिक काल तक करना चाहिए।

जेसन ने प्रयोग द्वारा यह बतलाया है कि ३½ औंस कच्चा मांस २ घटे में, आधा उबाला २½ घंटे में, पूर्ण उबाला ३ घटे में, आधा भुना ३ घटे में, और पूर्ण भुना ४ घटे में आमाशय से नीचे निकल जाता है।

परंतु पकाने से मांसकी खुशबू बढ़ती है, उसकी रंगत अच्छी मालूम होती है तथा उसमें होनेवाले संक्रामक रोगों के जीवाणु, परोपजीवी जन्तु और उनके कोष्ट (Cyst) मर जाते हैं, तथा पानी की राशि कम हो जाता है।

मांसके विविध प्रकार

गोमांस (Beef)—शरीर के अंगों के अनुसार मांस के गुणों में भेद होता है।

कटी (Ramp), कट्यूर्ध्व (Sirloin) और आगे की टगडियाँ ये अंग अधिक अच्छे समझे जाते हैं। यह मांस अधिक पौष्टिक है परन्तु उसके पाचन में अधिक पाचनशक्ति की आवश्यकता होती है।

वत्समास (Veal)—यह गौ के बच्छड़े का मांस है। जवान गौ के मांस की अपेक्षा यह मांस कम पौष्टिक और अधिक दुष्पाच्य होता है।

मेषमास (Mutton)—भारतवर्ष में बकरी के मांस का उपयोग बहुत होता है। इसमें चरवी अधिक होने से यह मन्दाग्नि में या रोगनिवृत्तों के लिए योग्य नहीं है।

सूकरमांस (Pork)—भारतवर्ष में इसका उपयोग बहुत कम होता है। इसका एक कारण यह है कि यह जानवर मुख्यतया मैले के ऊपर निर्वाह करता है। अत्यधिक स्नेह होने के कारण यह मांस सबसे अधिक दुष्पाच्य है। इसमें स्फीतकृमि (Taenia solium) के कोष्ठ हो सकते है जिनके सेवन से मनुष्यों में उस कृमि का उपसर्ग होता है। इसके अतिरिक्त उसमें कुण्डलाकार कचकृमि (Trichina spiralis) के कोष्ठ भी हो सकते हैं जिनके उपसर्ग से मनुष्यों में कचकृमिता (Trichinosis) या कचकृमिरुग्णता (Trichiniasis) उत्पन्न होती है।

अजमास (Goat)—भारतवर्ष में इसका भी उपयोग बहुत होता है। इस मांस के तन्तु गोमांस या मेषमांस से भी छोटे और कोमल होते हैं तथा उनमें चरबी कम रहती है। इसलिए यह सुपाच्य मांस है।

कुक्कुटक और शिकारीपक्षी (Poultry and game)—मुर्गी और अनेक शिकारी पक्षी इनके मांस का भी बहुत उपयोग किया जाता है। रोमन्थी अर्थात् जुगली करनेवाले (Ruminating) प्राणियों के मांस से इनका मांस भिन्न स्वरूप का होता है। जो खाद्य द्रव्य इनको खिलाये जाते हैं उनके अनुसार इनके मांस के स्वरूप में अन्तर पड़ता है। प्राणियों (स्तन) के मांस से इनके मांस मे चरवी कम होती है इसलिए इनके मांस सुपाच्य होते हैं। शिकारी पक्षियों के मांस में मुर्गी के मांस से भी चरबी कम रहने से वह अधिक सुपाच्य होता है।

यकृत् (Liver)—इसमें जीवतिक्तियाँ (क, ख, ग घ, क अधिक), उत्कृष्ट प्रोभूजिन तथा अयस् और लोहक (Manganese) ये खनिज रहते हैं। इसलिए यह पौष्टिक खाद्य है। इसके अतिरिक्त वैनाशिक (Pernicious) रक्तक्षय और संग्रहणी (Sprue) में यह बहुत लाभदायक होता है।

प्राणियों का निरीक्षण[1]—हत्या करने के पूर्व प्राणियों को कम से कम २४ घण्टे अच्छी तरह से देखना चाहिए और इस अवधि में उनके खाने पीने का प्रबन्ध ठीक रखना चाहिए। जिन पशुओं का मांस खाना है वे अस्वस्थ, बूढ़े और बच्चे न होने चाहिएँ।

मांस का संघठन, खुशबू, पचनीयता इत्यादि बातें प्राणियों की जाती, वय शरीरावयव इत्यादि पर निर्भर रहती हैं। प्राणियों का वय दाँतों या सिंगों के छल्लों की संख्या से मालूम पड़ता है। यथेच्छ और फुर्ती से चलना और फिरना, शरीर का पुष्ट होना, आँखों में चमक, नाक की झिल्ली लाल, रौनकदार और गीली, श्वासोच्छ्वास की क्रिया नियमित और आसानी से होना, उसमें कोई बू न आना, त्वचा चमकदार और मुलायम ये स्वस्थ पशु के लक्षण हैं। जब पशु अस्वस्थ होता है तो वह धीरे-धीरे चलता है, त्वचा में चमक नहीं होती, नथने सूखे और झाग से भरे हुए होते हैं आँखें भरी और चमक-रहित होती हैं, जीभ बाहर लटकती हुई और श्वास इस प्रकार चलता है कि उसे श्वास में जोर लगाना पडता है। पशु यदि ज्वर से पीड़ित हो तो कान, पाँव और दुधार जानवर के थन उष्ण रहते हैं। पशुओं में राजयक्ष्मा भी होता है इसलिए इसका भी ध्यान अवश्य रखना चाहिए क्योंकि वह मनुष्यों पर आसानी से सक्रान्त होता है। राजयक्ष्मा की पहचान यह है कि उससे पीडित पशुओं की ग्रीवा तथा पेट की ग्रंथियों में शोथ उत्पन्न होकर वे बढ़ जाती हैं। गौ में उपर्युक्त ग्रंथियों के अतिरिक्त थनों में भी शोथ होता है। यदि इसके बारे में कुछ सदेह हो तो काक की यक्ष्मि (Koch's tuberculin) की सूई लगाकर निश्चय कर लेना चाहिए।

मांस का निरीक्षण—हत्या करने के पूर्व जीवित पशुओं के निरीक्षण के अतिरिक्त हत्या के पश्चात् उनके मांस तथा विविध अंगों का भी निरीक्षण करना चाहिए। अच्छा मास सख्त, स्थितिस्थापक, चमकीले, लाल रंग का

---

१. मास सद्योहत शुद्धं वयस्थ च भजेत् त्यजेत्।
मृतं कृशं भृश मेद्य व्याधिवारिविषैर्हतम् ॥ वाग्भट ॥
चरः शरीरावयवः स्वभावो धातव क्रिया।
लिंगं प्रमाणं सस्कारो मात्रा चात्रपरीक्ष्यते ॥ चरक ॥
वृद्धम् बालं उत्सृजेत्। चरक
वयस्थमित्युक्त्या शोभन तरुणं वय इति शस्यते ॥ तस्मात्
यूनः प्राणिनो मांसं भजेन्न बालवृद्धयोरति ॥ अरुणदत्तः ॥

और चरबी के कारण संगमर्मर के पत्थर जैसा मालूम होता है। दबाने पर उसमें गढ़ा नहीं पड़ता तथा कड़कड़ नहीं होती। उसके बीच के रक्त-स्रोत से रक्तस्राव नहीं होता क्योंकि वह उत्कट व्याधि का सूचक है। मांस से जो रस निकलता है वह रंग में लाल, प्रतिक्रिया में अम्ल, बू में ताजा और खुशबूदार होना चाहिए। सड़ा-गला मांस पीला, पिलपिला और पीछे से हरा हो जाता है, तथा उसमें से बुरी गंध आती है और प्रतिक्रिया क्षारीय या प्रतिक्रियारहित होता है। उत्तम विधि यह है कि मांस के भीतर चक्कू चुभो कर देखना चाहिये कि उसके फलक से कोई बुरी गंध आती है या नहीं। अच्छे मांस पर मेद का बना हुआ आवरण सख्त पीले रंग का, और रक्त रहित होता है तथापि सूट चरबी (Suet fat) कठिन और श्वेत होती है। एक दिन या दो दिन रखने से अच्छे मांस में पानी नहीं तयार होता है, बल्कि वह सूख जाया करता है। यदि मांस २१२° फै० तक गरम किया जाय तो अच्छे मांस का तौल ७०-७५% से अधिक नष्ट न होना चाहिए, खराब मांस का भार ८०% से अधिक नष्ट होता है। जबड़ा, तालु और जिह्वा का निरीक्षण किरणकवकरुग्णता (Actinomycosis) के लिए करना चाहिए। इससे जबड़ा गांठदार (Lumpy) और जिह्वा काष्ठसम (Wooden) होती है। ग्रन्थियों का परिक्षण क्षय के लिए करें। फुफ्फुसों का निरीक्षण शोथ, कोथ विद्रधि के लिए करें। स्वस्थ फुफ्फुस छिद्रिष्ट (Spongy) होने से पानी में तैरते हैं, उनका रंग चमकीला गुलाबी होना चाहिए और उनमें गढे, गांठ या पूय न होने चाहिएँ। यकृत् का निरीक्षण याकृत्द्विमुखी (Distoma hepaticum) के लिए करना चाहिए। स्वस्थ यकृत् गहरे भूरे रंग का होता है और दबाने पर जल्दी टूटता नहीं। पेशियों का निरीक्षण स्फीतकृमि और कचकृमि (tape worm और trichinella spiralis) के कोष्ठों के लिए करना चाहिए।

मांसोत्पन्न रोग—मांस एक बहुत ही पौष्टिक खाद्यद्रव्य है इसमें जरासा भी संदेह नहीं है। परन्तु वह बहुत ही जल्दी सड़ने वाला द्रव्य है। उष्ण प्रदेशों में और उष्ण ऋतु में उसमें सड़ने का कार्य प्रारम्भ होने में जरा सा भी विलम्ब नहीं लगता। भारतवर्ष उष्णप्रदेश है। उत्तर भारत में तो साल भर में ८ मास गरमी होती है। सड़े-गले मांस सेवन से रोग उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त जिन प्राणियों का मांस सेवन किया जाता है उनके रोग पीडित होने पर वे रोग मनुष्यों में संक्रान्त हो जाते हैं। इन कारण से भारतवर्ष में मांस सेवन का[1] निषेध किया

---

१. न मासभक्षणे दोषो न मद्ये नच मैथुने।
प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तुमहाफला ॥ मनु ॥

गया है। इसलिए हत्या करने के पश्चात् मांस को जल्दी प्रयुक्त करना चाहिए। मांस से निम्नकारणों से रोग उत्पन्न होते हैं—

(१) क्लिन्नता[1]—अधिक देर तक रखने से जो मांस क्लिन्न अर्थात् सड़ गया है उसके सेवन से मितली, वमन, उदरपीड़ा, प्रवाहिका, अवसन्नता इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। क्वचित् शीतपित्त (Urticaria) और रुधिरवर्ण (Erythematous) विस्फोट और ज्वर भी होते हैं।

(२) विषव्याधि—यदि जहरीले पौधों पर पला हो या संखिया (Arsenic) अंजन (Antimony) इत्यादि से प्राणी मृत हो तो उन विषों के लक्षण पैदा हो सकते हैं।

(३) तृणाणूपसर्ग और उनका विष—इसका विवरण पीछे पृष्ठ ९२ पर किया गया है।

(४) कृमियों का उपसर्ग—सूअर में सूकरीफीता (Taenia solium) गो-बैल में गव्यफीता (T Saginata) इनके कोष्ट (Cyst) यदि हों और मांस अच्छी तरह न पकाया जाय तो मनुष्यों के आन्त्र में कोष्ट पहुँच कर कृमि में परिवर्तित होते हैं। बकरी में याकृत् द्विमुखी (Distoma hepaticum) का उपसर्ग होने पर मनुष्यों में उसका संक्रमण हो सकता है। और एक कृमिका कोष्ट मांसमें मिलता है जिसका नाम कुण्डलाकर कचकृमि (Trichina spiralis) है और जो सूअर के माँस में पाया जाता है। इससे दूषित माँस खाने पर कचकृमिरुग्णता (Trichiniasis) नामक रोग हो जाता है और उसके लक्षण ये हैं—अतिसार, अग्निमांद्य, ज्वर, माँस-पेशियों में ऐंठन आक्षेप और मूर्च्छा। उसके बाद कुछ सप्ताह में मृत्यु हो जाता है।

अन्यकारण—अंगारक्षत (Anthax), जलसंत्रास, कनार (ग्लांडर्स) राजयक्ष्मा इत्यादि रोगों से पीड़ित तथा विद्युत् और दुर्घटनाओं से मृत पशुओं के मांस का भक्षण न करना चाहिए।[2]

क्षय, अजाज्वर (माल्टाज्वर) अंगारक्षत और कृमियों को छोड़कर अन्य रोगों के उपसर्ग प्रायः मनुष्यों पर संक्रान्त नहीं होते।

---

१. विषव्याधिहृतंमृत्युं त्रिदोष व्याधिदूषितम्।

२. क्लिन्नमुत्क्लेश जननम्। सुश्रुत ॥

मांस का परिरक्षण—मांस शीघ्र सड़नेवाला पदार्थ है। इसलिए प्राणियों की हत्या होने के पश्चात् मांस का सेवन करने में अधिक विलंब न होना चाहिए। यदि अधिक काल रखना हो तो अन्न परिरक्षण की पद्धतियों में (पृष्ठ ८६) किसी एक के द्वारा उसको परिरक्षित करके रक्खे। बंद डिब्बों में परदेशी मांस बहुत आता है। परंतु भारत जैसे उष्ण देश में उसके खराब होने की बहुत संभावना होती है। जो डिब्बा खराब होता है वह भीतर उदजन शुल्बेय (H_2S) वायुरूप पदार्थ उत्पन्न होने के कारण फूला हुआ रहता है। उससे उसकी दुर्गन्ध आती है तथा खोलने पर उसका मांस उसी बात के कारण काला सा रहता है। ऐसे डिब्बे के मांस का सेवन न करें।



अंडा (Eggs)

वार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि ।
चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥
मधुराण्यविदाहीनि सद्योबलकराणि च ॥ चरक ॥

प्रायः मुर्गी के अण्डे अधिक सेवन किए जाते हैं। परन्तु कहीं-कहीं बतखों (Duck), समुद्र पक्षियों तथा अन्य पक्षियों के भी अण्डे खाये जाते हैं। मांस वर्ग के खाद्य द्रव्यों में अण्डा सबसे अधिक निर्भय होता है, क्योंकि ऊपर कवच होने के कारण न इसमें कोई मिलावट कर सकता है, न इसके भीतर बाहर से धूलि, जीवाणु या अन्य दोष आसानी से प्रवेश कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अण्डे का अपना कोई संक्रामक रोग नहीं है जो उसके सेवन से मनुष्यों पर संक्रान्त हो सकता है। अण्डे का औसत भार ५ तोले के करीब होता है जिसमें १२% कवच, ५८,% सफेत भाग (शुक्लक White) और ३०% पीला भाग (पीतक yolk) होता है।

संघटन—अण्डे का कवच चूर्णातु प्रांगारीय ($CaCO_3$) का होता है। सफेत भाग केवल प्रोभूजिनों से बनता है जिसमें अण्डशुक्लि (Egg-albumin) मुख्य होती है। पीले भाग में सफेत भाग की तुलना में प्रोभूजिन कम होते हैं। परन्तु स्नेह, खनिज और ग छोड़कर शेष जीवतिक्तियाँ (जो द्रव्य सफेत भाग में नहीं होते) ये संघटक अधिक रहते हैं। स्नेह के कारण पीतक सफेत भाग में तैरता है। खनिजों में चूना भास्वर और अयस् निर्देश करने योग्य हैं। दूध को छोड़कर दूसरी किसी भी खाने की चीज में इतनी अधिक मात्रा में चूना नहीं नहीं पाया जाता। अयस् और भास्वर दूध की अपेक्षा अण्डे के पीतक में बहुत अधिक मात्रा में रहते हैं।

अण्डे का संघटन

भाग	जल	प्रोभूजिन	स्नेह	लवण	जीवति	उष
शुक्लक	८५·७	१२·६	०·२५	·५९	—	१३
पीतक	५०·९	१६·२	३१·७५	१·०९	क.ख२घ.	४८

उपयोगिता—अण्डा बहुत धातुपुष्टिकर खाद्य है। इसलिए शरीर क्षयकर[1] अनेक रोगों में इसका उपयोग किया जाता है। इसके खनिज सेन्द्रिय (Organic) होने के कारण शाकहार के निरिन्द्रिय खनिजों की अपेक्षा आँतों से आसानी से तथा अधिकता से प्रचूषित हो जाते हैं। निरिन्द्रिय स्थिति में अयस् अधिक कसैला (Astringent) होने के कारण कठिनता से प्रचूषित होता है। अण्डे का अयस् सेन्द्रिय होने के कारण पाण्डुरोगियों को अण्डा एक बहुत हितकर खाद्य होता है। इसके प्रोभूजिन भी ऐसे हैं कि उनसे शरीर में मिहकी (Purine) नहीं बनती। इसलिए वातरक्त में भी इसका सेवन कर सकते हैं।

अण्डे की पचनीयता और पौष्टिकता—अण्डा एक ऊँचे दरजे का खाद्य है। आन्त्र से उसका ९७% भाग प्रचूषित होता है और केवल ३% किट्ट बनता है। एक अण्डा आध पाव दूध के बराबर है और उससे ८०–९० उष (Calory) उष्णता उत्पन्न होती है। अण्डे की पचनीयता जिस प्रकार से अंडा पकाया जाता है उसके ऊपर निर्भर होती है। आमाशय में कच्चे दो अण्डे २$\frac{1}{2}$ घण्टों तक, आधे उबाले हुए १$\frac{3}{4}$ घण्टों तक, अण्डापूप (Omelette) और बहुत उबाले हुए २ घंटों तक रहते हैं। कच्चा अण्डा नीरस होने के कारण पाचक रसों को उत्तेजित करने में असमर्थ होता है। इसलिए उसका पाचन आमाशय में नहीं होता, आंत्र में हुआ करता है। उबाले हुए अण्डे का प्रोभूजिन जमकर कठिन हो जाने के कारण पाचन में अधिक कठिनता होती है।

अण्डों का परिरक्षण—यद्यपि कवच होने से अण्डे के भीतरी पौष्टिक द्रव्यों की बहुत कुछ रक्षा हो जाती है तथापि वह सुषिर या छिद्रा होने के कारण भीतर का जलांश उष्णता से भाप के रूप में बाहर निकल जाता है और जल निकल जाने से जो रिक्त स्थान बनता है उसमें बाहर की हवा और उसके साथ कुछ पूतिजनक तृणाणु प्रवेश करते हैं। यह परिवर्तन उष्ण वातावरण में अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में तथा उष्ण प्रदेशों में अधिक हुआ करता है। इससे भीतर के द्रव्यों में सड़ने का कार्य प्रारम्भ होकर अनेक खराब वायु उत्पन्न होते हैं जिनमें उदजन शुल्बेय (H_2S) महत्त्व का है। इसी के कारण खराब अण्डे में दुर्गंध आता है।

---

१. क्षीणरेतःसु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च। अण्डानि हितानि। इसके अतिरिक्त जिन स्त्रियों का गर्भ पेट में अच्छी तरह पनपता नहीं उनके लिए भी अण्डे का सेवन हितकर बतलाया गया है—गर्भस्त्वामगर्भेण। चरक॥ आमगर्भेण इत्यत्र अण्डादिरूपेण। चक्रपाणिदत्त॥

यही कारण है कि शीतकाल और शीत देश की अपेक्षा उष्णकाल और उष्ण देश में अण्डे अधिक शीघ्रता से खराब हो जाते हैं। अण्डे के कवच के छिद्रों से हवा को भीतर जाने का और भीतर की भाप को बाहर आने का मार्ग बन्द करने से उसका परिरक्षण होता है।

(१) प्रशीतक में रखना—अण्डे शीत में रखने में रखने से यह कार्य होता है।

(२) काचना (Glazing)—यह कार्य अण्डों के कवचों पर तेल, मक्खन, चरबी, घी, मोम, गोंद इत्यादि पदार्थ पोतने से होता है या क्षारातु सैकतीय (Sodium silicate) के घोल में उसको रखने से हो जाता है।

(३) सुखाना—जहाँ पर ताजा अण्डा सदैव मिलता नहीं वहाँ पर मौसम में मिलनेवाले अण्डों के भीतरी भाग को तप्तवेलन या हवा से सुखाकर रख देते हैं। (पृष्ट ८७)

उत्तम अंडे की पहचान—उष्ण प्रदेशों में विशेषतया उष्णकाल में अंडा खरीदते समय वह अच्छा है कि खराब है उसको देखना बहुत आवश्यक है। खराब अंडे के सेवन से पचन संस्थान के विकार उत्पन्न होते हैं। अच्छे अंडे की पहचान निम्न दो पद्धतियों से होती है।

(१) उज्ज्वलन पद्धति (Candling)—प्रकाश या बत्ती के सामने अण्डा रखने से ताजे शुद्ध अण्डे का मध्य भाग पारभास (Translucent) दिखाई देता है और खराब अण्डे का ऊपर और नीचे का भाग अर्थात् दोनों टोंक पारभास हो कर मध्य में काला धब्बा (Dark spot) दिखाई देता है। अतः ऐसे अण्डे को न लेना चाहिए।

(२) प्रतरण पद्धति—पाँच से दस प्र. श. नमक के पानी में ताजा अंडा डूबता है और खराब अण्डा उतराता है। इसका कारण यह है कि पानी निकल जाने से तथा उसके बदले हवा आने से या सडने के कारण वायु उत्पन्न होने से वह ताजे अण्डे की अपेक्षा हलका हो जाता है।

अण्डा खरीदते समय उपर्युक्त पद्धतियों से उसका परीक्षण करके खरीदना चाहिए।

—oo✕oo—

मछली (Fish)

गुरूष्णमधुरा बल्या बृंहणाः पवनापहा· ।
मत्स्याःस्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषप्रकीर्तिता· ॥ चरक ॥
वलावहा विशेषेण मासाशित्वात्समुद्रजा· ॥ सुश्रुत ।

गुणधर्म—भारतवर्ष में बगाल, काश्मीर तथा समुद्र तटवर्ति और नदी तीरवर्ति प्रदेशों के लोगों में खाने के लिए मछली का बहुत उपयोग होता है। मछली पौष्टिक खाद्य है। परन्तु मांस की अपेक्षा प्रोभूजिन कम होने के कारण इसकी पौष्टिकता मांस से कम होती है। मछली पचने मे हलकी होती है। इसका ९५% भाग (प्रोभूजिनों का ९७% और और स्नेह का ९०%) आँतों से प्रचूषित हो जाता है। मछली में मांस रस के निर्य्यूह के समान (पृष्ठ ११४) कोई अग्निदीपक भाग न होने से उससे अग्निदीपन नही होता। परन्तु यह पचनसुलभ होने के कारण दुर्वल मनुष्यों के लिए अच्छा खाद्य होता है। स्निग्ध (Fat) मछली में स्नेह कुछ अधिक होने से पचने में जरा भारी होती है। परन्तु कृश (Lean) मछली हलकी होती है। भास्वर के कारण मछली मस्तिष्क के लिए बहुत अच्छा खाद्य मानी जाती है। परन्तु यह कथन कहाँ तक ठीक है कहा नहीं जा सकता। मछलियाँ असंख्य प्रकार की है और प्रत्येक प्रकार मे रुचि, पचनीयता, पौष्टिकता इत्यादि बातों में कुछ भिन्नता होती है। समुद्री मछलियाँ अधिक रुचिकर तथा अधिक स्वास्थ्यकर होती हैं।

संघटन—मछली में प्रांगोदीय और खनिज नहीं होते या नगण्य रहते हैं। स्नेह मध्यम और प्रोभूजिन अधिक (१६%) होते है । स्नेह के अनुपात के अनुसार मच्छली के कृश और स्निग्ध करके दो भेद किये जाते है। कृश (Lean) मछली में २% से कम स्नेह होता है। स्निग्ध (Fat) मछली में २–५% या उससे अधिक स्नेह होता है। स्निग्ध मछली में ग को छोड़कर बाकी सब जीवतिक्तियाँ विद्यमान होती है। समुद्री मछलियों में जीवतिक्ति घ नादेय मछलियों से अधिक होती है। मछलियों के खनिजों में भास्वर और जम्बुकि (Iodine) विशेष महत्व के हैं। जम्बुकी समुद्री मछलियों में अधिक होती है। एक सेर मछली से ८००-८५० उप उष्णता उत्पन्न होती हैं।

मछली का निरीक्षण—मछली हमेशा ताजी और पकड़ने के बाद शीघ्र ही खाना चाहिए। गर्मी के मौसम में मछली जल्दी सड़ने लगती है। इसलिए मई, जून, जुलाई और अगस्त के मासों में जहाँ तक हो सके मछली न खानी चाहिए।

ताजी मछली सख्त दुर्गन्धरहित होकर यदि भूपृष्ठ से समान्तर पकड़ी जाय तो उसकी पूंछ नीचे नहीं झुकती, आँखें भरी और उभरी हुई होती हैं, पुतलियाँ काली रहती हैं, गलफड़े (Gills) चमकीले और लाल दिखाई देते हैं और शरीर के ऊपर के छिलके भरे हुए दृढ होकर आसानी से अलग नहीं होते।

सड़ी हुई मछली की आँखें भूरी अन्दर धसी हुई और निष्प्रभ होती हैं, उसके गलफड़े भूरे तथा पिलपिले रहते हैं, त्वचा के छिलके आसानी से निकल आते हैं, शरीर में स्थितिस्थापकता नहीं होती और उसमें दुर्गंध आती है। मछली मरने पर उसका रक्त जम जाता है और सड़ना प्रारम्भ होने पर वह फिर पतला हो जाता है। इसलिए सड़ी-गली मछली काटने पर उससे दुर्गंधित पतला द्रव निकलने लगता है।

मछली का परिरक्षण—गर्म देशों में और मौसम में मछली बहुत जल्दी सड़ने लगती है और जब एक बार सड़ने का कार्य प्रारम्भ होता है तब बहुत तेजी से बढ़ता है। मछली का परिरक्षण कई पद्धतियों से किया जाता है। मछली पकड़ने के पश्चात् यदि तुरन्त काटकर भीतर के अंग निकाल दिये जायँ (निरन्तरंग Eviscerated) तो उसमें सड़ने का कार्य विलम्ब से प्रारम्भ होता है। अधिक काल तक रखने के लिये बर्फ में रखना, सुखाना, धूपन करना, नमक मिलाना, मुरब्बा बनाना, डब्बे में बंद करना इत्यादि विधियों का उपयोग किया जाता है। इस तरह से रक्खी हुई मछली पचनीयता और पौष्टिकता की दृष्टि से ताजी मछली की अपेक्षा घटिया होती है। इसलिए दुर्बलों और रोगनिर्मुक्तों के लिए हानिकारक होती है। सूखी हुई मछली में (बोंबिल) प्रायः कुछ न कुछ सड़न रहती हैं और उसमें इतनी दुर्गंध आती है कि एक प्रकार की घृणा उत्पन्न होती है।

डिब्बों का परीक्षण—डिब्बे में बन्द मछली गर्मियों में बहुत खराब हो जाती हैं। इसलिए खरीदते समय डिब्बों को निम्न पद्धतियों से अच्छी तरह देखभाल करके खरीदना चाहिए और खरीदने के बाद डिब्बा खोलने पर सब मछली निकालकर समाप्त कर देनी चाहिए। (१) दर्शन—डिब्बों पर कहीं छेद हो या मोर्चा लग गया हो तो उसको न खरीदना चाहिए।

मोर्चा लगने से सुराख बनने का डर रहता है। डिब्बा देखने में बिल्कुल नया सा होना चाहिए। खराब डिब्बे के दोनों तल भीतर वात उत्पन्न होने से दबे हुए रहने के (पृष्ठ ८८) बदले उभरे हुए (Bulging) रहते हैं। (२) स्पर्शन—इसी कारण से दबाने पर एक प्रकार का लचकीलापन या प्रत्यानम्यता (springiness) उसमें प्रतीत होती है। यदि भीतर वायु अधिक इकट्ठा हुई हो तो कुछ कठिनता भी प्रतीत होती है। (३) अंगुल्याघात—खराब डिब्बे पर अंगुलियों से आघात करने पर डिण्डिम ध्वनि (tympanitic note) निकलती है। अच्छे डिब्बे में अंगुल्याघात से मन्द (dul l) ध्वनि निकलती है। (४) धुनन—कान के पास हिलाने पर अच्छे डिब्बे में कुछ भी नहीं सुनाई देता, परन्तु खराब डिब्बे में सडन से तरल उत्पन्न होने के कारण पंकिल कीचड़ के समान (sloppy) आवाज सुनाई देती है।

सीप मछलियाँ (Shell fish)—इस वर्ग में घोंघा (Oyster) झिंगा, (Lobster) कस्तूरा, केकड़ा (Crab), सीपी इत्यादि कड़े आवरण युक्त मछलियाँ समाविष्ट होती हैं। ये भी मछलियों के समान पौष्टिक होती हैं, परन्तु अधिक दुष्पाच्य रहती हैं। इनमें घोंघा (Oyster) कच्चो अवस्था में अधिक पाचनसुलभ होता है क्योंकि उसमें उसके पाचन के लिए पाचककिण्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान् रहते हैं। पकाने पर ये नष्ट होने से वह गरिष्ट हो जाता है। इन सीपियों की पाच्यता बढ़ाने के लिए इनके साथ सिरका, कालीमिर्च, लवण, प्याज इत्यादि अग्निदीपक द्रव्य मिलाये जाते हैं।

मछलियों से होनेवाले रोग—सीप मछलियों से अनेक लोगों में मितली, वमन, प्रवाहिका चक्कर, पित्ती इत्यादि अन्नज अनूर्जता के लक्षण (पृष्ठ ९१) उत्पन्न होते हैं। मछलियाँ अण्डजनन काल (Spawning) में प्रायः विषैली रहती हैं। अनेक मछलियाँ कुछ ऋतुओं में विषैली रहती हैं। सडीम छलियों के सेवन से तथा खराब डिब्बों की मछलियों से वमन अतिसार इत्यादि अन्नविषता (पृष्ठ ९२) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि मछलियाँ या सीप मछलियाँ मोरी परनाले से दूषित जलाशय की या तालाब की हो आंत्रिक अतीसार, विसूचिका इत्यादि संक्रामक रोग उत्पन्न कर सकती हैं। मछलियों में बहुत परोपजीवी (Parasites) रहते हैं, परन्तु एक द्विनालशिरस्क कृमि (Bothriocephalus latus) को छोड़कर बाकी मनुष्यों पर सक्रान्त नहीं होते। यह कृमि भी भारतवर्ष की मछलियों में नहीं पाया जाता, जापान, चीन समुद्र में पाई जानेवाली मछलियों में होता है।

—oo:o:oo—

वनस्पति वर्ग

(Vegetable foods)

संघटन—वनस्पति वर्ग की विशेषता उनके प्रांगोदीयों की अधिकता में है जो मांसवर्ग में होते नहीं या नहीं के बराबर होते हैं। तथापि यह न समझना चाहिए कि इस वर्ग में प्रोभूजिन नहीं होते। अरहर, उडद, मसूर इत्यादि में प्रोभूजिन मांस से भी अधिक होते हैं। स्नेह भी वनस्पति वर्ग में अखरोट, बादाम, मूंगफली इत्यादि द्रव्यों में बहुत अधिक होता है। जीवतिक्तियों का प्रधान उद्भवस्थान वनस्पति वर्ग है (पृष्ठ ६८) जिससे मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को उसकी प्राप्ति होती है। संक्षेप में प्राणियों को आवश्यक सब उपादान वनस्पति वर्ग में प्रचुरता से पाये जाते हैं।

प्रोभूजिन—वनस्पति वर्ग के प्रोभूजिन प्रामुख्यतया आवर्तुलि (Glolulin) विभाग के होते हैं। उनमें मांसवर्ग के न्यष्टिप्रोभूजिन (Nucleoproteins) बहुत कम होते हैं। ये प्रोभूजिन लवण की सहायता से पानी में विलीन रहते हैं। सामान्यतः पकाने से प्रोभूजिन जम जाने के कारण पचने में कठिन होते हैं। मांस में केवल प्रोभूजिन ही होने के कारण पकाने से उसकी दुष्पाचनता (पृष्ठ ८३) बढती है, परन्तु वनस्पतियों में उनके साथ अन्य द्रव्य भी बहुत मिले रहने के कारण मांस के समान पचन में भारी नहीं होते।

स्नेह—वनस्पति वर्ग में स्नेह भी बहुत होता है। यह स्नेह अवर स्निग्ध अम्लों (Lower fatty acids) से बनता है, इसलिए तरल रहता है और इसको तेल (Oil) कहते। मांस वर्ग का स्नेह उच्चतर (Higher) स्निग्ध अम्लों से प्रायः बनता है, इसलिए वह गाढ़ा रहता है और उसको वसा या चर्बी (Fat) कहते हैं। वनस्पतियों का स्नेह उनके बीजों में संग्रहित रहता है और पानी में पीडन से निकाला जाता है। खाने के लिए तिल, कुसुम, मूंगफली, नारियल, सरसों इत्यादि का तेल प्रयुक्त होता है। वनस्पतियों के तेलों में जीवतिक्तियाँ बहुत कम होती हैं और वनस्पति के तेलों से बनाए हुए घी (जिसको सामान्यतया वनस्पति कहते हैं) में बिल्कुल ही नहीं होती हैं।

प्रांगोदीय—वनस्पति वर्ग के प्रांगोदीय मुख्यतया मण्ड (Starch) और शर्करा के रूप में पाए जाते हैं। मण्ड वनस्पतियों में कन्द, मूल और बीजों में

संग्रहित होता है और वनस्पतियाँ स्वयं इसको अपने काम में नहीं प्रयुक्त कर सकतीं। जब उनको प्रांगोदीयों की आवश्यकता होती है तब अपने संग्रहित मण्ड को वे विभेदीय किण्व (Diastatic ferment) से शर्करा में परिवर्तित करके काम में लाती हैं। मण्ड पानी में अविलेय है, इसलिए वनस्पतियों में संग्रहित होता है और शर्करा की अपेक्षा अधिक संकेन्द्रित (Concentrated) स्वरूप का अन्न है। मण्ड वनस्पतियों के कोशाधु (Cellulose) के खोल में बद रहता है। कोशाधु एक रेशादार धातु है जिसपर मानवी पाचक रसों का कुछ भी परिणाम नहीं होता और यही धातु अधिक काल होने पर वनस्पतियों में काष्ठ में परिवर्तित होता है। पानी में उबालने से मण्ड के कण फूलते हैं और उनके ऊपर की कोशाधु की खोल फट जाती है जिससे पाचक रस मण्ड पर भली-भाँति अपना पाचन का काम कर सकते हैं। वनस्पतियों में मण्ड अधिक होने के कारण वनस्पत्याहार पकाने से सुपाच्य हो जाते (पृष्ठ ८३) हैं।

खनिज और जीवतिक्तियाँ—वनस्पतिवर्ग में विशेषतया साग सब्जी कन्द मूलों में खनिजों की भी अधिकता होती है। जीवतिक्तियों में ख और ग बहुत अधिक पायी जाती हैं, क मध्यम राशि में और घ नहीं के बराबर होती है।

वनस्पतिवर्ग के विभाग—१ शूकधान्य, २ शिम्बीधान्य, ३ कंदमूल, ४ शाकपत्ती और ५ फल तथा दृढ़ फल।

शूक धान्य वर्ग (Cereals)

शूक धान्य एक जाति का घास है। मनुष्यों का प्रधान खाद्य[1] इस वर्ग के धान्यों से बनता है। इसमें चावल, गेहूँ, ज्वार, बजड़ा, मकई, यविका (जवी Oat) इत्यादि का समावेश होना है। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न शूक धान्यों का उपयोग किया जाता है। यूरोप में गेहूँ, अमेरिका में मकई, ब्रह्मदेश, लंका, जावा सुमात्रा, चीन जापान में चावल का उपयोग मुख्यतया किया जाता है। भारतवर्ष में पंजाब में गेहूँ, युक्तप्रान्त बिहार में गेहूँ और जौ, बगाल मद्रास में चावल और महाराष्ट्र तथा उसके आसपास के प्रान्तों में (दक्षिण) चावल, बजड़ा, ज्वार इनका मुख्यतया उपयोग किया जाता है।

---

१ धान्यं च द्विधा शूकशिम्बी भेदन। तत्र प्राधान्याच्छूकधान्यस्य पूर्वमुपन्यास.। प्राधान्यं चास्य भूयस्त्वोपयोगित्वात्। शिम्बीधान्यस्य तु तद्द्रव्यजनत्वेन स्वल्पोपयोगित्वात्प्रायेणापथ्यत्वाच्चाऽप्राधान्यम्॥ अरुणदत्त॥

संघटन—शूक धान्यों में प्रोभूजिनादि सब पोषक उपादान न्यूनाधिक राशि में उपस्थित रहते हैं। इनमें प्रांगोदीय बहुत अधिक (६०-८०%), प्रोभूजिन मध्यम (६-१२%) और स्नेह अत्यल्प अनुपात मे होते है। खनिजों में चूर्णातु, प्राजातु, दहातु, अयस् भास्वर इत्यादि उपस्थित रहते है। जीवतिक्तियों में ख की मात्रा मध्यम होती है, क की मात्रा अल्प होती है और ग औ घ अविद्यमान रहती हैं। इसमें जीवतिक्ति घ का अभाव होने के कारण इनमे होनेवाले अधिक चूने से कुछ भी लाभ नहीं होता, परन्तु हानि ही होती है, क्योंकि चूना अच्छी तरह हड्डियों में तथा दाँतों में निक्षिप्त नहीं होता परन्तु इधर उधर निस्सादित होकर पथरी (Stones) बनाता है। जब इन धान्यों के साथ दूध या अन्य जीवतिक्ति घ युक्त द्रव्य सेवन किया जाता है तब इनके चूने का शरीर को लाभ होता है। गरीबों में पथरी अधिक मिलने का कारण आहार में इन धान्यों की अधिकता और दूध जैसे जीवतिक्ति घ युक्त द्रव्यों का अभाव होता है।

शूक धान्यों का संघटन

नाम	प्रोभूजिन	स्नेह	प्रांगोदीय	खनिज	उपप्रतितोला
गेहूँ	८.५-१८.८	१.४-२.२	६५.१-७२.१	१.५-२.१	४१
चावल	५.१-७.५	.६५-१.७	७८.६-८५	.३५-८	४०
मकई	८.३-११.६	३.७-४.५	७०.३-७६.६	१.७-२ ५	४०
बाजरा	९.८-१२.९	४ ९-५.६	७१.१-७४.६	१.८-२.४	४१
ज्वार	७.६-१२.७	.६-७.७	७०.१-७७.४	१.७-३.१	४०

गेहूँ—इस संसार में दूध को छोड़कर दूसरी ऐसी कोई भी खाद्य वस्तु नहीं है जो गेहूँ से अधिक खाने के व्यवहार में आती हो। इसका उपयोग समस्त संसार भर होता है और सतुलित आहार की दृष्टि से शूक धान्यों में यह धान्य सर्वोत्कृष्ट होने से इसका प्रचार अधिक हो रहा है। जिनका प्रधान खाद्य गेहूँ है वे लोग अन्यों की अपेक्षा अधिक हृष्ट-पुष्ट और मोटे होते हैं यह बात अनुभव और अनुसंधान से सिद्ध हो चुकी है। भारतवर्ष में गेहूँ का सबसे अधिक उपयोग पंजाब में होता है और वहाँ के लोग और प्रांतों के लोगों की अपेक्षा खूब मोटे ताजे होते हैं।

बनावट—गेहूँ काटकर देखा जाय तो उसमें बाहर की ओर भूसी (Bran तुष) का आवरण होकर भीतर गूदा या भ्रूणपोष (Kernal, endosperm) रहता है और उसमें एक तरफ अंकुर या भ्रूण (Germ or embryo) होता है। बाहर का भूसी का आवरण पाँच स्तरों से बनता है। इनके बाहरी तीन स्तर मोटी भूसी के

होते हैं और भीतरी दो कन्ने के होते हैं जिसके कारण आटे में रंग आता है। गेहूँ का १२-१५% भाग भूसी से बनता है। गेहूँ में गूदे का अनुपात ८०-८५% तक और अंकुर का अनुपात १½% होता है।

संघटन—गेहूँ के प्रोभूजिन को आश्लेष (Gluten) कहते हैं। बढ़िया गेहूँ में इसका अनुपात १०-१४% और घटिया गेहूँ में ८-९% तक होता है। गोंद की भाँति यह चिपचिपा पदार्थ है और इसी के कारण रोटी बनाने में आसानी होती है। गेहूँ का अंकुर मुख्यतया इसी प्रोभूजिन से तथा स्नेह से बनता है। गूदे में प्रांगोदीय मुख्यतया रहता है और कुछ प्रोभूजिन भी। भूसी में कोशाधु, लवण (भास्वर, दहातु, आजातु, अयस् इत्यादि खनिज द्रव्य) पाये जाते हैं। कोशाधु (Cellulose) रेशादार लकड़ी के समान पदार्थ है जो हमारे शरीर के पाचक रसों से पाचित नहीं हो सकता। शूक धान्यों में चूना और चरबी का प्रमाण बहुत कम होता है। अयस् और भास्वर उनमें अन्य अनेक खाद्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक रहते हैं। साग सब्जियों में भास्वर कम और चूना अधिक होता है। इसलिए गेहूँ तथा अन्य शूक धान्यों के साथ साग सब्जी तरकारियों का सेवन लाभ कर होता है।

गेहूँ के पिसान—खाने के लिए गेहूँ पिसवाकर काम में लाया जाता है। पीसने का काम घरों में हाथ चक्कियों से लिया जाता है। बजार में जो पिसान मिलता है वह बड़े-बड़े कल कारखानों में बड़े-बड़े पेषणी या चक्की (Grinding mill) में पिसा हुआ रहता है। बजारू पिसान घरेलू पिसान से घटिया और स्वास्थ्य की दृष्टि से खराब रहता है, क्योंकि वहाँ पर पीसने से पहले गेहूँ की सफाई और छान-बीन जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं होती, जिससे उसमें कंकड़, मिट्टी इत्यादि के महीन कण आ जाते हैं, चक्कियों में बड़े तेजी से और रगड़ से पीस जाने के कारण उनके महीन कण आ जाते हैं, पिसान ताजा नहीं रहता और प्रायः अंधेरे और सील स्थानों में बोरे रक्खे रहने के कारण वह खराब होता है। उत्तम पिसान रंग में सफेत और स्पर्श में मुलायम होना चाहिए तथा उसमें किसी प्रकार की गंध न आनी चाहिए। पिसान के बोरे जमीन पर न रख के तख्तों पर रखने चाहिएँ।

पिसान के प्रकार—गेहूँ पीसने की अनेक पद्धतियाँ हैं और उनके अनुसार पिसान के अनेक प्रकार किए जाते हैं। (१) गेहूँ पीसने के बाद जब उसकी भूसी तक नहीं निकाली जाती तब उसको सतुष संपूर्ण पिसान (Whole meal) कहते हैं। इसमें गेहूँ के संपूर्ण उपादान विद्यमान रहते है। इसलिए पिसान के अन्य प्रकारों की अपेक्षा यह अधिक पौष्टिक होता है इसमें संदेह नहीं होता। परंतु इसमें भूसी

(जिसमें कोशाधु या घास के समान रेशाएँ होती हैं) होने के कारण पचन में यह पिसान भारी होता है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुकूल नहीं हो सकता। (गेहूँ की रोटी को फौलाद का पेट होना चाहिए)। परंतु कोशाधु या भूसी में विरेचन का कुछ गुण होने के कारण जिनका पाचन अच्छा है परंतु जो मलावरोध से सदैव पीड़ित रहते हैं उनके लिए इस प्रकार के पिसान की रोटी लाभ कर होती है। (२) दूसरे प्रकार के पिसान में भूसी के ऊपर के तीन स्तर (मोटी-मोटी भूसी) निकाल दिए जाते हैं। इस प्रकार के पिसान को निस्तुष संपूर्ण पिसान (Decorticated Whole Wheat meal) कहते हैं। गेहूँ के ऊपर का तुप निकाल देने से गेहूँ के भूयात्यद्रव्यों का १५%, स्नेह का ३.५% और लवणों का ५.७% भाग नष्ट होता है। अर्थात् इतने अनुपात में गेहूँ की उपयोगिता कम होती है। इसके अतिरिक्त पिसान का मोटा दानेदार भाग अलग किया जाता है जिसको सूजी कहते हैं। इसमें गेहूँ के भूसी के अन्तःस्तर का अधिक भाग रहता है। पिसान का जो अत्यन्त महीन भाग होता है उसको मैदा (White flour) कहते हैं। इसमें गेहूँ के अंकुरों का अधिक भाग रहता है। इन दोनों को अलग करके जो रहता है उसे मामूली आटा कहते हैं। इसमें गेहूँ के गूदे का अधिकांश होता है।

गेहूँ के विविध पिसानों का संघटन

पिसान	ग्रोभूजिन	पांगोदीय	स्नेह	खनिज
१ भूसी	१५.१५	२८ ५३	८.४२	४.८८
२ सूजी	१४.२६	४३.३२	१ ५०	०.५०
३ आटा	१२.०३	६४ ६९	२.२५	१.६९
४ मैदा	९.७३	८०.७३	५.२२	०.५८

साधारणतया गेहूँ पिसने के पश्चात् चलनी से उसकी भूसी निकाल दी जाती है। इससे आटे में खनिज और स्नेह की कमी हो जाती है। इसलिए रोटी बनाते समय आटे से नमक और घी या तेल मिलाने का रिवाज होता है जो कुछ अंश में भूसी की कमी को पूरा करता है।

गेहूँ के खाद्य पदार्थ—पावरोटी, बिस्कीट, रस्क, केक, बीमास्क, मकरोनी, वर्मीसीली इत्यादि विलायती तथा चपाती, रोटी, फुलके, पूरी, शकरपारा, सेवई, हलवा, माँडा, पराँठा इत्यादि देशी खाद्यपदार्थ गेहूँ के पिसान से बनाये जाते हैं। खाद्यद्रव्यों की इतनी विविधता दूध को छोड़कर दूसरे किसी अन्न पदार्थ से नहीं बन सकती। नीचे कुछ खाद्यद्रव्यों का विवरण दिया जाता है।

पावरोटी (Bread)—पाश्चात्य देशों में पावरोटी या डबल रोटी एक प्रधान खाद्य है। भारतवर्ष मे भी आजकल इसका बहुत प्रचार नगरों में हो गया है। इसकी विशेषता यह है कि यह दृढ होने पर भी छिद्री और जलयुक्त होने पर भी सूखी होती है। इससे चर्वण मे बहुत आसानी आ जाती है। इसकी यह विशेषता तद्गत प्रां० द्विजारेय के कारण हुआ करती है। रोटी में प्रां० द्विजारेय निम्न तीन पद्धतियों से स्थापित किया जाता है।

(१) अभिषवण (Fermentation)—इसमें आटा सानने के पश्चात् उसमे किण्व[1] या खमीर (yeast) मिला देते हैं जिससे उसमें प्रां० द्विजारेय बनता है जो उसको छिद्रा और हलका बना देता है। इसके बाद उसको भूनते हैं जिससे भीतरी अभिषवण का कार्य बन्द हो जाता है। इस प्रकार से बनायी गयी रोटी को अभिषुत (Fermented) रोटी कहते हैं।

(२) इसमें किण्व के स्थान मे आटे मे सज्जी या अन्य खार (Baking power) मिलाते है जिससे प्रां० द्विजारेय उत्पन्न होता है। इसको अनभिषुत (unfermented) रोटी कहते हैं।

(३) वातेरण (Aeration)—इसमें न किण्व मिलाया जाता है न कोई क्षार। रोटी के भीतर अभिषवण या रासायनिक क्रिया से प्रां० द्विजारेय उत्पन्न करने के बदले उत्पन्न किया हुआ प्रां० द्वि० साने हुए आटे में मिलाया जाता है। इस प्रकार से बनी हुई रोटी को वातेरित (Aerated) रोटी कहते हैं। अच्छी तरह बनाई गई रोटी में करीब दो तिहाई भाग वायु रहता है और जो ठोस भाग होता है उसमें ४५% पानी रहता है। इन प्रकारों में अभिषुत और अनभिषुत रोटियाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से वातेरित रोटी की अपेक्षा घटिया होती हैं, क्योंकि उनके अत्यधिक सेवन से अम्लपित्त उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। अनभिषुत रोटी सबसे घटिया होती है।

नयी रोटी मृदु और लचकीली होती है। पुरानी होनेपर वह भिदुर बन जाती है। काटने पर अच्छी रोटी का भीतर का भाग पीली धाक मारता हुआ श्वेत रंग का होना चाहिए, उसके भीतर बहुत छोटे-छोटे छिद्र होने चाहिएँ और उसकी रुचि अम्ल या खट्टी न होनी चाहिए। खराब रोटी में छोटे छिद्रों के बदले अनेक बडे-बड़े विवर मिलते है तथा वह खट्टी होती है।

---

[1] तेषामेभिरातङ्कविशेषै. प्रकुपिता पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवायइवोद्रिक्तना प्रसरो-भवति ॥ सुश्रुत ॥

भूनने से रोटी की पचनीयता बढ़ती है। भूनने पर रोटी को तुरन्त खाना चाहिए। भूनने पर अच्छी रोटी के ऊपर का भाग पतला, कड़ा, चमकीला और कुछ लाल रंग का हो जाता है। अच्छी भुनी हुई रोटी (toast) एक बहुत हलका पौष्टिक खाद्य है। इसके साथ मक्खन लगाकर सेवन करने से स्नेह की कमी दूर हो जाती है।

पावरोटी में अनेक बार फिटकरी का मिश्रण (Adulteration) होता है। इससे रोटी देखने में सफेद होती है तथा पुराने खराब आटे को सानने की कठिनाई दूर हो जाती है। अर्थात् फिटकरी का प्रयोग करने से पुराना खराब आटा काम में ला सकते हैं और रोटी नये आटे की रोटी के समान दिखाई देती है।

बिस्कीट (Biscuits)—ये गेहूँ के आटे में दूध, चीनी, मक्खन, अण्डा तथा अन्य सुगन्धी द्रव्य डालकर विशिष्ट पद्धति से बनाए जाते हैं। इसलिए रोटी की अपेक्षा ये अधिक पौष्टिक परन्तु अधिक महँगे होते हैं।

रस्क (rusks)—ये भी रोटी के समान बनाए जाते हैं तथा उसके समान भूनकर खाए जाते हैं। परन्तु इनमें दूध, मक्खन, चीनी होने के कारण ये अधिक रुचिकर और पौष्टिक होते हैं।

बीमाक्स (Bemax)—यह खाद्य गेहूँ के अंकुरों के अंश से बनाया जाता है और उसमें जीवतिक्ति ख (B) अधिक होती है।

चपाती या देशी रोटी—भारतवर्ष में गेहूँ सेवन करने का यही मुख्य खाद्य है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रोटी बनाने की पद्धति भिन्न-भिन्न होती है। गेहूँ में स्नेह की कमी होती है। इसकी पूर्ति करने के लिए आटे में तेल या घी मिलाया जाता है। कहीं-कहीं उसमें थोड़ा सा नमक भी छोड़ते हैं। आटे में घी और नमक मिलाने के पश्चात् उसको पानी में सानकर खूब अच्छी तरह हाथों से मलते हैं। इसके पश्चात् कुछ समय तक उसको वैसे ही रख देते हैं। उसके पश्चात् बेलन से या हाथों से सील पर चपाती बना करके तवे पर उसको गरम करते हैं और अन्त में आँच पर भूनते हैं। भूनने के बाद उस पर घी भी लगाया जाता है। यदि रोटी गरम-गरम सेवन की जाय तो वह बहुत उत्तम पौष्टिक अग्निदीपक खाद्य होता है।

हलवा—सूजी में घी, दूध, चीनी डालकर यह बनाया जाता है। यह बहुत पौष्टिक खाद्य है। परन्तु पचने में जरा कठिन होता है और अधिक काल तक सेवन करने से अम्लपित्त होने का डर रहता है।

पौष्टिकता, पचनीयता, खाद्य द्रव्यों की विविधता, टिकाऊपन इत्यादि अनेक वातों में गेहूँ धान्यों में असामान्य है और इसलिए संसार के असंख्य लोगों के भोजन का मुख्य पदार्थ होता है। परन्तु इसकी उत्पत्ति कुछ कम रहती है और इसलिए यह मँहगा रहता है। युद्ध के समय तथा उसके पश्चात् इसकी कमी तथा महँगी विशेष रूप से सबको महसूस होने लग गयी। संसार में गेहूँ के अतिरिक्त जौ (Barley), बाजरा, ज्वार, मकई इत्यादि अनेक धान्य बहुतायत से पैदा होते हैं और असंख्य लोग उनके ऊपर अपना निर्वाह भी करते हैं। गेहूँ की कमी और महँगी दूर करने की दृष्टि से संशोधन करने पर यह विदित हुआ है कि यदि गेहूँ के साथ जौ आदि धान्य निम्न अनुपात में मिलाये जायँ तो उस मिश्र-धान्य से बनायी हुई पावरोटी या चपाती की रुचि या पौष्टिकता में कहने या समझने योग्य फर्क नहीं होता। इसलिए गेहूँ की कमी होने पर उनका मिश्रण गेहूँ के साथ करके रोटी बनाने में कोई आपत्ति न करनी चाहिए।

गेहूँ और अन्य धान्यों के मिश्रण की सारणी

धान्य	पावरोटी के लिए	सादी रोटी के लिए
१ जौ	१०–१५%	१५–२५%
२ बाजरा	१०%	१५%
३ ज्वार	७–१०%	१५%
४ मकई	७–१०%	२०–२५%

चावल

संघटन—भारतवर्ष में बंगाल तथा मद्रास प्रान्त में चावल का उपयोग प्रधान खाद्य के रूप में किया जाता है। हाथकुटा, यन्त्र से साफ किया हुआ प्रमृष्ट (Polished), भुजिया (Parboiled) इत्यादि चावल के अनेक प्रकार होते हैं। चावल में प्रोभूजिन, स्नेह और खनिज बहुत कम होते हैं और केवल ख जीवतिक्ति रहती है और ये सब द्रव्य उसके कना (Bran) में रहते हैं। यन्त्र द्वारा प्रमृष्ट चावलों के ऊपर का लगभग सब कना नष्ट होता है। इसलिए उन चावलों में मुख्यतया प्रांगोदीय ही रह जाता है और उनके सेवन से वातबलासक (पृष्ठ ८४) रोग उत्पन्न होता है। चावलों का प्रोभूजिन बहुत ही सुपाच्य होता है और करीब-करीब सबका सब आँतों से प्रचूषित होता है।

चावलों का संघटन

संघटक	हाथकुटे	भुजिया	प्रमृष्ट	कना
जीवतिक्ति ख	+	+	०	+++
प्रोभूजिन	९%	७·६८%	६%	अधिक
स्नेह	१·६५%	२–२·५%	·२५–·५%	२२·२४%
भास्वर	०·५४%	०·५८%	०·२६–०·३८%	३·२%

परिरक्षण—चावलों के बोरे सदैव सूखे और सुप्रव्यजित स्थानों में रखने चाहिएँ। गरम और तर स्थानों में रखने से उनमें विघटन प्रारम्भ होता है तथा कुछ जीवाणु बनते हैं जो चावलों पर कार्य करके उनको विषैले बनाते हैं और जिनके सेवन से मरकशोफ (Epidemic dropsy) उत्पन्न होने में सहायता होती है।

सेवन—चावल उबालकर भात के रूप में सेवन किया जाता है। भात बनाने से पहले चावलों को ठंडे पानी से धोना चाहिए। धोने के पश्चात् या तो उनको भाप से पकाना चाहिए या जितना पानी आवश्यक होता है उतना ही पानी डालकर पकाना चाहिए। बहुतेरे लोग चावलों में बहुत अधिक पानी डालकर उनको पकाते हैं और उसके पश्चात् अधिक पानी (माँड़) फेंक देते हैं। इससे चावलों के खनिज, जीवतिक्ति, स्नेह आदि सब द्रव्य (पृष्ठ ८४) नष्ट हो जाते हैं। इसलिए भात इस प्रकार से कदापि न बनाना चाहिए। चावल वैसे रुचिहीन और प्रोभूजिन स्नेह, खनिज, इनसे भी विहीन होने के कारण उनके साथ दूध, दही, दाल, घी, मसाले इत्यादि द्रव्य मिलाने की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि बंगाल के लोग चावलों के साथ मछली और मद्रासी लोग मट्ठा और उड़द की दाल मिलाते हैं।

खिचड़ी—यह बहुत पौष्टिक खाद्य है जो चावल, दाल, घी और मसाला इनसे बनाया जाता है। पौष्टिकता के अतिरिक्त खिचडी रुचिकर और अग्निदीपक भी होती है। इसलिए रोगियों के लिए उसका उपयोग किया जाता है।

चूडा, मुरी और खोई—ये चावल के अग्निसंस्कृत खाद्य द्रव्य हैं। चिउड़ा पचने में कठिन होता है, परन्तु मुरमुरा और खोई (खील) सुपाच्य होते हैं। धान की खील रोगियों के लिए उत्तम खाद्य है। पृष्ठ ८२ देखिए।

यव (Barley)—जौ बहुत पौष्टिक अन्न है। इसमें खनिज की मात्रा अधिक होती है तथा प्रोभूजिन भी करीब-करीब गेहूँ के बराबर रहते हैं। परन्तु गेहूँ का आश्लेष इनमें बहुत कम होने के कारण रोटी बनाने में जरा कठिनाई होती है। इनमें किलाटि (Casein) और शुक्ति होती हैं। यवयूष (Barley Water) आजकल रोगियों को देने का प्रचार बहुत बढ गया है। इसलिए शुद्ध साफ किये हुए जौ के अनेक प्रकार बाजार मे मिलते है। जब ऊपर की भूसी निकालकर जौ साफ किया जाता है तब उसको स्काच यव (Scotch barley) कहते हैं। जब ऊपर की भूसी के साथ दानों का भी कुछ आवरण निकाल करके दाने गोल और मुलायम बनाये जाते हैं तब उसको मुक्तायव (Pearl barley) कहते हैं। जब जौ पीसकर पिसान के रूप में रहता है तब उसको पेटेन्ट बार्ली कहते हैं। रोगियों के लिए मोतिया या पेटेन्ट जौ का उपयोग प्रायः किया जाता है।

जौ जब पानी में भिगोकर थोड़ा सा अंकुरित होने दिया जाता है तब उसकी पौष्टिकता तथा पचनीयता और भी बढ जाती है। इस प्रकार के अल्पांकुरित जौ को यव्य (malt) कहते हैं। अनेक विलायती बल्य (Tonics) औषधियों में रसौषधियों के साथ यव्य मिलाया जाता है। यव्यचूर्ण मिला करके भी दूध सुखाया जाता है। इसको यव्यित दुग्ध (malted milk पृष्ठ ११२) कहते हैं।

ज्वार, बाजरा—इनका उपयोग गुजरात, महाराष्ट्र, हैदराबाद, विदर्भ इत्यादि प्रान्तों मे गेहूँ के स्थान में किया जाता है। पौष्टिकता की दृष्टि से ये गेहूँ और चावल के बीच में आते हैं। इनका भी उपयोग पीसकर रोटी बनाने के लिए किया जाता है। परन्तु इनमें गेहूँ का आश्लेष न होने से रोटी बनाने में कुछ कठिनाई होती है। यदि इनके साथ गेहूँ मिलाया जाय (पृष्ठ १३३) तो इनकी पौष्टिकता बढ़कर रोटी बनाने में भी आसानी होगी।

मकई या भुट्टा (Maize)—इसका भी उपयोग कहीं-कहीं गेहूँ के समान पीसकर रोटी बनाने के लिए किया जाता है। यह भी बहुत पौष्टिक खाद्य है। इसमें और शूक धान्यों की अपेक्षा स्नेह का भाग अधिक होता है। इसलिए पचने में यह जरा कठिन रहता है। परन्तु शारीरिक श्रम करनेवालो और प्रखराग्नि के लोगों के लिए यह बहुत उत्तम खाद्य है। इनके लिए आँच पर भुने हुए मकई के बाल एक बहुत अच्छा रुचिकर खाद्य है। जिनका अग्नि मन्द है उनको भुट्टे का सेवन न करना ही अच्छा है। इसमें भी आश्लेष न होने से रोटी बनाने में कठिनाई होती है, परन्तु यदि गेहूँ इनके साथ (पृष्ठ १३३) मिलाए जायँ तो रोटी बनाने में आसानी हो जाती है। इसके प्रोभूजिनों में उत्कृष्ट

प्रोभूजिन (पृष्ठ ६२) कम होते हैं तथा इसमें जीवतिक्तियाँ कम होकर ख और ग होती ही नहीं। यदि मनुष्यों का भोजन मुख्यतया मकई से हो तो त्वग्ग्राह (Pallagra) नामक (पृष्ठ ७४) रोग उत्पन्न होता है।

जवी (Oats)—यह एक विलायती धान्य है। इसमें सब शूक धान्यों की अपेक्षा प्रोभूजिन (१५%) और स्नेह (७%) अधिक होता है। फिर भी पौष्टिकता की दृष्टि से यह गेहूँ की अपेक्षा घटिया है, पचने में कठिन रहता है और आश्लेप की कमी के कारण रोटी बनाने में भी कठिनता होती है। इसमें क और घ जीवतिक्ति न होने से दूध के साथ इसका सेवन करना चाहिए।

चावल और आँटे के आहार में अन्तर—शूक वर्ग के जो विविध आहार्य द्रव्य हैं उनके चावल और पिसान (की रोटी के रूप में सेवन किये जाने वाले गेहूँ, बाजरा इत्यादि) ऐसे दो मुख्य विभाग होते हैं। इन दो विभागों की रासायनिक बनावट में जो अन्तर होता है उसका विवरण ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त इन दो विभागों में भौतिक तथा समवर्त संबन्धी (Metabolic) बनावट में भी अन्तर होता है। आहार में इनका उपयोग करते समय इन बनावटों का भी ध्यान रखना पड़ता है।

गेहूँ वर्ग आँटे की चपाती या रोटी के रूप में सेवन किया जाता है। इसमें पानी बहुत कम होता है जिसके कारण रोटी का आहार राशि और भारीपन में कम होता है। आहार के साथ पानी कम जाने के कारण मूत्र कम मात्रा में उत्सर्गित होता है। इसमें चूना तथा भास्वर अधिक होने के कारण व मूत्र की राशि कम होने के कारण गेहूँवर्ग का मुख्याहार सेवन करने वालों में पथरी बनने की संभावना अधिक होती है।

चावल भात के रूप में सेवन किया जाता है जिसमें पानी बहुत होता है। अतः भात का आहार राशि और भारीपन में रोटी के आहार से बहुत अधिक रहता है। रोटी के आहार की अपेक्षा चावल के आहार से शरीर में दुगुना पानी चला जाता है तथा उससे दुगुना मूत्र बनता है। चावल के आहार से शरीर में लवण भी अधिक जाते हैं। इसलिए चावल का मुख्याहार करनेवालों में वातवलासक तथा मरक शोफ (जिनमें शरीर पर सूजन होती है) उत्पन्न होने की अधिक संभावना होती है।

उष्णकटिबन्ध में निसर्गतः धान की और शीत कटिबन्ध में गेहूँ की उपज अधिक होने से उष्ण कटिबन्ध में चावल का और शीत कटिबन्ध में गेहूँ का मुख्य

आहार होता है। उष्ण कटिबन्ध में शरीर को अधिक पानी की आवश्यकता होने के कारण चावल का मुख्याहार व शीत कटिबन्ध मे कम आवश्यकता होने के कारण गेहूँ का मुख्याहार हितकर होता है। थोडे में मुख्य आहार्य द्रव्य की दृष्टि से निसर्ग प्रत्येक कटिबन्ध में सहायक ही रहा है। अब रहा प्रश्न इन मुख्य आहार्य द्रव्यों के कुछ दोषों को दूर करने का। इसके सम्बन्ध में यह देखा गया है कि यदि चावल के मुख्याहार के साथ कुछ गेहूँ और गेहूँ के मुख्याहार के साथ कुछ चावल सेवन किये जायँ तो रासायनिक संघटन के संतुलन के साथ ही साथ इनके दोष भी दूर हो जाते हैं। इसलिए चावल के मुख्याहार में न्यूनाधिक मात्रा में रोटी व रोटी के मुख्याहार में न्यूनाधिन मात्रा में चावल रखना यही आरोग्य रक्षा की दृष्टि से सर्वोत्तम मार्ग है।

शमी, शिम्बी या वैदल वर्ग (Pulses)

इस वर्ग के धान्य शिम्बीमत् गोत्र (Leguminous order) के होते हैं और फली या छीमी (शिम्बी, Legume) में बनते हैं इसलिए शिम्बी धान्य और स्वभाव से ही दो दलों में विभक्त रहते हैं जो कुचलने पर विभक्त होते हैं इसलिए वैदल (Pulses) कहलाते है। ये छिलका उत्तार कर प्रायः दाल के रूप में, क्वचित् पिसान के रूप में पकाकर प्रायः सेवन किए जाते हैं। हरे (Green) वैदल तथा सूखे अंकुरित किये हुए या भिगोये हुए कच्चे खाये जाते हैं। स्वास्थ्य के लिये ये अधिक हितकर होते हैं। चावल या गेहूँ के समान ये भोजन का मुख्य उपादान नहीं होते न हो सकते हैं। परन्तु उनकी कमी की पूर्ति करने के लिए न्यूनाधिक प्रमाण में उनके साथ सेवन किए जाते हैं। भोजन का मुख्य उपादान न होने का मुख्य कारण यह है कि ये पचने में भारी होते हैं। इनका अधिक सेवन करने से पेट में भारीपन रहता है और आन्त्र में उदजन शुल्बेय (H_2S) जैसे वायु रूप पदार्थ उत्पन्न होकर (१२७ पृष्ठ की पादटिप्पणी देखो) आध्मान उत्पन्न होता है।

संघटन—इस वर्ग की विशेषता उनके प्रोभूजिनों के आधिक्य में है। इनमें मांस से भी अधिक प्रोभूजिन होता है। इसलिए पाश्चात्य लोग वैदल धान्यों को गरीबों का गोमास (Poor man's beaf) कहते हैं। अपने यहाँ भी धर्मशास्त्र[1] में माष (उड़द) मांस का प्रतिनिधि माने गए हैं। इनमें जो प्रोभूजिन होता है उसको शिम्बिकी (Legumine) या वनस्पतिज किलाटी (Vegetable

---

१. अतो माषान्नमेवैतन्मासार्थं ब्रह्मणा कृतम्। पितरस्तेन तृप्यन्ति श्राद्धं कुर्यान्न तद्विना। यथा वलिष्ठ मांसत्वं माषान्नमपि तत्समम्॥ प्रजापतिस्मृति॥

casein) कहते हैं। इनमें शूक धान्यों की अपेक्षा खनिज भी अधिक होते हैं जिनमें चूना, दहातु (Potassium) और शुल्वारी (Sulphur) महत्व के हैं। शुल्वारी के कारण ही आन्त्र में उदजन शुल्वेय उत्पन्न होता है। इनमें जीवितिक्ति ख विशेष रूप से विद्यमान होती है, क बहुत कम और ग नहीं के बराबर होती है। परन्तु यदि ये धान्य अंकुरित किए जायँ तो उनमें ग जीवितिक्ति भी बहुत बनती है। अंकुरित होने के लिए ये धान्य छिलके के साथ समूचे होने चाहिएँ। प्रथम ये २४ घण्टे तक पानी में भिगोए जाते हैं। इससे ये खूब पानी अपने भीतर सोख लेते हैं और अंकुरीभवन का कार्य प्रारम्भ होता है। उसके पश्चात् अधिक पानी फेंक दिया जाता है और भींगा हुआ धान्य किसी टोकरी में दबाकर रख लिया जाता है। एक दो दिन में वे अच्छी तरह अंकुरित होते हैं। फिर उनको पकाकर खाया जाता है। अंकुरित धान्यों को अधिक काल तक पकाना उचित नहीं, अन्यथा ग जीवतिक्ति नष्ट हो (पृष्ठ ७५) जाती है। वैदल धान्यों में तुअर (अरहर), उड़द, मूँग, मसूरी, चना, मटर, मोथी, कुलथी, खेसारी इत्यादि का समावेश होता है।

वैदलों में प्रोभूजिनों से मिहकी (purine) और मिहिक (Uric) अम्ल उत्पन्न होते हैं। इसलिए वातरक्त (Gout) प्रकृति के या वातरक्ती रोगियों को इनका सेवन न करना चाहिए।

मसूर—इसमें ख जीवतिक्ति अधिक होती है, प्रोभूजिन भी बहुत होता है, खनिजों में अयस् और चूर्णातु भास्वीय होता है परन्तु आध्मानकर शुल्वारी नहीं होता है।

खेसारी—(Lathyrus sativus)—इस दाल के निरन्तर सेवन से कलायखंजता (Lathyriasis) नामक रोग होता है। यह रोग उस दाल की अपेक्षा उसमें मिलने-वाली अक्रा दाल (Vicia sativa) के कारण हुआ करता है। इस रोग का मुख्य लक्षण ऊरुस्तम्भ (Spastic paraplegia) है।

चीन माष—(Soya bean)—यह एक वैदल है जो चीन, जापान में बहुत खाया जाता है। इस वैदल के कुछ प्रकार पहाड़ों में भी उत्पन्न होते हैं। आज-कल भारतवर्ष में भी इसका उत्पादन प्रारंभ हुआ है। यह वैदल अनेक दृष्टि से अद्वितीय है। इसमें प्रोभूजिनों का अनुपात मांस या अन्य वैदलों की अपेक्षा बहुत अधिक (३७%) होता है और वनस्पतियों के प्रोभूजिनों के समान ये निकृष्ट (पृष्ठ ६३) न होकर उच्च होते हैं और इनसे शरीर के लिए आवश्यक तिक्ती-अम्ल भी बहुत अधिक बनते हैं। प्रोभूजिन की दृष्टि से एक पाव सोया बीन ढाई पाव मांस और १४ अण्डों के बराबर होता है। अन्य वैदलों में स्नेह की मात्रा

बहुत कम होती है। परन्तु इसमे बहुत अधिक (१७%) रहती है। इनमें खनिजों की भी अधिकता (५%) होती है। इनमें ख१ जीवतिक्ति की मात्रा भी बहुत अधिक (१ धान्य में ५ अन्तरराष्ट्रीय एकक International units) होती है। क जीवतिक्ति भी विद्यमान रहती हैं। ग और घ विद्यमान नही होती, परन्तु यदि ये अकुरित किए जायँ तो ग उत्पन्न हो सकती है। सोयाबीन का उपयोग गेहूँ के समान पीसने के पश्चात् रोटी, बिस्कीट इत्यादि अनेक प्रकारों से किया जाता है। गेहूँ के साथ तीसरे हिस्से में इसकी मिलावट करने से गेहूँ की पौष्टिकता और पचनीयता बढ़ती है। चीन और जापान में इससे दूध बनाते हैं। इसके लिए ७ भाग पानी और १ भाग इसका पिसान लिया जाता है। पानी उबलने पर उसमें धीरे-धीरे पिसान मिलाया जाता है। सब पिसान मिलाने पर १०-१५ कला तक वह पानी उबाला जाता है। तदनंतर आँच से उतार कर कपडछान करते हैं। उसके पश्चात् अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उसमें चीनी या घी या टोमाटो रस मिलाकर सेवन किया जा सकता है।

प्रधान वैदलों का संघटन

नाम	प्रोभूजिन	स्नेह	प्रांगोदीय	खनिज
उडद	१९·८१ से २७·५०	१·२५ से २·६	५०·०५ से ६० ६९	३·४५ से ५·४५
चना	१९ ४४ से २०·६९	४·११ से ६·१०	५२·२६ से ५९·४१	२ ७० से ३·२५
अरहर	२०·० से २२·९	१·४ से १·६	६५·८ से ६७·४	२·९ से ३·३
कुलथी	२०·७५ से २२ २१	०·६५ से १ ८४	५६ ०४ से ६३·२०	४·२० से ७·४५
मोथी	२२ ५६ से २५·५०	० ६५ से १·७५	४७ ६७ से ५८·४९	३·७० से ६·३०
मसूर	२५·४७ से २५·५०	१·७५ से ३·०	५५·०३ से ६३·२	३·२३ से ६·३०
मटर	२१·१ से २४·६	१ ० से १·८	५६·४ से ६२ ००	२·६ से ३·३
सोयाबीन	३२·९ से ३७·०	१६·८ से १८·१	३१·० से ३३·१	४·८ से ४·९

कन्द-मूल वर्ग (Roots and tubers)

कन्द और मूल वनस्पतियों का सचित खाद्य होता है। यह खाद्य मंड या पिट्ठी (Starch) के रूप में होता है। इनमें प्रोभूजिन और स्नेह नही के बराबर होते है। इसलिए पौष्टिकता की दृष्टि से ये शूक और शिम्बी धान्यों से बहुत घटिया होते है। और इसी कारण से ये भोजन का मुख्य उपादान न हो सकते है, न इनको करना चाहिए। अधिक मात्रा में सेवन करने पर इनसे पचनसंस्थान में खराबी उत्पन्न होती है। इनमें खनिजद्रव्य, विशेष करके दहातु (Potash) के लवण पर्याप्त होते हैं। इसलिए भोजन में इनका होना आवश्यक है।

आलू—(Potato)—कन्द-मूलों में आजकल आलू का जितना प्रचार हुआ है उतना दूसरे किसी का भी नहीं है। आलू एक मिलनसार कन्द है जो सबके साथ मिलकर अपनी और औरों की रुचि को बढ़ाता है। इसलिए उसके अपने और दूसरों के साथ मिलकर अनेक रुचिकर खाद्य द्रव्य बनते हैं। इसमें प्रतिशीताद (Antiscorbutic) जीवतिक्ति होती है। आलू की पचनीयता जिस प्रकार आलू पाकाया जाता है उसके ऊपर निर्भर होती है। अच्छी तरह पकाया हुआ, अंगार पर भुना हुआ और पानी में उबाला हुआ आलू आसानी से हजम होता है। तेल में तला हुआ दुष्पाच्य हो जाता है। यदि आलू को उबालना हो तो छिलके समेत उबालना चाहिए, अन्यथा आधे से अधिक खनिज तथा प्रोभूजिन पानी के साथ निकल जाते हैं।

आलू का सेवन उसके प्रांगोदीय और लवणों के लिए किया जाता है। आलू मांसाहारियों के लिए जितना जरूरी है उतना शाकाहारियों के लिए नहीं है, क्योंकि मांसाहार में प्रांगोदीयों की कमी होती है और शाकाहार में उनकी अधिकता होती है। इसलिए यूरोप के लोगों के भोजन में आलू सदैव उपस्थित रहता है।

आलू के अंकुर—बरसात के दिनों में आलू अंकुरित होते हैं। ये अंकुर विषैले होते हैं। इसलिए उनको जड़ों से काटकर निकाल कर आलू को खाना चाहिए। अंकुरों के समान आलू की पत्तियाँ तथा फूल भी विषैले होते हैं।

शकरकंद—इसमें प्रांगोदीयों का आधा भाग शर्करा के रूप में (मण्ड १६% शर्करा १०%) होने से यह आलू की अपेक्षा अधिक मीठा और हलका होता है। इसको भुनकर या उबालकर सेवन किया जाता है।

गाजर—इसमें जीवतिक्ति क (पृष्ठ ६९) होती है।

साबूदाना, अरोरूट—ये शुद्ध मण्डमय (Starchy) खाद्य द्रव्य हैं और अत्यन्त सुपाच्य होने के कारण दूध के साथ रोगियों के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।

प्रधान कन्द-मूलों का संघटन

नाम	जल	प्रोभूजिन	स्नेह	प्रांगोदीय	खनिज
आलू	७६.७	१.२	०.१	१९.७	०.९
शकरकंद	७२.९	१.६	०.५	२४.३	०.७
प्याज	८९.१	१.६	०.३	८.३	०.६
गाजर	८५.७	०.५	०.३	१०.१	०.९
मूली	९०.८	१.४	०.१	४.६	०.७
साबूदाना	१८.०	०.०	०.०	८२.०	०.०

शाकवर्ग (Vegetables)

शाकपत्र भोजन में विविधता तथा रुचि उत्पन्न करने के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। इनके फूल, फल, पत्तियाँ, डण्टल इत्यादि सब तरकारी बनाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनमें प्रोभूजिन, प्रांगोदीय, स्नेह नहीं के बराबर होने के कारण पौष्टिकता की दृष्टि से इनका मूल्य कुछ भी नहीं होता। इनका सेवन निम्न तीन कारणों के लिए किया जाता है।

(१) इनमें क, ख, ग जीवतिक्तियाँ प्रचुरता से पायी जाती हैं। इसलिए भोजन मे इनका होना आवश्यक होता है। पकाने पर या सुखाने पर जीवतिक्तियाँ नष्ट होती हैं, इसलिए इनका सेवन ताजी और कच्ची अवस्था मे करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ सागों का उपयोग मिर्च, धनिया, नमक, नीबू का रस इत्यादि के साथ चटनी या कचूमर के रूप में भी करना हितकर होता है।

(२) भोजन का मुख्य उपादान चावल या गेहूँ प्रति दिन एक ही रहता है। भोजन के द्रव्यों में विविधता और उसके साथ रुचिवैचित्र्य साग सब्जियों के हेर-फेर से आता है। यह वैविध्य और वैचित्र्य अग्निदीपन करके गेहूँ या चावल के पाचन में सहायता करता है।

(३) इनमें कोशाधु (Cellulose) करके रेशादार दुष्पाच्य भाग बहुत अधिक होता है। इसके कारण अन्न का पचन होने के पश्चात् आँतड़ियों में जो मल बचता है उसको निकालने में आसानी होती है। संक्षेप में इनके कारण मलोत्सर्जन में सहायता[1] होती है। जो लोग जीर्ण मलावरोध से पीड़ित होते हैं उनको अपने भोजन में इसलिए शाकपत्तियों का अधिक सेवन करना उचित है।

(४) इनमें चूना, क्षारातु तथा अन्य क्षारतत्त्व (पृष्ठ ६६) उचित मात्रा में विद्यमान रहते हैं। ये तत्त्व शरीर में अन्न के समवर्त में उत्पन्न होनेवाले विविध अम्ल द्रव्यों को निर्वीर्य करके रक्त की क्षारीयता को बनाये रखते है। स्वास्थ्यरक्षा के लिए रक्त का क्षारीय होना आवश्यक होता है। यदि उसकी क्षारीयता घटकर अम्लोत्कर्ष (Acidosis) हो जाय तो मृत्यु हो जाता है। अपने क्षारीय गुण के कारण शाकपत्तियाँ मूत्रल[1] होती हैं तथा पथरी के रोगियों के लिए हितकर रहती है। शाकों में प्रांगोदीय बहुत ही कम होने के कारण मधुमेहियों के लिए इनका सेवन (विशेषतया खीरा, ककड़ी) हितकर होता है।

---

१. सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥ सुश्रुत ॥

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि रुचि-वैचित्र्य के अतिरिक्त उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाय तो भी खनिजों और जीवतिक्तियों की विपुलता के कारण भोजन में साग-सब्जियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ अन्नतज्ज्ञों का कहना है कि यद्यपि शाकों में प्रोभूजिन बहुत अल्प होता है तथापि जो होता है वह ऐसे विशिष्ट स्वरूप का होता है कि शरीर के लिए बहुत उपकारक रहता है। इस दृष्टि से भी इनका भोजन में होना आवश्यक होता है। परन्तु इनके सेवन में निम्न बातों पर ध्यान[1] देना चाहिए।

तरकारी, कचूमर, चटनी इत्यादि बनाने के लिए साग सदैव नयी और ताजी खरीदनी चाहिए। बासी या सड़ी-गली शाक न ग्रहण करें। अनेक स्थानों में तथा मकानों के पास शाक, भाजी मोरी परनाले के पानी पर बोयी जाती है। इसलिए कच्ची शाक अच्छी तरह धोये बिना खाने के या तरकारी बनाने के काम में न लाना चाहिए। विसुचिका, आन्त्रिक अतीसार इत्यादि रोग यदि जारी हों तो कच्ची शाक खाने से पहले उसको दहातु अतिलोहकित (Pot permanganate) के घोल में भिगोकर पश्चात् साफ पानी से धोकर खाना चाहिए। यदि शाक पकाकर खाना हो तो साफ पानी से धोकर काम चल जाता है। साग-सब्जियों में कीड़े-मकोड़े और उनके अंडे हमेशा रहते हैं। इसलिए उनकी अच्छी तरह देख-भाल कर लेनी चाहिए। शाकों का सब भाग हमारे काम का नहीं होता। मोटे-मोटे डंठल, तना, जड़ इत्यादि भाग अधिक रेशेदार (कोशाधु) होते हैं। इसलिए इनको निकलवाकर अवशिष्ट भाग को चीरना चाहिए। शाकों में स्नेह कम रहता है। इसलिए वे तेल या घी पर बनायी जाती है। इनको भी अधिक पानी में न (पृष्ठ ८४) पकाकर आवश्यक पानी में या भाप पर पकाना चाहिए। ताजी शाक प्रायः अपने भीतर के पानी से ही पक जाती हैं, क्योंकि उनमें ९०% तक पानी ही रहता है।

---

१. हिमानिलोष्णदुर्वातव्यालालादिदूषितम्।
जन्तुजुष्टं जलेमग्नमभूमीजमनार्तवम्॥
धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम्॥
प्रायेण फलमप्येवम्॥ अष्टांगहृदय॥

प्रधान शाक-पत्तियों का संघटन

नाम	पानी	प्रोभू.	स्नेह	प्रांगो.	खनिज.	जी. क	जी. ख	जी. ग
पालक	८४·	·१२	१·०	११·६८	३·२	३+	३+	३+
पातगोभी	९४·४	१·८	०·४	६·९	१·३	३+	२+	३+
फूल गोभी	९०·७	२·२	०·४	५·९	०·८	+	+	२+
टोमाटो	९४·३	० ९	०·४	३·९	० ३	२+	३+	३+
भिंडी	९०·४	१·९६	१·४	५·७२	०·८	—	+	+
वैंगन	९३·९८	०·८९	० ९४	३·४८	०·२६	—	+	+
मूली	९९·०	१·६२	०·३६	५·६	१·४४	—	+	२+
मूली पत्ती						—	+	३+
गाँठगोभी	९२·८	०·६२	२२·०	४·०	०·९	—	+	+
सेम	७७·०	९·०५	०·२३	१५·४	१·२८	२+	३+	३+
शलगम	९० ३	०·९	० १५	६·८	०·८	—	२+	२+

विलायती घास (Alfalfa, lucerne)—इसका उपयोग मुख्यतया जानवरों को खिलाने के लिए किया जाता है। परन्तु मनुष्यों के लिए भी यह घास हितकर होता है। मेथी के साग के समान यह घास है। इसमें क, ख, ग, घ, ङ और ट ये सब जीवतिक्तियाँ प्रचुरता से विद्यमान रहती हैं। सन्त्रे के रस से पाँच गुना अधिक ग इसमें होती है। यदि इसकी पत्तियाँ सूर्यप्रकाश में सुखायी जायें तो उनमें घ जीवतिक्ति भी अधिक बनती है। जीवतिक्ति ट का तो यह घास प्रधान निकास (पृष्ठ ७२) है। इसकी पत्ती का उपयोग हरी धनिया की पत्ती के तौर पर चटनी, रायता, कचूमर, तरकारी इत्यादि में डालने के लिए कर सकते हैं।

पालक (Spinach)—इसमें अयस् बहुत होता है और १०० धान्य पालक में २६००–३५०० अंतर्राष्ट्रीय एकक जीवतिक्ति क के, ७० एकक ख१ के और ४८ एकक ग के होते हैं। इसमें पालकाम्ल (Folic acid) संयुक्तावस्था में रहता है। अयस् और पालकाम्ल के कारण यह साग रक्तक्षय में बहुत हितकर होती है।

टोमाटो—इसको विलायती वैंगन भी कहते हैं। विलायती करके प्रारंभ में लोग इसको निषिद्ध मानते थे। परन्तु अब इसका बहुत प्रचार बढ़ गया है। पालक के समान टोमाटो बहुत हितकर साग है। इसको बिना पकाये खा सकते हैं एवं अन्य सागों में भी डाल सकते हैं। कच्चे फल तरकारियों में डालने के लिए और पके फल कच्चे खाने के लिए, रस निकालने के लिए, कचूमर, चटनी इत्यादि के लिए बहुत अच्छे होते हैं। पक्के टोमाटो छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर उनमें

नमक, हरियल मिरचा के टुकड़े तथा धनिया की पत्ती, नारियल की गरी का लच्छा, नीबू का रस इत्यादि डालने से ये कचूमर के रूप में वहुत रुचिकर, अग्निदीपक और स्वास्थ्यवर्धक होते हैं। टोमाटो में क, ख, ग जीवतिक्तियाँ तथा चूना, अयस् आदि खनिज होने से वातवलासक, प्रशीताद, अस्थिवक्रता इत्यादि रोगों में बहुत उपकारक होते हैं। टोमाटो की जीवतिक्तियाँ ताजे फलों में ही नहीं, सूखों में भी विद्यमान रहती हैं। इसलिए इनको सुखाकर रख सकते हैं।

फलवर्ग (Fruits)

खाद्य द्रव्यों में फल भी अपनी विशेषता के कारण वहुत महत्व रखते हैं। इसलिए यद्यपि दैनिक भोजन[1] से नहीं तथापि दैनिक आहार्य द्रव्यों में जिन जिन ऋतुओं में जो फल उत्पन्न होते हैं उन उन फलों का समावेश जरूर होना चाहिए। फल सदैव ताजे और पके खाने चाहिएँ और खाने से पहले अच्छी तरह धो लिये जाने चाहिएँ। फलों की निम्न विशेषताएँ होती हैं—

(१) फलों को कच्ची अवस्था में सेवन किया जाता है। इसलिए उनके सब रासायनिक उपादान हमको नैसर्गिक अवस्था में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। दूध और कुछ कंद-मूलों को छोड़कर सब खाद्य द्रव्य हम पकाकर खाया करते हैं। जिससे उनमें अनेक परिवर्तन होकर पौष्टिकता की दृष्टि से वे घटिया हो जाते हैं। दूध और तरकारियों को कच्ची अवस्था में खाने में वहुत सावधानी से काम करना पड़ता है क्योंकि वे जल्दी दूषित किए जा सकते हैं या रहते हैं। फलों में इस प्रकार का डर वहुत कम होता है। वहुतेरे फलों पर मोटा छिलका रहता है जो निकाल कर फेंक दिया जाता है। इसलिए अण्डे की तरह फल मुहर लगे हुए वस्तु के समान सुरक्षित होते हैं। केवल खरीदते समय उनको ठीक देख-भाल करके लेना चाहिए।

(२) फलों में पौष्टिकता वहुत होती है और उसके साथ रुचि भी। इसके अनुसार फलों के दो विभाग किए जाते हैं—अन्न फल (Food fruits) और

---

१ आयुर्वेद के अनुसार फलों का सेवन दैनिक होना चाहिए तथा भोजन के साथ। भोजन की जो परोसने की व्यवस्था वतायी गयी है उसमें फलों का स्थान निम्न प्रकार से वताया गया है—

फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च।
तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ॥ सुश्रुत ॥

स्वाद फल (Flavour fruits)। आम, खजूर, द्राक्षा, अंजीर, केला, पपीता ये अन्नफल के और नीबू, संतरा, मोसंबी, नारंग ये स्वाद फल के उदाहरण हैं। फलों की पौष्टिकता उनके प्रांगोदीयों पर निर्भर होती है। इसको फलशर्करा (Fruit sugar) या वामधु (Laevulose) कहते हैं। कच्चे फल की अपेक्षा पक्के फल में यह अधिक होती है, क्योंकि पक्वावस्था में फलों में विशेष रासायनिक परिवर्तन होकर तद्गत खट्टे और कसैले द्रव्य कम होकर मीठे द्रव्य बढ़ते हैं। फलों की शर्करा एकशर्करेय (Monosaccharide) वर्ग की है। सपूर्ण प्रांगोदीयों का तथा अन्य पिष्टमय पदार्थों का पाचन होने पर उनका परिवर्तन एकशर्करेय में होता है। इसका अर्थ यह है कि फलों के प्रांगोदीयों का आँतों में पाचन होने की आवश्यकता ही नहीं होती, सेवन करने पर उनका केवल प्रचूषण होता है। इसलिए पक्व फल पौष्टिक तथा पचनसुलभ होते हैं। अपक्व फल भी पौष्टिक होते है, परन्तु उनका प्रांगोदीय एकशर्करेय में परिवर्तित न होने के कारण तथा खट्टे और कसैले अन्य द्रव्यों के कारण वे थोड़े दुष्पाच्य और दुष्प्रचूष्य होते हैं। मधुमेहियों को फल दे सकते हैं।

(३) फलों में अनेक शाकाम्ल (पृष्ठ ६६) और उनके क्षारातु, दहातु, चूर्णातु इत्यादि के लवण बहुतायत में पाए जाते हैं। रक्त की क्षारीयता बनाये रखने के लिए ये अत्यन्त आवश्यक होते हैं और दूसरे खाद्य द्रव्यों से नहीं मिलते। इनके सेवन से मूत्र भी क्षारिय हो जाता है। इसलिए मूत्र के रोगों में जहाँ पर मूत्र क्षारिय बनाने की आवश्यकता होती है, इनका सेवन हितकर होता है।

(४) फलों में ग जीवतिक्ति की भरमार होती है। इनमें नीबू, संतरा, मोसंबी आम, टोमाटो, आंवला प्रधान हैं। यह जीवतिक्ति उष्णता से नष्ट हो जाती है। इसलिए साग-सब्जियों में जो इसका अश होता है वह हमको उनके पकाने से पूर्णतया नहीं मिल सकता। फलों के ताजे और कच्चे सेवित होने पर यह द्रव्य हमको आवश्यक मात्रा में मिल सकता है। प्रशीताद (Scurvy) तथा शैशवीय प्रशीताद में तथा उनके प्रतिषेध की दृष्टि से फलों का सेवन बहुत आवश्यक है। रखने पर फलों का प्रतिशीतादक गुण नष्ट होता है। इसलिए डब्बों में परिरक्षित (Preserved) फलों में यह गुण प्रायः नहीं रहता।

केला—केला अन्न फल है। तीन चार पके केले और सेर भर दूध एक समय का पूरा भोजन बनाते हैं। केले की असख्य जातियाँ हैं। पके केले में १·१५% प्रोमूजिन, १% स्नेह और २०% के लगभग शर्करा होती है। केले को सुखाकर उसका पिसान भी बनाकर रख सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर

उसको दूध या पानी के साथ सेवन कर सकते हैं। केले के आटे में ४% प्रोभूजिन, ०.५% स्नेह, ८०% प्रांगोदीय २.५% खनिज होते हैं। दूध और चीनी या गुड़ से बनाई हुई पके केले की 'शिखरन' बहुत पौष्टिक खाद्य है जिसका उपयोग दाल के समान रोटी के साथ कर सकते हैं। कच्चा केला कसैला होता है और उसकी तरकारी भी की जाती है जो अतिसार, प्रवाहिका इत्यादि पतले दस्त होनेवाले आन्त्रविकारों में हितकर होती है।

अनानस (Pineapple)—यह एक बहुत स्वादिष्ट और रसीला फल है। और फलों के समान इसके भी गुण होते हैं। परन्तु विशेषता यह है कि इसके रस में प्रोभूजिनों का पाचन करनेवाला अन्तःकिण्व रहता है जो आमाशय की अम्ल प्रतिक्रिया में तथा आंत्र की क्षारिय प्रतिक्रिया में पाचन का काम कर सकता है। १०–१५ ग्रेन सूखी शुक्ति को इसका ८ तोला रस ४ घण्टों में पूर्ण रूप से पाचित कर सकता है।

संतरा, नारङ्गी—यह मधुर, रुचिकर, शीतल, अग्निदीपक, अरुचि, वमन इत्यादि व्याधियों के लिए हितकर होता है। इनमें जीवतिक्ति ग विशेष रूप से होती है। इसलिए प्रशीताद की चिकित्सा में इनका रस बहुत उपयोगी होता है। इनका छिलका सुगंधी और अग्निदीपक होता है। इनके रस में १०.९% ठोस भाग होता है जिसमें १.७ निम्बविक (Citric) अम्ल, ७.६ शर्करा; ०.५२ लवण और ०.०२७ भास्विक (Phosphoric) अम्ल होता है।

नीबू—इसके रस में अनेक वानस्पतिक अम्ल तथा दहातु, क्षारातु के लवण विद्यमान रहते हैं। यह शीतल, तृषाशामक, अग्निदीपक है। गर्मियों में तथा थकावट में चीनी के साथ बनाया हुआ इसका शर्बत बहुत ही तृषाशामक और श्रमहारक होता है। प्रशीताद तथा आमवात में इसका रस विशेष उपयोगी होता है। नीबू के रस के प्रभाव से विसूचिका तथा आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, इसलिए जब विषूचिका[1] और आंत्रिकज्वर जारी रहता है उस समय पीने के पानी में नीबू का रस डालकर पीना पथ्यकर है।

नीबू का रस अग्नि-दीपक है, इसलिए जिनकी पाचक-शक्ति दुर्बल है उनके लिए भोजन करने पर नीबू का सेवन पथ्यकर है। नीबू का रस पाचक-रस को भी

---

१. मन्दानले वद्धगुदे प्रदेय विषूचिकायां मुनयो वदन्ति ॥ भावप्रकाश ॥
जंबीरः कफवातघ्नः कृतघ्नो भुक्तपाचनः ॥
रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगंधिर्मुखशोधनः ॥ चरक ॥

उत्तेजित करता है, इसलिए मांस, मछली तथा अन्य खाद्य द्रव्यों में डालने से उनके पचन में सहायता करता है।

आँवला—आँवले में जीवतिक्ति ग (C) इतनी अधिक होती है कि उसको जीवतिक्ति ग का भण्डार कह सकते हैं। [पीछे पृष्ठ ७५ भी देखिये।]

आँवले का संगठन

जल	८१·२%	भास्वर	०·०२
प्रोभूजिन	०·५	अयस्	०·०२
स्नेह	०·१		
प्रांगोदीय	१४·१		
चूना	०·०५		

गुण की दृष्टि से आँवले के सम्बन्ध की निम्न कहावत ध्यान देने योग्य है—'गुरुजनों की बात का और आँवले के स्वाद का पता बाद में लगता है।'

आम—इस फल को आम्रफल या अमृतफल कहते हैं। सामान्यतः फलों का सेवन गरीबों से नहीं हो सकता, क्योंकि वे बहुत महँगे होते हैं, तथापि आम एक ऐसा फल है कि जिसका सेवन क्या गरीब और क्या अमीर, सभी कर सकते हैं। इसकी बराबरी करनेवाला ससार में दूसरा फल नहीं है। सब फलों का यह राजा है और जैसा मधुर है वैसा ही गुणप्रद है। कच्चे आम का संघटन—

जल	९०·६९	खनिज	०·२७
प्रोभूजिन	०·५६	अम्ल भाग	१·१३
प्रांगोदीय	३·३८		

कच्चे आम के इन सब उपादानों में खट्टापन ही आम की विशेषता है। इसमें न्यासविक, निम्बविक, उत्कोलिक (टार्टरिक, सैट्रिक और मेलिक) अम्ल विद्यमान होते हैं। कच्चा आम चटनी, खटाई, लौंजी इत्यादि के काम में आता है और यदि ताज़ा हो तो नमक के साथ भी खाया जाता है। आम को भूनकर उसमें पानी और चीनी डालकर पन्ना या झोल बनाया जाता है जो बहुत रुचिकर होता है। गरमी के मौसिम में जब कड़ी लूह (Hot winds) चलती है तो गरमी का सन्ताप मिटाने के लिए लोग आम का नमकीन और मीठा पन्ना काम में लाते है। जब किसी को लूह लग जाती है तब भुने आम का गूदा उसके शरीर में मलने से तथा उसका पन्ना पिलाने से रोगी को आराम होता है। कच्चे आम में प्रशीताद नाश करने की शक्ति (पृष्ठ ७५) है। कच्चा आम आमाशय में अम्लत्व की वृद्धि करता है,

इसलिए अम्लपित्त के तथा गला, कण्ठ और फुफ्फुस के रोगियों के लिए इसका सेवन हानिकारक है।

इसको काटकर सुखाकर आमचूर बनाते हैं। इसमें भी प्रशीतादनाशक गुण होता है।

पके आम का संघटन

प्रोभूजिन	१·२०	खनिज	१·२२
स्नेह	०·७५	जल	७५·५०
प्रांगोदीय	१७·५८	रेशा	३·७३

पका हुआ आम बड़ा पौष्टिक और बलवर्धक है और दूध के साथ खाने से उसके ये गुण और भी बढ़ते हैं। जिनको कब्ज रहता है, कठिनाई से शौच होता है उनके लिए आम पथ्यकर है, क्योंकि आम दस्तावर है। इस कारण से दस्त, मरोड़, अतिसार इत्यादि रोगों से पीड़ित लोगों को पका आम खाना हानिकारक है।

दाडिम (अनार)—इसके रस में शल्किक (ट्यानिक) अम्ल तथा शल्कीय (ट्यानेट) और शर्करा होती है, इसलिए इसका रस कषाय मधुर होता है। इसके छिलके में भी ये द्रव्य और पेलेट्राईन (Pelletieriene) नामक एक क्षाराभ (अलकलाईड) विद्यमान रहता है, जिसके कारण अतिसार प्रवाहिका तथा स्फीत क्रिमियों के लिए यह फल बहुत उपकारक होता है। बेदाना एक प्रकार का बढ़िया काबुली अनार ही है।

द्राक्षा और मुनक्का—द्राक्षारस में द्राक्षाशर्करा, दहातु द्विन्यासविय (वायटार्टरेट) चूने का न्यासविय, उत्कोलिक अम्ल और जल होते हैं। द्राक्षा बहुत पथ्यकारक, शीतल दस्तावर और तृषाशामक है। द्राक्षा के सेवन में उसकी छाल तथा बीज न खाने चाहिएँ। सूखी द्राक्षा को मुनक्का (Resins) कहते हैं। इनमें शर्करा ज्यादा और अम्ल कम होता है। दूध के साथ लेने से मुनक्का दस्तावर होती है।

पपीता (Papaya)—यह बहुत रुचिकर, खुशबूदार और स्वादिष्ट फल है और इसके गुण भी अधिक हैं। पपीते के पेड़ के स्कंध, पत्र और फल से एक प्रकार का दूध जैसा रस विद्यमान रहता है, जिसको पपयोटिन (Papyotin) कहते हैं; और इससे पपयिन (Papain) नामक एक द्रव्य स्वतन्त्र बना है जो प्रोभूजिन, प्रांगोदीय और स्नेह को पचन करने में सहायभूत होता है। इसकी पाचनशक्ति इतनी तीक्ष्ण होती है कि २ रत्ती पपयिन आधे घण्टे में ·५० तोला दूध हजम कर

सकता है। सिवा पपयिन के प्रोभूजिनादि तीनों पर प्रभाव डालनेवाला कोई पाचक पदार्थ अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। इसलिए अग्निमांद्य, मलावरोध, अम्ल-पित्त इत्यादि रोगों में पपीता[1] बहुत फायदेमन्द होता है। कच्चे पपीते की तरकारी होती है, और यदि मांस के साथ पका दिया जाय तो मांस जल्दी हजम हो जाता है। स्त्रियों को गर्भावस्था में इसका सेवन न करना चाहिए, क्योंकि इसके सेवन से गर्भपात होने की सम्भावना होती है।

बिल्वफल—कच्चा फल ग्राही होने के कारण अतिसार प्रवाहिका में अत्यन्त उपयोगी[2] है। इसका मुरब्बा भी करके खाते हैं और प्रवाहिका में उपयोगी होता है।

पक्व बेल का शरबत बनाकर गर्मियों में प्रयुक्त होता है। इसमें थोड़ा सारक (Laxative) गुण है और गर्मियों के अधिक पानी पीने से आन्त्र में जो गड़बड़ी होती है उसको दूर करने का भी सामर्थ्य है।

मेवे या सूखे फल (Nuts and dry fruits)

सूखे फलों या मेवों में पौष्टिकांश बहुत रहता है। इनका सामान्य संघटन प्रोभूजिन—१५-२०%, प्रांगोदीय ५० से ६०%, स्नेह ९-१२%, ३ से ५% तक रेशा १% खनिज और ४ से ५% तक पानी। प्रोभूजिन और स्नेह ज्यादा होने के कारण इनकी पौष्टिकता मांस के बराबर होती है। इनमें शर्करा जातीय द्रव्य कम होने के कारण मधुमेहियों के लिए ये पथ्यकर हैं। इनको खूब चबाकर खाना चाहिए, नहीं तो ये दुष्पाच्य होते हैं। फलों में यद्यपि प्रतिशीतादक (Antiscorbutic) द्रव्य विद्यमान होते हैं तथापि उनको सुखाने और रखने से वे नष्ट होते हैं। इस वर्ग के प्रधान मेवे—नारियल, पिस्ता, बादाम और अखरोट हैं।

नारियल—नारियल पौष्टिक खाद्य है। इसकी गरी में रेशादार भाग (कोशाधु) तथा स्नेह भाग ज्यादा होने के कारण दुष्पाच्य होता है। निष्पीडन से जो सफेद दूध गरी से निकलता है उसको 'मुठेल' कहते हैं और पौष्टिकता की दृष्टि से यह मछली के (काडलिव्हर) तेल के समान क्षय में उपयुक्त होता है।

---

१. पपयाऽग्निसमा चोष्णा वह्निकृत् पाचनी लघुः।
अग्निमांद्यमम्लपित्तमजीर्णं च विनाशयेत्॥

२. श्रीफलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तजित्॥ भावप्रकाश॥

नारिकेल जल[1]—गरम देशों में नारिकेल का जल बड़ा ही उपकारी है। तृषितों की प्यास और थके-माँदे की थकावट दूर करने लिए यह अपना सानी नहीं रखता। इसमें नीचे दिए हुए उपादान मिलते हैं।

जल	९२ · ३२	प्रांगोदीय	६ ·२०
प्रोभूजिन	० · ९०	खनिज	० ·२६

इसमें स्नेहजातीय कोई द्रव्य नहीं है। यह जल आँतों में सबका सब प्रचूषित हो जाता है। अम्लपित्त में यह बड़ा पथ्यकर है। ज्वर में तथा विषूचिका में रोगी की प्यास शान्त करने के लिए इसका उपयोग होता है। यह जल मूत्रल है, इसलिए पथरी, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, सूजाक इत्यादि मूत्र के रोगों में पथ्यकर है। मजबूत कवच में हवा बन्द रहने के कारण यह जल अनुपसृष्ट रहता है, परन्तु नारियल को देखकर लेना चाहिए। पानी के लिए डाभ (कच्चा नारियल) अच्छा होता है।

पिस्ता—पिस्ता बहुत पौष्टिक और सुपाच्य है, तथापि उसका सेवन अधिक मात्रा में न करना चाहिए।

बादाम—इसके कड़वे और मीठे दो प्रकार होते हैं। कड़वे बादाम का सेवन न करना चाहिए, क्योंकि उसमें आम्रातामि (Amygdalin) नामक एक सत्व होता है जिससे विषैला उदश्यामिक (HCN) अम्ल बनता है। मीठा बादाम मधुमेही रोगी के लिए पथ्यकर है।

सिंघाड़ा (पानीफल)—यह कच्चा या पकाकर खाया जा सकता है तथा सुखाकर रक्खा जा सकता है। दूध के साथ इसके पिसान की बनायी हुई खीर रोगियों तथा रोगनिवृत्तों के लिए बहुत अच्छा हलका खाद्य होता है।

ताजे और सूखे फलों का संघटन

नाम	प्रोभू	स्नेह	पांगो	खनिज	जीव-क	जीव-ख	जीव-ग
१ अनानस	०·५	०·२	१३·०	०·३	+	—	++
२ अमरूद	०·२५	०·६२	९·१	०·२	—	+	++
३ अंगूर	१·०	१·०	१५·५	१·०	—	+	—
४ अनार	१·५	१·६	१६·७	०·६	—	+	+
५ अंजीर (सूखे)	१·८	०·५	५०·०	०·६	—	+	—

[1] नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु।
तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥ वाग्भट ॥

६ आम पक्व	१·५	०·६	२०·७	०·५७	+	—	++
७ अखरोट	१५·५	६०·०	१३·०	१·७	—	++	—
८ पपीता	०·५	०·३	१२·३	०·५	+	+	++
९ वादाम	२१	५५	१७	२·३	—	++	—
१० मूँगफली	२४·५	५०	१२	१·८	—	++	—
११ सेव	०·४	०·५	१२·५	१·०	+	+	+

गुड़ और शर्करा

वृष्याः क्षतक्षीणहिता रक्तपित्तानिलापहाः।
मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः॥ वाग्भट॥

सारस्थिता सुविमला निक्षारा च यथा यथा।
तथा तथा गुणवती विज्ञेया शर्करा बुधैः॥ सुश्रुत॥

गुड़, खाँड तथा शक्कर गन्ने के रस से बननेवाले पदार्थ हैं। आजकल शर्करा वीटरूट (Beet root), म्यापल वृक्ष (Maple tree), ताड़ खजूर इत्यादि से भी बनायी जाती है। शर्करा में ९४-९९% शर्कराधु (Saccharose) होता है। गुड़ इत्यादि अशुद्ध शर्करा जातीय पदार्थों में भूयात्य (Nitrogenous) पदार्थ होने के कारण वे सड़ने लगते हैं। शुद्ध शर्करा सफेद स्फटिकाकार, सूखी और पूर्ण रूप से जलविलेय होती है। शर्करा उत्तेजक और शक्तिदायक है तथा थकावट में सेवन करने से शीघ्र उसको दूर करती है। आंतों में शर्करा मधुम और वामधु (Glucose and Levulose) में परिवर्तित होकर उसी रूप में शोषित होती है और इसका जरूरत से ज्यादा भाग यकृत में मधुजन (Glycogen) के रूप में संचित रहता है। थकावट दूर करने के लिए शर्करा जैसा दूसरा पदार्थ नहीं है। इस कारण से थकी-मांदी अवस्था[१] में गुड़ या चीनी और पानी अतिथि को देने की जो प्रथा प्राचीनकाल से है यह अत्यन्त शास्त्र-शुद्ध है। इसका उपयोग मिठाई तयार करने में बहुत होता है।

गुड और शर्करा में अन्तर—यद्यपि दोनों का मुख्य द्रव्य शर्करा ही है तथापि शर्करा में सब शर्करा द्विशर्करेय (Disaccharide) जाति की होती हैं जिसका पाचन मधुम (Glucose) नामक एकशर्करेय में होने पर ही पेशियों को वल प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत गुड में २१% मधुम होता है जिसके कारण उसका

---

१. सिता हिमा सरा वृष्या वलतृप्तिकरा लघु।
तृट्क्लमश्रमपित्तास्रदाहमोहानिलापहा॥

सेवन होते ही पेशियों को बल प्राप्त होता है। इसलिए थकावट में शर्करा की अपेक्षा गुड़ अधिक शीघ्रता से बलदायक होता है। दूसरा भेद यह है कि गुड़ में लगभग ३% तक चूना, भास्वर (Phosphorus), अयस् (Iron) ताम्र इत्यादि खनिज होते हैं। संक्षेप में शुद्ध स्वच्छ चावल के समान (पृष्ठ ८४) शुद्ध स्वच्छ चीनी स्वास्थ्य की दृष्टि से गुड के समान हितकर नहीं होती।

गुड और शर्करा का संघटन

घटक	चीनी	गुड
इक्षुशर्करा	९९.७	५९.७१
मधुशर्करा	०	२१.२७
खनिज	०.०२	३.३६
जलांश	०.०४	८.८६

यद्यपि शर्करा इतनी गुणदायक है तथापि इसका अतिसेवन अम्लपित्त[1] आंत्रगत मधुममेह (Alimentary glycosuria), मधुमेह तथा मेदोवृद्धि उत्पन्न करता है। मांस के साथ शर्करा का सेवन हानिकारक है, क्योंकि मांसाहार से शरीर में जो मिहिक अम्ल (युरीक एसिड) पैदा होता है उसके उत्सर्जन में शर्करा बाधा डालती है। इस कारण से वातरक्त में तथा उपर्युक्त कारण से अम्लपित्तादि रोगों में शर्करा सेवन निषिद्ध है।

मधु

नानापुष्पप्रकाराणां रससारात्मकं मधु।
तद्युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून् ॥ हारीत।
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु। सुश्रुत।

यह शर्करायुक्त, खाद्य-पदार्थ है जिसे कि मधुमक्खियाँ फूलों की मिठास को लेकर अपने छत्तों में इकट्ठा करती हैं।

मधु का संघटन

जल	१७.७%	द्राक्षमधु	३४.०२%
इक्षुशर्करा	१.९%	वामधु	४०.५%
दक्षि	१.५१%	खनिज	०.१८%

---

१. शालिपिष्टमयं सर्वं गुरुभावाद्विदह्यते ॥

खनिजों में लोहक (Manganese), अयस् (Iron) और ताम्र अत्यल्प मात्रा में उपस्थित रहते हैं। मधु में चारों जीवतिक्तियाँ भी अल्पांश में विद्यमान रहती हैं, परन्तु उनकी राशि भिन्न-भिन्न मधु में भिन्न-भिन्न हुआ करती है। इनके अतिरिक्त मोम, पुष्पराग, रंग, सुगन्धी द्रव्य, वम्रिक (Formic) अम्ल इत्यादि द्रव्य भी मधु में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होते है। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर मधु में पुष्प पराग दिखाई देते हैं। चतुर लोग मधु में कृत्रिम दक्षधु, चीनी, पिष्टी (Starch) इत्यादि द्रव्यों की मिलावट करते हैं और शुद्ध बताने के लिए उसमें छत्ते के कुछ टुकड़े मिला देते हैं।

मधु की विशेषता यह है कि उसमें दक्षधु (Dextrose) और वामधु (Levulose) नामक दो एकशर्करेय, शर्कराधु (Saccharose खाने की चीनी या शर्करा) से बहुत होते हैं जो बिना पाचित हुए आँतों से प्रचूषित हो जाते है। इसलिए मधु शीघ्र बलदायी द्रव्य है और इसका उपयोग शरीर-दौर्बल्यकर ज्वरादि रोगों में बहुत उपकारक होता है। बच्चों के पोषण के लिए भी यह बहुत लाभदायक है।

मधु शर्करा वैसी विदाही नहीं है। मधुमेह से पीड़ित रोगियों के लिए भी यह बहुत पथ्यकारी होती है। इसमें वम्रिक अम्ल होने के कारण श्वासनलिका-शोथ में भी यह पथ्यकर है। इसमें थोड़ा सारक गुण है और बच्चों के लिए यह ठीक दस्तावर दवा है।

मांस वर्ग और वनस्पति वर्ग की तुलना

१. वनस्पति वर्ग में खाद्य-द्रव्यों की जितनी विविधता, विपुलता, और रुचि-वैचित्र्य होता है, उतनी विविधता, विपुलता और रुचिवैचित्र्य मांस वर्ग में नहीं पाया जाता।

२. वनस्पति वर्ग में खाद्य-द्रव्यों के सर्व उपादान तथा जीवतिक्तियाँ बहुतायत से पायी जाती हैं। प्रांगोदेय वनस्पतिवर्ग में अधिक मात्रा में और प्रोभूजिन कम मात्रा में पाए जाते हैं। मांसवर्ग में प्रोभूजिन अधिक मात्रा में और प्रांगोदीय बहुत कम या नहीं पाए जाते। सक्षेप में वनस्पत्याहार पूर्णाहार है, मांसाहार पूर्णाहार नहीं हो सकता।

३. कोशाधु जैसा दुष्पाच्य पदार्थ वनस्पतिवर्ग में अधिक होने के कारण मांसाहार की अपेक्षा वनस्पत्याहार अधिक मात्रा में सेवन करना पड़ता है।

४. वनस्पत्याहार का पचन आँतों में होता है, मांसाहार का पचन अधिकांश में आमाशय में होता है। वनस्पत्याहार मांसाहार की अपेक्षा पचने में भारी होता है।

५. मांसवर्ग के द्रव्य पचने में हल्के तथा शीघ्र प्रचूषित होने वाले हैं। इसलिए मांसाहार से मनुष्य को फौरन स्फूर्ति मालूम होती है। वनस्पत्याहार देर से हजम होने के कारण स्फूर्ति जल्दी नहीं मालूम होती।

६. शाकाहार शरीर के लिए बल (Strength) और मांसाहार ऊर्जा (Energy) प्रदान करने वाला है। इसलिए शाकाहारी अधिक बलवान् (जैसे हाथी) और मांसाहारी अधिक ऊर्जस्वल (Energetic, Vigorous) जैसे व्याघ्र, सिंह होते हैं। बल मांसपेशियों का गुणधर्म है और शाकाहार से उनको खाद्य मिलता है। ऊर्जा मस्तिष्क संस्थान का गुणधर्म है और मांसाहार उसको उचित खाद्यद्रव्य देता है। लगातार काम (Contineously) करना यह पेशियों का कार्य है, परन्तु उनसे फौरन, तुरन्त थोड़े समय में बहुत काम लेना यह मस्तिष्क संस्थान का कार्य है। इसलिए जहाँ फौरन काम करने की जरूरत होती है वहाँ पर मांसाहारी शाकाहारी से अधिक सफल होता है। इसके विपरीत जहाँ पर लगातार काम करने की जरूरत होती है वहाँ मांसाहारी की अपेक्षा शाकाहारी अधिक सफल होता है।

७. वनस्पतिज खाद्य-द्रव्यों में मिहकों (Purin) नामक विषद्रव्य बहुत ही कम विद्यमान होता है, इस कारण वनस्पत्याहार मांसाहार की अपेक्षा स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक पथ्यकर है।

८. मांस से शरीर में मिहिक अम्ल बहुत तयार होता है। इस अम्ल को शरीर से बाहर निकाल देने का काम वृक्कों का है, इस कारण से मांसाहार लगातार सेवन करने से वृक्क खराब होने की सभावना होती है। यदि इससे मिहिक अम्ल (युरिक एसिड) बाहर फेंकने का काम ठीक-ठीक न होने पाया तो यह विष शरीर में इकट्ठा होकर वातरक्त (Gout) जैसा भयंकर रोग पैदा करता है। वनस्पत्याहार से ऐसा रोग होने की संभावना नहीं होती।

९. वनस्पतिवर्ग के खाद्यद्रव्य जल्दी सड़ते नहीं, सुखाकर दीर्घकाल रक्खे जा सकते हैं तथा उनके अपने कोई उपसर्ग नहीं होते जो मनुष्यों पर संक्रान्त होते है। मांसाहार के द्रव्य जल्दी सड़ते हैं। सुखाकर दीर्घ काल तक रख नहीं सकते तथा उनके भीतर अनेक तृणाणुओं और कृमियों के उपसर्ग (पृष्ठ ९२) होते हैं जो उनके सेवन से मनुष्यों पर सक्रान्त होते हैं।

१०. मांसाहार सामान्यतया ९०% प्रचूषित हो जाया करता है और उसमें पाचक रस को उत्तेजित करने की शक्ति है। शाकाहार में दुष्पाच्य भाग ज्यादा है और पाचक रस को उत्तेचित करने की शक्ति मांसाहार से कम है, जिससे शाकाहार का

पचन करनेमे पाचन-संस्थान पर बड़ा भार पड़ता है। इसलिए अग्निमांद्य, आध्मान, अम्लपित्त इत्यादि पचन संस्थान के रोग शाकाहार के लगातार सेवन करने से उत्पन्न होते हैं। मांसाहार से आँतों में त्याज्य भाग बहुत ही थोड़ा रहता है, इसलिए आँतों में चलन क्रिया बहुत कम होकर मलावरोध होने की संभावना बहुत रहती है। शाकाहार में कोशाणु जैसा दुष्पाच्य भाग बहुत होने के कारण मलावरोध नहीं होता।

११. वनस्पत्याहार की अपेक्षा मांसाहार से दाँत अधिक खराब होकर पूयदंत रोग (Pyorrhoea) होता है।

१२. मांसाहार से वनस्पत्याहार की अपेक्षा आँतों में सडन (Proteolytic fermentation) ज्यादा होती है। मेचनीकाफ और कोंब नामक शास्त्रज्ञों की (Metchnikoff and Kombe) यह राय है कि अकाल जरा आने का यह विघटन प्रधान (पृष्ठ १०९) कारण है।

१३. पकाने के वाद वनस्पत्याहार अधिक सुपाच्य और मांसाहार (पृष्ठ ८२) अधिक दुष्पाच्य हो जाता है।

१४. मानसिक श्रम करनेवालों के लिये मांसाहार की अपेक्षा वनस्पत्याहार अधिक पथ्यकर होता है। वनस्पत्याहार में बुद्धि की तीव्रता भी अधिक होती है।

१५. मांसाहारी की अपेक्षा वनस्पत्याहारी का स्वभाव सात्विक, स्थिर और शांत होता है।

१६ वनस्पत्याहारी की प्रतीकारक शक्ति (Resisting power) मांसाहारी की प्रतिकारक शक्ति की अपेक्षा कम रहती है, इसलिए वनस्पत्याहारी सामान्यतः सक्रामक रोगों के जल्दी शिकार वन जाते है।

१७. वनस्पत्याहार रोग की तीव्रावस्था (Acute stage) वात-रक्त, यकृत के रोग, नाड्यवसन्नता (Neurasthenia), धमनी जरठता (Sclerosis), तथा धमनी के दूसरे रोग वृक्कविकार इत्यादि रोगों में पथ्यकर है। मांसाहार क्षय, अग्निमांद्य, रोगावस्था की दुर्बलता, पांडुरोग, स्त्रियों की सगर्भावस्था और बच्चों को दूध पिलाने की अवस्था इत्यादि में पथ्यकर है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि केवल मांसाहार या केवल वनस्पत्याहार शरीर की प्रत्येक अवस्था में पथ्यकर नहीं होता। इसलिए इनके गुण-दोषों का पूर्ण विचार करके शरीर की अवस्था तथा आवश्यकता के अनुसार जिस प्रकार के

खाद्य द्रव्यों की जरूरत हो उनका सेवन करना चाहिए, जिससे शरीर का स्वास्थ्य[1] ठीक रहे।

शाकाहार निर्दोष कैसे हो ?

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्वास्थ्य की दृष्टि से केवल एक ही वर्ग के खाद्य द्रव्यों का सेवन सदोष होता है और मिश्राहार ही निर्दोष हो सकता है। भारतवर्ष वनस्पत्याहारी देश है और अधिकसंख्यक लोग वनस्पत्याहार पर अपना निर्वाह करते हैं। अतः भारतीयों के वनस्पत्याहार का प्राधान्य रखते हुए, जो प्राधान्य देशप्रकृति की दृष्टि से बहुत उचित है, वनस्पत्याहार को निर्दोष कैसे कर सकते हैं इसका यहाँ पर केवल दिग्दर्शन करना है। यह कार्य निम्न ३ प्रकार से कर सकते हैं—

(१) दूध और तज्जन्य पदार्थों के सेवन से—यद्यपि योरप के लोग दूध को मांसाहार में समाविष्ट करते हैं तथापि भारतीयों के शास्त्रानुसार उसका समावेश शाकाहार में होने के कारण शाकाहारी लोग उसका सेवन प्रचुर मात्रा में किया करते थे और कर सकते हैं। इसलिए दुग्ध-दुर्भिक्ष और धनाभाव के कारण वर्तमान काल में शाकाहार के जो दुष्परिणाम दिखाई देते हैं वे प्राचीनकाल में नहीं दिखाई देते थे और इस समय भी जो शाकाहार के साथ दूध का प्रचुर उपयोग करते हैं उनमें (जैसे—पजाबी) नहीं दिखाई देते हैं। शाकाहार को ठीक करने का यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इसलिए धनवानों को दूध का सेवन करना चाहिए और मध्यम वर्ग के लोगों को भोग-विलास की कुछ वस्तुओं को कम करके भोजन में दूध का समावेश करना चाहिए।

(२) मास, मछली और अण्डे के सेवन से—जो लोग इनको सेवन कर सकते हैं वे शाकाहार के साथ इनका सेवन करें। परन्तु इनका प्रमाण ⅓ से अधिक न होना चाहिए। शाकाहार का दोष दूर करने का यह मध्यम मार्ग है।

(३) वैदलों के सेवन से—जो लोग गरीबी के कारण न दूध ले सकते न धार्मिक या जीवदया की दृष्टि से मांसाहार को छू सकते वे प्रचुर मात्रा में वैदलों का सेवन करें। शाकाहार का दोष दूर करने का यह निकृष्ट मार्ग है।

---

१. तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्य येनानुवर्तते।
अजाताना विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥ चरक ॥

खनिज या पार्थिव वर्ग (Minerals)

पार्थिवानि तान्युपचयसघातगौरवस्थैर्यकराणि ॥ चरक ॥

शरीर के कुलठोस (Total solids) का $\frac{1}{5}$ भाग (२०%) खनिज द्रव्य होते हैं। शरीर की वृद्धि, विकास तथा अस्तित्व के लिये इनकी अत्यन्त आवश्यकता (पृष्ठ ६६) है। खनिज-द्रव्य-विहीन आहार अनाहार से भी शरीर का शीघ्र मारक होता है। ये सब द्रव्य शरीर के तमाम धातु, पाचक रस, स्राव इत्यादि में पाये जाते हैं। शरीर मे खनिज-द्रव्य करीब-करीब ३½ सेर होता है, उसमें से ८३% अस्थियों में और बाकी १७% दूसरे अवयवों में होता है। शरीर से प्रतिदिन बीस धान्य (डेढ़ तोला) खनिज-द्रव्य मलस्वरूप बाहर निकल आता है, फलतः उतने ही या उससे कुछ अधिक खनिज-द्रव्य की जरूरत शरीर को प्रतिदिन होती है।

लवण (Sodium chloride)—खनिज द्रव्यों में लवण सर्वप्रधान है। रक्त में यह ६०% होता है और सिवा दाँतों के कवच के (Enamel) तमाम धातु में पाया जाता है। समुद्र का अशुद्ध नमक नीरजी (Cl), दुराघ्री (Br), तरस्विनी जबुकी इत्यादि खनिज द्रव्य होने के कारण अधिक पथ्यकर है। नमक से ही जाठररस का उत्तेजन होकर, उसका उदनीरिक अम्ल (HCl) उत्पन्न होता है। पित्त के लवण उसी से बनते है। क्षारातु की ही सहायता से रक्त धातुओं में तयार हुए प्रां० द्विजारेय को सोखकर शरीर के बाहर फुफ्फुस में छोड़ देता है और अपनी और शरीर की शुद्धि करता है। यदि क्षारातु की राशि रक्त के जलांश में कम हो जाय तो यह काम ठीक तौर से नहीं होगा और स्वास्थ्य को हानि हो जायगी। इसी कारण से खून में नमक इतनी अधिक मात्रा मे मिलता है। शरीर के भीतरी कोशाओं में पोषक रस की जो अदला-बदली (Osmosis) होती रहती है वह भी नमक की सहायता से ही हुआ करती है। नमक खाद्यद्रव्यों में कुछ होता है, परन्तु उसकी राशि अल्प होने के कारण स्वतन्त्रतया उसका सेवन करना पड़ता है। प्रतिदिन मनुष्य को ६ से ८ धान्य (आधा तोला) नमक की जरूरत है और शाकाहारी को कुछ थोडी अधिक हुआ करती है।

वृक्कों के द्वारा शरीर के जहरीले पदार्थ बाहर निकलवाने में भी लवण बहुत सहायभूत होता है। तथापि अधिक मात्रा में इसका सेवन स्वास्थ्यहानिकारक है। इससे प्यास अधिक मालूम होती है और वृक्क प्रक्षुब्ध होकर (Irritate) शरीर में

शोथ पैदा होता है, इस कारण से शोथ, जलोदर इत्यादि शोथयुक्त विकारों में नमक का सेवन अपथ्यकर होता है।

दहातु (Potassium)—यह क्षार भी शरीर के तमाम धातुओं में पाया जाता है और इसके कार्य साधारणतया क्षारातु के समान होते हैं। यह क्षार कन्द-मूल और साग-सब्जियों से शरीर को मिलता है। इसका एक विशेष कार्य यह है कि यह क्षार शरीर की धमनियों को मृदु रखता है। इसकी कमी होने से धमनी की दीवाल में चूने का संचय (Calcification) होकर धमनी-जरठता (Arterio-sclerosis) नामक रोग पैदा होता है।

चूर्णातु (Calcium)—चूना यद्यपि शरीर के सब अवयवों में होता है, तथापि अस्थियों में सबसे ज्यादा होता है। शरीर में जितना चूना पाया जाता है उसमें से ९९.५% केवल अस्थियों में मिलता है। तस्मात् शैशवावस्था में, जो कि शरीर की वृद्धि और विकास का समय होता है, चूने की कमी से अस्थिवक्रता (Rachitis) और गर्भिणी और प्रसूत स्त्रियों में इसकी कमी से अस्थिमृदुता (Osteomalacia) हो जाती है। प्रतिदिन ½–१ धान्य चूने की आवश्यकता होती है। रक्त जब शरीर के बाहर आता है तो हवा के संसर्ग से वह एकदम जम जाता है। इस क्रिया में भी चूना ही सहायभूत होता है। यदि खून में इसकी कमी हो तो खून चिरस्रावी बनता है और जल्दी जम नहीं जाता। इसी कारण से जब शरीर के बाहर या भीतर रक्तस्राव होता है, या होने का डर रहता है तब चूने का प्रयोग किया जाता है। इन दो कामों के अतिरिक्त दाँतों का विकास, हृत्पेशी तथा अन्य पेशियों की सकोचशीलता, मस्तिष्क तथा नाडियों का प्रक्षोभनिवारण, केशिका प्राचीर की प्रवेश्यता इत्यादि अनेक कामों के लिए चूने की आवश्यकता होती है। इसकी कमी से इनका कार्य ठीक न होकर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। चूना दूध, अंडा, छेना, साग-सब्जियों से प्राप्त होता है। इनमें दूध सर्वोत्तम निकास है दूध के पश्चात् अण्डा। साग-सब्जियों में और दालों में जो चूना होता है वह दूध के समान प्रचूषित नहीं होता। शरीरगत चूने का समवर्त (Metabolism) जीवतिक्ति व (पृष्ठ ७१) अपरअवटुका ग्रन्थि (Parathyroid) और रक्तप्रतिक्रिया से बहुत सम्बन्धित है।

भास्वर (Phosphorus)—भास्वर तथा उसके संयोग नाडीसंस्थान तथा धातु–कोशान्यष्टियों (Cell-nuclei) के महत्व के संघटक होते हैं। इनके सिवा ये अस्थियों, गलग्रंथियों और जननग्रन्थियों में भी पाये जाते हैं। प्रतिदिन मनुष्य

को १-२ सहस्त्रिधान्य (मिलिग्राम) भास्वर की आवश्यकता होती है। गर्भिणी स्त्रियों और बालकों को अधिक भास्वर की आवश्यकता होती है। दूध, अण्डा, मांस, सेम, मछली, बादाम, मटर, यकृत्, पालक, ताजा पनीर, गेहूँ, इनसे भास्वर पाया जाता है। इसकी कमी से कृमिदन्त (Caries), अस्थियों की मृदुता, अस्थियों का ठीक न बनना, अस्थिवक्रता, रुद्ध विकास (Stunted growth) इत्यादि हड्डी और दाँत इनके विकार होते हैं।

अयस् (Iron)—अयस् रुधिरकायाणुओं (R B C) के शोणवर्तुलि (Hemoglobin) नामक रागक का महत्व का सघटक है। अयस् के बिना शोणवर्तुलि नहीं बन सकती तथा शोणवर्तुलि के बिना स्वास्थ्यरक्षा का काम (पृष्ठ १२) नहीं कर सकता। संपूर्ण शरीर में ३-३.५ धान्य अयस् की राशि है। उसमें २.४-२.७ धान्य राशि केवल रक्त में है। प्रतिदिन मनुष्य को १०-२० सहस्त्रिधान्य (Mg) अयस् खाद्य द्रव्यों के साथ सेवन करना पड़ता है। आलू, मटर, टोमाटो, सेम, पालक, प्याज, अंजीर, खजूर, अखरोट, बादाम, गरी, पिस्ता, गुड, अण्डा, मछली, यकृत्, वृक्क, दूध, सपूर्ण शूकधान्य, दालें इनसे अयस प्राप्त होता है।

तरस्विनी (Fluorine)—दन्तकवच, पृष्ठवंश की हड्डियाँ, कनीनिका (Iris) इनमें यह पाया जाता है। खाद्य द्रव्यों में शूक धान्यों से शरीर को इसकी प्राप्ति होती है।

नीरजी (Chlorine)—जठर रस के लिए, पाचक रसों को उत्तेजित करने के लिए तथा आसृतीय पीडन (Osmosis) का नियमन करने के लिए इसकी आवश्यकता होती है। यह द्रव्य अंडा, मछली, पालक, आनानस, नमक, टोमाटो, नारियल, केला, रोटी, पनीर, मट्ठा, गोभी, शाकपत्ती, अजवाइन (Celery) इत्यादि पदार्थों से शरीर को मिलता है।

जम्बुकी (Iodine)—अवटुका नामक गलग्रंथि के अंतःस्राव (Thyroxine of the thyroid) के लिए यह आवश्यक है। यह द्रव्य मछली तेल (काडलीवर) अण्डा, समुद्र मछली, सेम, माखन, गाजर, प्याज, पालक, बकरी का दूध (पृष्ठ १००) इत्यादि पदार्थों से मिलता है। इसकी कमी से (३९ पृष्ठ) गलगण्ड (Goitre) उत्पन्न होता है। प्रतिदिन ५.०० सहस्त्रिधान्य (Mg) जम्बुकी की आवश्यकता होती है।

पार्थिव द्रव्यों के शरीरगत कार्य—(१) शरीर के विशेष धातुओं की उत्पत्ति और वृद्धि में भाग लेना। यथा, अस्थि, दंत, रक्त के लाल कण इत्यादि।

(२) शरीर के रसों की उत्पत्ति में भाग लेना। यथा, जठररस इत्यादि। (३) शरीर के पाचक रसों को (Enzymes) उत्तेजित करना और उनका क्रम कायम रखना। जैसे, आमाशय रस से अग्न्याशयरस का उत्तेजित होना और उसी के सहयोग में काम करना। (४) रक्त के जमने में सहायता करना। (५) धातुओं का सड़ने से रक्षण करना। (६) रक्त की प्रतिक्रिया और गुरुता को एकसा रखना। (७) प्राणवायु के आकर्षण में पर्याय से रक्तशुद्धि में सहायता करना। (८) धातु कोशाओं के भीतरी जलांश का आवश्यकता के अनुसार स्थानान्तर करके (Osmosis) जलांश की समता रखना।

व्यंजन (Condiments)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ गीता।

मसाले, अचार, चटनी इत्यादि नमकीन, खट्टी तथा चरपरी चीजों की शरीर संचालन के लिए आवश्यकता नहीं है, न इनसे शरीर की वृद्धि और विकास होता है और न शक्ति उत्पन्न होती है। तथापि भोजन में इनके सेवन से रुचि उत्पन्न होती है, भूख ज्यादा लगती है, अन्न पचने में कुछ सहायता होती है और आँतों में जीवाणुनाशन का भी कुछ काम होता है। इसलिए अरोचक, अपचन, आध्मान, क्षुधानाश, इत्यादि में इनके सेवन से लाभ होता है। ये सब पदार्थ मस्तिष्कसस्थान गत विविध केन्द्रों को उत्तेजित करके उनकी सहायता से अपना काम किया करते हैं। इनके सेवन से पाचक रस अधिक मात्रा में उत्सर्गित होते हैं, आन्त्र का पुरःसरण (Peristalsis) अधिक होने लगता है और पचन तथा मलोत्सर्ग भी ठीक होता है। परन्तु स्वास्थ्य में इनकी क्या आवश्यकता है? यह विचारणीय प्रश्न है। जो मनुष्य स्वास्थ्य के नियमानुसार आहार-विहार रखता है उसको इन द्रव्यों की आवश्यकता नहीं होती। रोगमुक्त होने के पश्चात् या अन्य कारण से जब भूख मन्द होती है तब भोजन में रुचि उत्पन्न करने के लिए तथा पाचन में सहायता करने के लिए इनका उपयोग करना ठीक होता है। तथापि स्वस्थ मनुष्यों के लिए इनका प्रतिदिन भोजन में उपयोग करना स्वास्थ्य हानिकर होता है।

इनके सतत सेवन से पाचनशक्ति कुछ काल तक बढ़ती हुई प्रतीत होती है, परन्तु थोड़े ही दिनों में अग्निमांद्य, अम्लपित्त इत्यादि विकार अपना डेरा जमाने लगते हैं। चलते हुए घोड़े को कोड़े लगाने का जो परिणाम होता है वही परिणाम

इनके सेवन से पचन संस्थान के ऊपर दिखाई देता है। कोड़ों की मार से घोड़ा अपनी शक्ति से भी अधिक भागता है, परन्तु इससे उसमें बल नहीं आता, वह थोड़ी ही दूर जाकर थक जाता है। इसी प्रकार मसाले, अचार, चटनी इत्यादि के सेवन से पचनसंस्थान शक्ति से अधिक काम करने लगता है, जिसको सर्वसाधारण लोग भूल से क्षुधावृद्धि समझते हैं। परन्तु इस प्रकार जबरदस्ती अधिक काम करने से पाचन यन्त्र शीघ्र थक जाता है और अपना नियत कार्य भी ठीक तौर पर करने में असमर्थ होता है। अतएव इनका सेवन जहाँ तक हो सके नित्यप्रति न करना चाहिए।

यदि मिष्टान्न या अन्य प्रकार का भारी अन्न भोजन में हो तो उसके साथ चटनी, अचार इत्यादि पदार्थ सेवन करने से उनके पाचन में कुछ सहायता हो जाती है। इसलिए ऐसे नैमित्तिक प्रसंगों पर इनका सेवन बीच-बीच में करने मे कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु भोजन के समय यह ध्यान रक्खें कि चटनी, अचार के कारण मिष्टान्न का अधिक सेवन न हो। भारतवर्ष में व्यञ्जन के लिए लाल और काली मिर्च, सूखी धनियाँ, जीरा, हल्दी, दालचीनी, राई, केसर, सूखी गरी, लौंग, जायफल, इलायची, जायपत्री, तेजपात, इमली, मेथी, हींग, अदरख, सोंठ इत्यादि द्रव्य काम में लाए जाते हैं। इनमें लालमिर्च, लौंग, दालचीनी, हींग, इमली इनका अधिक प्रयोग करने से मसाला अधिक गरम हो जाता है।

भोजन मे रुचि उत्पन्न करने वालों में नमक[1] सर्वश्रेष्ठ है। उसी से उत्पन्न हुई रुचि से मनुष्य को सतुष्ट होना चाहिए।

मसाले से भोजन में रुचि उत्पन्न हो जाती है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यह रुचि कृत्रिम होती है और अन्त में हानि करती है। खाद्यद्रव्यों को खूब चबा-चबा कर खाने से जो रुचि उत्पन्न होती है वह उनकी वास्तविक रुचि होती है और अन्त में स्वास्थ्यकर होती है। इसलिए मसाले, अचार इत्यादि की सहायता में खाद्य-द्रव्यों में रुचि उत्पन्न न करके, उनको खूब चबा-चबा कर रुचि उत्पन्न करने का अभ्यास करना चाहिए, एक बार मसाले के साथ भोजन करने की आदत बन जाने पर स्वास्थ्य की हानि होते हुए भी उससे छुटकारा पाना मुश्किल होता है। इसलिए प्रथम से सादा और सात्विक भोजन सेवन करने का अभ्यास रखना उचित है।

---

१ स्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।
गृहीतं च विना येन व्यञ्जनं गोमयायते॥

अनुपान वर्ग (Beverages)

अनुपान करोत्यूर्जा तृप्ति व्याप्ति दृढागताम् ।
अन्नसघातशैथिल्य विक्लित्ति जरणानि ॥ वाग्भट ॥

जो द्रव्य खाद्यद्रव्यों के सेवन में आनन्द, आराम और आस्वाद उत्पन्न करते हैं तथा उनके पाचन में स्वयं या नाडीसस्थान द्वारा सहायता करते हैं वे अनुपान कहलाते हैं। इनके तीन विभाग किये जाते हैं—१. जलवर्ग, २. चायवर्ग और ३. मद्यवर्ग।

जलवर्ग–(१) जल-सब अनुपान द्रव्यों में जल[१] श्रेष्ठ है, अर्थात् वह विशुद्ध होना चाहिए। जल के संबध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह न आमाशय से प्रचूषित होता है न आमाशय में अधिक देर तक ठहरता है। वह तुरंत आन्त्र में जाने लगता है जिससे उसके ऊपर जठराम्ल का जीवाणुनाशक परिणाम नहीं हो सकता। इसलिए अन्य दूषित खाद्यद्रव्यों की अपेक्षा उपसर्ग उत्पन्न करने की दृष्टि से दूषित जल अधिक कार्यक्षम अत एव भयानक होता है। भोजन के साथ इसका क्या संबध होना चाहिए उसका विवरण आगे स्वस्थवृत्त में जलपान में किया गया है। जल के द्वारा शरीर को क्या-क्या लाभ होते हैं उसका विवरण पीछे (पृष्ठ ६७) हो चुका है। जल के सवन्ध में, संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि वह एक नैसर्गिक द्रव्य होने के कारण तथा शरीर का अत्यन्त महत्व का संघटक होने के कारण अन्य अनैसर्गिक द्रव्यों के समान शरीर को न हानि पहुँचा सकता है, न आदत वना लेता है। इसलिए जहाँ तक हो सके पानी से ही अनुपान का काम कर लेना चाहिए। देश और ऋतु के अनुसार शीत या उष्ण जल का उपयोग कर सकते हैं। उष्ण जल[२] में शरीर को उष्णता देने का, पाचक अंगों को उत्तेजित करने का तथा आँतडियों का पुर:सरण वढ़ाने का गुण होता है।

(२) खनिज जल (Mineral water)—ये जल अनेक स्थानों में नैसर्गिक स्रोतों से प्राप्त होते हैं। इनमें क्षारातु (Sodium), दहातु (Potassium), चूना, अयस्, आजातु (Magnesium), लघ्वातु (Lithium) इत्यादि के लवण तथा

---

१. सर्वेषाम् अनुपानानां माहेन्द्र तोयमुत्तमम् । सुश्रुत ।
माहेन्द्र जल का अर्थ है—आन्तरिक्ष जल ।

२. उष्णोदकानुपानं तु स्नेहानामनुशस्यते ।

प्रां० द्विजारेय (CO_2) विलीन रहते हैं। नैसर्गिक जल के इन संघटकों को सादे पानी में मिला कर कृत्रिम खनिज जल बनाये जाते हैं। प्रत्येक खनिज स्रोत के जल का संघटन भिन्न होता है और उसीका अनुकरण करके उसी प्रकार का खनिज जल बनाया जाता है। अनेक स्थानों के जलों में गधक और तेजोद्गर (Radioactive) द्रव्य भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार के स्रोत भारतवर्ष में सीताकुण्ड, राजगीर, वज्रेश्वरी, महत्रधारा, गौरीकुण्ड, सूरजकुण्ड, इत्यादि अनेक स्थानों में हैं। परन्तु यूरोप के स्रोत के (Spa) समान भारत में उनसे लाभ नहीं उठाया जाता है।

तेजोद्गर जल मूत्रल होते है और मूत्र के साथ मिह (Urea) मिहिक (Uric) अम्ल इत्यादि शरीरगत विषों को निकाल देते है। इसलिए उनका उपयोग सधिवात, वातरक्त (Gout) नाडीशोथ तथा वातरक्त के अन्य उपद्रवों में अच्छा होता है। क्षारिय जलों में पचन संस्थान को उत्तेजित करने का गुण होने के कारण अम्लपित्त, अजीर्ण, अग्निमान्द्य, यकृत् की खराबी, जीर्णमलावरोध, अर्श इत्यादि पचन संस्थान के विकारों में किया जाता है। अयस् युक्त जलों का उपयोग पाण्डु-रोगों में किया जाता है।

(३) वातेरित जल (Aerated waters)—ये कृत्रिम तौर पर बनाये जाते हैं और इनमे दवाव के साथ प्रांगार द्विजारेय विलीन किया जाता है। इस प्रकार के जल का आविष्कार सर्व प्रथम प्रीस्टले नामक रसायनज्ञ ने किया। इन जलों में प्रां० द्विजारेय और जल में प्रांगारिक (Carbonic) अम्ल बनता है जिसके कारण इसका स्वाद कुछ खट्टा होता है। बोतल खोलने के पश्चात् दवाव के साथ भरा हुआ वायु बहुत कुछ जोश के साथ चला जाता है और अधिक देर खुली बोतल रखने से करीब-करीब सब वात निकल जाकर पानी का खट्टापन दूर हो जाता है।

प्रांगार द्विजारेय युक्त जल पाचक तथा पचन सस्थान का सशामक होता है। इसलिए उसका उपयोग अजीर्ण, आध्मान, पेट में भारीपन, पीडा इत्यादि विकारों मे किया जाता है। दूध में डालकर सेवन करने से दूध के पाचन में सहायता करता है, क्योंकि इससे जमा हुआ दूध धुनी हुई रूई-ऊन के समान हलका होता है। मद्यप लोग मद्य के साथ भी मिलाकर इसको सेवन करते हैं।

यह जल तयार करने के लिए सदैव उवाला, तिर्यक्पातित (Distilled) या निथारित (Filtered) जल का उपयोग करना चाहिए। खराब पानी से बनाये हुए जल को सेवन करने में धोखा है, क्योंकि विसूचिका वक्राणु को छोड कर अन्य विकारी जीवाणु इसमें जीवित रह कर वृद्धि कर सकते हैं। भारतवर्ष में इनके बनाने मे शुद्ध पानी का प्रायः उपयोग नहीं किया जाता और लोगों की यह धारणा

होती है कि बोतल के पानी में कोई दोष नहीं होता। इसलिए इसकी सूचना देने की आवश्यकता होती है। विसूचिका की बीमारी जब जारी होती है तब पीने के लिऐ उबाला हुआ पानी न मिले तो बोतल के पानी का उपयोग कर सकते हैं, परंतु उसमें भी वह पानी ताजा न होकर २-३ दिन का पुराना होना जरूरी है।

चाय वर्ग—(१) चाय (Tea)—सुगन्ध, रुचिकर और स्फूर्तिदायक वनस्पतियों का फांट या काढा बनाकर चाय के तौर पर उसको लेने का प्राचीन रिवाज है। पुरानी वनस्पतियों में भूतृण (Lemon grass, मराठी गवती चहा) निर्देश करने योग्य है। आजकल चीनी जापानी चाय ने पुराने पेयों पर मात की है। यह चाय कमेलिया थीया (Camellia Thea) नामक एक क्षुप (झाडी-Shrub) की पत्तियाँ हैं। भारतवर्ष में इसकी पैदावार आसाम, दार्जिलिंग, नीलगिरि इत्यादि पहाड़ी प्रदेशों में बड़े पैमाने पर की गयी है। इस झाडी की अत्यन्त कोमल और बाल पत्तियों से, जिनमें रेशा सबसे कम और रस सबसे अधिक होता है, सर्वोत्तम चाय बनती है और उसको फुलवारी और नारंगी पेको (Flowery or Orange Pekoe) कहते हैं। उनके नीचे की मध्यम पत्तियों से मध्यम चाय बनती है जिसको पेको कहते हैं और सबसे नीचे की पत्तियों से निकृष्ट चाय बनती है जिसको सूचाग (Souchong) कहते हैं। काली और हरी करके चाय के दो भेद होते हैं। पत्तियों के अभिषवण (Fermentation) से काली चाय बनती है। इससे चाय का शल्किक (Tannic) अम्ल अधिक अविलेय बनता है। हरी चाय झाडों से पत्तियाँ इकट्ठा करने के पश्चात् उनको भूनकर बनायी जाती है। इसमें शल्किक अम्ल और उडनशील तेल अधिक तथा कापेयी कम होती है। इसलिए यह अधिक ग्राही और कम स्फूर्तिदायक होती है।

चाय में मुख्य कापेयी (Caffeine) नामक क्षाराभ (Alkaloid) है। भिन्न-भिन्न प्रकार की चाय में इसका अनुपात भिन्न-भिन्न (१-४%) हुआ करता है। इसके अतिरिक्त चाय में शल्किल अम्ल अधिक अनुपात में (१६%) और सुगन्धी तेल अल्प मात्रा में (०.६०%) होता है। चाय की सुगन्ध उसके तेल के कारण, ग्राहीपन शल्किक अम्ल के कारण और उसकी स्फूर्ति कापेयी के कारण हुआ करती हैं। उबलते पानी में चाय की पत्ती डालते ही वह घुलने लगती है परन्तु शल्किक अम्ल देर में घुलने लगता है और जितना अधिक उबाला जाय उतना ही अधिक घुलता जाता है। चाय में काम की वस्तु कापेयी है और हानिकर शल्किक अम्ल। इसलिए पीने की चाय ऐसी हो कि उसमें पत्ती की कापेयी अधिक से अधिक हो परन्तु शल्किक अम्ल कम से कम रहे। यह कार्य

केवल पाँच मिनट उबलते पानी में चाय की पत्ती का फांट (Infusion) बनाने से होता है। इससे अधिक काल तक चाय उबालने से इन दो संघटकों का चाय में क्या अनुपात आ सकता है इसका विवरण नीचे दिया जाता है।

द्रव्य	५ कला	१० कला	२० कला	४० कला
कापेयी	१·१%	१·२%	१·१६%	१·२५%
शल्किक अम्ल	६·८%	८·५%	११·७%	१६·२%

इससे यह स्पष्ट होता है कि अधिक काल तक उबालने से चाय में कार्यकर कापेयी का अनुपात नहीं बढ़ता, किन्तु हानिकर शल्किक अम्ल का बढ़ता है। शल्कि (Tannin) या शल्किक अम्ल में पौष्टिक गुण कुछ भी नहीं है। वह कषाय रस का होने के कारण परिणाम में ग्राही होता है और उससे मलावरोध उत्पन्न होता है। प्रवास में जब अपचन प्रवाहिका इत्यादि से तकलीफ होती है तब स्थानकों पर प्राप्त चाय सेवन करना हितकर होता है, क्योंकि वह चाय बराबर उबलती ही रहती है जिससे कषाय रस अधिक होता है।

यदि चाय पीना हो तो उसकी पत्तियाँ उबलते पानी में डालकर ४ कला तक उस पर ढक्कन रखना चाहिए। उसके पश्चात् छानकर दूध और चीनी के साथ उसका सेवन करना चाहिए। चीनी और दूध से उसमें कुछ पौष्टिक गुण आ जाता है और दूध का भी पचन होता है। इसलिए जिन्हें दूध हजम नही होता उन्हें चाय के साथ दूध दे सकते हैं। जहाँ पर जलवाह्य रोगों का डर रहता है वहाँ पर सदा पानी पीने के बदले चाय पीना बेहतर है। चाय पीने से शारीरिक बल और मानसिक उत्साह बढ़ता है। कापेयी मस्तिष्कोत्तेजक, हृद्य और मूत्रल है। रात में सेवन करने से अनिद्रा उत्पन्न होकर बार-बार मूत्र त्याग करने की आवश्यकता होती है। इसलिए रात में चाय का सेवन न करें। चाय का अतियोग करने से मलावरोध, अग्निमांद्य, अनिद्रा, वृक्कविकार इत्यादि खराबियां उत्पन्न होती है। इसलिए इन रोगों से पीडित होने-पर चाय वर्ज्य करना चाहिए। चाय में भी मद्य के समान नशा है, केवल भेद इतना ही है कि नशा उतरने के बाद मद्य से जो कमजोरी होती है वह चाय से नहीं होती। नशा के कारण चाय पीने की आदत बन जाने पर उसको छोड़ना कठिन हो जाता है। इसलिए जहाँ तक हो सके चाय का सेवन सदैव न करना ही उचित है।

(२) कहवा (Coffee)—कहवा 'कैफी अरेबिका' (Caffea arabica) नामक वृक्षों के बीजों से बनाया जाता है। इसके वृक्ष अरब, अबीसीनिया में होते है। भारत में नीलगिरी तथा मद्रास प्रांत में इसकी बहुत पैदावार होती है। पीने के लिए

बीजों को भूनकर और पीसकर चूर्ण बनाया जाता है। कहवे में भी चाय के समान मुख्य द्रव्य कापेयी ही होता है जिसका भुने हुए कहवे में ·६–२% अनुपात होता है। भूनने की प्रक्रिया में कहवे में एक तेल उत्पन्न होता है जिसको कापेयैल (Caffeol) कहते हैं। कहवे की रुचि और गंध इसी तेल के कारण हुआ करती है। यह तेल बहुत उड़नशील होने से पुराने कहवे में यह बहुत कम रहता है और उससे उसमें रुचि और गंध बहुत कम होती है। इसलिए भुनने पर कहवा जल्दी काम में लाना चाहिए। कहवे में शल्किक अम्ल भी बहुत होता है; परन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह चाय के शल्किक अम्ल के समान ग्राही नहीं है। कहवे में प्रायः चिकोरी (Chicory) नामक वृक्ष की जड़ें सुखाकर और पिसकर मिलावट के लिए मिला देते हैं। कहवे का सेवन निथरण (Filtration), फांट या काढ़े के रूप में किया जाता है। फांट की पद्धति सर्वोत्तम है। इसमें २५% कहवा पानी में घुल जाता है। इस पद्धति से पेय में खुशबू अधिक से अधिक आती है और उसके उत्तेजक परिणाम का अतियोग नहीं होता।

कहवा नाड़ी संस्थान को उत्तेजना देता है। इसलिए इसके सेवन से थकावट की संवेदना कम होकर मनुष्य को आराम मालूम होता है। इसके सेवन से शारीरिक श्रम अधिक करने का उत्साह भी उत्पन्न होता है, यदि मनुष्य पर्याप्त मात्रा में अन्य अन्न द्रव्यों का सेवन करें। परन्तु यदि अन्न सेवन न करके केवल कहवा सेवन किया जाय तो थकावट बहुत ही शीघ्र उत्पन्न होती है। कहवे का अतियोग मस्तिष्क और नाड़ी के विकार, हृदयदौर्बल्य, अनिद्रा इत्यादि विकार उत्पन्न करता है। इसलिए इसका सेवन हृदय और धमनी के रोग, वातरक्त, नाड्यवसन्नता (Neurasthenia) अग्निमान्द्य इत्यादि से पीड़ितों को अहितकर होता है।

(३) कोको (Cocoa)—यह थिओब्रोमा कोका (Theobroma Cacao) नामक वृक्ष के फलों के बीजों से बनाया जाता है। ये वृक्ष वेस्ट इण्डीज में बहुतायत से पैदा होते हैं। इनके बीज सुखाकर और भूनकर कोको की बुकनी बनायी जाती है। इसमें कोकोबटर (Cocoa butter) नामक स्नेह ५०% होता है। यह स्नेह द्रव्य इतनी अधिक मात्रा में पचने में कठिन होता है तथा अधिक दिन तक बिना खराब हुए रहता नहीं। इसलिए पीडन से उसका कुछ अंश कम किया जाता है। कोको में चाय या काफी की कापेयी के समान देवान्नी (Theo bromine) नामक स्फूर्ति और आनन्द उत्पन्न करनेवाला क्षाराभ (Alkaloid) है। ये सब क्षाराभ अधिक मात्रा में सेवन करने पर शरीर को हानि पहुँचाते हैं। कोको में इसकी मात्रा १–२% होती है। बज़ार में जो कोको मिलता है

उसमें ३०% तक स्नेह, २०% तक भूयात्य द्रव्य, २५% तक प्रांगोदीय, ५% तक खनिज, ५% तक जल और २% तक देवाम्नी रहते हैं। इस संघटन से यह स्पष्ट होगा कि चाय और काफी के समान कोको केवल स्फूर्तिदायक पेय नहीं है, अन्न भी है जिसमें शरीर के लिए आवश्यक प्रोभूजिनादि तीनों उष्णतोत्पादक सघटक विद्यमान रहते हैं और जिसके कारण एक छटाँक कोको से २५० उष या उससे भी कुछ अधिक उष्णता शरीर को मिलती है। कोको पानी या दूध में पाँच कला तक उबाला जाता है और उसमें चीनी और दूध डालकर उसका पेय बनाया जाता हैं। यह पेय जितना स्फूर्तिदायक है उतना ही शक्तिदायक भी होता है। कोको का क्षाराभ मिहकी (Purin) वर्ग का होने के कारण आमवात, वातरक्त, वृक्क रोग इनमें कोको का सेवन न करना चाहिए। चोकोलेट (Chocolate) कोको में चीनी तथा अन्य सुगन्धी द्रव्य मिला करके बनाया जाता है। चोकोलेट में १.६% जल, ७% प्रोभूजिन, २२.२% स्नेह, ६४.९% प्रांगोदीय और २.३% खनिज होते हैं। चोकोलेट कोको से भी अधिक स्वादिष्ट, सुगन्धित, सुपाच्य और पौष्टिक होता है और एक पाव भर दूध के साथ एक छटाँक चोकोलेट शरीर को ४०० उष उष्णता दे सकता है।

चाय, काफी और कोको तीनों में कोको सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे शरीर को अन्न मिलता है, उसमें ग्राही गुण नहीं है, स्वादिष्ट अधिक है और सतत सेवन करने पर भी चाय के समान आदत बनाने का अवगुण नहीं है।

(४) शरबत, पन्ना, नारिकेल जल—शरबत और पन्ना नीबू के रस, कच्चा या भूना हुआ आम, इमली इत्यादि के गूदे से पानी और चीनी के साथ बनाए जाते हैं। इनका प्रयोग अधिकतर गरमियों के दिनों में ठंढे जल के साथ या बरफ के साथ किया जाता है। गरमियों के दिनों में गरमी और थकावट दूर करके स्फूर्ति उत्पन्न करने का इनमें अद्भुत गुण होता है। अपने घर में सुराही के शीत जल से यदि ये बनाए जायँ तो बहुत अच्छे पेय हैं। परन्तु बाजारू पेयों से पानी की अस्वच्छता के तथा बरफ के प्रयोग के कारण प्राणीज जलवाह्य रोग (पृष्ठ ४०) होने की सभावना होती है। इनके अतिरिक्त बादाम, पिस्ता, कालीमिर्च, सौंफ इत्यादि से जो ठढाई बनायी जाती है वह भी बहुत अच्छा पेय होता है। नारिकेल जल का विवरण पीछे (पृष्ठ १५०) हो चुका है। इसकी विशेषता यह होती है कि यह नैसर्गिक जल होता है और कवच में बन्द रहता है। इसलिए जलवाह्य रोगों से पीडित प्रदेशों में जब अच्छा जल नहीं मिल सकता तब इसका सेवन निःशंक कर सकते हैं।

मद्यवर्ग—प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में मनुष्य मद्य का सेवन करते आ रहे हैं। मद्यसेवन मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति मालूम होती है। भारतवर्ष में भी मद्य का उपयोग किया जाता था, परन्तु उसका हानिकर परिणाम देखकर उसके सेवन में धर्मशास्त्रों ने कुछ मर्यादाएँ (पृष्ठ १७१ पादटिप्पणी) रक्खी हैं।

मद्य के प्रकार—भारतवर्ष में, चावल, महुआ, खजूर, ताड, मंड इत्यादि से मद्य बनाया जाता है। विलायती मद्य द्राक्षारस, यव्य (Malt), हाप्स (Hops), राब, चीनी इत्यादि द्रव्यों से बनाया जाता है। मद्य में मुख्य वस्तु सुपव या कोहल (Alcohol) है और उसकी मात्रा के अनुसार विलायती मद्यों के निम्न वर्ग किए जाते हैं।

(१) स्पिरिट (Spirit)—इसमें सुपव ३०% से अधिक होता है। व्हिस्की, ब्रान्डी, रम, जिन ये इस वर्ग में आते हैं।

(२) वाइन (Wines)—इसमें सुपव १५-३०% तक होता है। इसमें शेरी, बर्गान्डी, क्लेरेट, हाक्स, शांपेन, पोर्ट वाइन इत्यादि का समावेश होता है।

(३) बीर या यव्य रस (Beer or malt liquors)—इसमें सुपव की मात्रा ५% तक होती है। एल, पोर्टर, स्टाउट इत्यादि इस वर्ग में समाविष्ट होते हैं।

गुणधर्म—जल मिश्रित और अल्पमात्रा में सेवन करने पर मद्य जठर रस को उत्तेजित करता है तथा जठर की गति को बढ़ाता है। इसलिए इसके सेवन से भूख बढ़ती है और अन्न पचन में सहायता होती है। इसके सुपव को पाचन की आवश्यकता नहीं होती। वह सेवन करने के पश्चात् आमाशय से ही शीघ्रता से प्रचूषित होने लगता है और १५ कलाओं में रक्त में पाया जाता है।

प्रोभूजिनों, स्नेह, प्रांगोदीयों के समान मद्य से उष्णता और ऊर्जा उत्पन्न होती है। शरीर में इसका जारण इन द्रव्यों से पहले होने के कारण यदि इनके साथ इसका सेवन किया जाय तो प्रथम इसका जारण होने से स्नेह और प्रांगोदीय जारण से बचकर शरीर में सगृहीत हो जाते हैं। संक्षेप में मद्य स्नेह और प्रांगोदीयों का काम करता है। उसमें भूयाति न होने से प्रोभूजिनों का काम उससे नहीं हो सकता। परन्तु जैसे स्नेह प्रोभूजिनों की रक्षा या बचत का काम करता है (पृष्ठ ६४) वैसे यह स्नेह के समान प्रोभूजिनों की रक्षा (Protein sparer) का काम करता है। इस प्रकार यद्यपि मद्य में अन्न के गुण होते हैं तथापि अन्य अन्न द्रव्यों के समान अकेले अन्न के तौर पर मद्य का उपयोग नहीं कर सकते, क्योंकि उनके समान इसका संग्रहण शरीर में नहीं हो सकता तथा आवश्यकता के अनुसार न्यूनाधिकता से उससे उष्णता और ऊर्जा प्राप्त नहीं की जा सकती। इसलिए

इसका समावेश अन्न द्रव्यों में न करना चाहिए। अन्न के तौर पर इसका उपयोग कुछ इने-गिने प्रसंगों पर ही कर सकते हैं।

इसका सबसे महत्व का परिणाम मस्तिष्क संस्थान पर होता है जिससे उसमें उत्तेजना आती है, आनन्द-उत्साह बढ़ता है, दुःख, शोक, थकावट इत्यादि की विस्मृति होती है, शारीरिक काम करने में स्फूर्ति मालूम होती है और शरीर सब प्रकार से आराम अनुभव करता है। इसका सेवन उसके इन गुणों के लिए किया जाता है, न कि उसके अग्निदीपक, पाचक और उष्णतोत्पादक गुणों के लिए।

मद्य हृदय और रक्तवह संस्थान को उत्तेजित करके शरीरगत रक्त परिभ्रमण को बढ़ाता है। इसके मस्तिष्क के ऊपर जो विविध परिणाम होते हैं उनका एक कारण मस्तिष्कगत रक्त परिभ्रमण की वृद्धि है। उसी के कारण ही इसका सेवन करने पर मनुष्य अधिक शारीरिक परिश्रम करने में समर्थ होता है।

यद्यपि मद्य में उपर्युक्त गुण[१] होते है तथापि उसमें नशा पैदा करने का, लालच बनाने का, आदत उत्पन्न करने का तथा उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा में सेवन किये बिना पूर्ववत् अपना प्रभाव न दिखाने का अवगुण होता है। इसके कारण जिसको एक बार इसका चसका लग जाता है वह उसको निरन्तर अधिकाधिक मात्रा में सेवन किये बिना नहीं रह सकता। इसके लगातार सेवन से पचन संस्थान में कालिक शोथ उत्पन्न होकर अरोचक, अग्निमांद्य, दुष्पाचनता, यकृत् में स्नेहापजनन (Fatty degeneration) होकर यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis) और जलोदर, हृदय में स्नेहापजनन से दौर्बल्य, धडकन, धमनी जरठता (Artero

---

१. लघूष्णतीक्ष्ण सूक्ष्माम्ल व्यवाय्याशुगमेव च।
रूक्ष विकासी विशद मद्यं दशगुण स्मृतम्॥
प्रायशोऽभनिव मद्य गुरुदोषसमीरणम्।
स्रोतसां शोधन जीर्णं दीपन लघु रोचनम्॥
बहुदुःखकृतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च।
विश्रामो जीवलोकस्य मद्य युक्त्या निषेवितम्॥ चरक॥
विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथावलम्।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम्॥ माधवनिदान॥
स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम्।
भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च॥ सुश्रुत॥

sclerosis), नाडीशोथ, वृक्कशोथ, मेदोवृद्धि इत्यादि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। इससे मद्यपों की जीवशक्ति (Vitality) दुर्बल होकर वे अनेक रोगों के शिकार बनकर जल्दी मर जाते हैं। इसलिए इसका सेवन किसी भी बहाने से कदापि न करना ही उचित[1] है।

नया मद्य पुराने से अधिक हानिकर होता है। वैसे ही परिश्रमी और खुले स्थान में काम करने वालों की अपेक्षा घर में बैठे काम करने वालों को अधिक हानिकर होता है।

तमाखू—इसका आदिस्थान अमेरिका है। वहाँ से सर वाल्टर रेले इसको यूरोप ले गये। वहाँ से मुसलमानों द्वारा यह भारत में आ पहुँची। आज कल इसका सेवन सभ्यता का एक प्रधान लक्षण माना जा रहा है जिसके कारण इसका प्रचार दिन-दूना-रात चौगुना बढ़ रहा है। तमाखू एक पौधे का (Nicotina tobacum) पत्ता है। इसमें ताम्रकूटी (Nicotine) नामक क्षाराभ होता है जो शरीर को हानि पहुँचाता है। यह इतना विषैला है कि ८ बूँदों से घोड़ा और दो बूँदों से कुत्ता शीघ्र मर जाते हैं। दिन रात में मनुष्य जितनी तमाखू सेवन करता है उतनी यदि एक बार सेवन करे तो निस्सन्देह उसका उसी दम मृत्यु हो सकता है। तमाखू से भी मद्य के समान शरीर में स्फूर्ति और उत्तेजना मालूम होती है और इसीलिए इसका सेवन किया जाता है। इसमें भी आदत बनाने का अवगुण होता है। अतः इससे भी दूर रहना चाहिए।

तमाखू खाने से मुख और दाँत खराब हो जाते हैं। आमाशय में प्रकोप होकर अग्निमान्द्यादि पचन के विकार होते हैं। खून में मिलने के पश्चात् इसका विषैला परिणाम मस्तिष्क और हृदय पर होकर धड़कन, हृदयोद्वेष्टन (Heart cramp), उच्च रक्तचाप (High blood pressure), नाड्यवसन्नता, काम में अनिच्छा, स्मृतिभ्रंश, शिर:शूल, अनिद्रा, अक्षनाड़ी (Optic nerve) क्षय के कारण अन्धता इत्यादि विकार होते हैं।

---

१. मद्ये मोहो भयः शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः।
सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः॥
निवृत्तो यस्तु मद्येभ्यो जितात्मा बुद्धिपूर्वकृत।
विकारैः स्पृश्यते जातु न स शारीरमानसैः॥ वाग्भट॥

अफीम—इसमें भी मादक गुण है। इसलिए एक वार इसका सेवन प्रारंभ करने पर इससे छुटकारा नहीं हो सकता। अफीम बहुत विषैली वस्तु है। इसके लगातार सेवन से मनुष्य जवानी में बूढ़े बनते हैं, उनका शरीर एकदम निकम्मा हो जाता है, ससार में क्या हो रहा है उसे जानने की उन्हें परवाह भी नहीं रहती। हरदम वे सोते रहते है और आँखें मींचकर न मालूम किस आनंद का अनुभव करते रहते हैं। अफीम का सेवन अधिकतर साधु, सन्यासी, बैरागी और कुछ दरिद्री मजदूर लोग किया करते हैं। अफीमची के ऊपर औषधियों का जल्दी परिणाम नहीं होता। इसलिए उनके रोग प्रायः दु.साध्य हो जाते हैं।

भाँग (विजया)—भारतवर्ष में सनातनी लोगों में इसका काफी प्रचार है। आजकल के तथाकथित सभ्य लोग इसका सेवन नहीं करते। भाँग ठण्ढाई के साथ (पृष्ठ १६७) पेय के रूप मे सेवन की जाती है। भाँग अग्निदीपक, पाचक, वातानुलोमक और मलावरोधक है। कभी-कभी इसके सेवन से भस्मकाग्नि[1] के समान भूख अनावर हो जाती है। इसका मुख्य परिणाम मस्तिष्क के ऊपर होता है। इससे शारीरिक और मानसिक काम करने में स्फूर्ति उत्पन्न होती है, दुःख और थकावट दूर हो जाती है, मन प्रसन्न होता है, उदासीनता चली जाती है और सब प्रकार से मनुष्य आनंदित, हँसमुख और प्रसन्नचित्त हो जाता है। इसमें भी नशा है, इसलिए लोग इसके आदी वन जाते हैं। इसका परिणाम मिजाज रूखा होने में, आँखों की रोशनी खराव होने में तथा दिमाग विगड़ने में होता है। भारतवर्ष में पागलपन के जो विविध कारण होते हैं उनमें भाँग का सेवन एक महत्व का कारण है। इसका सेवन अधिकतर साधु, संन्यासी, वैरागी, तापसी इत्यादि लोग करते हैं। साधारण मनुष्य गर्मियों में ठण्ढाई के साथ इसका सेवन कभी-कभी करते हैं। भाँग शकरजी[2] की प्रिय मानी गयी है, इसलिए शिवरात्रि के समय भी कुछ लोग प्रसाद के तौर पर इसका सेवन करते हैं। मस्तिष्क के ऊपर इसका जो परिणाम होता है वह उसकी मात्रा पर निर्भर नही होता है। जो लोग वर्ष भर में एकाध वार इसका सेवन करते है उनमे कभी-कभी अत्यल्प मात्रा से भी प्रलाप, मूर्च्छा इत्यादि भयानक लक्षण उत्पन्न होते है और क्वचित् हृदयातिपात से मृत्यु तक हो सकता है। इसलिए पहले पहल इसका सेवन सावधानी से करना चाहिए।

---

१ भुक्त क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्तस्मादयं भस्मकसंज्ञकोऽभूत् ॥ योगरत्नाकर ॥

२. जातिलवगमरिचिशर्करया विजयापान कुरु सहितम्। श्रीशिवताण्डवस्तोत्र ॥

मादक पदार्थों की विशेषताएँ—(१) सब मादक पदार्थ प्रारम्भ में सब प्रकार से शरीर को आराम और मन को आनन्द देनेवाले होते हैं। इसलिए प्राचीनकाल से पृथ्वी[1] के प्रत्येक भाग में किसी न किसी मादक द्रव्य का सेवन मनुष्य करते आ रहे हैं और भविष्य में करते रहेंगे।

(२) इनका सेवन प्रारम्भ करने पर फिर उनको छोड़ना असम्भव हो जाता है और मनुष्य उनका आदी बन जाता है।

(३) लगातार सेवन करने से आराम देने की उनकी शक्ति कम होती जाती है और पहले जैसा आराम (जिसके लिए इनका सेवन किया जाता है) मिलने के लिए उनका सेवन अधिकाधिक मात्रा में करना पड़ता है।

(४) इनके सेवन से शरीर के हृदय-मस्तिष्कादि मर्माङ्ग बिना जरूरत उत्तेजित हो जाते हैं जिससे धीरे-धीरे उनकी कार्यक्षमता घटकर वे बहुत जल्दी निकम्मे हो जाते हैं और अकाल मृत्यु हो जाता है।



१. लोकेव्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ भागवत ॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ मनुस्मृति ॥

तृतीय अध्याय

स्वस्थवृत्त

(Personal Hygiene)

उत्थायोत्थाय सततं स्वस्थेनारोग्यमिच्छता ।
धीमता यदनुष्ठेयंतत्सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥ सुश्रुत ॥

इस विभाग में प्रातर्विधि, व्यायाम, स्नान, भोजन, शयन, वस्त्र, प्रावरण इत्यादि हमारे स्वास्थ्य के साथ घनिष्ठ सबंध रखनेवाले शारीरिक व्यवहारों का समावेश किया जाता है। अतः हमारा यह कर्तव्य होना चाहिए कि हम इन व्यवहारों के स्वास्थ्यप्रद नियमों का तथा आचरण की पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार अपना वर्ताव रक्खें। अन्यथा ये ही दैनिक व्यवहार हमारा स्वास्थ्य गिराने में सहायभूत होंगे।

प्रातर्विधि[१]

प्रातरुत्थान—स्वस्थ मनुष्य को नित्यप्रति प्रातःकाल में चार-पाँच के बीच में बिछौना छोड़ देना चाहिए। इस समय जगने पर बिछौने पर लेटे रहना भी अच्छा नहीं होता। जिनको अपने व्यवसाय के कारण रात में जगने की आवश्यकता नहीं होती उनके लिए यही समय उत्तम है। प्रातःकाल उठने से

---

१. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ॥ मनु ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः ।
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः ॥ वाग्भट ॥
रात्रेस्तु पश्चिमो यामो मुहूर्तो ब्राह्म उच्यते ॥ रत्नावली ॥
प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् ॥ दक्षस्मृति ॥
मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ मनु ॥
मैत्रं पुरीषोत्सर्गम् ॥ कुल्लूकभट्ट ॥

शरीर और मन उत्साह से भरे रहते हैं, तथा दिन भर काम करने में मन लगता है। सवेरे बिस्तरे पर लेटे रहने से नींद भी अच्छी नहीं आती तथा सपने भी अधिक दिखाई देते हैं, जिनके कारण शरीर को नींद से जितना लाभ होना चाहिए उतना नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस समय की निद्रा में स्वप्नदोष होने की सभावना अधिक रहती है, जिससे शरीर को सबसे अधिक हानि पहुँचती है। अत. बचपन से ही बडे तड़के उठने का अभ्यास रखना चाहिए। विद्याभ्यास की दृष्टि से भी यह समय बहुत उत्तम होता है। जल्दी सोने और जल्दी उठने से मनुष्य स्वस्थ, संपन्न और सुबुद्ध बनता है ऐसी अंग्रेजी कहावत है।

शौच—आहार का जो दुष्पाच्य और अनुपयोगी अंग होता है वह प्रचूषित न होकर आँतों में ही रह जाता है और इसको मल, पुरीष या विष्ठा कहते हैं। पुरीष शरीर में अधिक काल तक रहने से सडने लगता है और उससे उत्पन्न होनेवाले विषैले द्रव्य रक्त में पहुँच कर अनेक विकार उत्पन्न करते हैं। इसलिए दिन-रात में एक बार मलोत्सर्जन जरूर होना चाहिए। इससे अधिक बार मल त्यागने की आवश्यकता मालूम हो तो ऐसा करने में भी कोई हर्ज नहीं, क्योंकि जब हम दिन में दो-तीन बार खाते हैं तो मल क्यों न दो या तीन बार त्यागें। 'जै बार खाना तै बार पाखाना' इस प्रकार की कहावत भी है। मलशुद्धि के संबंध में निम्न नियमों को जरूर ध्यान में रखना चाहिए—

मनुष्य जानवरों के समान जब चाहे तब और जहाँ चाहे वहाँ मलत्याग नहीं कर सकता इसलिए बचपन से ही नियत समय पर शौच जाने की आदत डालनी चाहिए। यदि एक बार शौच जाने से काम चल जाता है तो उसके लिए सबसे बढ़िया और स्वास्थ्यप्रद समय प्रातःकाल का ही है। यदि दो बार जाने की आवश्यकता पड़ती हो तो दूसरा समय अपने व्यवसाय या फुर्सत के अनुसार नियत करें। निमित्तवश नियत समय को छोडकर अन्य समय में शौच की आवश्यकता मालूम हो तो तुरन्त मल को त्यागने की चेष्टा करें, दूसरे कामों में लगाकर उसके आवेग[1] को न दबावें। केवल यही नहीं, उसी में मन लगाकर प्रथम अच्छी तरह निपट लेना चाहिए। मल त्यागने के लिए कम्मोड का उपयोग न करना चाहिए। खुड्डी पर उकडू बैठना ही अच्छा है। इससे पेट पर

१ न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्न वेगानी रयेद्बलात्।
रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः ॥ अष्टांगहृदय ॥
उत्सर्गे मैथुनाहारशोधने स्यात्तु तन्मना. ॥ सुश्रुत ॥

जाँघों का दबाव पड़ता है और मल त्यागने में आसानी होती है। मल त्यागने के लिए बहुत जोर भी न लगाना चाहिए। पानी ले जाने के लिए स्वतन्त्र बरतन काम में लाना चाहिए और उस बरतन का उपयोग खाने-पीने के काम में कदापि न करना चाहिए। यदि कभी पानी पीने के लोटे का प्रयोग करने की नौबत आ जाय तो पहले हाथ को अच्छी तरह साफ करके पश्चात् लोटे को खूब माँजना चाहिए। कुछ लोग बिना हाथ साफ किये ही लोटे को माँजते हैं। यह विधि ठीक नहीं है, इससे हाथ का मल लोटे पर लग जाता है। शौचाधिकारी हाथ को मिट्टी राखी या साबुन से पहले अकेले साफ धोकर पश्चात् दूसरे हाथ की सहायता से खूब रगडकर धोना चाहिए। प्रथम खराब हाथ दूसरे हाथ की सहायता से धोने पर दूसरा अच्छा हाथ भी गन्दा हो जाता है। कुछ लोग हाथ पर कुछ भी नहीं लगाते, केवल थोडा सा पानी उस पर छोड़ देते हैं। यह पद्धति बहुत खराब है।

मुखशुद्धि—रात भर की नींद में आँखों में कीच, नासा में मिनक और मुख में थूक तथा मैल काफी इकट्ठा हो जाते हैं। इसलिए प्रातःकाल में मुख की अन्तर्बाह्य सफाई करने की आवश्यकता पड़ती है। विशेष करके मुख में जो थूक इकट्ठा होता है वह बहुत ही खराब रहता है और पेट में जाने का डर होता है। इसलिए सुबह उठते ही सर्वप्रथम ठंडे साफ पानी से खूब कुल्ले करके उसको निकाल देना चाहिए। उसके साथ-साथ आँखों को भी साफ करना चाहिए। उसके पश्चात् दाँतों, मसूढ़ों और जिह्वा की सफाई का काम कर सकते हैं या मल-त्याग करने के पश्चात् कर सकते हैं।

दतौन-मुखशुद्धि के लिये दतौन, कूर्च, मजन और अंगुलि ये चार साधन काम मे लाये जाते हैं। इनमें दतौन सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि स्वच्छता की दृष्टि से वह अच्छी होती है। उसमें कूर्च और मजन दोनों के गुण होते हैं तथा उसके ताजे रसों का दाँतों और मसूढ़ों पर जो स्वास्थ्यप्रद परिणाम होता है उसका मुकाबला कोई मजन नहीं कर सकता। दतौन[1] हमेशा कसैले, कडवे, या तिक्त रस की होनी चाहिए। इस दृष्टि से नीम, खैर या बबूल की दतौन अच्छी होती है। दतौन हमेशा ताजी, मृदु, न बहुत मोटी, न बहुत पतली होनी चाहिए। पुरानी दतौन सख्त होती है, उसके रस सूख जाते हैं और उसकी कूँची ठीक नहीं बनती।

---

१ तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशांगुलमायतम्। कनिष्ठिकापरीणाहमृज्व्ग्रन्थितमव्रणम्॥
कषायं मधुरं तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः। निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा॥
अर्धशुष्कं त्वचाहीनं यत्नेन परिवर्जयेत्। पतितं चातिरिक्तं च कीटविद्धं तथैव च॥
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुनाकूर्चकेन च। दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन्॥सुश्रुत॥

दतौन को प्रथम दाँतों से कुचल-कुचल कर कूँची बनाना चाहिए। फिर उस कूँची से दाँतों को ऊपर से नीचे को और नीचे से ऊपर को, दाहिनी ओर से बाईं ओर को और बाईं ओर से दाहिनी ओर को, भीतर से और बाहर से दोनों तलों को साफ करना चाहिए। यह कार्य ऐसी मृदुता से होना चाहिए कि मसूढ़ों को किसी प्रकार की भी बाधा न पहुँचे। उसके पश्चात् दतौन को बीच में से चीर कर उससे या जीभी से जिह्वा को साफ कर देना चाहिए।

मंजन-दतौन सर्वावस्था में व सर्वस्थानों में नहीं मिल सकती। उस समय मंजन का उपयोग कर सकते हैं। मंजन पुराने ढंग के और नये ढंग के, सूखे और मलाई जैसे असंख्य प्रकार के होते हैं। सूखे अंगुलियों के साथ और मलाई जैसे कूर्च के साथ काम में आते हैं। नये मंजन अधिकतर खड़िया मिट्टी से बनते हैं और उनमें पर्णासीव (Thymol) ग्रांगविक (Carbolic) अम्ल इत्यादि दुर्गन्धहर और जीवाणुनाशक चीजें मिलाई जाती हैं। पुराने मंजन अधिकतर बादाम के जलाए हुए छिल्कों से या लकडी के कोयले से बनाए जाते हैं और उनमें त्रिफला, त्रिकटु, नमक, फिटकरी इत्यादि दाँतों को मजबूत करनेवाली चीजें मिलायी जाती हैं। सूखे मंजन दरदरे न होने चाहिएँ। मोटे होने से मंजन दाँतों और मसूढ़ों को हानि पहुँचाते हैं।

कूर्च (Brush)—दाँत साफ करने के लिए आजकल कूर्चों का रिवाज बहुत बढ़ गया है। असावधानी से उनका प्रयोग करने पर लाभ की अपेक्षा हानि ही होने की संभावना होती है। इसलिए निम्न नियमों के अनुसार उनका उपयोग करना चाहिए।

केवल अच्छे, मृदु और दन्तपंक्ति की गोलाई के आकार के ब्रुशों का ही उपयोग करना चाहिए। प्रतिदिन उपयोग करने के पश्चात् पानी से उसके बालों की सधों में जमे हुए मैल को साफ करने के पश्चात् उबलते पानी में या विशुद्ध ग्रासव (Rectified spirit) में उसको थोड़ी देर रखना चाहिए। तदनन्तर उसको ऐसे स्थान में रखना चाहिए जहाँ उस पर धूलि मिट्टी इत्यादि न जमने पावे। एक मास से अधिक एक ब्रुश को काम में न लाना चाहिए। दूसरे का ब्रुश न लेना चाहिए, न अपना दूसरे को देना चाहिए।

इस तरह दतौन या मंजन मलने के पश्चात् ठंढे पानी से खूब कुल्ले करने के पश्चात् नेत्रनासादि बाह्यांगों की सफाई करनी चाहिए। मुखशुद्धि[1] सबेरे उठने

---

१. आपोत्थितमाग्रं द्वौ कालौ (सायं प्रातः) कषायकटुतिक्तकम् ॥ चरक ॥
प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम् ॥ अष्टांगहृदय ॥

पर, रात में सोने से पहले और भोजन के पूर्व और पश्चात् करनी चाहिए। इनमें दतौन का प्रयोग सुबह और रात में तथा अँगुलियों का प्रयोग भोजन के पूर्व और पश्चात् कर सकते हैं। आगे भोजन में सेवनविधि (पृष्ठ १९२) तथा भोजनोत्तर (पृष्ठ १९४) भी देखो।

व्यायाम

व्याख्या और लाभ—शरीर के विविध अंग-प्रत्यंगादि से बराबर काम लेकर उनको कार्यक्षम बनानेवाली तथा शरीर की वृद्धि करके उसका बल बढ़ानेवाली जो जो चेष्टाएँ होती हैं वे व्यायाम[1] कहलाती हैं। व्यायाम से श्वसन का कार्य[2] अधिक गम्भीर और तेज होता है, इससे शरीर के भीतर प्राणवायु अधिक मात्रा में पहुँच कर रक्त की शुद्धि होती है और शरीर के भीतर जमा हुआ विषैला वायु (CO_2) अधिक मात्रा में शरीर के बाहर निकल जाता है। हृदय का कार्य भी तेज होकर सम्पूर्ण शरीर के अंगप्रत्यंगों में शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में दौड़ता है और उनके भीतर का मैल बाहर निकल जाता है। त्वचा में अधिक रक्त आने के कारण अधिक पसीना आता है और तद्द्वारा रक्त के मलिन पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। ऐच्छिक तथा अनैच्छिक पेशियों में संकोच-विस्फार अधिक होने के कारण वे सुदृढ और पुष्ट होती हैं और शरीर सुडौल बन जाता है। पाचक अंग अधिक कार्यक्षम होकर अन्न का पाक ठीक होकर मलावरोध दूर हो जाता है और भूख अच्छी लगती है। संक्षेप में शरीर के प्रत्येक अंग में व्यायाम से नव-जीवन का संचार होकर शरीर फुर्तीला हो जाता है।

आवश्यकता—शरीर का स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए व्यायाम अर्थात् शारीरिक परिश्रम एक आवश्यक कर्म है। इसकी आवश्यकता विशेषरूपसे विद्यालय-महाविद्यालय के विद्यार्थी, अध्यापक, प्राध्यापक, वकील, डाक्टर, सेठ साहूकार, बड़े-बड़े हाकिम इत्यादि सपन्न और लिखे पढे लोगों में होती है जिनको जीविका के लिए शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता या अपने मस्तिष्क से अधिक काम

---

१ आयामो विविधोऽङ्गाना व्यायाम इति कीर्तितः ॥ धनुर्वेद ॥
शरीरायासजनक कर्म व्यायामसज्ञितम् ॥ सुश्रुत ॥
शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी । देहव्यायाम संख्याता ॥ चरक ॥

२. स्वेदागमः श्वासवृद्धिर्गात्राणा लाघव तथा ॥ चरक ॥
लाघव कर्मसामर्थ्य दीप्तोऽग्निर्मेदस क्षयः ।
विभक्तघनगात्रत्व व्यायामादुपजायते ॥ अष्टागहृदय ॥

लेना पड़ता है। लुहार, बढ़ई, पल्लेदार, नाविक, सेवक, मजदूर इत्यादि मेहनत मजदूरी करके जीविका कमानेवाले लोगों को व्यायाम स्वतन्त्र रूप से करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि दैनिक व्यवसाय में उनको अकसर शक्ति के बाहर परिश्रम करना पड़ता है। छोटे बच्चों को भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उनका अधिक समय खेल कूद, रोना, हँसना इत्यादि शरीरायास जनक कामों में ही बीतता है।

व्यायाम के प्रकार—देशी, विदेशी, सांघिक और व्यक्तिगत करके व्यायाम करने के असंख्य प्रकार प्रचलित हैं:—जैसे, फुटबाल, वोलीबाल, क्रिकेट, टेनिस, हौकी, बैडमिंग्टन, कबड्डी, गुल्ली डण्डा, सिंगलबार, मलखांब, कुश्ती, तैरना, घोड़े पर सवारी करना, नाव खेना, डण्ड बैठक, सूर्य नमस्कार, आसन, लेजम, बनेठी, फरीगदगा, लाठी चलाना, दौड़ना, मुद्गर, गदा तथा राममूर्ती, सैंडो और मूलर की खास कसरतें इत्यादि। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आयु[1] शक्ति, रुचि, प्रकृति, आहार, फुर्सत, मौसिम इत्यादि के अनुसार व्यायाम को पसंद करना चाहिए। यहाँ पर व्यायाम का विचार स्वास्थ्य रक्षण की दृष्टि से किया जा रहा है, व्यवसायिक प्राविण्य प्राप्त करने की दृष्टि से नहीं। इसलिए व्यायाम का प्रकार पसद करते समय निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए:—

(१) व्यायाम से शरीर के सम्पूर्ण अंगप्रत्यंगों को कुछ न कुछ परिश्रम होना चाहिए। जैसे, सूर्य नमस्कार, मलखांब, तैरना इत्यादि। यदि एक प्रकार के व्यायाम से संपूर्ण शरीर को परिश्रम न हों तो अनेक प्रकार के व्यायामों के द्वारा यह कार्य कर लेना चाहिए। एक ही अंग का व्यायाम करने से केवल वही अंग पुष्ट हो जाता है और व्यायाम का उद्देश्य पूर्णतया साध्य नहीं होता।

(२) व्यायाम में अतियोग न होना चाहिए। व्यायाम उतना करना चाहिए जिससे अधिक थकावट मालूम न हो। सांघिक खेल, जिनमें जीत-हार का प्रश्न रहता है, शर्तें (Races), प्रस्थापित विक्रम (Record) करने की स्पर्धा से खेले हुए खेल, इनमें शक्ति के बाहर व्यायाम होने की सम्भावना हमेशा रहती है। व्यक्तिगत खेलों में या व्यायामों में यह डर नहीं रहता। व्यायाम का अतियोग[2] होने से राजयक्ष्मा, दिल में धड़कन, हृदय की अभिवृद्धि, रक्तपीड़न का

---

१. वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च।
समीक्ष्य कुर्याद्व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्॥ सुश्रुत॥

२. क्षयतृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः।
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसंभवाः॥ सुश्रुत॥

बढ़ना तथा हृदय के अन्य विकार उत्पन्न होकर अकाल मृत्यु होने की संभावना होती है। इसलिए व्यायाम का सेवन मित प्रमाण में अर्थात् अर्धशक्त्या[1] करना चाहिए।

(३) गरीब प्रापंचिक लोग व्यायाम के लिए समय और धन नहीं दे सकते। उनको कुएँ से पानी खींचना, कपडे धोना, लकड़ी चीरना और फोड़ना, (स्त्रियों के लिए चक्की पीसना, धान कूटना) इत्यादि 'काम का काम और व्यायाम' देने वाले घरेलू काम काज करने चाहिएँ।

स्थान और समय—व्यायाम के लिए अच्छा समय प्रातःकाल और सायंकाल ही है। प्रातःकाल व्यक्तिगत व्यायाम के लिए और सायकाल सांघिक खेलों के लिए प्रायः ठीक होता है। व्यायाम हमेशा शुद्ध वातावरण में करना चाहिए। जहाँ धुआँ और धूलि न हो, जहाँ पास कूड़ा कचरा या पाखाना न हो ऐसे स्थानों में व्यायाम करना चाहिए। व्यायामशाला भी एवंगुणविशिष्ट स्थान में जहाँ तक हो सके आबादी से दूर होनी चाहिए। जो लोग घर के बाहर नहीं जा सकते वे व्यायाम घर में कर सकते हैं। इस काम के लिए घर का छत सबसे अच्छा होता है। यदि छत न हो या सरदी बहुत अधिक हो तो जिसकी सब खिड़कियाँ और किवाड़ खोल दिए गए हैं ऐसे कमरे में व्यायामकरना उचित है। झाड़ू लगाने के पश्चात् जल्दी उस कमरे में व्यायाम न करना चाहिए, क्योंकि हवा में उड़ी हुई धूल फुपफुसों में चली जावेगी। व्यायाम के समय बहुत कपड़े पहनने की आवश्यकता नहीं। कपड़ों से व्यायाम करने में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टि से लँगोट या जाँघिया और निकर और गजी या स्वेटर पर्याप्त होते है।

व्यायामोत्तर—व्यायाम के बाद शरीर को थकान अवश्य होता है तथा पसीना भी खूब आता है। इसलिए शरीर को हवा के झोंके झपाटे से बचाना चाहिए और भींगे कपड़ों को बदलना चाहिए। उसके पश्चात् तथा थोड़ी देर आरामकुर्सी पर या बिछौने पर आराम करना चाहिए। उस समय शरीर की थोड़ी मालीश भी करनी चाहिए। मालीश और आराम से थकावट शीघ्र दूर हो जाता है। शरीर पूर्ववत् याने श्वास और हृदय की चाल पहिली जैसी होने के

---

१. सर्वेष्वृतुष्वहरह पुंभिरात्महितैषिभिः।
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा॥
हृदिस्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते।
प्रस्वेदान्मुखशोषाच्च बलार्धं तद्धि निर्दिशेत्॥ सुश्रुत॥

पश्चात् और पसीना सूखने के पश्चात् स्नान (पृष्ठ १८४), भोजन (पृष्ठ १९२) या अध्ययन करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि व्यायाम के समय या उसके समाप्त होने पर प्यास या भूख मालूम हो तो, मीठा या खारा पानी, शर्वत, चाय, काफी या कोको ऐसे पेय पीने में कोई हर्ज नहीं।

वायु सेवन—व्यायाम के साथ वायु सेवन का घनिष्ठ संबंध है। प्राणवायु शरीर का बड़ा आधार है। यह प्राणवायु हमको हवा से मिलता है। इसलिए वायु सेवन के सबंध में कुछ स्वास्थ्यप्रद नियमों का यहाँ पर विचार किया जाता है।

हमेशा विशुद्ध वायु प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। इस दृष्टि से जहाँ हवा की खुलासगी होती है ऐसे मकान, मुहल्ले और स्थान रहने के लिए तथा काम-धंधा करने के लिए पसन्द करने चाहिएँ। गरीवी के या व्यवसाय के कारण जिनको गन्दे मकानों, गुंजान महल्लों और खराव वातावरणों में रहना या काम करना पड़ता है उनको अपने दूषित स्थानों से वाहर निकल कर थोड़े समय के लिए नित्यप्रति खुली हवा में व्यायाम करने की या कम से कम टहलने या वैठने की आदत डालनी चाहिए। वायु सेवन प्रश्वसन के द्वारा किया जाता है। इसलिए वायु सेवन में श्वास-प्रश्वास के निम्न नियमों पर ध्यान देना चाहिए।

१—नासिका द्वारा सदा श्वासोच्छ्वास की क्रिया करो। श्वास और प्रश्वास हमेशा नासिका से लेना और त्यागना उचित है। जो लोग मुख द्वारा श्वास-प्रश्वास की क्रिया करते हैं उनके फेफड़ों में कुछ न कुछ विकार होने की सभावना होती है। जो हवा हम श्वास से भीतर लेते हैं वह कई वार अस्वास्थ्यकर होती है। उसका कारण यह है कि वाहर की हवा सूखी या गीली, गरम या ठंढी, तथा धूलि या दुर्गन्ध से मिश्रित होती है और उसमें जहरीले वात भी रहने की संभावना होती है। ऐसी हवा को शरीर के भीतर लेना हो तो उक्त दोषों को हटाना चाहिए। नासिका द्वारा श्वास लेने से उक्त दोषों का निराकरण होकर हवा निर्दोष वनकर भीतर जाती है। नासिका की झिल्ली (Mucous membrane) आर्द्र तथा अनेक सूक्ष्म सिराओं और वालों से युक्त रहती है। जव हवा नासिका में से होकर भीतर प्रवेश करती है तव उसमें होने वाले धूलि, आदि के कण नाक की आर्द्र झिल्ली में चिपक जाते हैं या नाक के वालों में अटक जाते हैं। नाक का मार्ग मुख मार्ग से लम्वा और तंग है और उसके सिरासमूह में रक्ताधिक्य रहने से श्वास की हवा शरीर के ताप के वरावर तप्त हो जाती है। नाक के अन्दर छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं जिनसे एक प्रकार का जलीय पदार्थ निकल कर श्वास के वायु को कुछ आर्द्र करता है। मस्तिष्क नाड़ियों की पहिली

जोड़ी, जिसको 'गंधनाड़ी' (Olfactory nerve) कहते हैं, गंध परखने के काम के लिए नाक में गयी है और उसकी बारीक शाखाएँ नाक के ऊपरी भाग में फैली हैं। बाहर के पदार्थ अथवा उनकी गंध, जब नाक के समीप आती है तब उन पदार्थों या गंध के परमाणुओं को गधनाडी के तन्तु ग्रहण कर लिया करते हैं और मस्तिष्क को उस गंध की सूचना देते हैं। इसलिए नाक से श्वास लेने पर यदि हमें किसी खराब हवा की सूचना मिले तो हम श्वास लेना बन्द कर उस स्थान से दूर निकल पड़ते हैं। सक्षेप मे, नासिका द्वारा श्वास लेने से दुर्गन्ध, धूलि आदि बाधाओं से मनुष्य बचता है, हवा शरीर के ताप के बराबर तप्त और कुछ आर्द्र होकर फेफड़ों में प्रवेश करती है, और हवा में यदि कोई जहरीला या स्वास्थ्य हानिकर पदार्थ हो तो उसकी सूचना मनुष्य को मिलती है। इसलिए वायु सेवन हमेशा नासिका द्वारा करना उचित है।

२—पूरी और गम्भीर श्वास लेनी चाहिए। पूरी गम्भीर श्वास लेने से शरीर के भीतर प्राणवायु अधिक परिमाण में पहुँचता है, फेफड़ों के सारे वायुकोष अच्छी तरह फैल जाते हैं और उनमें जो अशुद्ध रक्त आता है वह प्राणवायु के साथ भली-भाँति मिलकर शुद्ध होता है।

३—पूरी तरह से निश्वास भी करो, ताकि श्वास की हवा में जो अशुद्धियाँ मिल जाती है वे अधिकांश में निकल कर बाहर जा सकें।

४—सिर सीधा रखकर श्वास-प्रश्वास की क्रिया करो।

जब माथा झुका रहता है तो फेफड़ों के शिखर (Apex) सिकुड़ते हैं और उनमें हवा खुली तौर से नहीं प्रवेश कर सकती। इससे रोगोत्पादक जीवाणुओं को वहाँ निवास करने का सुयोग मिलता है। राजयक्ष्मा के जीवाणु सर्वप्रथम फुफ्फुस के ऊपरी भाग में ही अपना डेरा जमा देते हैं।

शरीर की स्वच्छता

केश—केश प्राणियों के शरीर की रक्षा का एक नैसर्गिक साधन है। ये उष्णता के अवाहक होने के कारण शीतोष्ण से, अधिक होने पर धूलि तथा जीवाणुओं को रोक कर उनसे शरीर की रक्षा करते हैं। शरीर रक्षा के लिए जितने बाल शरीर पर होने चाहिएँ उतने बाल मनुष्यों में न होने के कारण तथा शरीर रक्षा के अन्य उत्तम साधन मनुष्यों के पास उपलब्ध होने के कारण मनुष्यों में शरीर रक्षा की दृष्टि से उनका महत्त्व बहुत कम हो गया है। तिस पर भी शिर के बाल शीत, उष्ण और आघात से खोपड़ी की, पलकों के बाल आँखों की और नाक के बाल नासा तथा (पृष्ठ १८०) श्वसन संस्थान की रक्षा करने में सहायता करते हैं।

मनुष्यों में वालों का विचार शरीर रक्षा की अपेक्षा स्वास्थ्य रक्षा के साथ अधिक निगड़ित होता है। जहाँ पर वाल अधिक होते है जैसे सिर, वगल, जाँघ इत्यादि, वहाँ पर स्वच्छता रखना कठिन हो जाता है, भूसी पैदा हो जाती है, जुएँ पड़ जाते हैं, मैल इकट्ठा हो जाता है और गरमी के दिनों में पसीने के कारण दुर्गंध आने लगती है। इसलिए उनको समय-समय पर कैंची से या केशकर्तनयन्त्र से छोटा करा देना या अस्तुरे से विलकुल निकाल देना चाहिए[1]।

पुरुषों को शिरके वाल अधिक लंवे रखने की आवश्यकता नहीं। स्त्रियों में यह प्रश्न सौंदर्य और धर्म के साथ संवंध रखता है। इसलिए उनमें वाल कटवाने की प्रथा नहीं है। उनको चाहिए कि वे प्रतिदिन वालों को तेल लगाकर कंघी और कूर्च से साफ रखें और सप्ताह में एक वार शिकेकाई, रीठे या सावुन और पानी से धोवें। वाल सँवारने के लिए कंघे और कूर्च दोनों मुलायम होने चाहिएँ, क्योंकि इनके कठिन होने से त्वचा में दर्द होकर उसके छिल जाने का डर होता है।

हजामत वनाने के लिए अस्तुरे का प्रयोग करते समय निम्न वातों पर ध्यान देना चाहिए। सावुन, कूर्च, अस्तुरा इत्यादि हजामत की सव सामग्री अपनी-अपनी अलग होनी चाहिए। अपनी चीजें दूसरों को न देनी चाहिए और दूसरों की चीजें अपने काम में कदापि न लानी चाहिए। जहाँ तक हो सके हजामत (डाढ़ी) अपने आप वनानी चाहिए। यदि प्रसङ्ग वश नाई के अस्तुरे से वनावे तो अस्तुरे को पाँच मिनिट शुद्ध आसव (रेक्टिफाइड स्पिरिट) में रख कर काम में लावे। नाई के अस्तुरे वहुत गन्दे होते हैं और उनके प्रयोग से फोडे फुन्सियाँ निकल आने का डर होता है और जव ये फुन्सियाँ निकल आती हैं तव कठिनता से अच्छी होती है।

नख—मनुष्येतर प्राणियों में नख वड़े और मजवूत होकर शस्त्र का काम करते हैं। मनुष्यों में उस दृष्टि से उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। नख लम्वे हो जाने से उनके नीचे मैल, रोगोत्पादक जीवाणु, कृमियों के अडे इत्यादि विषैली चीजें इकट्ठे हो जाती हैं। जव हम चर्म को खुजलाते हैं तव यह मैल चर्म छिद्रों से, रोम कूपों से या नखों से ही उत्पन्न हुए छोटे व्रणों से शरीर में पहुँचकर अनेक प्रकार के स्थानिक या सार्वदैहिक रोग उत्पन्न कर सकता है। भोजन करते

१. पचरात्रान्नखश्मश्रुकेशरोमाणि कर्तयेत्।
केशश्मश्रुनखादीना कल्पनं सप्रधानम्॥
पौष्टिक वृष्यमायुष्य शुचिरूप विराजनम्।
केशप्रसाधनं केश्यं रजो जन्तु निवारणम्॥ योगरत्नाकर॥

समय वही मैल भोजन के साथ हमारे शरीर में पहुँचकर वही कार्य करता है। जो बच्चे तन्तुकृमि से पीड़ित होते हैं वे नाखुनों के मैल से ही अपने को बार-बार उपसृष्ट करते हैं (आगे तन्तुकृमि का प्रसार देखो)। बड़े मनुष्य (परोसिया) नखों के मैल से (वाहक देखो) अपने भोजन के समान दूसरों का भी भोजन दूषित करके उनको भी हानि पहुँचा सकते है। इस प्रकार नखों का मैल दूसरों का रोग अपने में उत्पन्न कर सकता है, अपना रोग दूसरों के ऊपर संक्रान्त कर सकता है तथा अपना रोग शरीर में कायम रखने में सहायता करता है। इसलिए नखों को समय-समय पर काटना चाहिए और उनमें मैल एकत्रित न होने देना चाहिए। भोजन करने से या परोसने से पहले हाथों को विशेष करके नखों को अच्छी तरह स्वच्छ कर डालना चाहिए।

[1]अभ्यंग—शरीर पर तेल की मालिश करने को अभ्यंग कहते हैं। इसके लिए सरसों, तिल या कोई ओषधि तैलों का प्रयोग कर सकते हैं। स्नान करने से पहले प्रतिदिन, विशेषकर जाड़ों के दिनों में, इसका प्रयोग करना चाहिए। इससे निम्न फायदे होते हैं:—(१) त्वचा मुलायम तथा मजबूत हो जाती है। (२) त्वचा के रन्ध्र खुल जाते हैं, त्वचा में रक्त भ्रमण खूब होता है और खासी कसरत भी हो जाती है। (३) त्वचा में स्निग्ध द्रवों के शोषण की शक्ति होने के कारण मालिश के तेल का कुछ अश शरीर में प्रवेश करके उसको पुष्ट करता है। (४) तेल मलकर फिर थोड़ी देर धूप में बैठा जावे तो जीवितिक्ति घ (पृष्ठ ७०) बन जाती है। बच्चों को इस द्रव्य की बहुत ही आवश्यकता होती है, इसलिए उनको अभ्यंग के पश्चात् धूप में थोड़ी देर तक रहना बहुत हितकारी है। (५) इससे त्वचागत मैल ढीली होकर स्थान-स्थान पर एकत्र हो जाती है और नहाते समय आसानी से छूटती है। अभ्यंग के पश्चात् जरूर नहाना चाहिए, ताकि शरीर चिकना न रहे और कपड़े गन्दे न होने पावें।

अपने देश में तैल की मालिश करके धूप में बैठने का रिवाज बहुत पुराना रहा है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के रिवाज में उसका स्थान न होने

---

१. अभ्यंग—अभ्यंगमाचरेन्नित्यं सर्वेष्वंगेषु पुष्टिदम्।
शिर:श्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्॥ योगरत्नाकर॥
स्नेहाभ्यंगाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्।
तथा शरीरमभ्यंगाद् दृढ सुत्वक् च जायते॥ चरक॥
कषायापहृतस्नेहस्ततो स्नातो यथाविधि॥ अष्टांगहृदय॥

से वह वर्तमानकाल में नागरिकों में बहुत कम हो गया है। परन्तु यह ठीक नहीं। इसका हानिकर परिणाम बच्चों में बहुत दिखाई देने लगा है।

स्नान—शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता का सबसे बड़ा साधन स्नान है। क्योंकि उसका सम्बन्ध त्वचा के साथ होता है। त्वचा शरीररक्षा का एक अंग है और गिलाफ की तरह सम्पूर्ण शरीर को ढाँकती है। उसके ऊपर धूलि, मिट्टी, सूक्ष्म तन्तु, जन्तु इत्यादि बाहर-बाहर से जमा होते हैं। श्वसन, पचन और मूत्रप्रजनन संस्थानों की नालियाँ उसी पर खुलती हैं और आस-पास की त्वचा को खराब करती हैं। इसके अतिरिक्त त्वचा में असंख्य छिद्र होते हैं जिनमें से शरीर की धातुओं की मैल पसीने के रूप में निरन्तर बाहर आया करती है और उसके सूखने पर त्वचा पर तथा उन छिद्रों में जम जाती है। गर्मी के दिनों में जब पसीना अधिक आता है तब त्वचा पर अधिक मैल जमा होती है और उससे दुर्गन्ध आने लगती है। इस तरह त्वचा पर अधिक मैल इकट्ठा होने पर पसीने के छिद्र बन्द हो जाते हैं और भीतर की मैल अच्छी तरह बाहर न निकलने के कारण शरीर का अन्तरंग भी मैला होने लगता है। स्नान करने से त्वचा के तथा पसीने के छिद्रों के मुँह पर जो मैल एकत्र होता है वह निकल जाती है, भीतर की मैल भली भाँति बाहर आ सकती है और त्वचा में रक्त खूब दौड़ता है। इस तरह त्वचा निर्मल, नीरोग और पुष्ट होकर शरीर रक्षा का अपना कार्य अच्छी तरह करने लगती है। स्नान से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए।

प्रतिदिन स्नान करना चाहिए। स्नान के लिए सबसे अच्छा समय प्रातःकाल है। गर्मी के दिनों में, जबकि पसीना अधिक आता है, सायंकाल में भी दूसरी बार स्नान कर सकते हैं। व्यायाम के पश्चात् आधे घण्टे के भीतर और भोजन के पश्चात्[1] तीन घण्टे के भीतर स्नान कदापि न करना चाहिए। अत्यन्त थकावट में या क्षुधाक्रान्त स्थिति में स्नान न करना चाहिए। व्यायाम के पश्चात् स्नान करने से सर्दी (Exposure) का, भोजन के पश्चात् स्नान करने से पचन में खराबी होने का और अनशन तथा थकावट में स्नान करने से मूर्छा या चक्कर आने का डर रहता है।

स्नानजल के प्रकार—ताप के अनुसार स्नानजल के अनेक प्रकार (१) अतिशीत—३२° से ६५° फै; (२) शीत—६५° से ७५° फै, (३) मध्यम—७५° से

---

१. न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा ॥ मनुस्मृति ॥

८५° फै; (४) मन्दोष्ण—८५° से ९२° फै; (५) उष्ण—९२° से ९८° फै; (६) अतिउष्ण—९८° से ११२° फै किये जाते हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से शीत (प्रथम दो प्रकार), मन्दोष्ण (द्वितीय दो प्रकार) और उष्ण (तृतीय दो प्रकार) ये तीन प्रकार पर्याप्त होते हैं। स्नान के लिए जल का ताप अपनी प्रकृति के अनुसार पसन्द करना चाहिए। जल का ताप उचित होने से स्नान करने पर त्वचा में गर्मी और सुर्खी आ जाती है, शरीर में फुर्ती उत्पन्न होती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है। जल का ताप अनुचित होने से स्नान करने पर सर्दी मालूम होती है और तबियत गिरी हुई सी रहती है। जहाँ तक हो सके सदैव ठंढे जल से ही नहाना चाहिए। ठंढा जल उत्तेजक होता है और शरीर को बल प्रदान करता है। जो लोग ठंढे जल को नहीं सह सकते वे पहले मन्दोष्ण पानी से प्रारम्भ करें फिर उसका ताप धीरे-धीरे कम करते जावें। तिस पर भी अगर वे ठंढे जल को न सह सकें तो सदा के लिए मन्दोष्ण या गरम पानी का प्रयोग करें।

गरम जल से शरीर पर का मैल ठंढे जल की अपेक्षा जल्दी छूट जाता है, परन्तु उसमें सुस्ती उत्पन्न करने का दोष होता है। जो लोग सदैव ठंढे पानी से स्नान किया करते हैं उनको कारणवश गरम पानी से स्नान करने का मौका पड़े तो वे मन्दोष्ण पानी का प्रयोग करें और उष्ण पानी से स्नान करना पड़े तो स्नान जल्दी समाप्त करें; अन्यथा मूर्च्छा या चक्कर आने का डर रहता है। रोगी तथा दुर्बल मनुष्यों को ठंढे पानी से स्नान न करना चाहिए। उनके लिए मन्दोष्ण या उष्ण जल का प्रयोग या उष्ण जल में निचोड़े हुए तौलिए से शरीर का परिमार्जन उचित होता है। जिनको नींद न आने का रोग हो वे रात को सोते समय गरम जल से स्नान करें; इससे उनको नींद आने लगेगी। स्वस्थ मनुष्य को स्नान के समय गरम पानी सिर पर न डालना चाहिए। सिर ठंढे पानी से या सुहाते-सुहाते पानी से धोना चाहिए।

स्नान नदी, तालाब इत्यादि जलाशयों में डुबकी लगा करके, लोटे इत्यादि पात्र से शरीर पर पानी डाल करके, कल या फुव्वारे के नीचे बैठ करके तथा नाँद या टब में पानी भर के उसमें बैठ या लेट करके किया जा सकता है। नाँद में नहाया जावे तो पहले पानी को जिसमें मैल अधिक आती हो फेंक देना चाहिए और फिर दोबारा साफ पानी भर के नहाना चाहिए। डुबकी के स्नान (Plunge-bath) बड़े स्वास्थ्यप्रद होते हैं, परन्तु उनमें प्रतिक्रिया अकस्मात् होने के कारण वे जवानों के लिए योग्य होते हैं, बच्चों और बूढ़ों के लिए अच्छे नहीं। जिन जलाशयों की जानकारी नहीं होती या साथ कोई उनको जाननेवाला नहीं होता उनमें

डुबकी स्नान न करना चाहिए। फुव्वारे का स्नान भी बड़ा फुर्तीला होता है। स्नान के समय शरीर पर बहुत कम कपड़े होने चाहिएँ। शरीर पर कपड़े होने से उसकी सफाई ठीक नहीं हो सकती। इस दृष्टि से स्नान के लिए स्वतन्त्र स्थान (स्नानगृह) हो तो बहुत अच्छा है। स्त्रियों के लिए तो उसकी नितान्त आवश्यकता है। नदी या तालाब पर उनके लिए स्वतन्त्र घाट होने चाहिएँ। स्नान के समय सम्पूर्ण शरीर की विशेष करके ग्रीवा, कक्षा, जाँघ इत्यादि अधिक पसीना आनेवाले और बाल होनेवाले स्थानों की सफाई की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। शरीर की सफाई हाथों या तौलिये की रगड़ से प्रायः हो जाती है।

प्रतिदिन स्नान करनेवालों को और स्वच्छ वातावरण में रहनेवालों को शरीर की मैल उतारने के लिए हाथों या तौलिए को छोड़ कर अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब धुआँ या धूल बहुत उड़ती है या पसीना बहुत आता है तब शरीर की मैल उतारने के लिए शिकेकाई, साबुन इत्यादि का उपयोग करना हितावह होता है। इनके साथ गरम जल का प्रयोग करना अच्छा है। त्वचा के लिए साबुन विशेष प्रकार के होते हैं जो नहाने के या सिंगारी (Toilet) साबुन कहलाते हैं। इनमें मधुरी (Glycerine) अधिक और क्षार कम रहता है। जो साबुन कपड़े धोने के लिए बनाए जाते हैं उनमें क्षार अधिक रहता है जो त्वचा को हानि पहुँचाता है। इसलिए कपड़ों के साबुनों का उपयोग त्वचा के लिए जहाँ तक हो सके न करें।

नहाने के पश्चात्[1] संपूर्ण शरीर को स्वच्छ धोए हुए सूखे अँगोछों से अच्छी तरह रगड़ कर पोछें। इससे शरीर की बची हुई मैल निकल जाती है। गीला अँगोछा यह काम ठीक तरह नहीं कर सकता। दूसरे का अँगोछा अंग पोंछने के लिए काम में न लाना चाहिए।

भोजन

भोजन कौन बनावे—रसोई बनाना एक अत्यन्त महत्व का कार्य है। इसलिए जहाँ तक हो सके यह कार्य माता[2], पत्नी, बहन इत्यादि अपने प्रेमी मनुष्यों के द्वारा होना ही अधिक प्रशस्त है। आपके स्वास्थ्य की चिन्ता जितनी माता, पत्नी इत्यादि को होगी उतनी नौकरों को नहीं हो सकती। स्वच्छता और

---

१. स्नानस्यानन्तरं सम्यग्वस्त्रेणाङ्गस्य मार्जनम्।
कान्तिप्रदं शरीरस्य कण्डूत्वग्दोषनाशनम्॥ भावप्रकाश॥

२. पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम्। महाभारत॥

खाद्य पेय द्रव्यों की बचत की दृष्टि से घर के लोग हमेशा ही फायदेमन्द होते हैं। इसलिए रसोई बनाने का काम यदि गृहदेवियाँ करें तो सब प्रकार से लाभदायक होगा। यदि किसी कारण से यह न हो सके तो अच्छी देख भाल करके रसोइयों को[1] नियुक्त करना चाहिए। नियुक्ति के समय उसका स्वभाव, स्वच्छता की आदतें और पूर्व रोगों का इतिहास इन तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

सूपकार—रसोइया क्रोधी, द्वेषी और असंतोषी न होकर ऐसे सुभाव का होना चाहिए कि उसे देख कर चित्त प्रसन्न हो। केश-नख-कर्तन, स्नान, धौत वस्त्र धारण इत्यादि शरीर की बाह्य शुद्धि पर ध्यान देनेवाला भी उसे होना चाहिए। उसे प्रतिदिन रसोई बनाने के पहले स्नान करके स्वच्छ वस्त्र परिधान करना चाहिए। रसोई बनाना एक अत्यन्त शुद्ध और पवित्र कर्म है। परन्तु अधिकतर यह देखा जाता है कि रसोइया उस काम के लिए खास गंदा कपड़ा पहना करता है और घरवाले भी उसका विरोध नहीं करते। यह पद्धति अत्यन्त खराब है। रसोइये के आरोग्य के इतिहास में उसके रतिजन्य (Venerial) और अतीसार, आन्त्रिक आदि पचन संस्थान के संक्रामक रोगों के संबंध में जाँच करनी चाहिए। रतिजन्य रोग(फिरंग, सोजाक) सांसर्गिक होते हैं और घर के लोगों पर विशेषतया बच्चों पर संक्रान्त हो सकते हैं। आन्त्रिक, अतीसार रोगों के वाहक (Carrier) होते हैं। यदि रसोइया इनका वाहक हो तो वह इन रोगों को घर के सब लोगों पर संक्रान्त कर सकता है। अच्छे लोगों में और छात्रावास के विद्यार्थियों में आन्त्रिक का प्रसार होने का एक कारण वाहक रसोइया है।

भोजन के पात्र—भोजन के लिए सोना चाँदी के पात्र सर्वोत्तम होते हैं। परन्तु सर्व साधारण के लिए यह होना असंभव है। इसलिए काँसे के पात्रों का या आजकल मिलनेवाले बढ़िया अकलङ्क वज्रायस (Stainless steel) के पात्रों का उपयोग करना चाहिए। पीतल ताँबे के पात्रों का उपयोग करना हो तो अच्छी तरह कलई करके करना चाहिए। केले के पत्ते या ढाक की पत्तले भी भोजन के लिए अच्छी होती हैं। परन्तु उनको साफ धोकर लेना चाहिए। पीने का पानी रखने के लिए ताँबे का पात्र सर्वोत्तम होता (पृष्ट ४५) है। परन्तु उसको प्रतिदिन खूब साफ रखना चाहिए। चटनी, अचार, रायता इत्यादि खट्टे पदार्थों के लिए काँच, बिलोर, पत्थर, मिट्टी इत्यादि के पात्र काम में लाने चाहिएँ।

भोजन के तथा पकाने के पात्र सदैव बहुत निर्मल रखने चाहिएँ। बर्तन माँजने

---

१. शुचयो दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शिनः।
संविभक्ताः सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः॥ सुश्रुत॥

के लिए रास्ते की मिट्टी कदापि काम में न लानी चाहिए। उसमें वास्तव में दुनिया भर के विकारी जीवाणु विद्यमान रहते हैं। वर्तन माँजने के लिए चूल्हे की राखी अच्छी होती है। माँजने के पश्चात् उनको स्वच्छ वहते पानी से (जैसे कल के) साफ करना चाहिए। एक बाल्टी में रक्खे हुए पानी में सब वर्तनों को धोना अच्छा नहीं।

भोजन कैसा होना चाहिए[1]—भोज्य पदार्थ दर्शन, गन्ध और स्वाद में आकर्षक होने चाहिएँ। जिन्हें देखकर अरुचि, या घृणा उत्पन्न होती है ऐसे पदार्थ न सेवन करने चाहिएँ, क्योंकि घृणा के कारण पाचक रस आवश्यक मात्रा में उत्सर्गिक नहीं होते और अपचन होने की संभावना रहती है।

बासी भोजन कभी न सेवन करना चाहिए। सदैव ताजा उष्ण भोजन सेवन करना चाहिए। ताजे भोजन की उष्णता पचन क्रिया को भली भाँति उत्तेजित करके अन्न पचाने में सहायता करती है। बासी भोज्यद्रव्यों में पोषकता कम रहती है, वे पचन में गरिष्ठ हो जाते है और कभी-कभी उनमें सड़ने का कार्य भी प्रारंभ होता है जो शरीर को अधिक हानि पहुँचाता है। जब तक उनमें दुर्गन्ध नहीं पैदा होती तब तक हमें उसका पता नहीं चलता। परंतु सडने का कार्य दुर्गन्ध उत्पन्न होने से बहुत पहले प्रारम्भ होता है।

खाद्यद्रव्य मन्दोष्ण हों। अतिशीत या अत्युष्ण न हों। वे अधपके या अधजले भी न हों। सदैव इनेगिने खाद्यद्रव्यों से भोजन न करना चाहिए। प्रत्येक ऋतु में मिलने वाले शाक-पत्र, कद-मूल-फल आदि का भी सेवन न्यूनाधिक मात्रा में करना चाहिए। भोजन में साग-सब्जी का होना अत्यावश्यक है, परंतु उसका अतियोग कदापि न करे। भोजन में इस बात पर भी ध्यान रक्खें कि शरीर वृद्धि के लिए आवश्यक सब उपादान उचित अनुपात में हैं या नहीं। असतुलित आहार पर्याप्त मात्रा में होने पर भी स्वास्थ्यनाशक होता है।

भोजन में सदैव सादगी रखनी चाहिए। गरम मसाले, अचार, चटनी, पकौड़ी, समोसा इत्यादि खाद्यद्रव्यों का सेवन नैत्यिक भोजन में जितना कम हो सके

---

१. विशिष्टमिष्टसस्कारैः पथ्यैरिष्टैरसादिभि.। मनोज्ञ शुचिनात्युष्ण प्रत्यग्रमशन हितन्॥
अचोपं दुष्टमुत्सृष्ट पाषाणतृणलोष्टवत्। द्विष्ट व्युषितमस्वादु पूति चान्न विवर्जयेत्॥
चिरसिद्ध स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृत पुनः। अशान्तमुपदग्ध च तथा स्वादु न लक्ष्यते॥
तस्मात् सुसंस्कृत युक्त्या दोषैरेतैर्विवर्जितम्। यथोक्तगुणसंपन्नमुपसेवेत भोजनम्॥
न चैकरससेवाया प्रसज्येत कदाचन। शाकावराान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेत्॥
सुश्रुत॥

उतना अच्छा (पृष्ठ १६१) है। मिष्टान्न, पक्वान्न, गरिष्ठ भोजन में इनका सेवन कुछ मर्यादा तक हितकर होता है, क्योंकि ये पदार्थ पाचक रसों को उत्तेजित करके पाचन मे सहायता करते हैं तथा भोजन के स्वाद को बढ़ाते हैं।

भोजन की मात्रा[1]—इस विषय का औपपत्तिक विवरण पीछे (पृष्ठ ७६) हो चुका है। यहाँ पर कुछ व्यावहारिक नियम बताये जाते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को देश, काल, व्यवसाय, अवस्था इत्यादि के अनुसार अपने अनुभव पर आहार की मात्रा निर्णीत करनी चाहिए। जितनी मात्रा सुखपूर्वक पच सके वही वास्तविक मात्रा होती है। गरिष्ठ पदार्थ हों तो मात्रा कम करनी चाहिए। इसके लिए निम्न दो नियम बहुत उपयोगी हैं—

(१) जठर के चार भाग समझ कर दो भाग अन्न, एक भाग पानी सेवन करें और एक वायुसचरण के लिए खाली रक्खें। जठर रस से अन्न का पचन आमाशय से होनेवाली मन्थन क्रिया के कारण होता है। इस क्रिया के लिए आमाशय का कुछ भाग खाली रहना अत्यावश्यक होता है। यदि आमाशय में अन्न की भरमार कर दी जाय तो तद्द्वारा होने वाली मन्थन की क्रिया ठीक न होगी और उससे अन्न का जाठरिक पचन भी ठीक न हो पावेगा।

(२) उचित मात्रा में भोजन करने पर छाती, उदर, जठर इत्यादि स्थानों में भारीपन नहीं मालूम होता, हृदय के कार्य में कोई बाधा नहीं होती, क्षुधाशमन होकर तृषा अधिक नहीं मालूम होती, श्वास-प्रश्वास में कठिनाई नही होती और बातचीत करने से दम नहीं फूलता।

सदैव मात्रा के अनुसार भोजन करना चाहिए। मात्रा से अधिक भोजन करने वाले अपने हाथों से अपनी कब्र खोदते हैं। जिस प्रकार अतियोग हानिकर (पृष्ठ ८९)

---

१. मात्राशी सर्वकाल स्यान्मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्तिका। मात्राद्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरूण्यपि लघून्यपि॥
गुरूणामर्धसौहित्यं लघूना नातितृप्तता। मात्राप्रमाण निर्दिष्टं सुख यावद्विजीर्यते॥
वाग्भट॥

अन्नेन कुक्षेर्द्वौ भागौ पानेनैक प्रपूरयेत्। चतुर्थं पवनादीनामाश्रयाय निषेवयेत्॥
अपीडन भवेत् कुक्षेः पार्श्वयोरवपीडनम्। अन्नेन हृदयाबाधो जठरस्य तु गौरवम्॥
प्रीणन चक्षुरादीना शमन क्षुत्पिपासयोः। उच्छ्वासश्वासहास्यादिकथासु सुखवर्तनम्॥
सुखेन परिणामः स्यादन्ने भुक्ते दिवा निशि। हीनमात्रमसतोष करोति च बलक्षयम्॥
आलस्यगौरवाटोपसादाश्च कुरुतेऽधिकम्॥ सुश्रुत॥

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥

होता है वैसे हीनयोग भी अहित (पृष्ठ ९०) करता है। रात्रि का भोजन दोपहर की अपेक्षा मात्रा में कुछ कम होना चाहिए।

भोजन का समय[1]—भोजन उस समय करना चाहिए जब उसकी आवश्यकता प्रतीत हो। जैसे शरीर को पानी की आवश्यकता होने पर प्यास मालूम होती है वैसे ही शरीर को अन्न की आवश्यकता होने पर भूख मालूम होती है। इसलिए भोजन का समय ज्ञात होने के लिए घड़ी की जरूरत नहीं होती। भूख लगना यही भोजन का काल है और उस समय सैकड़ों काम छोड़कर[2] भोजन करना चाहिए। न करने से ग्लानि, बलक्षय, भ्रम इत्यादि पैदा होते हैं और शरीर क्षीण हो जाता है।

जिस प्रकार सच्ची भूख लगनें पर भोजन न करना हानि कर होता है उसी प्रकार भूख न लगने पर भोजन करना भी हानिकर होता है। पहले सेवन किए हुए भोजन से जब तक आमाशय खाली नहीं होता तब तक वह दूसरा भोजन ग्रहण करने के लिए तयार नहीं होता। भूख न लगने का यही अर्थ है। यदि इस अवस्था में जबरदस्ती भोजन किया जावे तो आमाशय उसको अच्छी तरह हजम नहीं कर सकता और अजीर्णादि रोग उत्पन्न होते हैं। यदि सदैव इस प्रकार भोजन करने का अभ्यास रक्खा जाय तो पचन संस्थान सदा के लिए निकम्मा हो जाता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि सच्ची और झूठी करके भूख भी दो प्रकार की होती है। सच्ची भूख लगने पर शरीर में बेचैनी नहीं होती, चित्त प्रसन्न और शान्त रहता है, भोजन में रुचि होती है और चटनी अचार इत्यादि कृत्रिम रुचि उत्पन्न करने वाले पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती। झूठी भूख में जब तक अन्न नहीं देखा तब तक भूख बहुत मालूम होती है, परन्तु भोजन सामने आने पर वह काफूर हो जाती है और रुचि उत्पन्न करने के लिए चटनी अचार आदि कृत्रिम द्रव्यों की आवश्यकता होती है। यद्यपि भूख लगने पर भोजन करने का सिद्धान्त बहुत अच्छा है तथापि अपने व्यवसाय के अनुसार उसके लिए समय नियत करना अच्छा है। जो लोग नियत समय पर भोजन करते हैं वे नीरोग रहते हैं

१. प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषेष्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति।
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विषदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितः कालः स हि मतः॥ वाग्भट॥

२. शतं विहाय भोक्तव्यम्।

और जो इसके विपरीत काम करते हैं वे अस्वस्थ रहते हैं। यदि किसी दिन किसी कारण से समय पर भूख न मालूम हो तो भोजन न करना चाहिए।

भोजन की ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए कि प्रतिदिन ठीक समय पर भूख मालूम हुआ करे। एक बार किया हुआ भोजन ५-६ घण्टे में हजम हो जाता है। यदि इस बीच में कुछ न खाया जाय तो ५-६ घण्टे के बाद जरूर भूख लग जायगी। जो लोग दिन भर कुछ न कुछ खाया करते हैं उनको समय पर भूख नहीं लगती और बेवक्त भूख लगती है। इस प्रकार अव्यवस्थित भोजन करना ठीक नहीं। दिन में कितनी बार भोजन करना चाहिए इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवसाय शक्ति इत्यादि का विचार करके करें। सामान्यतः दो बार[1] भोजन करने की रीति है। यह रीति बहुत अच्छी है। परन्तु सबके लिए योग्य नहीं है। इसमें व्यवसाय के अनुसार थोड़ा फर्क करना जरूरी है। किसान, मजदूर इत्यादि श्रमजीवी लोगों को अधिक अन्न की आवश्यकता होती है तथा वे अपना अन्न शीघ्रता से हजम कर सकते हैं। यदि वे दो बार में अपना पूरा अन्न ग्रहण करें तो आमाशय के ऊपर अधिक बोझ पड़ेगा और अधिक मात्रा में भोजन करने के सब दोष उत्पन्न होंगे। अतः इनके लिए प्रातःकाल भोजन करना हितकर तथा आवश्यक है।

भोजन कितनी वार करना चाहिए तथा कर सकते हैं इसका उत्तर एक वार सेवन किया हुआ भोजन कितने घंटों में हजम होता है इस वात निर्भर होता है।[2] साधारणतया एक वार सेवन किये हुए भोजन के आमाशयिक पचन के लिए अधिक से अधिक ४ घण्टे लगते हैं और आन्त्र में उसका पचन होने के लिए अधिक से अधिक ८-९ घण्टे लगते हैं। इसलिए एक वार भोजन करने के पश्चात् दूसरा भोजन चार घटे के भीतर न सेवन करना चाहिए तथा ८-९ घण्टे से अधिक अन्तर दो भोजन में न होना चाहिए। चार घण्टे से पहले सेवन करने पर अजीर्ण और ८ घण्टे के बाद सेवन करने पर वलक्षय उत्पन्न हो सकते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रात्रि के भोजन के उपरान्त १६ घण्टों तक कुछ भी न खाना वलक्षयकर है, विशेषतया श्रमजीवियों के लिए। अतः श्रमजीवियों के के लिए प्रातःकाल में भोजन करना आवश्यक है और बुद्धिजीवियों के लिए उस

---

१. साय प्रातर्मनुष्याणा भोजन विधिनिर्मितम्।

२. याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्म न लघयेत्।
याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद्बलक्षयः॥ योगरत्नाकर॥

समय दूध या अन्य सुपाच्य पौष्टिक लघु पदार्थ का सेवन हितकर होता है। रात्रि का[1] भोजन लघु हो तथा ऐसे समय पर हो कि उसके पश्चात् दो घण्टे तक मनुष्य जागता रहे।

भोजन का स्थान[2]—भोजन करने का स्थान रसोई बनवाने के स्थान से अलग होना चाहिए। वह सड़क के पास न होना चाहिए। वैसे ही शौचस्थान, मूत्रस्थान, गोशाला या अस्तबल इनके पास भी न होना चाहिए। भोजनगृह शान्त, स्वच्छ, सुप्रकाशित और हवादार होना चाहिए। उसके भीतर अनावश्यक सामान न होना चाहिए। उसकी फर्श चूना, सीमेंट या अन्य अप्रवेश्य पदार्थ की होनी चाहिए। प्रतिदिन भोजन के पश्चात् उसको साफ धुलवाना चाहिए।

सेवन विधि[3]—भोजन करने से पहले स्नान करके शुचि होकर एवं धौतवस्त्र परिधान करके भोजन करना चाहिए। तथापि यह ध्यान में रखना अत्यावश्यक है कि स्नान करके तुरन्त भोजन के लिए बैठना हितकर नहीं तथा भोजन करते ही स्नान करना ठीक नहीं। यदि स्नान प्रातःकाल में ही हो चुका हो तो भोजन के पहिले हाथ-पाँव-मुँह (बाहर से तथा भीतर से) अच्छी तरह से धोकर तथा वस्त्र बदल कर भोजन करना चाहिए। बाहर घूमने में हाथ, मुख इत्यादि पर धूलि इत्यादि खराब चीजें बैठ जाती हैं और यदि पानी से न धोया जाय तो उनके पेट में जाने की संभावना रहती है।

२—परिश्रम[4] करने के बाद तुरन्त भोजन करना ठीक नहीं। घंटा आधा घंटा

---

१. रात्रौ तु भोजनं कुर्यात् प्रथमप्रहरान्तरे।
किञ्चिदूनं समश्नीयाद् दुर्जरं तत्र वर्जयेत्॥ योगरत्नाकर॥

२. एवं विज्ञाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम्।
भोक्तारं विजने रम्ये निःसंपाते शुभे शुचौ।
सुगन्धपुष्परचिते समे देशे च भोजयेत्॥ सुश्रुत॥

३. स्नातः शुद्धान् विविक्तस्थो धौतपादकराननः।
इष्टमिष्टैः सदाश्नीयाच्छुचिभक्तजनाहृतम्॥ वाग्भट॥

उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीतात्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्॥ चरक॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत॥ मनुस्मृति॥

४. न श्रान्तो भोजनं कुर्यान्न व्यायाममनाकुलः। आत्रेयसंहिता॥

आराम करके थकान दूर होने के बाद भोजन करना चाहिए। परिश्रम से अन्य अवयवों की भाँति पचन-यन्त्र भी थके हुए रहते हैं। जिस रक्त से पचनसंस्थान अन्न का पचन करता है वह रक्त परिश्रम से परिश्रम करनेवाली मांसपेशियों में चला जाता है, क्योंकि परिश्रम के समय उन्हें रक्त की अधिक आवश्यकता होती है।

३—भोजन के समय चित्त शान्त तथा कामक्रोधादि[1] मानसिक विकाररहित होना चाहिए, क्योंकि ऐसी अवस्था में अन्न का पचन ठीक नहीं होता।

४—प्रत्येक ग्रास को अच्छी तरह से चबा-चबाकर खाना चाहिए। पाचन-क्रिया का सबसे पहला काम मुख में ही शुरू होता है। खूब चबाने से भुक्त द्रव्य महीन होकर आसानी से गले के नीचे उतर जाता है और निगलने में दिक़्क़त नहीं होती। बिना चबाए खानेवालों की छाती में आहार का गस्सा अटक जाना एक सामान्य बात है और उस गस्से को नीचे उतारने के लिए पानी की जरूरत पड़ती है। चबाने से भोजन स्वादिष्ट मालूम होने लगता है और मिर्च-मसाले इत्यादि कृत्रिम स्वाद देनेवाले पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती। चबाने से दाँतों तथा जबड़ों की शक्ति बढ़ जाती है, भोजन में तृप्ति होती है, अन्न पचने में आसानी होती है और थोड़े ही आहार से शरीर का पोषण हो सकता है; क्योंकि उनमें से ज्यादा भाग सारभूत होकर प्रचूषित हो जाता है। आधे चबे आहार द्रव्यों से अधिक भाग वैसा ही किट्ट में निकल जाता है।

अन्न अच्छी तरह चबाने से खूब महीन होकर पाचक रस उसके साथ भली-भाँति मिल सकता है और अन्न का पाचन ठीक होता है। यदि अन्न बिना चबाए ही खाया जाय तो पाचक-रस उसके साथ भली-भाँति नहीं मिल सकता और अन्न आँतों में आधा-पका रहकर सड़ने लगता है। इसी कारण से अन्न महीन और तरल हो जाने पर पचने (पृष्ठ ८२) में हलका होता है।

परन्तु चबाने का सबसे प्रधान कार्य भुक्त-द्रव्यों को लार के साथ मिला देने का है। लार में आहार के शालिपिष्टमय भाग को यव्यधु (Maltose) नामक एक प्रकार की शर्करा में परिवर्तित करने का गुण है और इसी कारण से चावल-रोटी खूब चबाने के बाद मीठी मालूम होने लगती है। लोग समझते हैं कि आमाशय ही अन्न पचन का एकमात्र आधार है; परन्तु यह कल्पना गलत

---

१. ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन क्षुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥ सुश्रुत॥

है। आहार द्रव्यों के जितने उपादान हैं उनके पाचन के लिए पचन संस्थान के भिन्न-भिन्न हिस्सों में भिन्न-भिन्न [1]पाचक-रस (अग्नि) होते हैं और प्रत्येक का कार्य भी विशिष्ट हुआ करता है।

शालिपिष्ट-द्रव्यों का पाचन करने की शक्ति लाला और अग्न्याशय-रस के मण्डपाचि नामक (Amylopsin) द्रव्य में होती है। इन दोनों पाचक द्रव्यों की पाचन-क्रिया भिन्न-भिन्न होती है। मण्डपाचि का कार्य पूरा होने के लिए प्रांगोदीयों के ऊपर प्रथम लार की क्रिया होना अत्यन्त आवश्यक है। खूब चबाने से यह कार्य ठीक होता है। संक्षेप में पचन का कार्य मुख में ही शुरू होता है।

प्रत्येक ग्रास को इतना चबाना चाहिए कि उसके पिष्टमय पदार्थ शर्करा में परिवर्तित होकर उसमें मिठास आ जाय। अच्छी तरह चबाकर खाने से आमाशय तथा आँतों का काम लघु होकर अन्न-पचन सहज में होता है। जो भोजन बिना चबाये खाया जाता है उसको बारीक करने का काम आँतों में होता है। तथापि यह उनका नैसर्गिक कार्य नहीं है। अधिक कार्यभार पड़ जाने से आँत निर्बल होकर मंदाग्नि, अजीर्ण इत्यादि रोग पैदा होते हैं। आँतों में आधा कच्चा अन्न पड़ जाने से वह सड़ने लगता है और उससे आत्मान्तर्विषता (Auto intoxication) उत्पन्न होकर स्वास्थ्य का नाश हो जाता है।

अन्त में यह बतला देना आवश्यक है कि प्रत्येक ग्रास को चबाने की गिनती करना मुश्किल है, तथापि सामान्य नियम यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक भोजन का असली स्वाद न बने तथा निगलने में दिक्कत पड़े तब तक बराबर चबाते रहना चाहिये। भोजन को चबाकर खाना यह प्रकृति की आज्ञा है। प्राणियों के मुख में जो दंतपंक्ति दी गई है वह केवल उनकी सौन्दर्य वृद्धि करने के लिए नहीं है, बल्कि भोज्यद्रव्यों को चबाकर खाने के लिए है। इस आज्ञा का पालन न करने से अजीर्ण, मंदाग्नि इत्यादि रोगों के रूप में उसका दंड अवश्य ही भोगना पड़ता है।

५—भोजन करने में जल्दीबाजी या देर न करनी चाहिए। कई लोग भोजन के समय ही उतावले देखने में आते हैं। चटपट दो ग्रास गले के नीचे पानी की सहायता से उतारकर छुट्टी पा जाना उनका भोजन होता है। यह आदत बड़ी खराब है। इसी तरह बहुत देर तक भोजन करना भी ठीक नहीं है।

---

१. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पंचाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्त्यनु ॥ वाग्भट ॥

६—भोजन के समय बातचीत करना, हँसना ठीक नहीं। ऐसा करने से भोजन में देरी होती है और बोलने-हँसने से आहार के कण कभी-कभी स्वरयन्त्र में जाकर खाँसी, ठसका इत्यादि उपद्रव उत्पन्न कर देते है, और कभी मृत्यु तक होने की संभावना होती है।

भोजनोत्तर—भोजन करने के पश्चात् अँगुलियों और शुद्ध जल से दाँतों और मसूढ़ों को साफ करना चाहिए और दाँतों के बीच में जो अन्न के कण रह जाते हैं उनको वहाँ से[1] निकलवाना चाहिए। यदि ये अन्न के कण दाँतों के बीच में रह जायँ तो समय पाकर वे वहाँ सड़ने लगते हैं और मुख में दुर्गंध आने लगती है। इनके सड़ने से दाँतों की जड़ें भी सड़ कर उनके चारों ओर शर्करा (Tarter) जमा होने लगती है और उनमें पूयजनक जीवाणु अपना डेरा जमा देते हैं। इस रोग को पूयदंत (Pyorrhoea alveolaris) कहते हैं। यह रोग यद्यपि प्रथम हलका सा मालूम होता है, तथापि परिणाम में अत्यन्त भयंकर है, क्योंकि भोज्य पदार्थ तथा थूक के साथ पूय रूप विष उदर में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के चिरस्थायी पचन तथा दूसरे संस्थानों के रोग पैदा कर देता है। इस रोग से दाँत भी जल्दी निकम्मे होकर गिर जाते हैं, जिससे भी स्वास्थ्यहानि होती है, क्योंकि पचन-क्रिया का मुख्य काम दाँतों से ही हुआ करता है। इस रोग से मुख में इतनी वदवू आने लगती है कि ऐसे रोग से पीड़ित मनुष्य के सामने या पास बैठना भी मुश्किल हो जाता है। उपर्युक्त कारणों से भोजन के पश्चात् मुख अत्यन्त साफ रखना चाहिए। दाँतों के बीच में फँसे हुए कणों को निकालने के लिए चुभने वाली तथा गंदी सींक काम में लाना चाहिए। इससे मसूढ़ों से खून निकलने लगता है और उनमें फोडे उत्पन्न होकर पूयदन्त उत्पन्न होने में सहायता होती है।

मुख धोने के वाद कुछ टहल-पहल करके आराम करना[2] चाहिए। अँग्रेजी में

---

१ प्रातर्भुक्त्वा च—भक्षयेद्दन्तधवनम्॥ वाग्भट॥

२. एव भुक्त्वा समाचामेच्चूषग्रहणपूर्वकम्। भोजने दतलग्नानि निर्हृत्याचमन चरेत्॥ योगरत्नाकर॥

दतातरगत चान्न शोधनेनाहरेच्छनैः। कुर्यादनिर्हृतं तद्धि मुखस्यानिष्टगधताम्॥
भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्लमो गतः। ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन सविशेत्॥
शब्दरूपरसान् गधान् स्पर्शांश्च मनस. प्रियान्। भुक्त्वानुपसेवेत तेनान्न साधु गिष्टति॥ सुश्रुत॥

व्यायाम च व्यवायं च धावनं पानमेव च। युद्ध गीतं च पाठ च मुहूर्तं भुक्तवास्त्यजेत्॥ हारीत॥

भी एक कहावत है। (Sit awhile after dinner) आराम करने का कारण यह है कि पचन-क्रिया का आरंभ होते ही पचन के स्थान की ओर रक्त का अभिसरण विशेष रूप से होने लगता है, और यह होना भी पचन-क्रिया की दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि इस रक्त से पाचक रस पर्याप्त मात्रा में बनकर अन्न का पचन ठीक तौर से हो सकता है। इसलिए भोजन करने के पश्चात् कुछ देर तक शारीरिक या मानसिक श्रम न करना चाहिए, क्योंकि श्रम करने से रक्त का प्रवाह उस ओर अधिक परिणाम में जाने लगता है जिससे श्रम होता है। श्रम करने से पाचक यंत्र की ओर रक्त की कमी होकर पचन-क्रिया में बाधा पड़ती है।

जलसेवन-संबन्धी नियम

(१) पानी कभी भी अति उष्ण या अति शीत न पीना चाहिए। संप्रति गरमी के मौसिम में बर्फ़ मिश्रित ठंढे पेय (Cold-drink) पीने की कुटेव दिन-ब-दिन बढ़ रही है। यह रीति बिलकुल स्वास्थ्यहानिकारक है। पीने के समय ये पेय सुखकारक मालूम होते हैं परंतु अंत में ये दुःखकारक होते हैं। अत्यन्त उष्ण या अत्यन्त शीत पानी या दूसरे पदार्थ खाने या पीने से दाँतों की जड़ें खराब होकर वे जल्दी निकम्मे हो जाते हैं। दाँत निकम्मे हो जाने के बाद अन्न अच्छी तरह से चबाकर नहीं खाया जाता है और अंत में अग्निमांद्य, अजीर्णादि रोग-परंपरा उत्पन्न होती है।

(२) पानी[1] चाहे किसी समय क्यों न पिया जाय, सदैव घूँट-घूँट कर पीना चाहिए। गटगट पानी पीने से प्यास शांत नहीं होती, जरूरत से ज्यादा पानी पिया जाता है, और उसमें लार मिश्रित नहीं होती। घूँट-घूँट कर पानी पीने से प्यास शांत हो जाती है, जरूरत के मुताबिक पानी पिया जाता है तथा उसके साथ लार मिश्रित हो जाती है। लार मिश्रित पानी अन्न पचाने में मदद करता है।

(३) श्रमाक्रान्त[2], क्षुधाक्रांत, क्रोधाविष्ट तथा विषम अवस्था में पानी न पीना

भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता। आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः॥
योगरत्नाकर॥

१. न पिबेत्...तत दंतग्राह्यनिशैत्यतः॥ अष्टांगहृदय॥

२. अध्वश्रान्ते क्षुधाक्रान्ते शोकक्रोधातुरेषु च।
विषमासनोपविष्टे च पीतं वारि रुजाकरम्।
तस्मात् प्रसन्ने मनसि पानीयं मदमाचरेत्॥ हारीतसंहिता॥

चाहिए। कुछ देर तक आराम करके शरीर और मन शांत होने के बाद पानी का सेवन करना उचित है।

(४) भोजन[1] और जलपान का क्या संबंध होना चाहिए यह बड़ा महत्वपूर्ण तथा उलझनदार प्रश्न है। इस विषय पर भिन्न-भिन्न विद्वानों की संमतियाँ पृथक्-पृथक् हैं। तिस पर भी इन पर जो सर्वसम्मत नियम हैं वे ये हैं। यदि भोजन के पहिले पानी पीना हो तो एक घण्टे पहिले पीना चाहिए। इससे आमाशय अच्छी तरह से धुल जाता है और अन्न ग्रहण करने के लिए तयार होता है। पानी शोषित होकर लालारस, जाठररस को भोजन के समय उत्तेजित करके काफी तादाद में अन्नपाचन करने के लिए बाहर निकाल देता है और भोजन में प्यास कम लगती है। भोजन के बिलकुल प्रथम पानी पीना ठीक नहीं, इससे भूख कम हो जाती है। भोजन के समय पानी जहाँ तक हो सके न पीना चाहिए। भोजन के समय पानी पीने की बुरी आदत केवल मनुष्यों[2] में पाई जाती है। इससे जठर रस (Gastric juice) पतला होकर उसकी पाचनशक्ति दुर्बल हो जाती है और अन्न का पचन ठीक नहीं होता। इसके सिवा पानी आमाशय में पहुँचने के बाद आध घण्टे में ही नीचे आँतों में उतर जाता है, परन्तु अन्न का आमाशयिक पचन होने के लिए तीन घण्टे लगते हैं। इसलिए यदि अन्न के साथ पानी का भी सेवन किया जाय तो अन्न भी पानी के साथ जल्दी अपाचित अवस्था में आँतों में उतरता है।

भोजन के समय की प्यास प्रायः झूठी होती है। इसके कारण भोजन के समय पानी पीने का चिर अभ्यास, भोजन में मिर्च-मसाले की अधिकता और विना चबाए जल्दी-जल्दी भोजन करने की आदतें हैं। ग्रास को पानी के साथ गले के नीचे उतार देने से मुख की लार, जिसमें भोजन पचाने की ताकत होती है, उचित परिमाण में अन्न के साथ नहीं मिलती और जो कुछ मिलती है पानी के साथ पतली होकर निकम्मी हो जाती है। इसलिए यदि भोजन में मिर्च-मसाले ज्यादा न हों तथा भोजन चबा-चबाकर खाया जाय तो भोजन के समय प्यास मालूम न होगी। भोजन के साथ पानी न पीने का और एक कारण यह है कि भोज्य-द्रव्य

---

१. भुक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशागताम्।
अंते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वमामाशयात् कफम्॥
मध्ये मध्यांगतां साम्यं धातूनां जरणं सुखम्॥ वाग्भट॥

२. Man is the only animal who eats and drinks at the same time.

सामान्यतः उष्ण होते हैं और उष्ण पदार्थों के साथ ठण्ढा पानी पीना दाँतों के लिए हानिकारक है।

भोजन के समय[1] यदि पानी पीना हो तो थोड़ा-थोड़ा पानी पी सकते हैं। इससे भोजन में रुचि आती है और अन्न पचाने में सहायता होती है।

भोजन करने के वाद अन्नपचन होने के पहिले पानी पीने से वही परिणाम होता है जो कि भोजन के बीच में पीने से होता है।

हमेशा भोजन करने के २-३ घण्टे वाद पानी पीना चाहिए, क्योंकि आमाशयिक पचन होने के लिए ३ घण्टे की अवधि लगती है।

संक्षेप में जिस समय प्यास मालूम हो उस समय पानी का सेवन जरूर करना चाहिए, क्योंकि प्यास शरीर की भीतरी आवश्यकता की निदर्शक है, लेकिन एक समय बहुत पानी पीना ठीक नहीं, थोड़े पानी का सेवन बहुत बार करना स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकारक है।

वस्त्र-प्रावरण

वास्तव में मनुष्यों को कपड़ों की नितान्त आवश्यकता नहीं होती। पशु-पक्षियों की तरह मनुष्य निर्वस्त्र रह सकते हैं। उनको न सर्दी दिक कर सकती है, न गर्मी, न वर्षा। क्योंकि त्वचा के नीचे की चरवी ऊपर के वालों के साथ सर्दी, गर्मी और वर्षा से शरीर को बहुत कुछ बचा सकती है। वस्त्र-प्रावरणों का सम्बन्ध मानवी सभ्यता के साथ निगडित है। सौन्दर्य बढ़ाना, शारीरिक दोषों को छिपाना, वर्ण, पंथ, जाति, धर्म, प्रांतीयता, राष्ट्रीयता को दर्शाना, अधिकार या पद सूचित करना, दूसरों पर रोव गाँठना इत्यादि अनेक कामों के लिए सभ्य मनुष्य अनेक प्रकारों के और फैशन के कपड़े पहना करते हैं। सहस्रावधि वर्षों के अभ्यास के कारण शारीरिक रक्षा की दृष्टि से तथा सभ्यता के कारण सामा-

---

१ प्रक्षालयेदद्भिरास्यं भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः ।
विशुद्धरसने तस्मै रोचतेऽन्नमपूर्ववत् ॥ सुश्रुत ॥
भोजनान्ते विष वारि जीर्णे वारि वलप्रदम् ।
जीवनं जीविना जीवो जगत्सर्वं तु तन्मयम् ॥
नातोऽत्यन्तनिषेधेन कदाचिद्वारि वार्यते ।
अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरंबुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिवेदभूरि ॥ भावप्रकाश ॥

जिक दृष्टि से वस्त्र प्रावरणों का उपयोग एक आवश्यकता सी हो गयी है। अब कोई मनुष्य निर्वस्त्र नहीं रह सकता। अतः स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से उनका उपयोग कैसे करना चाहिए, इस विषय का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना आवश्यक है। स्वास्थ्य रक्षा में कपड़ों का मुख्य उपयोग सर्दी, गर्मी, वर्षा, धूप इत्यादि से शरीर का बचाव करने के लिए होता है और बचाव की यह शक्ति वस्त्रों की योनि, रंगत, बनावट इत्यादि पर निर्भर होती है।

वस्त्र योनि[1]—कपड़े बनाने के लिए रूई, सन, जूट इत्यादि वानस्पतिक और रेशम, ऊन, पर, चमड़ा ये प्राणिज पदार्थ काम में लाये जाते हैं। आजकल विज्ञान की प्रगति के कारण संश्लिष्ट तन्तुओं (Synthetic fibre) से तथा अन्य कृत्रिम द्रव्यों से बनाये हुए वस्त्रों का भी उपयोग प्रावरणों के लिए होने लगा है। वस्त्रद्रव्यों में रूई, रेशम और ऊन ये ही मुख्य होते हैं।

ऊन—यह भेड, बकरी आदि का रोयाँ है। ऊन में कुछ चरबी होती है तथा ऊनी कपड़ों के छिद्रों में बहुत कुछ हवा रहती है। चरबी तथा हवा उष्णता का संवहन नही करती, इसलिए सर्दी में ऊनी कपडों का प्रयोग करना अच्छा है। ऊन में दोष ये हैं कि वह मोटी और खरदरी होने से त्वचा में चुभती है और कभी-कभी त्वचा में प्रकोप उत्पन्न करती है। उसमें जलशोषक गुण होने से वह पसीनेको शोष लेती है और उससे उसका प्रकोपक दोष और भी बढ जाता है। इसके अतिरिक्त वह मटमैले रग की होने के कारण काफी मैल इकट्ठा होने के पश्चात् उसकी सफाई की ओर ध्यान आकर्षित होता है। इसलिए ऊनी कपड़ों का प्रयोग जहाँ तक हो सके त्वचा के निकट न करना चाहिए। जाड़ों में जब ऊनी कपड़ों की आवश्यकता होती है तब त्वचा के निकट सूती कपड़ा और ऊपर ऊनी कपड़ा पहना जावे। शाल, पट्टू, फलालीन (फ्लालेन), फेल्ट, अलपाका ये ऊनी कपड़ों के प्रकार हैं।

रेशम—मुलायम होने से त्वचा के लिए उसका स्पर्श सुखकर होता है। यह उष्णता का अवाहक और पसीने को सोखनेवाला है। इसलिए त्वचा के निकट इसका उपयोग कर सकते हैं और गर्मियों में सुखकर होता है।

रूई—औरों की अपेक्षा उष्णता की वाहक होने के कारण वाह्य सर्दी या गर्मी त्वचा तक पहुँच जाती है। पसीने को भी वह अच्छी तरह नहीं सोख सकती।

---

१. त्वक्फलक्रिमिरोमाणि वस्त्रयोनिः ॥ अमरकोष ॥

परन्तु रूई का कपड़ा सस्ता, मजबूत और टिकाऊ होता है तथा धोने से वह सिकुड़ता नहीं। इसलिए साधारण जनता में उसी का प्रचार अधिक है।

चमडा—इसकी बनावट बडी घनी होती है और उसमें कोई छिद्र नहीं होते। इसलिए यह बड़ा गरम होता है तथा पसीने को बाहर नहीं जाने देता। भींगने पर यह कड़ा हो जाता है। इसका मुख्य उपयोग पादत्राणों के लिए होता है।

वस्त्ररंग—रंगीन कपड़ों में उष्णता की किरणें सोखने की शक्ति होती है। काले कपडों में यह शक्ति सबसे अधिक होती है, और रंगों के कपड़ों में मध्यम होती है तथा श्वेत में सबसे कम होती है। भारतवर्ष जैसे उष्ण देश में इसलिए काले कपडों की[1] अपेक्षा और रंगों के या श्वेत कपड़े पहनना ही अच्छा है। यह नियम बाह्य वस्त्रों के लिए है। अन्तर्वस्त्रों (Underwear) के लिए यह नियम लागू नहीं, क्योंकि उनका सम्बन्ध धूप के साथ नहीं होता।

वस्त्रों की बनावट—वस्त्र कई प्रकार के होते हैं। कुछ हलके और कुछ भारी होते हैं। कुछ पतले जालीदार, कुछ गुञ्जान बिने हुए और कुछ रोएँदार (फूले हुए) होते हैं। जाडों में सर्दी से रक्षा करने की दृष्टि से एक भारी और मोटे कपड़े की अपेक्षा दो हलके कपड़े अच्छे होते हैं, क्योंकि उनके बीच में जो हवा रहती है वह उष्णता की अवाहक होने के कारण भीतर की उष्णता को बाहर और बाहर की सर्दी को भीतर नहीं जाने देती। पतले और जालीदार कपड़े गर्मियों में अच्छे होते हैं, क्योंकि उनमें से पसीना उड़ सकता है। हलका फूला हुआ कपडा गुञ्जान बिने कपड़े से भी सर्दी में शरीर की अधिक रक्षा कर सकता है, क्योंकि उसके छिद्रों में हवा रहती है और हवा उष्णता की अवाहक है। इसी कारण से सूती मिल के कपड़े की अपेक्षा खद्दर सर्दी में अधिक काम देती है।

वस्त्रों की स्वच्छता—त्वचा के समान वस्त्र भी धूलि, धूआँ, पसीना तथा मुखनासादि से उत्सर्गित और बाह्य वातावरण में उपस्थित होनेवाले जीवाणुओं से निरन्तर खराब होते रहते हैं। अतः समय समय पर उनकी सफाई करना बहुत आवश्यक होता है। धूलि, धूआँ और पसीना इनसे खराब हुए कपड़े पानी

---

१. भारतवर्ष में काला रंग अशुभ माना जाता है। श्वेत, गेरुआ, भगवा, कषाय, इत्यादि रंग के कपडे प्रशस्त माने जाते हैं :—शुभ्रं च सुखदं वस्त्रं शीतातपनिवारणम्। न चोष्णं न च वा शीतं शुक्लंवस्त्रं च धारयेत्॥ मेध्यं सुशीत पित्तघ्नं काषाय वस्त्रमुच्यते। तद्धारयेद्धर्मकाले काषायं वस्त्रमुत्तमम्॥ क्षेमकुतूहल॥

में अच्छी तरह धोने से शुद्ध हो जाते हैं। जीवाणुओं से दूषित कपड़े उबलते पानी में आधे घण्टे तक भिगोने से तथा देर तक धूप में सुखाने से शुद्ध हो जाते हैं। रूमाल, तौलिया आदि मुखनासादि से सबन्ध रखनेवाले कपड़ों को उबलते पानी में थोड़ी देर रख कर फिर स्वच्छ जल से प्रतिदिन धोना चाहिए। बनियान (गंजी), कुरता, कमीज, धोती, पाजामा, लंगोट, मोजे, पलग की चादर, तकिया का गिलाफ इत्यादि त्वचा के निकट रहनेवाले कपड़े ऋतु के अनुसार प्रतिदिन या दूसरे तीसरे दिन अवश्य धोने चाहिएँ। कोट, अँगरखा तथा अन्य बाह्य वस्त्र जो बहुत देर तक नहीं पहिने जाते और त्वचा के निकट नहीं होते उनको एक या दो सप्ताह में अवश्य धोना चाहिए। दरी, कालीन, तकिया, गद्दा इत्यादि न धुलनेवाले बिछौने के कपड़ों के ऊपर सफेद गिलाफ या चादर बिछानी चाहिए। तथा लिहाफ कम्बल इत्यादि ओढ़ने के कपड़ों के नीचे भी एक सफेद चादर लगानी चाहिए। वैसे ही जाड़ों में पहनने के रूईदार कपड़ों के नीचे बनियान, कुरती इत्यादि रखना चाहिए। इससे ये कपड़े गदे नहीं होते। भीतर लगाये हुए कपड़ों को समय समय पर बदलना और धोना चाहिए। प्रतिदिन ओढ़ने, बिछाने आदि के कपड़े, जो धोये नहीं जाते, दो घण्टे के लिए धूप में फैलाने चाहिए, ताकि वे दुर्गंध और जीवाणु से रहित हो जावे। कपड़े धोने का काम घर पर अपने आप साबुन से कर सकते है या धोबी के द्वारा कर सकते हैं। इनमें से अपने आप धोने का काम अर्थ और आरोग्य की दृष्टि से लाभदायक होता है। उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त वस्त्रों की स्वच्छता में इस नियम पर भी बहुत ध्यान देना आवश्यक है कि दूसरों से प्रयुक्त[1] वस्त्र बिना धोये कदापि अपने काम में न लाए जायँ। यह नियम गजी, रूमाल, अँगोछा, लँगोट, धोती, पलँग की चादर, इत्यादि त्वचा के निकट रहनेवाले कपड़ों के सबन्ध में बहुत महत्त्व का है। अपना कपड़ा मलिन होने पर भी कुछ काल तक व्यवहार में लाने से कोई नयी व्याधि उत्पन्न होने की संभावना नहीं होती। परन्तु दूसरों का बरता हुआ वस्त्र बिना धोये काम में लाने से सोजाख, चेचक, दाद, खुजली इत्यादि छूताछूत के रोग उत्पन्न होने का डर रहता है।

धोबी और कपडे—धोबी के द्वारा कपड़ों की सफाई करने में वैसी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। सभी देशों में कपड़ों की धुलाई धोबी के द्वारा ही

---

१. कदापि न जनैः सद्भिर्धार्यं मलिनमम्बरम्॥ भावप्रकाश॥
नैव चान्येन विधृतं वस्त्र पुष्पमुपानहौ॥ अष्टांगसंग्रह॥
उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्॥ मनु॥

होती है। परन्तु भारतवर्ष में धोबी जिस प्रकार से धुलाई करते हैं उसको देखकर यह कहना पड़ता है कि उनके द्वारा कपड़ों की धुलाई करने में अर्थ और आरोग्य की हानि होने की बहुत संभावना है। अर्थ की हानि इसलिए होती है कि वे तख्तों पर कपड़ों को बहुत पीट-पीटकर, सफाई के लिए खारों का प्रयोग कर तथा कँटीली जमीन पर कपड़ों को सुखाकर उनका बहुत जल्दी सत्यानाश कर देते हैं। स्वास्थ्य की हानि इसलिए होती है कि उनके द्वारा मसूरिका, खुजली (Dhobi's itch) दाद इत्यादि छुताछूत के रोग हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं। वे अकसर औरों के कपड़े पहना करते हैं; गन्दे और मैले कपड़, जिनमें छूत के रोगियों के कपड़े भी हो सकते हैं, साफ कपड़ों के साथ रक्खा करते हैं; ऐसे गन्दे तालाब में कपड़े धोते हैं जिसमें मोरी, परनाले खुलते हैं, लोग आबदस्त लेते हैं और गाय-भैंस लोटती है तथा ऐसे स्थानों में कपड़ों को सुखाते हैं जो मल मूत्रादि से दूषित रहते हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके कपड़े, कम से कम त्वचा के निकट रहनेवाले, धोबी को न दिए जायँ। यदि देना हो तो पहनने से पहले घर में स्वच्छ जल में उनको भिगो कर धूप में सुखाया जाय। जो त्वचा के निकट नहीं होते तथा बहुत देर तक पहने नहीं जाते उनको धोबी के पास देने में उतनी आपत्ति नहीं की जा सकती।

कपड़े कैसे होने चाहिएँ—शरीर पर पहनने वाले कपड़ों में निम्न साधारण गुण होने चाहिएँ। कपड़े हलके हों, जिससे जिस अंग पर वे पहने जाते हैं उस पर उनका बोझ न पड़े। कपड़े ऐसे हों कि त्वचा के कार्य में किसी प्रकार की बाधा न पैदा कर सकें। अर्थात् कपड़े पसीने को सोखने वाले हों और ऐसे बिने और बने हों कि पसीना उड सके। कपड़े ढीले हों जिससे शरीर का कोई अंग न भिंचे तथा कार्य में बाधा न हो सके। कपड़े तंग होने से रक्तसंचार, श्वसन, पचन इत्यादि कार्य सुचारू रूप से नहीं हो सकते। त्वचा के निकटवर्ति कपड़े जहाँ तक हो सके सफेद हों; यदि रंगीन हों तो वे पक्के रंग के होने चाहिएँ। वनस्पतिज रंगों से शरीर को हानि नहीं पहुँच सकती, परतु रासायनिक रंगों से, जिनमें प्रायः संखिया (Arsenic) होता है, शरीर को हानि पहुँचती है। कपड़े ऐसे हों कि जो चलने फिरने के काम करने में किसी प्रकार की रुकावट न डालें। कपड़े ऐसी चीज के बने हों और इस तरह से सिले हों कि आवश्यकता पड़ने पर आसानी से धुल सकें। बच्चों के कपड़ों में इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उनका वर्धन होने से शरीर चन्द्रकला के समान बढता रहता है। अब इसके बाद शरीर के मुख्य-मुख्य अंगों के कपड़ों का विचार संक्षेप में दिया जाता है।

शिरोवस्त्र[1]—धूप, वर्षा, सर्दी और आघात से बचने के लिए किसी न किसी प्रकार का वस्त्र शिर पर धारण किया जाता है। शिरवस्त्र इतना हलका न हो कि जो हवा के जोर से उड़ जावे; न इतना भारी हो कि सिर पर बोझ सा मालूम पड़े। इसके अतिरिक्त उससे शिर के रक्त परिभ्रमण में बाधा न होनी चाहिए तथा सिर पर थोड़ी हवा लगनी चाहिए। भारतवर्ष में भाँति-भाँति के शिरोवस्त्र पहने जाते हैं, परंतु प्रत्येक में कुछ न कुछ दोष होता है। उपर्युक्त गुण-विशिष्ट केवल शोला टोपी या दोपलड़ी टोपी (Folding cap) होती है। शोला टोपी शोला नामक एक भारतीय वृक्ष से बनायी जाती है। यह बहुत हलकी होती है; शिर को हवा लगती रहती है; आँखों को, शिर को और गुद्दी को धूप से बचाती है और वर्षा से भी रक्षा करती है। दोपहर में इसका उपयोग और सुबह शाम दोपलड़ी का उपयोग करना ठीक है। शिर वस्त्र के समान छतरी का भी उपयोग होता है।

मध्य शरीर के वस्त्र—मध्य शरीर में ग्रीवा और कमर दो महत्त्व के अंग है। ग्रीवा में स्वर यन्त्र, कंठनाली, अन्नप्रणाली, अवटुकाग्रंथि (Thyroid), मस्तिष्क की रक्तवाहिनियाँ तथा नाड़ियाँ होती हैं। ग्रीवा के ऊपर दबाव पड़ने से इन अंगों का कार्य ठीक न होकर स्वास्थ्य बिगड़ जावेगा। इसलिए तंग गले का कोट, कुर्ता, कमीज और तंग तथा सख्त कौलर, नेकटाय इनका उपयोग कदापि न करना चाहिए। खुले गले के, पोलो या चौड़े कौलर के कमीज तथा कोट स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छे होते हैं। कमर के नीचे धोती, पाजामा, निकर का उपयोग किया जा सकता है। इनके उपयोग के समय कमर को बहुत कसना न चाहिए। अधिक कसने से आन्त्रादि उदरस्थ अंगों के कार्यों में बाधा उत्पन्न हो सकती है। पतलून या निकर के लिये ब्रेसेस अच्छी होती हैं जो कंधों के ऊपर रहती हैं।

---

१. भारतवर्ष में उष्ण प्रदेश होने के कारण धूप से शिर की रक्षा करना यह शिरोवस्त्र का मुख्य उपयोग माना जाता है। इसी दृष्टि से शिरोवस्त्र के लिए संस्कृत में उष्णीष (उष्ण-मीषते हिनस्ति) शब्द का प्रयोग होता है। यह शिरोवस्त्र भारी न होना चाहिए क्योंकि शिर से भारवहन का निषेध किया गया है—न भारं शिरसा वहेत्॥ शिरोवस्त्र तंग होने से शिर के रक्तभ्रमण में बाधा उत्पन्न होती है तथा शिर पर हवा नहीं लगती। इससे शिर में गरमी अधिक मालूम होने लगती है और शिरोवस्त्र का मुख्य उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है। इसलिए उष्णीष तंग न होना चाहिए—पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोपहम्। वर्षानिलरजोघर्महिमादीनां निवारणम्। वर्ण्यं चक्षुष्यमोजस्यं शकरं छत्रधारणम्॥सुश्रुत॥

पादत्राण[1]—पैरों के लिए मोजे और जूते पहने जाते हैं। गरमियों में मोजों की कोई आवश्यकता नहीं होती। जहां तक हो सके सूती मोजे पहनने चाहिएँ। मोजे लंबे और छोटे दो प्रकार के होते हैं। छोटे मोजे धोती या पाजामे के साथ और लंबे मोजे निकर के साथ पहनने चाहिएँ। मोजे तंग न होने चाहिएँ तथा उनको बाँधने के बंध भी तंग न होने चाहिएँ। इनके तंग होने से रक्त का वहाव ठीक न होकर पैरों की सिराएँ (Vericose veins) गँठीली हो सकती हैं।

शिरवस्त्र की भांति जूते भी भांति-भांति के होते हैं। उत्तम जूता वह होता है जो पैर की आकृति के अनुसार होता है, याने पंजा चौड़ा, पंजे के अन्दर का भाग सीधा और बाहर का भाग गोलाई लिए हुए चौड़ा होता है। पंजा इतना चौड़ा और जूता इतना लंबा होना चाहिए कि उसमें पैर की अंगुलियाँ भलीभांति गति कर सकें। उसका तलुआ कुछ लचकीला और उसका चमड़ा मुलायम होना चाहिए। तंग और नोकदार जूतों से अंगुलियाँ कसकर एक दूसरे के ऊपर चढ जाती हैं तथा टेढी होती है। जहाँ ज्यादा दवाव पड़ जाता है वहाँ पर घट्टे पड जाते हैं और अंगुलियों के बीच में उकौता का रोग हो जाता है। बच्चों के जूते अधिक ढीले रखने चाहिएँ, क्योंकि वर्धन काल होने से उनके पैर अधिक बढते हैं तथा हड्डियाँ मुलायम होने के कारण उनके पैरों में तंग जूतों से अधिक खराबी हो सकती है। चमड़ा बड़ा गरम होता है, इसलिए गर्मियों में पूरे चमड़े का जूता अच्छा नहीं होता। आजकल जो विविध प्रकार की चट्टियाँ (Sandals) मिलती हैं उनको या कैनवस के जूतों को ऊनी मोजों के साथ पहनने में कोई हर्ज नहीं। जहाँ मच्छरों का उपद्रव अधिक रहता है वहाँ पर लम्बे मोजे पहनना अच्छा है।

धूम्रपान[2]

स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से धूम्रपान बिलकुल अनावश्यक है। इसके सेवन से

१. पादरोगहरं वृष्यमायुष्यं चक्षुषे हितम्।
सुखप्रचारमोजस्यं सदापादत्रधारणम्॥ सुश्रुत॥

२. आयुर्वेद के अनुसार धूम्रपान स्वास्थ्य सहायक होता है, स्वास्थ्यनाशक नहीं। अतः उसका समावेश दिनचर्या के नित्यकर्मों में किया गया है। इसका एक कारण यह है कि धूम्रपान के लिए नागकेशर, खस, चन्दन, जटामासी, अगुरु इत्यादि केवल सुगन्धी द्रव्य प्रयुक्त होते हैं, गाँजा और तमाखू के समान विषैले पदार्थ नहीं प्रयुक्त होते रहे। इसके अतिरिक्त यथाविधि उसका सेवन करने के लिये आदेश दिया है। अकाल सेवन और

सिवा हानि के कुछ लाभ नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि इसमें गाँजा और गुडाखू या अन्य प्रकार की तमाखू ही हुक्का, चिलम, पाइप (Pipe), चुरूट, सिगार, सिगरेट, बीड़ी इत्यादि के द्वारा सेवन की जाती है। तमाखू खाने से जो जो दुष्परिणाम शरीर पर होते हैं (पृष्ठ १७०) वे सब तमाखू पीने से भी होते हैं। उनके अतिरिक्त तमाखू पीने से उसका धुआँ गले और श्वसनसस्थान में चिरकालीनशोथ पैदा करके बहरापन, सूखी या गीली खाँसी, कंठ स्वर की विकृति, श्वास इत्यादि विकार पैदा करता है। कभी-कभी कर्कट (Cancer) रोग भी हो जाता है। इसलिए धूम्रपान का सेवन न करना ही अच्छा है। तथापि आजकल बहुत लोग सभ्यता की भ्रामक कल्पना के पीछे पड़कर इसको अपनाते हैं। धूम्रपान करना हो तो निम्न बातों पर ध्यान देकर करना चाहिए। इससे शरीर को अल्प हानि होने की संभावना होगी।

बीस साल की आयु के पहले धूम्रपान न किया जाय। भोजन के पश्चात् तुरन्त धूम्रपान न करके आधे घण्टे के पश्चात् किया जाय। हुक्के के द्वारा धूम्रपान करना कम हानिकारक होता है, क्योंकि तमाखू का धूआँ पानी मे से आने के कारण उसका विषैलापन कुछ कम हो जाता है। हुक्के का पानी सुबह शाम बदलना चाहिए। एक ही हुक्के से अनेक लोग धूम्रपान किया करते है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य हुक्के की नली को मुँह न लगावे परन्तु बीच में हाथ रखकर पीवे या अपनी स्वतन्त्र नली के द्वारा पीवे। धूम्रपान दिन भर में दो बार से अधिक बार न किया जावे और वह भी भोजन के उपरान्त। प्रातःकाल में कदापि धूम्रपान न किया जावे। जिन लोगों को असख्य बार धूम्रपान करने की लत पड़ गयी है और जो उसको छोड नहीं सकते वे धूम्रपान के लिए सौम्य प्रकार की तमाखू का प्रयोग करें और धीरे-धीरे धूम्रपान की संख्या कम करने की कोशिश करें।

नेत्ररक्षा

पंच ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र प्रधान हैं। उनके होने से ससार प्रकाशमय और जीवन सुखमय होता है और उनके नष्ट होने से ससार अंधकारमय और जीवन दुःखमय तथा परावलम्बी हो जाता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य

अतियोग का निषेध है—बाधिर्यमान्ध्यमूकत्वं रक्तपित्त शिरोभ्रमम्। अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्॥ चरक॥ आधुनिक धूम्रपान विषैला होने पर भी यदि उपर्युक्त विधि के अनुसार सेवन किया जाय तो हानिकारक नही हो सकता—यथाविधि सेव्यमानं विष सजायतेऽमृतम्॥

होना चाहिए कि वह निम्न बातों पर ध्यान देकर अपनी आँखों का स्वास्थ्य[1] चिरन्तन रखने की कोशिश करे।

प्रतिदिन सवेरे उठने पर तथा सोने से पहले ठण्डे जल से आँखों को साफ धोना चाहिए। धूलि, मिट्टी, धुआँ, तेज चीजों का धुआँ, आँधी, लू, कोयले के कण आँखों के लिए हानिकारक होते हैं। अतः इनसे बचने की कोशिश करनी चाहिए। आगगाड़ी (रेल) में प्रवास करते समय खिड़की में से यन्त्र (एञ्जिन) के तरफ झाँकना न चाहिए। यदि कोयला, धूलि, भुनगा या इस प्रकार की अन्य चीज आँखों में चली जाय तो उस समय आँखों को मलना न चाहिए। मलने से आँखों में व्रण हो जाया करते हैं और कभी-कभी उनसे आँखें नष्ट हो सकती हैं। इसलिए ऐसी दशा में प्रथम आँखों की पलकों को धीरे-धीरे झपकाना चाहिए। प्रायः आँसुओं द्वारा वह चीज निकल जावेगी। न निकले तो चुल्लू में या आँख धोने की गिलास में पानी लेकर उसमें आँखें झपकाना चाहिए। उससे काम न बने तो सीधे नेत्र-चिकित्सक के पास जाना चाहिए। जो लोग लोहे के खराद का काम करते हैं उनकी आँखों में लोहे के कण चले जाते है। उनको सीधे नेत्रवैद्य के पास ही जाना अच्छा है।

---

१. चक्षुः प्रधानं सर्वेषामिन्द्रियाणां विदुर्बुधाः। घननीहारयुक्तानां ज्योतिषामिव भास्करः॥ चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा। व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिंदिवानां पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते॥ सर्वदा च निषेवेत स्वस्थोऽपि नयनप्रियः। आतपत्रं पदत्राणं विधिवद्दोषशोधनम्॥ सर्वथेक्षेत नादित्यं न भारं शिरसा वहेत्। नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मदीप्तामेध्याप्रियाणि च॥ वाग्भट॥ नाधीयादश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्। न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥ मनुस्मृति॥ उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद् दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च। प्रसक्तसंरोदनशोककोपात् शिरोभिघातादतिमैथुनाच्च॥ स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात्। बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकारान् जनयन्ति दोषाः॥ प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः। तस्मादभिष्यन्दमुदीर्यमाणमुपाचरेदाशु हिताय धीमान्॥ अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत्। पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चंक्रमणं नृणाम्॥ सुश्रुत॥ अभ्यंगः शीलितो मूर्ध्नि सकलेन्द्रियतर्पणः। दृष्टिपुष्टिकरो हन्ति शिरोभूमिगतान् गदान्॥ पादाभ्यंगस्तु सुस्थैर्यनिद्रादृष्टिप्रसादकृत्। पादसुप्तिश्रमस्तम्भसंकोचस्फुटनप्रणुत्॥ योगरत्नाकर॥ अहितादशनात् सदा निवृत्तिर्भृशमास्वच्चलसूक्ष्मवीक्षणाच्च। मुनिना निमिनोपदिष्टमेतत् परमं रक्षणमीक्षणस्य पुंसाम्॥ वाग्भट॥

पढ़ने की पद्धति—आधुनिक काल में ज्ञान के सब साधन पुस्तकों, मासिकों और समाचार पत्रों में केन्द्रित हुए हैं। अतः ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को इनको पढ़ना आवश्यक हो गया है। पढ़ने से आँखों पर अधिक जोर पड़ता है और यदि निम्न बातों पर ध्यान न दिया जाय तो आँखें खराब हो जाती हैं। इसलिए उनका उचित ध्यान रखकर पढने का काम करना चाहिए। छः-सात साल की अवस्था के पहले बच्चों के पढ़ने पर अधिक जोर न देना चाहिए और उस समय मोटे मोटे अक्षरों से काम लेना चाहिए। आगे चलकर भी छोटे और बारीक अक्षरों में छपी हुई पुस्तकें, समाचार पत्र इत्यादि न पढ़ने चाहिएँ। चलती हिलने-डुलनेवाली गाड़ियों में भी पढ़ना ठीक नहीं, क्योंकि पुस्तक और शरीर के हिलने से दृष्टि का स्थिर रहना असम्भव हो जाता है और पेशियों पर अत्यन्त जोर पड़ता है। वैसे ही चलचित्रपटों को अधिक देखना भी हानिकारक है। पढ़ते समय आँखों को थकान मालूम होने लगे तो थोड़ी देर के लिए पढ़ना छोड़कर खुले मैदान में जाकर दूर की चीजों को देखना चाहिए। पढ़ते समय आसन की ओर भी ध्यान देना चाहिए। शिर को नीचे को झुकाकर पढ़ना ठीक नहीं। पुस्तक आँखों से फूट सवाफूट दूरी पर होनी चाहिए। यदि इतनी दूरी पर न दिखाई दे तो नेत्र वैद्य से परीक्षा करा के चश्मा लगाना चाहिए। पुस्तक आँखों के सामने रहनी चाहिए। पुस्तक नीचे होने से आँखों की पेशियों पर अधिक जोर पड़ता है और वे जल्दी थक जाती हैं। संक्षेप में सामने ढालू मेज याने डेस्क पुस्तक रखने के लिए समतल मेज से अच्छा होता है। लेट कर, सुस्ती आने पर तथा थकावट मालूम होने पर पढ़ना अच्छा नहीं। इसका भी परिणाम वही होता है। पढ़ते समय प्रकाश पीछे से या ऊपर से आना चाहिए या बाएँ हाथ की ओर से। सामने से प्रकाश आने पर आँखों पर चौंध पड़ती है। दाहिनी ओर से प्रकाश आने पर पुस्तक पर हाथ की परछाईं पड़ेगी और ठीक-ठीक दिखाई नहीं देगा। बहुत चिकने और चमकदार कागजों पर छपी हुई पुस्तकों को न पढ़ना चाहिए, क्योंकि उसमें आँखों पर चौंध पड़ कर वे खराब हो जाती है। पढ़ते समय उचित प्रकाश होना चाहिए। कम प्रकाश और अधिक प्रकाश दोनों हानिकारक होते हैं।

आँखों के कुछ रोग भी दृष्टि को बिगाड़ते हैं। विशेष करके आँखें आना (अभिष्यन्द) और रोहे (Trachoma) ये रोग हमेशा हुआ करते हैं और इनकी शीघ्र और जमकर चिकित्सा न करने से आँखों में अनेक उपद्रव उत्पन्न होकर दृष्टि खराब होने का डर रहता है। जो रोगी हैं, जो रोगनिवृत्त (Convalescent)

स्थिति में हैं, जिनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है तथा जिनकी आँखें स्वभाव से ही कमजोर हैं उनको कशीदा काढना, बिनना, बारीक छापे की पुस्तकों को पढ़ना तथा आँखों पर अधिक जोर पड़नेवाले अन्य काम कदापि न करने चाहिएँ।

धूप, लू, सूर्य की किरणें, धूम्रपान, हीन भोजन आँखों को खराब करते हैं। इसलिए धूम्रपान न करना चाहिए या कम करना चाहिए, सूर्य के तरफ, सूर्य के प्रतिबिम्ब के तरफ या किसी देदीप्यमान वस्तु के तरफ न ताकना चाहिए, आँखों और सिर को धूप और गरमी से बचाना चाहिए तथा पौष्टिक जीवतिक्तियुक्त आहार सेवन करना चाहिए। दूर तक पैदल चलते समय पैरों में जूते पहनने चाहिएँ। सिर और पैरों के तलुवों में तेल मलने से सिर आँखों को बहुत लाभ होता है।

निद्रा[1]

शरीर स्वास्थ्य के लिए उचित अन्न की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी निद्रा की भी आवश्यकता होती है। निद्रा के समय शरीर के प्रत्येक अंग को अधिक से अधिक आराम मिलता है और उनकी वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त शारीरिक और मानसिक परिश्रम के कारण शरीर के विविध अंगों को जो क्षति पहुँचती है उसकी भी पूर्ति हो जाती है। निद्रा लेने की अवधि आयु, आरोग्य, आजीविका तथा अभ्यास (पृष्ठ ८९ की पाद टिप्पणी) पर न्यूनाधिक हुआ करती है।

निद्रा की अवधि—बचपन में, जब कि शरीर की वृद्धि होती है, अधिक निद्रा की आवश्यकता रहती है। एक मास के बालक के लिए २१ घण्टे, छः मास के बालक के लिए १८ घण्टे, एक वर्ष के बालक के लिए १५ घण्टे, चार वर्ष के

१. देहं विश्रमते यस्मात्तस्मान्निद्रा प्रकीर्तिता। देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथास्वप्न समासतः॥ आत्रेयसहिता॥ निद्रायत्तं सुखं दुःख पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्॥ चरक॥ अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके। रात्रिः स्वप्नाय भूताना चेष्टायै कर्मणामहः॥मनु॥ यथाकालमतो निद्रा रात्रौ सेवेत सात्म्यतः॥वाग्भट॥ प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्। प्रहरद्वय शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ दक्षस्मृति॥ दिवास्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः। ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वापो निषिध्यते॥ योगरत्नाकर॥ ग्रीष्मे त्वादानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते। रात्रीणा चातिसंक्षेपाद्दिवास्वप्नः प्रशस्यते॥ रात्रौ जागरणा रूक्ष स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा। अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्॥ चरक॥ तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्। ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्॥ सुश्रुत॥ कालानतिक्रमेण सात्म्यतो यामद्वयं त्रयं वा निशि निद्रा भजेत्॥ अरुणदत्त॥

बालक के लिए १२ घण्टे और बारह वर्ष के बालक के लिए १० घण्टे नींद की आवश्यकता होती है। जवानी में नींद की अवधि छः से आठ घण्टे की होनी चाहिए। शारीरिक श्रम करनेवालों को अधिक नींद की आवश्यकता होती है। मानसिक श्रम करनेवालों को उससे भी अधिक नींद की आवश्यकता होती है। रोगियों, दुर्बलों और रोगनिवृत्तों को भी अधिक नींद लेनी चाहिए।

निद्रा का काल—नींद के लिए उचित समय रात्रि का होता है, क्योंकि रात इसी काम के लिए होती है। रात में नींद के लिए सर्वोत्तम काल ९ या १० से प्रातः चार या पाँच बजे तक होता है। रात में सोने के लिए विलम्ब करना अच्छा नहीं, जल्दी ही सोना उचित है। रात को भोजन करते ही न सोना चाहिए, कम से कम एक घण्टा पीछे सोना चाहिए। दोपहर में भोजन के बाद सोना अच्छा नहीं, केवल थोड़ी देर आराम कुर्सी पर या शय्या पर आराम करना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में भोजन के उपरान्त जरा सुस्ती आ जाती है। उस समय आराम कुर्सी पर या शय्या पर थोड़ी देर झपकी लेने में कोई हर्ज नहीं। जिन लोगों को अपने व्यवसाय के कारण रातमें जागरण होता है उनको दिन में नींद लेने में कोई आपत्ति नहीं है परन्तु जहाँ तक हो सके भोजन के पूर्व नींद लेनी चाहिए।

सेज घर (Bed room)—यह हवादार होना चाहिए परन्तु हवा का झोंका सीधा शरीर पर (पृष्ठ १५) न लगे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए। वह साफ-सुथरा और निर्मल होना चाहिए। उसमें आड़-कबाड़ न होना चाहिए। दिन में सूर्य का प्रकाश भी उसमे आना चाहिए। इस दृष्टि से सोने के लिए सबसे उत्तम स्थान बरामदा, बारजा या ओसारा ही है। सर्दी ज्यादा होने पर पर्दे टाँग कर उसको काम में ला सकते हैं। रात में मशहरी लगाना भी अच्छा है। इससे मच्छड़ों के दंश से तथा तज्जन्य रोगों से रक्षा हो जाती है। नींद में कपड़ा ओढ़कर मुँह बन्द न करना चाहिए। सर्दी से बचने के लिए शरीर पर जितना चाहे उतना कपड़ा ओढ़ सकते हैं।

स्वास्थ्यरक्षक अभ्यास

अब तक वर्णित विविध कर्म नैत्यिक होने के कारण प्रत्येक मनुष्य को इनको एक या अनेक बार काम में लाना पड़ता है। मनुष्य जिस समय, जिस क्रम से और जिस पद्धति से कोई काम करता है उस समय, उस क्रम से और उस पद्धति से उस काम को करने का वह अभ्यस्त या आदी बन जाता है, क्योंकि अभ्यास से आदत बना लेना मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जब एक बार कोई

काम विशिष्ट समय पर विशिष्ट पद्धति से करने का मनुष्य आदी बन जाता हैं तब वह काम उसी समय पर और उसी पद्धति से यन्त्र के समान आप से आप अल्प से अल्प शारीरिक और मानसिक प्रयत्न से हो जाया करता है। इसका तात्पर्य यह है कि अभ्यास एक प्रकार से स्वभाव बन जाता है और फिर उसको छोड़ना कठिन होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने नित्यकर्मों के आचरण के सम्बन्ध में प्रारंभ से हा अच्छा अभ्यास रखने का प्रयत्न करे। अच्छे अभ्यासों में निम्न महत्व के हैं—

कालाभ्यास[1]—इसमें प्रत्येक कर्म उचित और नियत समय पर करना, प्रत्येक कर्म के लिए निर्धारित समय देना, तथा दो कर्मों के बीच में आवश्यक समय छोड़ना इत्यादि कर्मकालों का समावेश होता है। नित्य कर्मों में प्रातरुत्थान शौच, भोजन और निद्रा उचित समय पर करने के विषय हैं, स्नान, भोजन और निद्रा निर्धारित समय देने के विषय हैं और भोजन एवं स्नान भोजन एवं निद्रा, भोजन और व्यायाम, तथा जलपान और भोजन बीच में नियत समय छोड़कर करने के विषय हैं।

शौचाभ्यास[2]—इसमें शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता के साथ संबन्ध रखनेवाले नित्य कर्मों का तथा शरीर से संबन्ध रखनेवाले वस्त्रपात्रादि की स्वच्छता का समावेश होता है। सवेरे उठने के पश्चात् मुख, नासा, नेत्रादि की

---

१. आयुर्वेद में प्रत्येक कार्य उचित समय पर करने के लिए कहा है। उचित काल पर निद्रा सेवन करनी चाहिए—स्वास्तीर्णशयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः। आनयत्यचिरा निद्राम् ॥ चरक ॥ इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—कालस्तथोचितः। यस्मिन् काले निद्रा पुरुषेणाभ्यस्ता सकालस्तस्योचितः। भोजन भी ठीक समय पर करने के लिए आदेश दिया है—काले सात्म्यं शुचि हितमश्नीयात् ॥ वाग्भट ॥ कालभोजनमारोग्यकराणाम् ॥

२. स्वच्छता एक दैवी गुण है—तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ गीता ॥ आयुर्वेद में अन्तर्बाह्य स्वच्छता के ऊपर बहुत जोर दिया गया है-जैसे धौतपादकराननः अश्नीयात्। मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम्। पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः ॥ चरक ॥ नीचरोमनखश्मश्रुनिर्मलाङ्घ्रिमलायनः ॥ वाग्भट ॥ स्मृति ग्रन्थों में भी शौचाभ्यास का महत्व वर्णन किया है—क्लृप्तकेशनखश्मश्रुदान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ॥ मनु ॥ दन्तानामभ्यशौच वसनमलिनतापादयोश्चाप्यपूजा। निगनमुपनयेत् केशवस्यापि लक्ष्मीम् ॥ सुभाषित ॥

स्वच्छता, मलोत्सर्जन के पश्चात् गुह्यांगों तथा हाथ-पैरों की स्वच्छता, भोजन के पूर्व तथा पश्चात् मुख-हस्तादि की स्वच्छता, वस्त्र प्रावरणों की तथा केश नखों की स्वच्छता, दूसरों के वस्त्रों का अनुपयोग इत्यादि कर्मों में शौचाभ्यास की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। इतस्ततः पैखाना न फिरना, पेशाब न करना और न थूकना इनका भी समावेश इसी में कर सकते हैं। मलमूत्र का वेग विधारण न करने का एक प्रयोजन अन्तःशुद्धता ही है।

(३) मिताभ्यास[१]—इसमें प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का अतियोग (Excess) तथा अयोग न होने देना, उनको यथाशक्ति करना, सदैव मध्यमार्ग (Golden mean) का अवलम्बन करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। मिताभ्यास की दृष्टि से नित्य कर्मों में भोजन, व्यायाम, निद्रा, धूम्रपान, जागरण, मैथुन इत्यादि विषय महत्त्व के हैं। साधारणतया मनुष्य इन कर्मों में अतियोग करके जीवन का नाश करता है। इसलिए इनके सेवन में मिताभ्यास रखना चाहिए।

(४) हिताभ्यास[२]—इसमें शरीर के लिए हितकर कर्मों का या विषयों

---

१. व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया॥
एतानेवविधाश्चान्यान्योऽतिमात्र निषेवते ।
गज सिंह इवाकृष्य सहसा स विनश्यति॥
साहस वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः॥ चरक॥
देहवाक्चेतसा चेष्टा प्राक्श्रमाद्विनिवर्तयेत्।
अनुयायात्प्रतिपद सर्वधर्मेषु मध्यमाम्॥
न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत्॥ वाग्भट॥
नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता॥

२ आहाराचारचेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेह च।
परं प्रयत्नमातिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने॥
नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

का सेवन और अहितकर कर्मों का या विषयों का वर्जन इनका समावेश होता है। नित्य कर्मों में काल, क्रम और मात्रा के अनुसार काम करना हितकर होता है, इसलिए हिताभ्यास में प्रत्येक कर्म अपने काल, क्रम और मात्रा के अनुसार करने का सम्बन्ध होता है। इनका विपर्यय अहितकर होता है। जैसे रात में जागरण, दिन में निद्रा, शरीर के मल-मूत्रादि के आवेगों को रोकना, भोजन ठीक चर्वणन करके खाना, व्यायाम या स्नान के पश्चात् तुरन्त भोजन या भोजन के पश्चात् तुरन्तस्नान, व्यायाम या दौड़ना, सूक्ष्माक्षरों की पुस्तकों को पर्याप्त प्रकाश न होने पर भी पढ़ना, सिर पर अति गरम पानी स्नान के समय डालना, भोजन के उपरान्त तुरन्त सोना, सिर पर चादर ओढ़कर सोना इत्यादि। हिताभ्यास में इनको वर्ज्य करना चाहिए।



मतिर्वचः कर्मसुखानुबन्धि सत्त्वं विधेय विशदा च बुद्धिः।
ज्ञान तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥ चरक॥

चतुर्थ अध्याय

कुलजता और प्राजननिकी

(Heredity and Eugenics)

कुलजता और प्राजननिकी का वास्तव में नित्य नैमित्तिक स्वास्थ्य रक्षक रहन सहन से जरा सा भी संबंध नहीं है। तिस पर भी इन शास्त्रों का विवरण स्वस्थवृत्त में इसलिये आवश्यक होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के जन्मोत्तर स्वास्थ्य की नीव उसके जन्म से बहुत पहले उसके माता-पिता तथा उनके पूर्वजों द्वारा डाली जाती है। यह नीव ढीली-ढाली होने पर जन्मोत्तर पूर्वोक्त नियमों का पालन करने पर भी स्वास्थ्य रूपी प्रासाद मजबूत नहीं बना सकता और अकाल में ही धँस जाता है। परन्तु यदि यह नीव मजबूत हो तो पूर्वोक्त नियमों के पालन से स्वास्थ्य प्रासाद बहुत मजबूत बनकर दीर्घजीवी होता है। स्वास्थ्य-प्रासाद की नीव की मजबूती इन शास्त्रों के ज्ञान के आधार पर ही हो सकती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इनका कामचलाऊ ज्ञान आवश्यक है। ये शास्त्र बहुत विशाल, गंभीर तथा अभी तक बहुत अपूर्ण है। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से इनके व्यवहारोपयोगी कुछ सिद्धान्तों का प्रारम्भिक (Elementary) विवरण यहाँ दिया जाता है।

आरोग्य[1] और अर्थ तथा रोग और ऋण में बहुत कुछ साम्यता है। जैसे, मनुष्य अपने माता-पिता के तथा उनके पूर्वजों के धन एवं ऋण के आप से आप उत्तराधिकारी हो जाते हैं वैसे वे उनके आरोग्य एवं रोगों के भी। यह साम्यता यहाँ पर खतम नहीं होती। जैसे, मनुष्य अपने पैतृक धन को अस्वीकार कर सकता है, परन्तु ऋण को अस्वीकार[2] नहीं कर सकता, न ऋण देनेवाला

---

१. आरोग्य एक प्रकार का बड़ा भारी अर्थ, ऐश्वर्य या भाग्य माना जाता है—किं भाग्य देहवतामारोग्यम्॥ श्रीशंकराचार्य॥ आरोग्य विद्वत्ता सज्जनमैत्री महाकुले जन्म। स्वाधीनता च पुंसा महदैश्वर्यं विनाप्यर्थै. Health is wealth.

२. ऋण एक प्रकार का विष माना गया है जो पुत्रपौत्रादि को भी नष्ट करता है—न विष विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं (ऋण) विषमुच्यते। विषमेकाकिन हन्ति ब्रह्मस्व पुत्रपौत्रकम्॥

उसको अस्वीकार करने देता है, वैसे ही मनुष्य अपने दुर्व्यवहार से पैतृक आरोग्य को अस्वीकार कर सकता है, परन्तु पैतृक रोगों को अस्वीकार नहीं कर सकता, न रोगों के कारण उसको अस्वीकार करने देते है। इसलिये अपनी संतानों की शुभकामना रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि वह उनके लिये आरोग्यरूपी पैतृक धन इकट्ठा करके रक्खे और यदि यह न हो सके तो कम से कम उनको रोगरूपी पैतृक ऋण में डुबोकर न छोड़े।

कुलजता[१]

माता-पिता तथा उनके पूर्वजों के शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक गुणों का दोषों का, प्रवृत्तियों तथा अन्य विशेषताओं का उनके वंशजों में जो न्यूनाधिक संचार होता है उसको कुलजता कहते हैं। कुछ रोगों और शारीरिक व्यंगों की उत्पत्ति में कुलजता का सम्बन्ध होता है, यह सिद्ध हुआ है इसलिये स्वास्थ्य-विज्ञान में उसका विवरण दिया जाता है। सामान्यतया 'यथा बीज तथाऽङ्कुरः' इस न्याय से स्वस्थ माता-पिता की प्रजा स्वस्थ और अस्वस्थ की अस्वस्थ हुआ करती है। परन्तु कुलजता में सर्वसामान्य बातों का विचार न करके माता-पिता तथा उनके पूर्वजों की शारीरिकादि विशेषताओं का विचार होता है। यहाँ पर अस्वास्थ्यकर विशेषताओं का विचार अभिप्रेत है। इसलिये केवल उन रोगों और व्यंगों (Malformations) का ही यहाँ पर निर्देश किया जाता है जो संचारी होते हैं—राजयक्ष्मा, कुष्ठ, मधुमेह, वातरक्त (Gout), कर्कट (Cancer), फिरंग, रक्त की परमनिपीडता (High blood pressure), अपस्मार, अनूर्जता (Anaphylaxis), विविध उन्माद, उद्विग्नता, अव्यवस्थितचित्तता, नाड्यवसन्नता (Neurasthenia), पागलपन, पक्षाघात, अपतन्त्रक, अर्श, स्थूलता, आमाशय व्रण, शोणितातिपित्तता (Hemophilia), दमा, रंगान्धता, मोतियाबिंद, अदूरदृष्टि (Myopia), फटा होंठ, कटीतालु, अधिकांगुलिता (Polydactylism) इत्यादि। इसका अर्थ यह होता है कि यदि माता या पिता या उनके पूर्वज

---

१. माता-पिता के तथा पूर्वजों के गुणावगुण सन्तति में सचारित होते हैं, यह कल्पना प्राचीनकाल से भारतवर्ष में रूढ है और इस सचारण को आदिबलप्रवृत्ति या कुलज प्रवृत्ति कहते हैं—सततिः शुद्धवश्या हि परत्रेह च शर्मणे। रघुवंश॥ तत्र आदिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः। ये चापि केचित्कुलजा विकारा। शुक्र हि दुष्ट सापत्य सादर बाधते नरम्। चरक॥ कुलजा इति पितृपितामहादिकारणोद्भूताः। चक्रपाणिदत्त॥ कुलज को सचारी या अनुषंगी भी कहते हैं।

इनमें से एक या अनेक रोगों या व्यंगों से पीडित हो तो उनकी प्रजा में किसी समय में ये रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

कुछ औपसर्गिक रोग कुलज हैं ऐसा माना जाता है। परन्तु वस्तुतः विचार किया जाय तो एक भी औपसर्गिक कुलज सिद्ध नहीं हुआ है। बीजकोषाओं के वर्णसूत्रों (Chromosomes) द्वारा संचालित होनेवाले रोग को कुलज कहते हैं और अब तक स्त्री या पुरुष के वर्णसरों द्वारा किसी भी उपसर्गकारी जीवाणु का संचरण सिद्ध नहीं हुआ है। अब कुछ रोगों का संचरण का विवरण नीचे दिया जाता है—

फिरंग—यह रोग सहज (Congenital) होता है, कुलज नहीं। फिरङ्गी माता के रक्त में संचरण करनेवाला फिरंग का चक्रकीटाणु अपरा में (Placenta) से गर्भ के शरीर में प्रवेश कर उसको उपसृष्ट (Infected) करता है।

राजयक्ष्मा, कुष्ठ—ये रोग कुलज नहीं। इनके होने के निम्न कारण हैं—(१) रोग प्रतिकार की मातापिताप्राप्त दुर्बलता। (२) मातापिताप्राप्त रोगानुकूल प्रवृत्ति (Predisposition) (३) क्षयी के साथ या कुष्ठी के साथ घनिष्ठ संबन्ध होने के कारण उससृष्ट होने की अधिक संभावना।

रंगांधता (Colour blindness)—रंगांध पुरुष अपना रोग अपनी संतति में संक्रान्त नहीं कर सकता परन्तु अपनी सन्तति के आधे बच्चों में (Grand Children) करता है। रंगाध स्त्री अपने सब पुत्रों में सक्रमण करती है परन्तु कन्याओं में नहीं कर सकती और फिर पुत्रों के आधे पुत्रों में और आधी कन्याओं में वह रोग संक्रान्त होता है।

मानसिक रोग—निश्चित कुलजता होनेवाले हंटिंगटन का लासक (Hutington's Chorea) और प्रतिक्षिप्ताक्षेप अपस्मार (Myoclonus epilepsy) ये दो रोग है। अनेक मानसिक रोगों का अन्वेषण करने पर यह मालूम हुआ है कि २९% रोगों में कुलजता होती है, ९% में परिस्थिति या पर्यावरण (Environment) कारण होता है और ६२% रोगों में दोनों कारण होते हैं। इसका अर्थ यह है कि अधिकसंख्य मानसिक रोग कुलजता और परिस्थिति के मिश्र कारण से होते हैं।

कुलजता का संचार—उच्च वनस्पति सृष्टि के समान उच्च प्राणि सृष्टि में संतान की परम्परा जारी रखने के लिए बीज[१] उत्पन्न होते हैं। इनको बीजकोशाएँ (Germce-

---

१. विज्ञान द्वारा अशतः प्रस्थापित मनुष्य बीजों का स्वरूप और कुलजता की जो आधुनिक उपपत्ति ऊपर वर्णन की गयी है उसी के समान बीजों की और कुलजता की

lls) कहते हैं। प्राणियों में जो पुरुष होते हैं उनकी बीज कोशाको शुक्रकीटाणु (Spermatozoa) और जो स्त्री होते हैं उनकी कोशा को रजाणु (Ova) कहते हैं। प्राणियों का शरीर अगणित अनेकविध कोशाओं से बना है। इन कोशाओं की न्यष्टियों (Nucleus) में रंग (वर्ण) ग्राही दानेदार छोटी छोटी अनेक रेखाएँ होती हैं। इनको वर्णसूत्र (Chromosomes) कहते हैं। प्रत्येक जाति में वर्णसूत्रों की संख्या भिन्न होती हैं। परन्तु एक जाति के सब प्राणियों में एक रहती है। मनुष्य जाति में इनकी संख्या ४८ है और ये २४ जोड़े में विभक्त होते हैं। यद्यपि ये वर्णसूत्र छोटे मोटे हो सकते हैं तथापि प्रत्येक जोड़े के दोनों वर्णसूत्र सब बातों में एक दूसरे के साथ ठीक मिलते-जुलते (Homologous) होते हैं। इनमें २३ जोड़े (४६ वर्ण सूत्र) आकृति और परिमिति में समान होते हैं, इसलिए सामान्य या नियमित (Ordinary or regular) कहलाते हैं और इन्हीं से माता-पिता तथा पूर्वजों के गुणावगुणों (Characters) का संवहन होता है। चौवीसवें जोडेके दो वर्णसूत्र प्रजा के लिंग का निर्णय करने के लिए आवश्यक गुणावगुणों का संवहन करते हैं। इसलिए लिंगकर वर्णसूत्र (Sex chromosomes) कहलाते हैं। स्त्रियों के शरीर के लिंगकर वर्णसूत्र दोनों मोटे और समान होते हैं। इनको क्ष (X) वर्ण सूत्र कहते हैं। पुरुषों के शरीर के लिंगकर वर्णसूत्र समान नहीं होते। एक स्त्री लिंगकर वर्णसूत्र के समान मोटा अर्थात् क्ष वर्णसूत्र होता है और दूसरा छोटा होता है। उसको य (Y) वर्णसूत्र कहते हैं।

जब शरीर में बीजकोषाएं बनती हैं तब उनमें प्रत्येक जोड़े का एक वर्णसूत्र आता है अर्थात् वह आधे (२४) वर्णसूत्रों की होती हैं। स्त्रियों में प्रत्येक जोड़े के दोनों वर्णसूत्र समान होने के कारण उनके सब रजाणु समान होते हैं और उनमें

कल्पना प्राचीन आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलती है। चरक संहिता के शारीर स्थान में गर्भ व्याकरण के विवरण में इसका बहुत कुछ विचार किया गया है—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—बीज इति शुक्रशोणिते। बीजस्याङ्गप्रत्यङ्गनिर्वर्तको भागो बीजभागः। मनुष्यबीज हि प्रत्यंगबीजभागसमुदायात्मक स्वसदृशप्रत्यंग समुदायरूपपुरुष जनकम्॥ दूसरे स्थान में चरक में लिखा है—यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते। वैसे ही 'पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानां' इत्यादि। यहाँ पर स्त्रीकर और पुरुषकर भाग से आधुनिक लिंगकर वर्णसूत्र समझ सकते हैं। लिंगकर शब्द स्त्रीकर और पुरुषकर शब्द से ही बनाया गया है। आगे कुष्ठ में भी पादटिप्पणी देखिये—

लिंगकर वर्णसूत्र क्ष होता है। पुरुषों के शुक्रकीटाणु भी इसी प्रकार बनते हैं और २४ वर्णसूत्रों के ही होते हैं परन्तु उनके लिंगकर वर्णसूत्र समान न होने के कारण आधे शुक्रकीटाणों में क्ष वर्णसूत्र और आधों में य वर्णसूत्र होता है। इसका अर्थ लिंगोत्पत्ति की दृष्टि से रजाणु के समान एक से नहीं होते, दो विभाग के होते हैं।

जब रजाणु के साथ क्ष वर्णसूत्र होनेवाला शुक्रकीटाणु मिलता है तब गर्भ शरीर के वर्णसूत्रों की स्थिति स्त्री शरीर के वर्णसूत्रों के समान (अर्थात् ४६ सामान्य वर्णसूत्र और २ क्ष वर्णसूत्र) होने से गर्भ स्त्री लिंग का बनता है। जब रजाणु के साथ य वर्णसूत्र का शुक्र कीटाणु युक्त होकर गर्भ रहता है तब गर्भ शरीर में पुरुष शरीर के समान (अर्थात् ४६ सामान्य एक क्ष और एक य वर्णसूत्र) वर्णसूत्र होने से उसको पुल्लिंग प्राप्त होता है। संक्षेप में गर्भ लिंग का बनना पुरुष के शुक्रकीट पर निर्भर होता है। वर्णसूत्रों के प्रत्येक जोडे में समान दाने होते हैं जो पूर्वजों के गुणावगुणों का संवहन करते हैं। इनको गुणी (Gene) कहते हैं। माता पिता के जो गुणावगुण उसकी संतति में प्रकट होते हैं वे उत्कट या प्रभवत् या दवग (Dominant) और जो प्रकट नहीं होते वे अनुत्कट या दब्बू (Recessive) कहलाते है। ये अनुत्कट गुणावगुण आगे पौत्र प्रपौत्रों में कुछ अन्य परिस्थितियों में प्रकट हो जाते हैं।

माता के या पिता के वर्णसूत्रों में जब कोई उत्कट गुण रहता है तब वह संतति में प्रकट हो जाता है। जब समान अनुत्कट गुण माता पिता दोनों के वर्णसूत्रों में विद्यमान हो तो वह दब्बू होने पर भी प्रकट हो जाता है।

प्राजननिकी

शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टया स्वस्थ सबल और श्रेष्ठ प्रजा उत्पन्न करने का (प्रजनन) जिस शास्त्र का प्रयोजन होता है उसको प्राजननिकी कहते हैं। प्रत्येक जाति, वंश या राष्ट्र का बलाबल केवल जनसंख्या पर निर्भर न होकर जनता के बलाबल पर निर्भर होता है। यदि किसी जाति, वंश या राष्ट्र की जनता शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टया ऊँची हो तो वह जाति, वंश या राष्ट्र संसार में अपना सिर ऊँचा रखता है। यदि उनकी स्थिति इससे विपरीत हो तो वे धीरे धीरे अधोगति को प्राप्त करके या तो किसी दूसरी जाति, वंश या राष्ट्र के अधीन हो जाते हैं या संसार से मिट जाते हैं। इसलिए अपनी जाति, वंश

या राष्ट्र की हितकामना रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का यह दोहरा कर्तव्य हो जाता है कि वह यथाशक्ति स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करके स्वयं स्वस्थ और सुदृढ़ रहने का प्रयत्न करे तथा कुलज्ञता और प्राजननिकी के नियमों के आधार पर अपनी भावी प्रजा को मजबूत बनाने में दत्तचित्त और यत्नशील रहे।

प्रजनन में सबसे पहला तथा महत्व का कार्य स्त्री और पुरुष को एकत्र लाने का होता है, क्योंकि उच्च स्थावर और जंगम सृष्टि में दोनों के संगम के बिना यह कार्य नहीं हो सकता। इस विषय के लिए स्त्री का पुरुष की ओर और पुरुष का स्त्री की ओर नैसर्गिक आकर्षण होने के कारण मनुष्येतर प्राणियों में नर और मादा बिना किसी संस्कार के एकत्र आकर प्रजोत्पादन के लिए आवश्यक कर्म करके फिर बिना रोक टोक के एक दूसरे से अल्पकाल के लिए या सदा के लिए अलग हो जाते हैं। मनुष्यों में इससे बिलकुल विपरीत स्थिति रहती है। उनमें प्रजोत्पादनार्थ स्त्री पुरुषों के एकत्र होने के लिए विशिष्ट संस्कार की आवश्यकता होती है जिसको विवाह कहते हैं और एकबार विवाह बद्ध होने के पश्चात् दोनों अलग नहीं हो सकते। यद्यपि आधुनिक काल में विवाह संस्कार और विवाह बन्धन में बहुत कुछ शिथिलता आ गयी है और विवाह-विच्छेद-विधि द्वारा शिथिलता लानेकी कोशिश की गयी है तथापि इन बातोंकी शिथिलता या स्वतंत्रता में मनुष्य इतर प्राणियों का न मुकाबला कर सकता है, न समाज स्वास्थ्य की दृष्टि से मुकाबला करना उचित है। इसलिए विवाहबद्ध होने से पहले प्रत्येक स्त्री या पुरुष को तथा कन्या या पुत्र को विवाह बद्ध करने से पहले प्रत्येक माता पिता, पालक या अभिभावक को बहुत सोचविचार करके वधू या वर का निर्णय करना चाहिए। परन्तु व्यवहार में इससे विपरीत स्थिति दिखाई देती है। साधारणतया शिक्षित नौजवान वधूवर अपना साथी चुनने में दृष्टिपाती प्रेम (Love at first sight) जैसी कामुक वृत्ति से काम लेते हैं, अपने बच्चों को साथी चुनने में माता-पिता पैसे के लालच से सौदा करते हैं और संबन्धियों में 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा' इस प्रकार की लापरवाही की वृत्ति दिखाई देती है। इसका परिणाम जनसंख्या बढ़ते हुए भी उनके निर्जीव, निर्बल और निस्सार होने में हो रहा है। इस प्रकार प्रजा निस्सार न हो यह हमारे पूर्वजों की[1] इच्छा रही है।

---

१. 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस प्रकार की प्रबल महत्वकांक्षा रखनेवाले और तदनुसार संसार भर में एक समय अपनी विजयपताका फहरानेवाले आर्य इस बात को भली भाँति जानते थे कि राष्ट्र या वंश का बल जितना उनकी संख्या पर निर्भर होता है उतना ही जनता के शारीरिक मानसिक और नैतिक बल पर। इसलिए उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को

विधेय प्राजननिक (Positive eugenics)—प्रजोत्पादन के लिए विवाह बद्ध होने से या करने से पहले स्त्री-पुरुषों की अच्छी तरह देख-भाल करनी चाहिए। देख-भाल में स्त्री-पुरुषों की तथा उनके माता-पिता की कुलशील, स्वास्थ्य, कुलजरोग, शिक्षा इत्यादि बातों के सम्बन्ध में विचारणा होनी चाहिए। इससे उत्तम प्रजा निर्माण करने के लिए योग्य तथा अयोग्य स्त्री-पुरुषों का पता लग जाता है। सुप्रजा-निर्माणार्थ इस प्रकार की विचारणा तथा तद्द्वारा जो कार्य होता है उसको विधेय प्राजननिकी[1] **कहते हैं। इसके अनुसार जो स्त्री-पुरुष स्वस्थ,**

प्रजा उत्पन्न करने का आदेश देते समय श्रेष्ठ प्रजा उत्पन्न करने की ओर भी उसका ध्यान आकर्षित किया—प्रजनन वै प्रतिष्ठा। लोके साधु प्रजायास्तन्तु तन्वानाः पितृणाम-नृणो भवन्ति। तदेव तस्यानृणं तस्मात्प्रजनन परम वदन्ति ॥ तैत्तिरीय आरण्यक ॥

१ जिसको आधुनिक काल में विधेयप्राजननिकी कहते हैं उस के मूलभूत सिद्धान्तों का सूक्ष्म विचार तथा उनके अनुसार आचार रखने के आदेश श्रुति, स्मृति तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलते हैं यह बात नीचे के उद्धरणों से स्पष्ट होगी। निषिद्ध प्राजननिकी का बहुत कुछ काम धार्मिक आदेशों से हो जाता था।

उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितु.॥
महान्त्यपि समृद्धानिगोजावीधनधान्यत.।
स्त्रीसबन्धे दशैतानि कुलानिपरिवर्जयेत्॥
हीनक्रिय निष्पुरुष निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥
नालोमिका नातिलोमां नाधिकांगीं न रोगिणीम्॥ नोद्वहेत्॥
अव्यंगांगीं। तनुलोमकेशदशना मृद्वंगीमुद्वहेत्स्त्रियम्। म. स्मृ.
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्या स्त्रियमुद्वहेत।
अनन्यपूर्विका कान्तामसपिण्डा यवीयसीम्॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।
दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणा महाकुलात्।
स्फीतादपि न सचारिरोगदोषसमन्वितात्॥
एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।

यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमाञ्जनप्रियः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति ॥ अथ खलु पुमाने-कविंशतिवर्षः कन्यामतुल्यगोत्रा तुल्याभिजनामसंचारिरोगकुलप्रसूता रूपशीललक्षणसंपन्ना-

सुडौल, सवल, सुशिक्षित, सुवुद्ध होते हैं, कुलज रोगों से अनुपसृष्ट और दीर्घायु कुल के होते हैं, उत्तम स्वभाव के होते हैं, वे प्रजोत्पादन के लिए सर्व प्रकार से योग्य माने जाते हैं। अनेक रोग तथा व्यंग कुलज होते हैं। परन्तु उनमें राजयक्ष्मा, कुष्ट, फिरंग, वातरक्त, श्वास तथा अनवधानिक (Anaphylactic) रोग, उन्माद, मधुमेह, अपस्मार, पागलपन, मृगी, रंगान्धता, शोणितातिपित्तता इत्यादि विशेष महत्व के हैं। इन कुलज रोगों के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये रोग जन्म के समय व्यक्ति के शरीर में नहीं प्रकट रहते, परन्तु आगे चलकर परिस्थिति अनुकूल होने पर, रोगोत्पत्ति के कारण उपस्थित होने पर उत्पन्न होते हैं। कुलज रोग से पीड़ित कुल में उत्पन्न होने पर उस विशिष्ट रोग के लिए शरीर में जो एक प्रकार की अनुकूलता होती है उसको कुलज पूर्व प्रवृत्ति (Predisposition) प्रकृति (Diathesis) या प्रवणता (Tendency) कहते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग कुल के और भिन्न रक्त के होने चाहिएँ। सगोत्र सपिण्ड अर्थात् एक कुल के (अन्तःप्रसवन Inbreeding) या एक रक्त के (Consanguineous) पति-पत्नी होने से अनेक अनुत्कट गुणावगुण भी उत्कट होते हैं जिससे उनके अवगुण बढ़ने की संभावना रहती है। यही सगोत्र या सपिंड विवाह का दोष है।

निषिद्ध प्राजननिकी (Negative eugenics)—जब गलती से, लापरवाही से, लाचारी से या जबरदस्ती से प्रजोत्पादन की दृष्टि से अयोग्य साथी मिलता है तब उसके साथ मिलकर प्रजोत्पादन न करना ही इष्ट होता है। यदि किया जाय तो समाज में प्रजोत्पादन के लिये अयोग्य स्त्री-पुरुषों की वृद्धि होगी। निषिद्ध प्राजननिकी में इन अयोग्य माताओं या पिताओं का प्रजोत्पादन रोकने की दृष्टि से साधन सामग्री का विचार किया जाता है और इसके लिए निम्न साधन बताए जाते हैं—

(१) पृथक्करण (Segregation)—इसमें अयोग्य स्त्री-पुरुष मुख्य समाज से अलग किये जाते हैं जिससे कि उनको प्रजोत्पादन का मौका न मिले। इसके लिए कानून और राज्य से सहायता की आवश्यकता होती है।

(२) वन्ध्यकरण (Sterilization)—इसमें शस्त्र कर्म के द्वारा पुरुषों के शुक्र

मनूनाविनष्टदन्तौष्ठकर्णनासानखकेशस्तनीं मृदुमरोगप्रकृतिमहीनाधिकाङ्गीं द्वादशवर्षदेशीयामनधामनिन्द्यामनिन्द्येन विधिनोद्वहेत्। तस्यां षोडशवर्षीयां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं प्रयतेत। तदा हि तौप्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितमपत्यं जनयतः। ऊनपञ्चविंशतिवर्षेणोनषोडशवर्षायामाहितो गर्भः कुक्षिस्थ एव विनाशमाप्नुयादल्पायुर्बलारोग्यविभवो वा स्याद्विकलेन्द्रियो वा।

कीटाणुओं का शुक्राशय में और स्त्रियों के रजाणुओं का गर्भाशय में आने का रास्ता सदा के लिए बंद कर दिया जाता है जिससे पति-पत्नी का मिलन होने पर भी गर्भाधान हो नहीं सकता। स्त्री या पुरुष की संमति के बिना यह शस्त्र कर्म करना अवैध है। व्यक्ति की स्वास्थ्य रक्षा के लिए इसका करना वैध माना जाता है, परन्तु गर्भ निरोध के लिए इसका करना वैध हो सकता है कि नहीं, विशेष करके जो अपनी मन्दबुद्धि के कारण इसको समझकर समति नहीं दे सकते, उनके सम्बन्ध में मतभेद है। इसलिए ऐसे लोगों के लिए यह कर्म अनिवार्य नहीं हो सकता न कहीं अनिवार्य किया गया है।

(३) गर्भनिरोधन (Contraception)—आजकल स्त्री पुरुष का शरीर सम्बन्ध होने पर भी गर्भाधान रोकने के लिए अनेक उपकरण तथा रसायन उपलब्ध हुए हैं। परन्तु सरल तथा विश्वसनीय एवं अनपायी तथा अनापत्तिजनक कोई साधन नहीं सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त इनका उपयोग करने के लिए शिक्षा और बुद्धि की भी आवश्यकता होती है जिनकी मानसिक विकारों से पीडितों में कमी होती है। इसलिए इनका उपयोग बहुत लाभकर नहीं हो सकता। गर्भ निरोधक साधन विवाहित स्त्री पुरुषों में जहाँ पर गर्भ निरोधन आवश्यक तथा हितकर है वहाँ उपयोगी होते हैं, परन्तु उनसे अविवाहित स्त्री पुरुषों में अनतिक सवध वढने की भी सभावना होती है। इसलिए उनका प्रचार बहुत सावधानी से करना चाहिए।

(४) विवाह का वैध निषेध (Legal prohibition)—जिनकी प्रजा अस्वस्थ उत्पन्न होने की संभावना है उनको कानून से विवाह की मनाही करना।

(५) गर्भशातन (Abortion)—यदि ऐसी स्त्रियों में या ऐसे पुरुषों से उनकी पत्नियों में गर्भधारणा हो जाय तो उसको गर्भनाशक कर्मों से या औषधियों से प्रकट रूपेण नष्ट करना।

(६) सुखावसान (Euthanasia)—दीर्घकालानुबन्धी असाध्य रोगों से पीडित लोगों को सुख से देहत्याग करने की अनुज्ञा देना।

इन सब पद्धतियों को गर्भनिरोधक पद्धति के साधनों को छोड़कर, काम में लाने के लिए कानून की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त प्राजननिकी की दृष्टि से इनको काम में लावें या नहीं इसके बारे में विशेषज्ञों में मतभेद भी है। अतः ये विधियाँ कहीं भी न वैध मानी गयी हैं, न वैध की गयी हैं। बाकी व्यक्ति-विशेष का विचार करके काम में लायी जाती है।

—००:०:००—

पंचम अध्याय

मनःस्वास्थ्य और मनोविकार

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ कठोपनिषत् ॥

सजीव सृष्टि आत्मा, मन और पंचमहाभूतात्मक शरीर तीनों से बनती है। इनमें आत्मा निर्विकार है और मन तथा शरीर सविकार होते हैं। मनुष्य सजीव सृष्टि का ही एक अंग है। इसलिए मनुष्यों में उत्पन्न होनेवाले रोगों या विकारों के शारीरिक और मानसिक करके दो विभाग किये जाते हैं। शारीरिक को व्याधि और मानसिक विकार को आधि[1] कहते हैं। वस्तुतः स्वस्थ मनुष्य वह है जिसके शरीर और मन दोनों स्वस्थ हैं। मन अस्वस्थ होने पर शरीर अस्वस्थ होता है और शरीर अस्वस्थ होने पर मन अस्वस्थ होता है। इसलिए स्वास्थ्यविज्ञान जब तक शरीरस्वास्थ्य के साथ-साथ मनःस्वास्थ्य का विचार नहीं करता तब तक वह अपूर्ण ही रह जाता है।

मानसिक आरोग्य मुख्यतया मनःस्वास्थ्यरक्षण से सम्बन्ध रखता है। फिर भी इसका सम्यक् आकलन होने के लिए मनोविज्ञान (Psychology) और मनःचिकित्सा (Psychiatry) जैसे मनःसम्बन्धित शास्त्रों की जानकारी के अतिरिक्त जीवविज्ञान (Biology) व्याधिविज्ञान, शिक्षा, बालविज्ञान और समाजविज्ञान (Sociology) इत्यादि शास्त्रों की जानकारी की आवश्यकता

---

१. पुंस्याधिर्मानसी व्यथा । अमरकोष ॥

होती है। इससे मानसिक विकार कैसे उत्पन्न होते हैं, उनका प्रतिबन्धन कैसे किया जा सकता है इसका ज्ञान होकर वैयक्तिक तथा सामाजिक मनःस्वास्थ्य बढ़ाने में सहायता होती है। आजकल की चिन्ताजनक और जटिल परिस्थितियों के कारण मनोविकार तथा मनःशारीरिक विकार (Psychosomatic) बढ़ने लगे हैं और भविष्य में और भी बढ़ेंगे। ऐसी अवस्था में स्वास्थ्यविज्ञान में मानसिक आरोग्य और मानसिक विकार इनका विवरण एक आवश्यक अंग हो गया है। यह विषय बहुत जटिल, विस्तृत और विशालकाय है। इसके साथ ही साथ रोगविज्ञान के समान इसमें निश्चितता भी नहीं है जिसके कारण इसको व्यवहार में लाने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। इसलिए यहाँ पर इस विषय का केवल दिग्दर्शन मात्र किया जाता है।

मानसिक विकारों के हेतु

(१) कुलज (Hereditary)—इसका विवरण पीछे (पृष्ठ २१४) हो चुका है। जैसे कुछ शारीरिक रोग परम्परा से सन्तान में प्रकट होते हैं वैसे कुछ मानसिक विकार भी होते हैं। इन विकारों में मनोवैकल्य (Mental deficiency), सोन्मादौदासीन्य (Maniac-depressive) पागलपन, हंटिंगटन का लासक (Huntington's Chorea) इत्यादि कुछ विकारों मे निश्चित कुलजता होती है। यह देखा गया है कि इन विकारों से पीडित व्यक्तियों के रिश्तेदारों में तथा उनकी प्रजा में औरों की अपेक्षा ये विकार कई गुना अधिक दिखाई देते हैं। भिन्नमनस्कता (Schizophrenia), अल्पमनस्कता (Oligophrenia), अपस्मार (Epilepsy), अपतन्त्रक (Hysteria), बाधाग्रस्तता (Obsessions), चिन्तावस्थाएँ (Anxiety states) इत्यादि मनोमस्तिष्क विकारों में कुलज प्रवृत्ति (Predisposition) रहती है जो परिस्थिति अनुकूल या सहायक मिलने पर रोगोत्पत्तिकारक होती है और प्रतिकूल परिस्थिति होने पर व्यर्थ हो जाती है। संक्षेप में मनोवैकल्य जैसे विकारों में बीजदोष मुख्य या प्रभावी होता है और अपतन्त्रकादि विकारों में बीजदोष सुप्त या अनुत्कट रहता है।

(२) मानसिक (Psychic)—इसके अनुसार मन के विविध संघटकों का, अत्यङ्गों का या स्तरों का कार्य सामञ्जस्य से या अनुकूलता से (Harmoniously) न चलने से विविध मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं ऐसा माना जाता है। मन के तीन स्तर या तल (Levels) माने जाते हैं।

१—चेतन (Conscious) स्तर—यही विचार करता है, अनुभव करता है, निश्चय करता है और अपने विचार या निश्चय को कार्यान्वित करता है। वाह्य-जगत् से यहीं मन सम्वन्धित रहता है और इसीके द्वारा व्यक्ति समाज में व्यवहार करता है। इसी के व्यवहार को देखकर मनुष्य की नैतिकता या अनैतिकता, शिष्टता या अशिष्टता का अनुमान किया जाता है। मान-सम्मान, भले-बुरे का ख्याल यही मन रखता है। यह अहंकारमय होता है। इसलिए पुरुषत्व (Personality) की दृष्टि से इसी को अहं (Ego) कहते हैं। कर्तृत्व इसी पर निर्भर होने से पाप-पुण्य, नीति-अनीति का उत्तरदायित्व इसी पर होता है।

२—अचेतन (Unconscious)—यह अत्यन्त स्वार्थी, सुखलोलुप, विषयासंगी होता है। वास्तविकता, समाजवन्धन, नैतिक आचरण इत्यादि की वह परवाह ही नहीं करता। मनुष्यों की पाशविक मनोवृत्तियों का यही मूल होता है। पुरुषत्व की दृष्टि से इसको तत् (I d) कहते हैं और मनुष्यों के भीतर की पशु-वृत्ति (Conception of beast in men) का यह प्रतिनिधि होता है।

३—अर्धचेतन या पूर्वचेतन (Preconscious)—इसका स्थान चेतन और अचेतन के वीच में माना जाता है। अचेतन मन का थोड़ा सा नियन्त्रण करके यह चेतन मन को सहायता करता है। पुरुष की दृष्टि से इसलिए इसको परम अहम् (Super-ego) कहते हैं। मनोविज्ञान में शरीररूप रथ के, इन तीनों का परस्पर सम्वन्ध अचेतन मन या तत् रथसचालक यन्त्र (Engine) या वल, चेतन मन या अहं रथ का सारथी (जो रथ को ठीक रास्ते पर रखता है) और अर्धचेतन मन या परम अहं पार्श्वसारथी (Backseat driver) से प्रदर्शित किया जाता है। अचेतन मन पशुवल और पशुवृत्ति का अतएव प्रमाथी, बलवत् और दृढ होकर वरावर चेतन मन के पीछे अपनी पाशवी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए लगा रहता है और चेतन मन उन पाशवी इच्छाओं को दवाने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार इन दोनों का संघर्ष जीवन भर लगा रहता है। इस सघर्ष में जिस मनुष्य में और जव चेतन मन अचेतन के सामने निर्वल पड़ता है या पड़ने लगता है तव उसका पुरुषत्व गिरता है या गिरने लगता है और निर्वलता के अनुसार अनेक छोटी-मोटी आधियाँ उत्पन्न होती है। सक्षेप में जन्मोत्तर मानसिक आरोग्य विगड़ने का कारण इसके अनुसार चेतन मन की दुर्वलता माना जाता है।

(२) शारीरिक (Physical)—मस्तिष्कधातु में विकृति होने से या शरीरगत

रासायनिक परिवर्तन से मस्तिष्क कार्य में उलट पुलट होने से मानसिक विकार हो सकते हैं। परन्तु सब मानसिक विकारों की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण इनके आधार पर नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यद्यपि अनेक मानसिक विकारों में मस्तिष्क मे कुछ परिवर्तन दिखाई देते हैं तथापि वे परिवर्तन उन मानसिक-विकारों के हेतु रहे या उनके फलस्वरूप उत्पन्न हुए इस विषय के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है।

मनोविकारों के प्रकार

मनोरुग्णता[१] (Psychosis)—ये वास्तविक मनोविकार होते हैं। इनमे दो विभाग किये जाते हैं। प्रथम विभाग में भिन्नमनस्कता (Schizophrenia इसी को Dementia precox प्रौढमूढमनस्कता भी कहते हैं), पीडनोन्माद (Paranoia) और पीडनोन्मादाभ (Paranoid) अवस्थाएँ, सोन्मादौदासीन्य पागलपन (Maniac depressive insanity), पश्चिमवयस्क विषण्णता (Involutional melancholia) ये विकार समाविष्ट होते हैं जिनमें मस्तिष्क में धातुगत या विषजन्य कोई खराबी नहीं होती। दूसरे विभाग में जराजन्य मूढमनस्कता (Senile dementia) मस्तिष्क धमनी जरठताजन्य (Arteriosclerotic) तथा मद्यजन्य मनोरुग्णता (Psychosis) और फिरगी सर्वांगोपघात (General paresis) ये विकार समाविष्ट होते हैं जिनमें मस्तिष्क के भीतर विषजन्य तथा धातुगत प्रदर्श्य स्वरूप की (Demonstrable) विकृतियाँ हुआ करती है। इन विकारों में सपूर्ण मन विकृत होता है और ये गम्भीर तथा वर्धिष्णु स्वरूप के होते हैं। इनमें कुछ रोगी साहसी और धींगा-मुश्ती करनेवाले होते है। कुछ रोगी अन्तर्मुख होकर दुनिया से सम्बन्ध तोड़ देते हैं। इनको जबर्दस्ती करके खिलाना पड़ता है। मानसिक रुग्णालयों में इस विभाग के रोगी अधिक रहते हैं।

---

१. भारतीय दर्शनशास्त्र में मन का वर्णन हैं परन्तु फ्रायड के उपर्युक्त विभागों के समान उसके विभाग नहीं किये गये हैं। फिर भी मन के वर्णन में इन विभागों का पता लग जाता है। जैसे 'चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्' तथा 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासगी मोक्षे निर्विषय मनः॥ इन श्लोकों में प्रमाथी विषयासंगी इन शब्दों में जिसका वर्णन किया है वह तथा योगशास्त्र में जिसको क्षिप्तचित्त, मूढचित्त कहा है वह फ्रायड के अचेतन मन का वर्णन है 'यह स्पष्ट होगा। जिसका निग्रह करने के लिए कहा गया है वह यही अचेतन मन है'। जिसके द्वारा निग्रह करने के लिए कहा जाता है वह भारतीय कल्पना के अनुसार बुद्धियुक्त मन होता है। ऊपर कठोपनिषत् के श्लोक देखिये। इसे ही फ्रायड का सचेतन मन समझ सकते हैं।

(१) मनोवैकल्य (Mental deficiency)—इसी को अबुद्धिता (Amentia), अल्पमनस्कता (Oligophrenia) या क्षीणमनस्कता (Feeble mindedness) कहते हैं। इसमें जन्म से बुद्धि कम रहती है, उसका विकास बहुत धीरे-धीरे होता है और छोटी उम्र में विकास बन्द हो जाता है। बुद्धि के विकास के अनुसार इसके तीन वर्ग किये जाते हैं।

(अ) निर्बुद्धिता (Idiocy)—यह सबसे अधिक मनोवैकल्य है। इस वर्ग के व्यक्तियों की बुद्धि तीन वर्ष के बालक के समान भी विकसित नहीं होती। इसलिए उम्र में बड़े होने पर भी इनको खानपान, वस्त्र-प्रावरण, शरीररक्षण इत्यादि सामान्य कामों के लिए औरों की सहायता की आवश्यकता होती है। आत्मावधान (Selfcare) में ये जानवरों से भी गये गुजरे रहते हैं। बोलने का कार्य कुछ शब्दों तक मर्यादित रहता है।

(आ) न्यूनबुद्धिता (Imbecility)—यह मध्यम अवस्था है। इस वर्ग के व्यक्तियों की बुद्धि का विकास ३–७ वर्ष के बालक के समान होता है। सिखाने पर ये खानपान, वस्त्र प्रावरण और अग्नि जैसी शरीर नाशक वस्तुओं से शरीर रक्षण का काम कर सकते हैं। परन्तु इससे अधिक ये शिक्षित नहीं किये जा सकते हैं। इसलिए जीवन भर इनकी देखरेख और पालन पोषण करने पड़ते हैं।

(इ) क्षीणबुद्धिता (Moronity)—मनोवैकल्य का यह सबसे ऊँचा वर्ग है। इस वर्ग के व्यक्तियों की बुद्धि का विकास ७–११ की उम्र के बालक के समान होता है। पढ़ाने पर ये पढ़ना, लिखना, अंक जोड़ना यहाँ तक सीख सकते हैं तथा घर-घरेलू काम, खेती के काम, जानवरों की देख भाल इत्यादि काम करके कुछ जीविका भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इनमें समाज में स्वतन्त्रतया रहने का सामर्थ्य नहीं होता तथा कमाये हुए द्रव्य का सदुपयोग करने की योग्यता नहीं होती। इसलिए इनकी भी देख भाल और पालन पोषण करने की आवश्यकता होती है। निर्बुद्ध या न्यूनबुद्ध व्यक्ति को पहचानना आसान है परन्तु क्षीणबुद्ध व्यक्ति को पहचानना आसान नहीं है। मनोविकल व्यक्तियों में संख्या में निर्बुद्ध सबसे कम (५%), न्यूनबुद्धि उससे अधिक (२०%) और क्षीणबुद्ध दोनों से ही अधिक (७५%) होते हैं। इनके पहचानने के लिए बिनेट-सायमन (Binet-Simon), टर्मन (Terman), हीलीफर्नाल्ड (Healy–Fernald), पिंटनर (Pintner) इत्यादि की अनेक कसौटियाँ (Tests) होती हैं।

(२) मनोमस्तिष्करुग्णता (Psychoneurosis)—इसको मस्तिष्करुग्णता (Neurosis) भी कहते हैं। इसमें मनुष्य का संपूर्ण मन या पुरुषत्व विक्षुब्ध न

होकर उसका एकाध अंग खराब रहता है। ये व्यक्ति दुनिया की वास्तविकता से मनोरुग्णव्यक्तियों के समान अपरिचित नहीं रहते परन्तु ये पर्यावरण या परिस्थिति के अनुसार अपने को बदल नहीं सकते जिसके कारण उनमें कुछ अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ होकर कुछ विक्षिप्तता आ जाती है। यह विक्षिप्तता भावावेग, संघर्ष, निराशा, किसी काम में भग्न संकल्प होना इत्यादि से प्रकट होती है। ऐसे व्यक्तियों में चिंता, ग्लानि, एकाग्रता या निर्णय करने की असमर्थता, अनेक प्रकार के अकारण शक, झक (Obsessions) और भय बना रहना, अत्यन्त चिडचिडापन, विस्मरण, अनिद्रा, सामाजिक जीवन से घृणा इत्यादि लक्षण होते हैं। इनकी विक्षिप्तता इनके साथ रहनेवालों को काफी तकलीफ देती हैं इसमें शक नहीं, परंतु इनसे किसी को किसी प्रकार का कदापि धोखा नहीं है। इस वर्ग के अपतन्त्रक (Hysteria), नाड्यवसन्नता (Neurasthenia), चिन्ताअवस्थाएँ (Anxiety states) संत्रास (Phobias), बाधाग्रस्तता या झक (Obsessions) इत्यादि अनेक उपवर्ग किये जाते हैं।

(२) अपचार (Delinquency)—इसमें कुछ व्यक्तियों द्वारा होने वाले कुछ अपराधों का (Criminal conduct) समावेश किया जाता है। समाज के या परिस्थिति के साथ अपने को अच्छी तरह व्यवस्थापित करने में मानसिक दृष्ट्या असमर्थ होने के कारण (Maladjustment) अर्थात् परिस्थित्यनुवर्तित्व न होने के कारण मन के ऊपर जो दबाव या तनाव पड़ता है उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप ये व्यक्ति कुछ अपराध या अपचार किया करते हैं।

मनोविकारोत्पत्ति की उपपत्तियाँ

(१) मनश्चिकित्सक संप्रदाय (Psychiatric school)—मनोविकारों की चिकित्सा करनेवाले कुछ पुराने चिकित्सकों का यह सम्प्रदाय है। इसमें कुलज दोष को प्राधान्य दिया है। मन के विविध अंग सामंजस्य के साथ व्यवहार करते हैं तब मनःस्वास्थ्य होता है। इन विविध अंगों का वियोजन (Dissociation) या एक दूसरे के साथ पृथक्त्व (Splitting) मानसिक विकारों का कारण होता है। यह वियोजन दो प्रकार का होता है।

(अ) व्यूह (Molar)—इसमें मन के सब अंग एक साथ काम न करके अंगशः या पृथक् पृथक् करते हैं। अपतन्त्रक (Hysteria) निद्राचार (Somnambulism) इसके उदाहरण हैं।

(आ) व्यूहाण्वीय (Molecular)—इसमें मन के विविध अंग एक दूसरे के साथ बहुत शिथिलता से सम्बद्ध रहते है जिसके कारण जब कोई निर्णय करने का प्रसंग सामने आ जाता है तब आन्तरिक शिथिलता के कारण मन निम्न स्तर पर (Lowering of psychological tension) रहता है और वह व्यक्ति किसी प्रकार का निर्णय ले नहीं सकता और केवल चिन्ताग्रस्त और संशयग्रस्त हो जाता है। मन की ये दोनों अवस्थाएँ इस संप्रदाय के अनुसार मुख्यतया कुब्ज प्रवृत्ति के कारण और गौणरूप से बाह्यपरिस्थिति के कारण हुआ करती हैं।

(२) मनोविश्लेषण संप्रदाय (Psycho-analytical School)—यह फ्राइड का सम्प्रदाय है। मस्तिष्क रोगों से पीड़ित रोगियों के मनोविश्लेषण पर यह सम्प्रदाय अधिष्ठित है। पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य के मन के (पृष्ठ २२४) चेतन और अचेतन करके दो अंग होते हैं। इन दोनों में जब सामंजस्य रहता है तब मन स्वस्थ और आचरण शुद्ध रहता है और जब दोनों में सामंजस्य नहीं रहता तब मन अस्वस्थ और आचरण विलक्षण और विक्षिप्त हो जाता है। यही मानसिक विकार हैं। इन विकारों का मुख्य कारण इस सम्प्रदाय के अनुसार विषयासंगी प्रमाथी अचेतन मन है। चेतन मन इस अचेतन मन की कुप्रवृत्तियों का नियन्त्रण किया करता है। जब यह नियन्त्रण सोच[1] समझ कर जान बूझ कर होता है तब मनुष्य को नीतिमत्ता और महत्ता बढ़ती है। परन्तु जब ये प्रवृत्तियाँ बिना सोचे समझे या अनजाने दबती हैं तब वे चेतन मन को बराबर भीतर से परेशान करती रहती हैं। यदि यह संघर्ष बराबर होता रहा तो चेतन मन निर्बल बनकर विकृत हो जाता है और अनेक प्रकार के मनोमस्तिष्क के विकार उत्पन्न होते हैं।

(३) मनोवैज्ञानिक संप्रदाय (Psychological School)—इस संप्रदाय का मत है कि मनुष्यों के मन में विकार के तौर पर जो शक या भय बराबर बने रहते हैं उनका सबन्ध पूर्वकालीन कुछ शंकोत्पादक या भयोत्पादक विशेष प्रसंगों से होता है। 'साँप का काटा रस्सी से डरता है' और 'दूध का जला छांछ फूँक फूँक कर पीता है' इसके अन्दर जो डर है वह इसी स्वरूप का है। जब यह डर व्यावहारिक मर्यादा के भीतर रहता है तब उसको विकार नहीं कह सकते परन्तु जब वह मर्यादातीत होता है तब उसको मानसिक विकार कह सकते हैं। प्रत्येक

---

१. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ गीता ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ योगसूत्र ॥

समय अंधेरे में रस्सी देखकर बेहोश हो जाना या आक्षेप (Convulsions) पैदा होना ये इसके उदाहरण हैं। इनको उपाधीयित प्रतिक्षेप (Conditioned reflex) कहते हैं। बहुतेरे मानसिक रोग इस प्रकार से उत्पन्न होते हैं ऐसा इस संप्रदाय का मत है। परन्तु इससे सब विकारों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

स्वस्थ मन के लक्षण

शारीरिक अस्वास्थ्य के प्रतिबन्धन के लिए जैसे शारीरिक स्वास्थ्य की जानकारी आवश्यक होती है वैसे मानसिक अस्वास्थ्य के प्रतिबन्धन में मानसिक स्वास्थ्य की जानकारी आवश्यक है। परन्तु इन दो अवस्थाओं में जो भेद है वह विशिष्ट प्रकार का (Kind) नहीं किन्तु उन्नीस बीस के समान केवल मात्रा (Degree) का है यह ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि स्वस्थ मन में अस्वस्थ या विकृत मन की सब प्रवृत्तियाँ बीजरूपेण विद्यमान रहती हैं और विकृत मन में स्वस्थ मन की एकाध प्रवृत्ति अतिरंजित या अतिशयित (Exaggerated) स्वरूप में प्रकट होती है और वही उस विकृति का प्रधान स्वरूप बन जाती है।

मानवी समाज यद्यपि एक है तथापि प्रत्येक मनुष्य कुलवृत्त, शारीरिक, आर्थिक और पारिवारिक स्थिति, सामाजिक तथा व्यावसायिक परिस्थिति, शिक्षण इत्यादि बातों में प्रत्येक दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। इसलिए मानवीय समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए लागू किया जा सके इस प्रकार का मनः स्वास्थ्य का कोई एक[1] निश्चित लक्षणसमूह या मानदण्ड हो नहीं सकता। एक व्यक्ति में जो लक्षण स्वास्थ्यदर्शक रहा वह दूसरे में अस्वास्थ्यदर्शक हो सकता है। इसलिए मन के स्वास्थ्यास्वास्थ्य का विवेचन करते समय उपर्युक्त कुलवृत्तादि बातों का विचार करने की आवश्यकता होती है। संक्षेप में मनःस्वास्थ्य सापेक्ष (Relative) है निरपेक्ष (Absolute) नहीं। फिर भी व्यावहारिक दृष्ट्या निम्न लक्षण मनः स्वास्थ्य[2] के निदर्शक मान सकते हैं—

---

१. पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना कुण्डे कुण्डे नवं पयः।
जातौ जातौ नवाचारा नवा वाणी मुखे मुखे॥

२. आयुर्वेद में शरीरमनःस्वास्थ्य की नीचे जो सुन्दर परिभाषा दी हुई है उतनी सुन्दर परिभाषा अन्यत्र मिलना मुश्किल है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ सुश्रुत॥
अन्नाभिलाषो भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च।
सृष्टविण्मूत्रवातत्वं शरीरस्य च लाघवम्॥

(१) शरीर स्वस्थ होने पर जैसे उसके कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय एकैकशः और सर्वशः अच्छी तरह और मिल जुल करके काम करते हैं और शरीर को शारीरिक कर्म करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता वैसे मन स्वस्थ होने पर उसके विविध संघटक आपस में मिलकर कार्य करते हैं और सब मानसिक कर्म भीतर संघर्ष पैदा न होकर सफलता से सुख से और प्रसन्नता से होते हैं।

(२) मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं समाज भी है। मन स्वस्थ होने पर मनुष्य अपने सामाजिक व्यवहार परिस्थिति, परम्परा, रीति-रिवाज इत्यादि के अनुसार बिना बक-बक, झक-झक के अच्छी तरह कर लेता है।

(३) अपनी इच्छाओं और प्रवृत्तियों के प्रतिकूल व्यवहार करने के प्रसंग आने पर स्वस्थ मन अपना स्थैर्य नष्ट नहीं होने देता और खिलाड़ी वृत्ति (Sportmanship) से निवाह लेता है।

(४) जैसे स्वस्थ शरीर शारीरिक कार्य करने पर अधिक स्वस्थ होता है अर्थात् उसका स्वास्थ्य बढ़ता है वैसे स्वस्थ मन मानसिक कार्य करने पर अधिक स्वस्थ होता है अर्थात् उसकी कार्यक्षमता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अर्थात् शरीर के समान मन भी अवसर पाने पर प्रगतिशील होता है। इसके विपरीत जैसे अस्वस्थ शरीर कष्ट करने पर अधिक अस्वस्थ होता है वैसे अस्वस्थ मन अधिक मानसिक कार्य करने के अवसर प्राप्त होने पर अधिक अस्वस्थ होता है।

मानसिक विकारों का प्रतिबन्धन

शारीरिक रोगों के समान मानसिक रोगों में भी प्रतिबन्धन महत्त्व का होता है। यह कार्य मनुष्यों में मानसिक रोग उत्पन्न ही न हो पावे, अगर कहीं दिखाई दे तो बढ़ने न पावे इस दृष्टि से जहाँ आवश्यक हो वहाँ पर प्रजोत्पादन बच्चों का पालन-पोषण-शिक्षा, पारिवारिक रहन-सहन, सामाजिक परिस्थिति इत्यादि बातों पर ध्यान देने से साध्य हो सकता है। इन्हीं बातों का कुछ मार्ग दर्शन नीचे किया जाता है—

सुप्रसन्नेन्द्रियत्वञ्च सुखस्वप्नप्रबोधनम्।
बल वर्णायुषां लाभः सौमनस्य समाग्निता॥
विद्यादारोग्यलिंगानि विपरीते विपर्ययम्॥ काश्यपसंहिता॥

सुश्रुत के प्रथम श्लोकार्धमें और काश्यप के प्रथम श्लोकमें शरीर स्वास्थ्य के और सुश्रुत के द्वितीय श्लोकार्धमें और काश्यप के द्वितीय श्लोक में मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण वर्णित हैं॥

(१) वंश विच्छेदन[1]—पहले बताया जा चुका है कि (पृष्ठ २२३) कि शारीरिक रोगों के समान अनेक मानसिक रोग उनसे पीडित स्त्री-पुरुषों से प्रजा में संक्रान्त होते हैं। अत ऐसे मनुष्यों का वंश आगे बढ़ना नहीं चाहिए। यह कार्य निषिद्ध प्राजननिकी में वर्णित (पृष्ठ २२०) साधनों से हो सकता है। इसमें अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं तथा जनसमाज भी इसके लिए अभी पूर्णतया तैयार नहीं है। इसलिए यह कार्य जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। केवल कुछ ही देशों ने इस दिशा में कदम उठाया है।

(२) शरीर स्वास्थ्य रक्षण—शरीर स्वस्थ हो तो मन स्वस्थ हो सकता है। अनेक मानसिक विकार शरीर हमेशा बीमार रहने से हुआ करते हैं। आँख, कान, हृदय इत्यादि अङ्गों के रोग या दोष नाडी संस्थान को बराबर प्रकुपित किया करते हैं जिसके कारण मन बेचैन हो जाता है। वैसे ही अत्यधिक थकावट से हो जाता है। इसलिए शरीर में कहीं भी रोग दुर्बलता, दोष हों तो उनको दूर करने का तथा अत्यधिक थकावट पैदा न हो इस प्रकार का जीवन-क्रम रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) बाल-परिचर्या—बचपन में मन, मस्तिष्क अविकसित होते हैं। यदि उस अवस्था में बालकों के मन में जरा-जरा सी बातों में संघर्ष पैदा होता रहे तो उसका परिणाम उनके मन पर हुए बिना नहीं रह सकता। अतः बच्चों के पालन-पोषण-शिक्षा में इस बात पर ध्यान दिया जाय। प्रारम्भ में बच्चों को प्यार करना बहुत जरूरी है, बिना उसके उनका मन स्थिर और शान्त नहीं हो सकता परन्तु वह भी मर्यादातीत न हो तथा यकायक प्यार का रूपांतर कड़ाई और ताडन में न हो। बच्चे यकायक परिवर्तन को बरदास्त नहीं कर सकते। उनके मन-मस्तिष्क पर उससे चोट पहुँचती है और उससे उत्तर-काल में अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। संक्षेप में बच्चों का शिक्षण और अनुशासन प्रेम, आश्वासन, प्रोत्साहन, सहानुभूति इत्यादि के द्वारा धीरे-धीरे करना चाहिए।

---

१. इस दृष्टि से सुश्रुत का (शा १०) निम्न सूत्र ध्यान देने योग्य हैं—न चैन तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात्, सहसानापहरेदुत्क्षिपेद्वावातादिविघातभयात्, नित्यचैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः, एवमनभिहतमनास्त्वभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्वसपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्चभवति। वातातपविद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छाया‍दिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बाल रक्षेत्। इस सूत्र का एक-एक शब्द बालकों के पालन-पोषण की दृष्टि से महत्व का है। विशेष विवरण के लिए लेखक की इस सूत्र की टीका देखिए।

(४) प्रत्येक मनुष्य का मनोविकास उसकी प्रकृति परिस्थिति के अनुरूप स्वतन्त्रतया हुआ करता है। ससार में कोट्यावधि मनुष्य होने पर भी दो मनुष्य समान नहीं होते। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य व्यक्तित्व (Individuality) या पुरुषत्व (Personality) मे भिन्न होता है। जब समाज, मित्र, शिक्षक, रिस्तेदार इत्यादि के द्वारा व्यक्तित्व के विकास में बाधाएँ खड़ी होती हैं तब मनुष्य के मन में संघर्ष पैदा होता है जिसके कारण मन अस्वस्थ हो सकता है। इसलिए दूसरों के साथ व्यवहार करते समय उदारता से और सहिष्णुता से काम लेना चाहिए।

(५) मर्यादारक्षण—प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि शक्ति की स्वाभाविक या जन्मजात मर्यादा होती है। कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय वह उसके आगे बढ़ नहीं सकता[१] और यदि प्रयत्न किया जाय तो उससे उनके मन पर आघात होता है। इसलिए बच्चों से जो अपेक्षा की जाय वह उनकी नैसर्गिक शक्ति का विचार करके की जाय। पड़ोसी का लड़का दर्जे में पहला रहा। उसके साथ टक्कर देने के लिए अपने लड़के के पीछे पड़ना, यदि उसमें वह नैसर्गिक क्षमता न हो तो, निहायत बेवकूफी है। इस प्रकार का विचार न करके अनेकों ने अपने बच्चों का जीवन खराब कर दिया है।

(६) क्षतिपूर्ति (Compensation)—इस संसार में मनुष्यों को थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त होने से उसका जीवन सुखकर, आनन्दमय और उसका मन प्रसन्न होता है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यवसाय में प्रतिष्ठा प्राप्त होने के लिए आवश्यक बुद्धि नहीं होती। ऐसी अवस्था में उस क्षति की पूर्ति अन्य प्रकार से करने की शिक्षा या मार्गदर्शन करना चाहिए। विद्यालयों में प्रतिष्ठा प्राप्त होने के लिए विद्यार्जन में उच्च स्थान प्राप्त करना यही मुख्य उपाय है। रद्दी विद्यार्थी के लिए विद्यालयों में प्रतिष्ठा तब प्राप्त हो जाती है जब वह खेल-कूद इत्यादि अन्य कार्यों में प्रावीण्य दिखाकर अपनी क्षति की पूर्ति कर लेता है।

(७) सन्मार्गीकरण (Sublimation)—मनुष्य अपनी अनैतिक, पाशविक, स्वार्थी, आक्रामक, लैंगिक प्रवृत्तियों या भावों को जनसमाज में खुल्लम खुल्ला मातृसम (Maternal) प्रतिष्ठा के साथ प्रकट नहीं कर सकता। यदि ऐसी प्रवृत्तियों का मनुष्य रहा और उसको अपने भावों को प्रकट करने का अवसर न मिला तो ये भाव उसको सताते हैं और वह पागल-सा हो सकता है। ऐसे

१ शूरोऽसि कृत विद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक। यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥ इस सुभाषित में यह तत्व बतलाया है।

भावों को दूसरे जनसम्मत सन्मार्गों या उदात्त व्यवसायों की ओर लगाना यही मन का स्वास्थ्य[1] बनाये रखने का उपाय है। इसको सन्मार्गीकरण या उदात्तीकरण कहते हैं। जैसे किसी अविवाहित स्त्री में वात्सल्य के कारण बच्चों की ओर अधिक आकर्षण रहा तो उसको अनाथालय में (Orphanage) किंवा बालमन्दिर में काम करने से अपने भावों को प्रदर्शित करने का सुअवसर मिलकर उसका मन प्रसन्न और शान्त होता है। वैसे ही हिंसक वृत्ति के मनुष्य को कसाई का व्यवसाय करने से और मारपीट करने की प्रवृत्ति के व्यक्ति को जमीन खोदना, पत्थर तोड़ना, लकडी चीरना वज्रमुष्टि, (Boxing) मुष्टियुद्ध, मल्ल युद्ध, शिकार करना इत्यादि व्यवसाय करने से मन को शांति मिल जाती है।

(८) बालबच्चों के लैंगिक व्यवहारों की नीतिमत्ता के सम्बन्ध में जो हमारा पुराना दृष्टिकोण रहा उसमें मनोविश्लेषण से प्राप्त नवीन ज्ञान के आधार पर परिवर्तन करने का समय आ गया है। फ्राइड ने मनोविश्लेषण का गहरा अभ्यास करके यह बतलाया है कि मनुष्यों का अचेतन मन (पृष्ट २२४) जबरदस्त विषयासंगी है, विषयासक्ति मनुष्य की सहज[2] प्रवृत्ति है और वही उसकी जीवनशक्ति (Lifeenergy) का मूल है। उसीके लिए उसने लम्पटना (Libido) शब्द का प्रयोग किया है। छोटे बच्चों में चेतन मन का प्रभाव अचेतन पर बहुत कम होता है। इसलिए अचेतन मन की विषयाशक्ति बहुत रहती है। परन्तु वह अपने तक सीमित रहती है। इसलिए बालक गुद, जननेन्द्रिय इत्यादि अपने ही अंगों की ओर आकर्षित होता है। इसको आत्मकामुक (Auto erotic) अवस्था कहते हैं। धीरे-धीरे चेतन मन का नियन्त्रण अचेतन के लैंगिक व्यवहारों पर होने लगता है। यह मध्यम अवस्था होती है। इसको सुप्तावधि (Latent period) कहते हैं। उसके पश्चात् यौवनावस्था में चेतन मन का पूर्ण नियन्त्रण अचेतन पर होकर जनसमाज की दृष्टि से लैंगिक व्यवहार में पूर्ण शिष्टता आ जाती है। इस प्रकार लिंगप्रवृत्ति (Sex instinct) का विकास मनुष्यों में होता है। जिनकी लिंगप्रवृत्ति इन अवस्थाओं में यथोचित विकसित होती है उनके व्यक्तित्व या पुरुषत्व का भी उत्तम विकास होता है जिससे उनके लैंगिक व्यवहार में कोई अशिष्टता नहीं दिखाई देती। परन्तु छोटे बच्चों में तथा जिनमें विकास ठीक नहीं

---

१. पूरोत्पीडेतडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया। शोकक्षोभे च हृदय प्रलापैरेव धार्यते॥ भवभूति॥

२. न मासभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफला॥ मनु॥

हुआ उन विवर्धमान नवयुवकों में लैंगिक दृष्टया कुछ अशिष्टता उत्पन्न होती है। उसको देखकर आश्चर्यचकित होने का, उसको अनैतिक समझने का या अनैतिक समझकर उनके साथ कड़ा व्यवहार करने का कोई कारण नहीं है। यह उनकी सहज प्रवृत्ति या वालस्वभाव है। इसलिए उनको समझा-बूझाकर सहानुभूति के साथ व्यवहार कर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। कड़ाई या घृणा के साथ उनसे व्यवहार करने पर उनमें सुधार न होकर उनका भविष्य और भी खराब हो जाता है।

(९) प्रौढ़ावस्था में दिखाई देनेवाले अनेक मानसिक विकारों का प्रारम्भ प्रायः वचपन में हुआ करता है। यदि वचपन में बच्चों में कोई मानसिक विचित्रता विक्षिप्तता, विपमता दिखाई दे तो यदि अपने से हो सके तो माता-पिता या पालक उसको ठीक करने का प्रयत्न करें। यदि अपने वस की वात न हो तो मनोवैज्ञानिक, मनश्चिकित्सक या उस विषय के किसी विशेषज्ञ को दिखावें या वालमार्गदर्शन नैदानिकी (Child guidance clinic) में ले जावें। वचपन में ऐसा ही होता है इस प्रकार समझकर उसकी ओर दुर्लक्ष न करे। इससे अनेकों में मानसिक विकार वढ़ते हैं और उनकी ओर ध्यान देकर उपाय करने से वे नष्ट होते हैं।



षष्ठ अध्याय

स्थली, वास्तु और वासस्थान

प्रशस्ते वास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते ।
निवाते न च रोगा' स्यु· शारीरागन्तुमानसाः ॥ सुश्रुत ॥

मनुष्यों की आधी से अधिक आयु रहने के तथा व्यवसाय के निवासस्थानों के भीतर तथा अवशिष्ट आयु टहलने, घूमने, बैठने इत्यादि कामों के लिए जिस स्थली (भूमि) पर वासस्थान बनवाए गए हैं उस पर गुजरने के कारण उनका स्वास्थ्य खान-पान के समान वास्तु और वासस्थान से अत्यन्त निगड़ित रहता है। इसलिए स्वास्थ्य की दृष्टि से वासस्थान की स्थली (वास्तु) तथा वासस्थान कैसा होना चाहिए इसका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक है।

स्थली (Soil)

पृथ्वी के तीन आवरण—जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह सहस्रावधि वर्षों से स्थावर जंगम सृष्ट पदार्थों से हरी भरी और सजीली दिखाई दे रही है। परन्तु एक समय ऐसा था कि जब वह केवल भापरूप थी। उस समय आज भू-गर्भ में पाई जाने वाली पत्थर, धातु, जल इत्यादि सब वस्तुएँ भी भाप की स्थिति में थीं। बहुत काल के पश्चात् जब पृथ्वी ठण्ढी हुई तब सब भाप धीरे-धीरे जमकर तरल हो गयी और गुरुता के कारण पृथ्वी का एक गोला बन गया। बहुत काल के बाद जब पृथ्वी और ठढी हुई तब उसके तरल का कुछ भाग ठोस होने लगा। इसमें ऊपरी भाग पहले ठोस हुआ और उसी से पृथ्वी का कवच (Crust) बन गया। भीतर का भाग अभी तक भी अत्यन्त तप्त और पिघली हुई धातु के समान है ऐसा भू-गर्भ वेत्ताओं का मत है और इसका कुछ प्रमाण ज्वालामुखी से निकलनेवाले भूराल (Lava) से मिलता है। पृथ्वी जब और ठंढी हुई तब उसका कवच सिकुड़ कर कहीं ऊँचा और कहीं नीचा हो गया, कहीं फट गया और कहीं ऐंठ गया। इस प्रकार धरातल ऊँचा-नीचा हो गया। पृथ्वी ठंढी होने के समय पानी की भाप जमकर धरातल के निचले भागों में जल के रूप में इकट्ठी हुई जिससे सागर या महासागर बन गए। जो भाग

जल के बाहर रहे उनके खण्ड या महाद्वीप बन गए। पृथ्वी ठंढी होने पर भी कुछ भाग भाप की ही स्थिति में रह गयी है, क्योंकि इस ताप (Temparature) पर वह जमकर तरल नहीं हो सकती थी। यह भाप पृथ्वी के ठोस और तरल भाग के चारों ओर अपना घेरा लगाए रह गयी। इसको वात या वायु कहते है। इस प्रकार पृथ्वी के वायुमण्डल या वातावरण (Atmosphere) जलमण्डल या महासागर (Hydrosphere) और स्थलमण्डल या भूमि (Lithosphere) करके तीन भाग बन गए। इस प्रकार तीन भाग बनने के पश्चात् उस पर जीव सृष्टि उत्पन्न हुई।

भूमि के तीन स्तर—(१) उपरिक स्थली (Upper soil)—पृथ्वी का बाहरी स्तर जिसको कवच कहते हैं प्रथम बहुत कड़ा और ठोस था। व्यवहार में उसको चट्टान या शैल (Rocks) कहा जाता है। पौधों या मनुष्यों के रहने के लिए ये योग्य नहीं थे। धीरे-धीरे ये कड़ी चट्टानें सूर्य की उष्णता से, रात की सर्दी से, पानी से, पानी की भाप, प्राण वायु तथा अन्य वायु रूप पदार्थों से टूटने लगीं। आगे चलकर जब पौधे उत्पन्न हुए तब उनकी जड़ें भी इनको तोड़ने में सहायता करने लगीं। इस प्रकार टूटते-टूटते ये चट्टानें चूर-चूर हो गयीं। इस प्रक्रिया को विदलन (Weathering) कहते हैं। विदलन का कार्य चट्टानों के ऊपरी-ऊपर अधिक और भीतर गहराई पर बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। इसलिए पृथ्वी के कवच का ऊपर का भाग टूट-टूट कर चूर्ण हो गया जिसको हम मिट्टी या स्थली कहते हैं।

(२) अनुस्थली (Subsoil)—यह स्थली के नीचे का भूमि भाग है जो स्थली के समान उष्णता, पानी, वायु इत्यादि के द्वारा प्राथमिक चट्टानों के विदलन से बनता है। परन्तु गहराई में स्थित होने के कारण विदलन का कार्य उतना अधिक नहीं होता। परिणाम यह होता है कि उसमें चट्टानों के छोटे छोटे टुकड़े पाए जाते हैं, और जैसे जैसे हम नीचे जाते हैं, वैसे वैसे ये टुकड़े भी बड़े मिलते जाते हैं।

(३) प्राथमिक चट्टान—ये वही चट्टानें होती हैं जो पहले पहल जब पृथ्वी ठोस हुई तब बनी थीं। ये अधिक गहराई में स्थित होने के कारण विदलन से बच जाती हैं।

स्तरों की गहराई—इस प्रकार भूमि को उपरिक स्थली, अनुस्थली और चट्टान इन तीन स्तरों में बाँटा जाता है। पृथ्वी के भिन्न भिन्न स्थानों में इन स्तरों की गहराई भिन्न भिन्न होती है। पहाड़ों की ढाल और ऊँची भूमि में स्थली की गहराई अंगुल

दो अंगुली होती है, परन्तु समतल भूमि में अधिक (कई गज) होती है, क्योंकि पहाड़ों या ऊँचे स्थानों की मिट्टी खुद या वर्षा से नीचे बह कर या उड़कर समतल स्थानों में इकट्ठा होती है । अनुस्थली की मोटाई एकाध गज से लेकर सैकड़ों गज हो सकती है। उसके नीचे जो चट्टानें होती हैं उनके स्तर की गहराई मोटाई ५० मील के करीब बतलाई जाती है।

स्थली का संघटन—स्थली में खनिज और सेन्द्रिय दोनों प्रकार के पदार्थ न्यूनाधिक अनुपात में विद्यमान रहते है। खनिजों का स्वरूप जिस प्रकार की चट्टानों से स्थली बनती है उसके अनुसार बदलता है। साधारणतया मिट्टी मे ३३-५०% प्राणवायु होता है । इसके अतिरिक्त प्रांगार, भूयाति, उदजन, शुल्वारी, नीरजी, सैकता, स्फट्यातु, चूर्णातु, आजातु, अयस् इत्यादि अन्य तत्व भी विद्यमान होते हैं। खनिजों में संयोगों की दृष्टि से दो तिहाई भाग स्फट्यातु सैकतीय (Aluminium silicate) होता है । मिट्टी में अयस् होता है जिससे उसमे लाल रग आ जाता है । भूमि में तिक्ताति और उसके लवण, भूयय (Nitrous) और भूयिक (Nitric) अम्ल भूयीय (Nitrite) और भूयित (Nitrate) इत्यादि के रूप में भूयाति रहता है । सेन्द्रिय पदार्थ वनस्पतियों और प्राणियों से आते हैं। जिस स्थली पर इन दोनों की अधिकता होती है उसमें सेन्द्रिय पदार्थो का अनुपात अधिक होता है । ये सेन्द्रिय पदार्थ वनस्पतियों के तथा मृत प्राणियों के सड़ने से तथा प्राणियों के मल मूत्रादि से प्राप्त होते हैं और यदि इनकी अधिकता हो तो ये उसके आस पास की हवा तथा पानी को दूषित कर देते हैं।

स्थली के वर्ग (Groups)—(१) अवशिष्ट या किट्टस्थली (Residual soil) जो स्थली अधः स्थित (Subjacent) चट्टानों के विदलन से बनती है तथा जो वर्षा जल या अन्य साधन से नही बह जाती, परन्तु अपने ही स्थान पर रहती है वह अवशिष्ट या किट्ट स्थली कहलाती है—जैसे, रेतीली, बलुआ, खरीया, पथरीली इत्यादि मिट्टी।

इष्टकिज (Laterite) स्थली—यह मुख्यतया किट्ट स्थली है। जो मध्यप्रदेश, छोटा नागपूर, पश्चिम वंगाल आसाम का कुछ हिस्सा और राजमहाल में पायी जाती है। इसकी विशेषता यह देखी गयी है कि इससे व्याप्त प्रदेश में कालाजार होता नहीं। इसका कारण स्थली में है या और कहीं इसका ज्ञान नहीं हुआ है।

कृष्ण कार्पास स्थली या रेगर (Regur)—यह स्थली मध्य भारत, मध्यप्रदेश विदर्भ, खानदेश इत्यादि के कपास पैदा करनेवाले प्रदेशों में पायी जाती है और काली होती है। इसलिए कृष्णकार्पास स्थली कहलाती है। यह महीन दानेदार

होती है। जिसमें चिकनी मिट्टी, चूना और आजातु के प्रांगारीय ($CaCO_3$, $MgCO_3$) अयस् और सेन्द्रिय द्रव्यों का बहुत अधिक हिस्सा रहता है।

रेह (Reh)—पजाब और उत्तर प्रदेश में यह स्थली पायी जाती है। इसमें क्षारातु के प्रांगारीय, शुल्वीय (सल्फेट) और नीरेय (क्लोराइड) के साथ चूना और आजातु के लवण होते हैं। ये सब लवण हिमालय से नदियों द्वारा आये हुए होते हैं। रेहा नमक इसी जमीन से बनाया जाता है। यह भूमि खेती के लिए अच्छी नहीं होती क्योंकि इसमें भीतर का नमक फूल की तरह सफेद चूर्ण या स्फटिक के रूप में जमीन के ऊपर निकलता है। इसको उत्फुल्लन या फुलाव (Efflorescence) कहते हैं।

(२) कछार स्थली (Aluvial soils)—यह स्थली अन्य स्थानों में बह कर आए हुए पदार्थों से बनती है और इसमें अनेक प्रकार की चट्टानों के कण मिले रहते हैं। इस प्रकार की स्थली गगा, सिंधु, ब्रह्मपुत्रा जैसे मैदानों में बहनेवाली नदियों के दोनों ओर तथा उनके मुखों के पास अधिक मिलती है। इसको अपोढ (Drift) स्थली भी कहते हैं।

स्थली के प्रकार—(१) कणाश्म (Granite), (२) चिकनी स्लेट (Clay slate), (३) खरिया (Chalk), (४) चूर्ण प्रस्तर तथा आजिय चूर्ण प्रस्तर (Magnesium-lime stone), (५) सिकता प्रस्तर (Sand stone), (६) उपल (Gravels), (७) रेती (Sands , (८) चिक्कण मिट्टी और कछार (Clay and aluvium), (९) कृष्ट स्थली (Cultivated), और (१०) पाटस्थली या पूरित स्थली (Filled or madesoil)।

पाटस्थली—पुराने तालाब, गढ़े, पोखरे, खाइयां, नीचे स्थान कूड़ा कर्कट से पटवाकर जब समतल बनाये जाते हैं तब उन स्थानों की जमीन पाटस्थली कहलाती है। साधारणतया ऐसे स्थानों में डाले हुए कूड़े में जो अस्वास्थ्यकर जटिल सेन्द्रिय पदार्थ होते हैं वे भूयनकर जीवाणुओं द्वारा (पृष्ठ २) अनपायी खनिज द्रव्यों में परिवर्तित होकर पानी के द्वारा जमीन में प्रचूषित होते हैं। सेन्द्रिय द्रव्यों के सड़ने से वहाँ पर दलदलीवात (Marsh gas), उदजन शुल्वेय (Hgdrogen sulphide) तथा अन्य दूषित वात उत्पन्न होकर इधर उधर फैलते हैं और आसपास की हवा को दूषित करते हैं। इसके अतिरिक्त मक्खियाँ, चूहे, कीड़े इत्यादि उपद्रवी जन्तु भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए यदि गढ़ों को पटवाकर पाटस्थली बनवाना हो तो निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(१) जो स्थान नगर, बस्ती या पीने के जलाशय के समीप हों उनको इस प्रकार पटवाने के काम में न लाना चाहिए।

(२) गढ़े या तालाब पटवाने से पहले सूखे होने चाहिएँ। यदि पानी से भरे हों तो पानी निकलवाकर उनको सुखाना चाहिए। यदि उनमें बरसात का पानी आकर इकट्ठा होता हो तो वह पानी उनमें जिस प्रकार से न आ सके उस प्रकार से (चारों ओर नाली या मुण्डेर बनवाकर) प्रबन्ध करना चाहिए।

(३) कूड़े कर्कटकी तह ६ फूट से मोटी न होनी चाहिए और उसके ऊपर बीच में ९ इञ्च मिट्टी या गिराये हुए मकानों का मलबा डालना चाहिए और फिर कूड़े की दूसरी तह बिछानी चाहिए। इस प्रकार कूड़ा और मिट्टी की जितनी तहें बैठ सकती हैं उतनी बिछा सकते हैं। दो तीन दिन से अधिक कूडा खूला रखना उचित नहीं। बस्ती की ओर कुछ टट्टियाँ भी लगवानी चाहिएँ, ताकि हवा के झोके से कूड़ा शहर की ओर न उड़ सके।

(४) वर्षा ऋतु में गढ़े पाटने का काम न किया जाय। यदि कोई गढ़ा भरना हो तो बरसात के पहले उसको भरने का और तोपने का काम पूरा किया जाय। इससे कोई नये छोटे मोटे गढ़े नहीं बनते, न मक्खियाँ उत्पन्न होतीं।

(५) कूडे कर्कट के साथ मैला, मृत प्राणि तथा वध स्थान से फेंके हुए प्राणियों के उच्छिष्टांग (Garbage) न मिलाने चाहिएँ।

(६) कूड़े कर्कट से भरा हुआ और मिट्टी से तोपा हुआ स्थान आस-पास की भूमि से एक दो फूट ऊँचा रखना चाहिए, क्योंकि कूड़ा धीरे-धीरे नीचे बैठ जाता है। इसके लिए अच्छा नियम तो यह होता है कि पहली कूड़े की तह मिट्टी तोपने पर नीचे बैठने के पश्चात् उसपर दूसरी तह बनायी जाय।

स्थली वात (Soil air)—सब प्रकार की स्थली के आन्तरावकाशों में (Interstices), चाहे कठिन से कठिन चट्टानें क्यों न हों, कुछ न कुछ हवा जरूर रहती है और उसकी राशि स्थली की सच्छिद्रता या घनता के अनुसार अधिक या कम होती है। उपल, रेती और सिकता-प्रस्तर इनसे बनी हुई स्थली छिद्री होने से अधिक वातयुक्त हुआ करती है।

सघटन—वातावरण की हवा से स्थली गत हवा संघटन में कुछ भिन्न रहती है। स्थलीगत हवा में क्लेद (Moisture) तथा प्रां० द्विजारेय अधिक रहते हैं। प्रां० द्विजारेय की राशि २–८% तक होती है और स्थलीगत सेन्द्रिय पदार्थ, गहराई, ताप, क्लेद, प्रवेश्यता इत्यादि बातों पर निर्भर होती है। प्रां० द्विजारेय

के अतिरिक्त सड़न से उत्पन्न होने वाले अन्य वात भी अधिक रहते हैं और प्राण-वायु कम होता है।

स्थलीवात संचरण—स्थली में उत्पन्न होनेवाली हवा निरन्तर वाहर (पृष्ठ ४) वातावरण में निकलती रहती है। निकलने की गति (१) स्थली और वातावरण के ताप पर निर्भर होती है। जब दोनों के ताप में अन्तर अधिक होता है तब स्थली की अधिक हवा बाहर निकलती है (२) वरसात पर निर्भर होती है। वर्षा से अनुस्थली जल बहुत ऊपर तक बढ़ता है और उससे जमीन के भीतर की हवा बाहर निकाली जाती है। (३) वातावरण के भार (Pressure) पर निर्भर होती है। जब वातावरण का भार कम होता है तब अधिक हवा बाहर निकलती है।

कभी-कभी मोरी परनाले, पोखरे, पाटस्थली इत्यादि में उत्पन्न होनेवाले दूषित वात तथा चूनेवाली नालियों से बाहर आये हुए अंगारवात (Coalgas) इतस्ततः फैलकर स्थलीवात में मिल जाते हैं और उत्पत्ति के स्थान से बहुत दूर स्थान में जमीन से बाहर आया करते हैं। इसलिए मकानों के भीतर की फर्श अप्रवेश्यस्वरूप की होनी चाहिए जिससे कि स्थली से आनेवाले या होनेवाले वात मकान में न आ सके।

स्थली-जल (Soil-water)—जमीन में पानी (१) क्लेद (Moisture) और (२) अनुस्थली-जल (Subsoil-water) करके पानी के रूप में पाया जाता है। वर्षा का पानी जमीन में से होकर नीचे के अनुस्थली जल तक चला (पृष्ठ २३) जाता है। स्थली के दोनों प्रकार के जल का निकास वर्षा का पानी ही होता है। जमीन में जो क्लेद होता है वह वर्षा से, अनुस्थली जल के नीचे ऊँचे होने से तथा उसके भाप बनने से होता है। जमीन में क्लेद की आवश्यकता होती है। क्लेद के बिना स्थलीतृणाणु अपना काम कर नहीं सकते हैं, इसलिए पूर्ण शुष्कस्थली निर्जीवाणुक या निर्जीव (Lifeless) होती है। क्लेद से ही सेन्द्रिय पदार्थों का विघटन पूर्ण हो सकता है। परन्तु अतिक्लेद विघटन में बाधा डालता है।

अनुस्थली जल भूपृष्ठ से २-३ फूट से लेकर सैकड़ों फूट तक गहरा होता है और यह गहराई स्थली की प्रकृति और ऋतु पर निर्भर होती है। अनुस्थली जल के समतल (Leval) की कल्पना कुएँ के पानी के समतल से हो जाती है। बरसात के समय पानी का समतल बहुत ऊँचा हो जाता है, उसके पश्चात् धीरे-धीरे वह समतल नीचे चला जाता है और गर्मी में सबसे नीचे होता है। अनुस्थली जल के समतल के ऊपर का कुछ भूभाग पानी की भाप बनने के कारण

तर या नम रहता है। इसलिए अनुस्थली जल जहाँ पर नजदीक होता है वहाँ की जमीन सदैव तर रहती है। ऊपर की जमीन सूखी रहने के लिए अनुस्थली जल कम से कम १५-२० फूट नीचा होना चाहिए।

स्थली क्लिन्नता (Dampness)—शुष्क स्थली स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छी होती है। क्लिन्नस्थली पर या उसके पास रहनेवालों का स्वास्थ्य सदैव खराव (पृष्ठ २४४) रहता है। स्थली निम्न कारणों से तर होती—

(१) प्रकृति—नीची सतह की, चिकनी (Clay), कछार मिट्टी सदैव तर रहती है।

(२) जल मार्गों का न होना या अवरुद्ध हो जाना—वरसात का पानी निकल जाने के लिए जहाँ पर नैसर्गिक मार्ग नहीं होते वहाँ पर पानी स्थान-स्थान पर इकट्ठा होकर दलदल बन जाती है। आजकल पक्की सड़कें और आगगाडी के मार्ग बनवाने के लिए जब रास्ता बनवाया जाता है तब अपना खर्च कम करने के लिए नैसर्गिक जल मार्गों में पूल नहीं बनाए जाते हैं, जिससे वरसाती पानी सड़कों के आस-पास इकट्ठा होकर जमीन को तर करता है।

(३) अप्रवेश्य स्तर की समीपता—यह स्तर समीप होने से अनुस्थली जल भी समीप रहता है और उसके कारण ऊपर की जमीन तर रहती है। अनुस्थली जल ५ फूट से अधिक समीप न होना चाहिए।

(४) खाई, खदक, गड्ढा इनकी उपस्थिति—नवीन मकान, सडकें, आगगाड़ी के मार्ग बनाते समय मिट्टी के लिए आस पास बडे-बड़े गड्ढे या खदक बनवाये जाते हैं और काम समाप्त होने पर वे पटवाए नहीं जाते। ये गड्ढे वरसात में पानी से भरकर साल भर जमीन को तर रखते हैं तथा मच्छरों की उत्पत्ति में सहायता करते हैं। आगगाड़ी मार्ग के गड्ढे दोनों ओर नाली या खंदक के तौर पर बनवाये जायँ और उनको किसी नदी में छोड़ दिया जाय। इससे उनमें पानी इकट्ठा नहीं होगा। मकानों के लिए बनवाये गड्ढों को मकान के मलवे से भर देना चाहिए।

(५) पानी कल का प्रबंध—आज कल नगरों, कस्बों, तहसीलों मे पानी कल का प्रबध किया जाता है। पानी की स्वच्छता की दृष्टि से यह प्रबन्ध आवश्यक होता है। परन्तु इसके पहले प्रत्येक बस्ती में परनाले का प्रबन्ध होना जरूरी होता है जो प्रायः अधिक खर्चे के कारण नहीं किया जाता। पानी के लिए कल होने से लोग अनावश्यक अधिक पानी खर्च करते है। परन्तु उसके निकल जाने का प्रबंध न होने

से आस पास तथा कच्ची मोरियों में वह इकट्ठा होकर जमीन को तर कर देता है। इसके अतिरिक्त मच्छरों की उत्पत्ति में भी इससे सहायता होती है। आज कल नगरों, कस्बों तथा छोटी मोटी बस्तियों में विषमज्वर का प्रसार होने के जो अनेक कारण है उनमें परनाले के बिना पानी कल को जारी करना एक प्रधान कारण है।

(६) नहरें और सिंचाई (Canals and irrigation)—खेती के लिए जब किसी प्रदेश में नहरों के द्वारा सिंचाई की जाती है तब नहरों की बनावट में नैसर्गिक जल मार्ग खण्डित होने से, सिंचाई का अतियोग होने से तथा नहरों के द्वारा आए हुए अत्यधिक पानी की निकासी का प्रबंध न करने से उस प्रदेश की स्थली धीरे धीरे तर होकर कुछ वर्षों के पश्चात् अस्वास्थ्यकर हो जाती है। इसलिए नहरों के द्वारा सिंचाई की आयोजना करते समय नहरों को बनाने में नैसर्गिक जल मार्गों को अखण्डित रखने के ऊपर, सिंचाई से नियत समय पर तथा नियत क्षेत्रों पर केवल आवश्यक पानी देने के ऊपर तथा नहरों के द्वारा आए हुए अत्यधिक पानी की निकासी के लिए कृत्रिम जल मार्ग बनाने के ऊपर ध्यान देना चाहिए।

स्थली गत ताप (Soil Temparature)—स्थली के भीतर का ताप मुख्यतः सूर्य की उष्णता पर और अंशतः भूगर्भ गत रासायनिक तथा अन्य परिवर्तनों पर निर्भर होता है। गहराई के साथ ताप बढ़ता है और प्रति ५० फूट गहराई के पीछे १° फै० ताप अधिक होता है। भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टी में उष्णता संवहन तथा उष्णता शोषण (Absorption) की शक्ति भिन्न भिन्न होने के कारण भिन्न भिन्न प्रकार की स्थली का ताप भी भिन्न होता है। वनस्पतियों द्वारा स्थली का ताप कम होता है, क्योंकि वे भूमिगत पानी के वाष्पीभवन में सहायता करती हैं। वैसे ही सूखी मिट्टी की अपेक्षा तर मिट्टी ठंढी रहती है। स्थलीगत ताप ४ फूट की गहराई पर नापा जाता है।

स्थली गत तृणाणु—(पृष्ठ ९)—ये मुख्यतया पूत्युपजीवी होते हैं और सेन्द्रिय द्रव्यों के विघटन और उपयोगीकरण के काम में लगे रहते हैं। यह बहुत जटिल प्रक्रिया है जिसमें प्राणिज और वनस्पतिज प्रोभूजिन सादे और स्थिर निरिन्द्रिय संयोगों में परिवर्तित किए जाते हैं। इसको विश्लेषण या विनिवर्तन (Catabolism) कहते हैं। इस प्रक्रिया के साथ संश्लेषण या उद्वर्तन (Anabolism) का भी काम चलता रहता है जो सजीव वनस्पतियों द्वारा हुआ करता है। इस प्रकार तृणाणुजनित विनिवर्तन या विश्लेषण और वनस्पतिजनित उद्वर्तन या संश्लेषण की प्रक्रियाएँ स्थली के ऊपर के हिस्से में निरन्तर जारी रहती हैं। इसको

भूयाति चक्र (Nitrogen cycle) कहते हैं। इस चक्र में प्रथम पूत्युपजीवी तृणाणु सेन्द्रिय पदार्थों में सड़ाव उत्पन्न करके उनको तरल बनाते हैं। इस प्रक्रिया में मनुष्यों के लिए विकारी सब तृणाणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से अन्त में प्रां० द्विजारेय और तिक्काति (Ammonia) नामक दो वात बनते हैं। प्रां० द्विजारेय का कुछ हिस्सा ऊपर वातावरण में चला जाता है और कुछ जमीन में प्रांगारीय (Carbonate) के रूप में संग्रहीत होता है। भूयाति का भी कुछ हिस्सा वातावरण में चला जाता है और कुछ हिस्सा भूयनकर (पृष्ठ २) तृणाणुओं द्वारा भूयीय (Nitrate) में परिवर्तित होकर वनस्पतियों द्वारा ग्रहण किया जाता है या पानी में घुलकर तद् द्वारा धुल जाता है। इस प्रकार स्थलीगत तृणाणुओं द्वारा निरन्तर जारी रहनेवाला भूयाति चक्र मोरी परनाले के पानी से, प्राणिज तथा वनस्पतिज अशुद्धियों से स्थली को दूषित नहीं होने देता तथा स्थलीगत जल को शुद्ध रखता है।

स्थलीजनित रोग—स्थली की ऊपर की दो-चार अंगुल मोटाई की तह में असंख्य तृणाणु रहते हैं। एक सादी जमीन के एक माशा में औसत १ लक्ष और मोरी परनाले के पानी से दूषित जमीन के १ माशा में १५ लक्ष तृणाणु मिलते हैं। चार-छः फूट से अधिक गहराई पर प्रायः तृणाणु नहीं होते। ये सब तृणाणु मुख्यतः पूत्युपजीवी (पृष्ठ ९) और अंशतः विकारी होते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यों में विकार उत्पन्न करनेवाले तृणाणुओं को ताप, खाद्य तथा अन्य प्रकार से स्थली में अनुकूलता नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त जीवनकलह (Struggle for existance) में ये पूत्युपजीवी तृणाणुओं से टक्कर नहीं दे सकते। इसलिए विकारी जीवाणु अल्पकाल भूमि में रह सकते हैं। तृणाणुओं के अतिरिक्त आन्त्रस्थ कृमियों के जीवन का कुछ अंश भूमि में बीतता है।

साधारणतया पूत्युपजीवी तृणाणु स्थली पर गिरनेवाले सब प्राणिज तथा वनस्पतिज सेन्द्रिय पदार्थों का नाश करके उनको मिट्टी के साथ मिला देते हैं। इनमें यह गुण न होता तो आज पृथ्वी पर तिल धरने के लिए जगह न होती और सब पृथ्वीतल प्राणियों और वनस्पतियों के मृत शरीरों से भरा रह जाता। परन्तु कभी-कभी जब एक स्थान में अधिक सेन्द्रिय पदार्थ इकट्ठा होते हैं तब तत्स्थानान्तर्गत तृणाणुओं द्वारा उनके पूर्ण विघटन का कार्य नहीं हो सकता जिससे वहाँ की स्थली दूषित होकर जल तथा खाद्य द्रव्यों को भी दूषित कर सकती है।

जमीन जब मलमूत्र से तथा व्रणों के पूय से दूषित हो जाती है तब उनमें रहनेवाले तृणाणु तथा कृमि कुछ काल तक जमीन में जीवनक्षम रहते हैं और

उस अवधि में जल, मक्खियाँ, धूलि तथा दूषित स्थान में उत्पन्न होनेवाली साग सब्जियों द्वारा मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं। जमीन में मिलनेवाले विकारी तृणाणुओं और कृमियों से होनेवाले रोगों में धनुर्वात, दुष्ट शोथ (Malignant odema) वातिक कोथ (Gas ganagrene), विसूचिका, आन्त्रिक, अतिसार, अङ्गारक्षत (Anthrax), वल्मीकपद (Madura foot), अङ्कुश और स्फीत कृमि ये प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त तर स्थली पर रहने से क्षय, संधिवात, श्वसनक इत्यादि अन्य रोग भी दुर्बलता के कारण हो सकते हैं।

वास्तु (Building Site)

जिस भूमि पर निवास बनवाया जाता है उसको वास्तु[1] कहते हैं। गृह-निर्माण के पहले वास्तु का परीक्षण करना बहुत आवश्यक है। इस परीक्षण में स्थली की ऊँचाई या नीचाई, प्रकृति और प्रकार, तद्‌गत-जल और ताप, आस-पास की परिस्थिति, सूर्य-प्रकाश और शुद्ध वायु मिलने की सम्भावना इत्यादि अनेक बातों का विचार करना पड़ता है। नीचे मार्गदर्शनार्थ कुछ बातों का विवरण किया जाता है।

(१) उच्चता—नीची स्थली पर बरसात का पानी इकट्ठा होकर उसको सदा के लिए क्लिन्न बनाता है। क्लिन्न स्थान अनारोग्यकर होने के कारण घर बनवाने के लिए स्थली ऊँची होनी चाहिए जिससे बरसात का पानी इकट्ठा न होने पावे।

(२) प्रकार—कणाश्म, रेती इत्यादि किट्ट वर्ग के स्थली के प्रकार (पृष्ठ २३८) आरोग्यप्रद होते हैं और चिकनी मिट्टी कछार इत्यादि कच्छ वर्ग के प्रकार अनारोग्यकर होते है। नगरों के आस-पास पाटस्थली घर बनवाने के लिए काम में लायी जाती है। इसका उपयोग जहाँ तक हो सके घरों के लिए न करना ही उचित है और यदि करना हो तो पटवाने का काम पूरा होने के १५–२० बरसों

---

१. वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्। अमरकोष॥ घर बनवाने से पहले वास्तु का विचार करने के लिए वास्तुशास्त्र तथा वैद्यक ग्रन्थों में लिखा है—अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगंधायां भूमौ। गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे॥ चरक॥ अस्थिवर्जा न सुपिरा तनुवालुकसंयुता। पंकसकरकूपैश्च दारुभिर्लोष्टकैरपि। शर्कराभिरयुक्ता या, आरूढा या सम-स्थला। मनसश्चक्षुषो यत्र संतोषो जायते भुवि। तस्या कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसंमतम्॥ वास्तुशास्त्र॥

के पश्चात् करना चाहिए। श्मशान या कब्रस्तान में भी घर न बनवाना चाहिए।

(३) खुलापन—घर चारों दिशाओं से कम से कम पूर्व और दक्षिण से, खुला हो ताकि घर में काफी प्रकाश और प्रवात आ सके तथा घर के ऊपर सूर्य की रश्मियाँ सीधी गिर सकें पृष्ठ १३।

(४) परिस्थिति—वास्तु के पास दलदली स्थान, धान के खेत, गोशाला, अस्तबल, कूडाकर्कट या मैला डालने के स्थान, कारखाने, सार्वजनिक बझार, श्मशान, कब्रस्तान इत्यादि न होने चाहिएँ।

(५) वनस्पतियाँ—घर के पास झाड़ी-झंखाड़ न होना चाहिए। इससे यद्यपि घर कुछ ठंढा रहता है तथापि उससे प्रकाश और प्रवात के आवागमन में वाधाएँ उत्पन्न होती हैं।

(६) अनुस्थली जल—यह ६ फूट से अधिक समीप न होना चाहिए तथा साल भर में उसकी सतह (Level) में विशेष निम्नोन्नता न होनी चाहिए।

वासगृह

घर कैसा हो—वैसे तो सब मनुष्य घरों में ही रहते हैं। परन्तु जो घर गरमियों में लू से रक्षा करते हुए छाया देता है, वर्षा में पानी से रक्षा करते हुए हवा देता है, जाड़े में शीत से रक्षा करते हुए धूप देता है, अर्थात् जो सब मौसमों में (ऋतुसुख) आराम दे सकता है, जो हमारी सब आवश्यकताओं (स्नान, शयन, अन्नरंधन, मूत्रमल विसर्जन इत्यादि कर्म तथा उनकी साधन सामग्री) को पूर्ण करता हुआ संचरण में वाधा नहीं करता (सुख प्रविचारण) तथा जो स्वास्थ्य को बनाये रखता है वही वास्तुशास्त्रदृष्ट्या घर[1] होता है। अतः यहाँ पर स्वास्थ्यरक्षा और आराम की दृष्टि से घरों के निर्माण में जिन बातों पर ध्यान देना चाहिए उनका विवरण संक्षेप में दिया जाता है।

---

१. दृढनिवात प्रवातैकदेशसुखप्रविचारमनुपत्यक धूमातपरजसामनभिगमनीयमनिष्टाना च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाना वर्च.स्थानस्नानभूमिमहानसवास्तुविद्याकुशलः प्रशस्त रम्यमत-मस्क सुविभक्तमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसपन्न गृहमेव तावत्पूर्वमुपकल्पयेत् ॥ चरक ॥ अनुपत्यकयद्विदूरमन्यस्य महतोघरस्य ॥ चक्रपाणि ॥ जिसके समीप उससे अधिक ऊँचा घर न हो।

(१) प्रकाश और प्रवीजन—घर के प्रत्येक कमरे में प्रकाश और प्रवीजन का उत्तम प्रवन्ध होना चाहिए। शुद्ध वायु स्वास्थ्य के लिए क्यों आवश्यक है इसका विवरण पीछे (पृष्ठ १२) किया गया है। प्रकाश का महत्व भी जीवाणुनाशन और ध जीवतिक्ति की उत्पत्ति की दृष्टि से पीछे हो चुका (पृष्ठ ७१) है। घरों में प्रकाश और हवा आने की दृष्टि से घरों का एक दूसरे से संलग्न रहना उचित नहीं है। घर केवल दोनों पार्श्वों से नहीं, पीछे से भी एक दूसरों से वहुत दूर होने चाहिएँ। इससे पारप्रवीजन में (पृष्ठ १४) आसानी होती है। इस विषय का विवरण पीछे वाहरी प्रवीजन (पृष्ठ १२) में किया गया है।

(२) तापनिवारण—भारतवर्ष उष्ण प्रदेश है। इसलिए घर की रचना और सामग्री ऐसी हो कि ताप की तकलीफ वहुत कम हो। इस दृष्टि से घर पूर्व या उत्तराभिमुख, ऊँचे छत के, अनेक खंडों के हों, उनमें द्वार, गवाक्ष, प्रवीजक काफी हों, वरामदा, ओसारा, छज्जा या वारजा, सहन, तलघर (तहखाना) इत्यादि हो तथा घर निर्माण में ऐसा मसाला काम में लावें कि जो उष्णता का अवाहक हो।

(३) क्लिन्नता निवारण—घरों की तरी स्वास्थ्यनाशक होती है। इसलिए घरों में जहाँ पर पानी का सम्बन्ध आता है वहाँ पर पक्की मोरियाँ तथा नालियाँ वनवाकर उनको शहर के परनालों से जोड़ देना चाहिए या इस प्रकार का प्रवन्ध न हो तो उनको वहुत दूर छोड़ना चाहिए। फर्श चिकनी या नमकीन मिट्टी की न वनवानी चाहिए। ये जहाँ तक हो सके गिट्टी, कंकड़, चूना, सीमेण्ट इत्यादि सूखे या अप्रवेश्य पदार्थों की होनी चाहिए। वर्षा में आस-पास गिरनेवाले पानी को निकाल देने का उचित प्रवन्ध होना चाहिए। घरों में जहाँ जहाँ पर पानी की टोंटी या कल हो वहाँ-वहाँ पर मोरी और नाली के अतिरिक्त आस-पास की फर्श तथा दीवाल चूना या सीमेण्ट की होनी चाहिए। मकान का चौतरा (Plinth) नीचा न होना चाहिए। इस दृष्टि से घर का चौतरा आस-पास की भूमि या मुख्य-रास्ते के समतल से कम से कम २ फूट ऊँचा होना चाहिए।

(४) शुद्ध पानी—जहाँ पर पानी कल (Waterworks) होती है वहाँ पर पानी का नल और टोंटी घर में लेने से पानी का प्रवन्ध आसानी से हो जाता है। परन्तु जहाँ पर पानी कल नहीं है और ऐसे स्थान ही वहुत हैं, वहाँ पर कुएँ से पानी का प्रवन्ध करना पड़ता है। कुएँ के प्रकार और जल शुद्धता की दृष्टि से उनकी वनावट इसका विवरण पीछे (पृष्ठ २६) हो चुका है।

(५) अवस्कर का विनियोग (Disposal of refuse)—अवस्कर तीन प्रकार का होता है।

(अ) सूखा अवस्कर–इसमें राख, कागज, चिथडे इत्यादि कूड़े का समावेश होता है।

(आ) तरल अवस्कर—इसमें रसोई घर, स्नान घर तथा अन्य स्थानों का खराब पानी रहता है।

(इ) किट्ट—इसमें मलमूत्र का समावेश होता है।

कूड़े-कचरे के लिए घर में पात्र रखने चाहिएँ और प्रतिदिन एक या दो बार सड़कों के सार्वजनिक पात्रों में उनका कूड़ा डालना चाहिए। तरल अवस्कर को खुली या बन्द नालियों द्वारा नगर के परनालों में छोड़ देना चाहिए। मलमूत्र के लिए स्वतन्त्र शौचस्थान और मूत्रस्थान बनाने चाहिएँ। इनके नाश का विवरण स्वतन्त्रतया नवम अध्याय में दिया गया है।

(५) पशुपालन—जहाँ मनुष्य रहे वहाँ गाय, बैल, बकरी, घोड़ा इत्यादि को रखना हितकर नहीं होता, क्योंकि इनके मलमूत्र से दुर्गन्ध फैलती है और मक्खियाँ बहुत आती हैं। इनके रहने का प्रबन्ध मकान से दूर अलग करना चाहिए। कम से कम शहरों में ,जहाँ स्थान की कमी होती है वहाँ पर पशुशाला दूर रखना ही अच्छा है। गाँवों मे जहाँ पर आसपास काफी खुला स्थान होता है वहाँ पर पशुशाला समीप होने से उतनी तकलीफ नहीं हो सकती।

(६) बाग-बगीचा—घर के सहन, आंगन, बरामदा, आसपास का खुला स्थान इनमें घासपात, सागसब्जी, पेड़पालव, झाडीझंकार, बेललतर इत्यादि का होना स्वास्थ्य की दृष्टि से अनिष्टावह होता है, क्योंकि इनके होने से बाहर से शुद्ध वायु और धूप भीतर आने में बाधा उत्पन्न होती है, रात के समय वातावरण दूषित (पृष्ठ ४) हो जाता है, मच्छर, कीडे मकोड़े, साँप, गिलहरी, गिरगिट, चूहे इत्यादि को रहने के लिए स्थान मिल जाता है, पानी इकट्ठा होने से, पत्तियों के सड़ने से दुर्गन्ध और मच्छर उत्पन्न होते हैं और आसपास सील बढने में सहायता होती है। इसलिए मकान के पास बाग-बगीचा न होना ही श्रेयस्कर है।

वासगृह रचना (Construction)

(१) नीव (Foundation)—धरातल के ऊपर के खण्ड नीचे न धंसने की दृष्टि से संपूर्ण गृहक्षेत्र में विशेषतया भित्तियों के नीचे जमीन में जो पीठ बनाया

जाता है उसको नींव कहते हैं। यह नींव गृहविस्तार के अनुसार मजबूत होनी चाहिए। जब स्थली भुरभुरी और छिद्री होती के तब घर की दीवालें चौड़ी होनी चाहिएँ और उनके नीचे चूने या सीमेंट का ठोस पीठ बनवाना चाहिए। यह पीठ जमीन खोदकर संपूर्ण गृहक्षेत्र पर तथा उसके चारों ओर एक विता भर बाहर की भित्तियों के बाहर तक बनाया जाता है। इसकी मोटाई १ हाथ से कम न होनी चाहिए और यदि घर बहुत बड़ा और अनेक खंडों का हो तो इससे भी अधिक होनी चाहिए। भित्तियों की जुड़ाई स्थली समतल तक आने पर इस पीठ पर सीसे (Lead) की चद्दर, धूम्रजतु (Asphalt), अंगारालित (Tarred) ईंटें या इसी काम के लिए बनाए हुए पत्थर इनकी २-४ अंगुल मोटाई की तह बिछानी चाहिए। ईंटों में स्थलीगत जलांश को सोखने का गुण होता है जिससे भित्तियों में लोना लग जाता है और कभी कभी यह लोना ऊपर के खण्ड तक पहुँचता है। इसको रोकने के लिए यह तह बिछायी जाती है और इसलिए इसको क्लेद प्रतिबन्धक स्तर (Damp-proof course) कहते हैं।

(२) भित्तियाँ—दीवाल के लिए लकड़ी, पत्थर या ईंटों का उपयोग किया जाता है। लकड़ी का उपयोग बाहरी भित्तियों के लिए करना अच्छा नहीं, क्योंकि वह हवा और पानी से खराब हो जाती है। कमरों के भीतरी विभजन (Partition) के लिए ठीक है। भित्तियों के लिए ईंटें पक्की, एकाकारी, एकरंगी और टकराने पर खनखनाहट पैदा करनेवाली होनी चाहिएँ। कच्ची ईंटे बहुत छिद्री होती हैं और हवा एवं जल को भीतर आने देती हैं। भित्तियाँ कम से कम दो बालिश्त मोटी होनी चाहिएँ। पतली दीवाल जाड़े में ठंढ और गरमी में गरम होकर घर को भी ठण्ढा या गरम कर देती हैं। बाहरी दीवालें बीच में पोली रखने से या उसमें धूम्रजतु (Asphalt) भर देने से वे शीतोष्ण से घर की रक्षा अधिक कर सकती हैं। भित्तियों के ऊपर, भीतर और बाहर से चूना या सीमेंट का पलस्तर करने से शीतोष्ण से अधिक रक्षा होती है, पानी सोखने का ईंटों का दोष दूर हो जाता है, ऊबड़-खाबड़ दीवालों में कीड़ों-मकोड़ों को रहने के लिए जो स्थान मिला रहता है वह भी नष्ट हो जाता है तथा उनकी सफाई तथा रंग सफेदी करने में आसानी हो जाती है। भित्तियों पर भीतर से रंग या सफेदी की जाय। इसमें थोड़ी फिटकरी या गोंद मिलाने से रंग सफेदी जल्दी खराब नहीं होती। पलिस्तर बढ़िया हो तो तैली रंग भी दिया जा सकता है। इससे दीवाल और भी अप्रवेश्य होती है और पानी से धोयी भी जा सकती है। भित्तियों में कहीं भी लकड़ी या लोहे का उपयोग किया हो तो उस पर अंगाराल (Coal-tar), रंग या लाक्षी (Varnish)

का लेप करें। इससे उनका परिरक्षण होता है। दीवालों में दरवाजे, वातायन काफी संख्या में हों और यदि दीवालें ऊँची हों तो बहिष्पथ (पृष्ठ १५) भी रखें। पहाड़ों में जहाँ शीत अधिक होता है और अंगीठियाँ जलायी जाती हैं वहाँ पर दीवालों में धूमनी पथ (Chimney flues) भी होने चाहिएँ।

गृहवितान (Roofs)—वर्षा और धूप से बचाने के लिए घरों के ऊपर जो बिछाया जाता है उसको वितान कहते हैं। जब वितान समतल या चपटा होता है तब उसको छत (Terrace) कहते हैं। यह छत सीमेंट, ईंटें, छड इत्यादि से पक्का बनाया जाता है। इस पर भी कुछ ढाल रखना चाहिए, ताकि वर्षा का पानी ऊपर इकट्ठा न होने पावे। छत गरमियों में गरम होकर भीतर गरमी की तकलीफ हो सकती है। इसलिए ये काफी ऊँचे होने चाहिएँ। इससे गरमी की तकलीफ बहुत कम होती है। इसका यह नियम है कि तप्त वस्तु से विकीर्ण हुई उष्णता अन्तर के वर्ग के उलटे अनुपात में (Inverse ratio) रहती है। यदि छत ६ फूट ऊँचाई पर हो तो फर्श पर जितनी उष्णता मालूम होगी उससे केवल $\frac{1}{4}$ उष्णता छत १२ फूट ऊँचाई पर रखने से मालूम होगी। इस दृष्टि से छत १० फूट ऊँचा जरूर होना चाहिए। इससे भी अधिक ऊँचा छत हो तो और अच्छा होता है परन्तु उसके लिए छत के पास भीतरी हवा बाहर जाने के लिए बहिष्पथ (पृष्ठ १५) रखने की जरूरत होती है।

ढालू वितान खपड़ा, घास फूस की टट्टी या नालीदार (Corrugated) लोहा या अन्य अदहवस्तु (Asbestos) के होते हैं। घास फूस के वितान 'छप्पर' और खपड़ों के 'खपरैल' कहलाते हैं। गरमी की तकलीफ कम करने की दृष्टि से घास फूस के वितान बहुत अच्छे होते हैं। इनमें दोष इतना ही होता है कि कीड़े-मकोड़े, साँप-बिच्छू, चूहे इत्यादि अपना डेरा जमाते हैं तथा इनके जल जाने का डर रहता है। नालीदार लोहे की चद्दरें गरमियों में बहुत गरम होती हैं और बरसात में आवाज करती हैं। अदहवस्तु की चद्दरें इस दृष्टि से सर्वोत्तम होती हैं। छप्परों और खपरैलों में खराब वायु बाहर जाने के लिए अलग प्रबन्ध नहीं करना पड़ता। बीच में कुछ अवकाश छोड़कर बनाया हुआ दोहरा छत गरमी में ठंडा रहता है।

छत पर तथा खपरैल पर वर्षा का जो पानी गिरता है उसको सीमेन्ट, चीनी मिट्टी या अयस् के नलों के द्वारा सहन या आँगन तक ले जाना चाहिए। दीवालों पर उनके बहने से या गिरने से वे तर हो जाती हैं। मकान के चारों ओर का सहन या आँगन भी पक्का होना चाहिए तथा उसमें पक्की नालियाँ बनवाकर तद् द्वारा

वर्षा का छतों से या खपरैलों से आया हुआ पानी या अन्य कारणों से गिरनेवाला पानी सड़कों के परनाले में छोड़ देना चाहिए।

गृह-तल—(Floors)—नीचे के खण्ड का फर्श पक्का और अप्रवेश्य स्वरूप का होना चाहिए। इससे भूगिगत आर्द्रता, वायु (पृष्ठ २४१) इनका मकान में प्रवेश नहीं होता तथा चूहे विल नहीं वना सकते। इसके लिए रोड़े, ईंटें, गिट्टी इनको देकर ऊपर सीमेंट, चूना, धूम्रजतु इनका पलिस्तर कर सकते हैं या चिकने पत्थर, खर्पर (Tiles) संगमर्मर इनको काम में ला सकते हैं। ऊपर के खण्डों की फर्श लकड़ी की सीमेंट की हो सकती है।

गृहविशेषांगों का वर्णन

रसोई घर[1]—(Kitchen)—महानस या रसोई घर स्वच्छ, प्रशस्त सुप्रव्यजित और सुप्रकाशित होना चाहिए। उसके पास शौचस्थान, मूत्रस्थान, कचरे का स्थान, गोशाला, अस्तवल इत्यादि खराव स्थान न होने चाहिएँ। मुख्य घर से भी यह कुछ अलग हो तो अच्छा होता है। ऐसा होने पर वहाँ तक जाने के लिए एक छायादार रास्ता होना चाहिए। इससे रसोई घर का धुआँ सोने, बैठने, पढ़ने के कमरों में नहीं जा सकता। धुएँ से घर की रंग सफेदी, भीतर का सामान और मनुष्यों का स्वास्थ्य खराव हो जाता है। धुआँ वाहर निकलने के लिए ठीक चूल्हे के ऊपर धूमनी होनी चाहिए। यह धूमनी काफी ऊँची होनी चाहिए। इसके दरवाजों के किवाड़ जालीदार होने चाहिएँ तथा खिड़कियों में जाली लगवानी चाहिए। इससे मक्खियाँ भीतर नहीं आ सकतीं। इसकी फर्श सीमेण्ट या चूने की पक्की होनी चाहिए, जिससे भोजन के उपरान्त धुलवाने में आसानी हो। कच्ची फर्श हमेशा गीली रहती है और उस पर नंगे पर चलते या बैठने वालों को हानि पहुँचती है। उसकी दीवालें भी पक्की होनी चाहिएँ। इसमें केवल आवश्यक समान रहे, आड़-कवाड़ न रक्खा जाय। सामान रखने के लिए आल्मारियाँ होनी चाहिएँ। जहां तक हो सके फर्श पर सामान न रक्खा जाय तथा खाद्यपेय अनावृत न रक्खे जायँ।

(२) सेज घर (Bed room)—सोने के लिए सर्वोत्तम स्थान वरामदा या वारहदरी है। वरामदा या वारहदरी उस स्थान को कहते हैं जिस पर छत हो,

---

१. प्रशस्तदिग्देशकृत शुचि भाण्ड महच्छुचि।
सजालकं गवाक्षाढ्यमात्मवर्ग निषेवितम्॥ सुश्रुत॥

परन्तु दीवालें बिलकुल ही न हों या अधिक से अधिक तीन दिशाओं में हों। ऐसे स्थान में सोने से वर्षा ऋतु में पानी से और जाड़े में ओस से बचाव होकर अधिक से अधिक शुद्ध हवा प्राप्त होती है। गरमियों में खुले स्थान में ही सोना प्रशस्त है। फिर भी घर में एक ऐसा कमरा चाहिए जहाँ दिन में आराम और रात में शयन किया जा सके। सोने का कमरा हवादार और प्रकाशयुक्त (पृष्ठ ११) होना चाहिए। उसमें दिन में सूर्य का प्रकाश जरूर आना चाहिए। खिड़कियों की ऊँचाई चारपाई से कोई एक फूट अधिक होनी चाहिए जिससे शरीर पर हवा का झोंका न लग सके। रात में दरवाजे, खिडकियाँ वन्द करने पर हवा आने जाने के लिए अन्तःपथ और वहिष्पथ (पृष्ठ १५) का प्रवन्ध इस कमरे में विशेष होना चाहिए।

(३) स्नान घर (Bath room)—नहाने के लिए एक अलग स्थान होना स्त्रियों की दृष्टि से आवश्यक होता है। अन्यथा खुले स्थान में वे अपने शरीर की यथोचित स्वच्छता नहीं कर सकतीं। कल का पानी हो तो उसमें फुहारे की भी व्यवस्था होनी चाहिए जिसका उपयोग गरमियों में कर सकते हैं। उसका फर्श जहाँ तक हो सके पत्थरों का खरदरा होना चाहिए। सीमेन्ट या चूने का हो तो उसको काफी खरदरा रखना चाहिए, अन्यथा पैर फिसल कर गिरने का डर रहता है। स्नान घर ऐसे स्थान में होना चाहिए कि दिन में कुछ समय तक अवश्य उसमें धूप आ सके ताकि हर समय उसकी सील न वनी रहे, अन्यथा फर्श पर काई लगने की और उससे पैर फिसलने की संभावना होती है। कपड़े रखने के लिए भित्तियों में खूटियाँ होनी चाहिएँ।

(४) भण्डार घर (Store)—इसका उपयोग चावल, गेहूँ, आटा, दाल, घी, चीनी इत्यादि खाने पीने के अतिरिक्त वस्तुओं को रखने के लिए करना चाहिए। रसोई घर में केवल दैनिक भोजन से संवन्ध रखनेवाली वस्तुएँ रखनी चाहिएँ। इसकी फर्श और दीवालें पक्की होनी चाहिएँ, ताकि चूहे उनमें अपना डेरा न जमा सकें। सामान रखने के लिए दीवालों में आलमारियाँ होनी चाहिएँ। फर्श पर सामान न रखें, परन्तु सामान के लिए फर्श से दो फूट ऊँचाई पर पत्थर का टाँड़ वनाया जाय। सामान भरने के लिए टीन या पीतल के ढकनेदार डिब्बे होने चाहिएँ। भण्डार घर में प्रकाश का प्रवन्ध उत्तम होना चाहिए।

(५) कवाड़ घर—इसमें कभी-कभी काम में आनेवाली चीजें अनावश्यक मालूम होनेवाला सामान, टूटी-फूटी चीजे तथा अन्य आड़-कवाड़ रखना चाहिए।

इस प्रकार के सामान को मकान के अन्य कमरों में न रखना चाहिए। इसकी भी दीवालें तथा फर्श पक्की होनी चाहिए।

(६) कोष घर—घर में एक कोठरी ऐसी भी होनी चाहिए जो सब कमरों के बीच में हो, तथा जिसकी दीवारें और दरवाजे काफी मजबूत हों। इसका उपयोग धन आदि रखने के लिए कर सकते हैं।

(७) तल गृह (Cellar)—उष्ण प्रदेशों में इसकी आवश्यकता होती है। तहखाना भूमि खोद कर नीचे बनाया जाता है। यह बहुत पक्का और सीमेंट या चूने का बनवाना चाहिए। इसमें भी प्रकाश और हवा आने के लिए मार्ग रखने चाहिएँ। इसका मुख्य उपयोग गरमियों में दिन में आराम करने के लिए तथा धन एवं मूल्यवान् वस्तुओं को रखने के लिए कर सकते हैं।

(८) शौच घर (Privies)—यदि पुराने ढंग का और उठाऊ पद्धति का हो तो मुख्य निवास स्थान से दूरी पर एक ओर अलग होना जरूरी है। यदि जल बहाऊ पद्धति का या कमोड़ पद्धति का हो तो मकान में एक अलग कमरे में हो सकता है। यह भी पक्का, सुप्रकाशित, सुप्रव्यजित, खपड़ेला या छत तथा किवाड़ वाला होना चाहिए। विशेष विवरण आगे नवम अध्याय में देखिये।

(९) मार्जन घर—यह घर कपड़े धोना, वर्तन माँजना इत्यादि कामों के लिए एक तरफ अलग होना चाहिए। इसके एक या दो ओर आधी या पूरी भित्ति होनी चाहिए। ऊपर खपड़ैल होना चाहिए। नीचे की फर्श पक्की ढलुवाँ होनी चाहिए। तीन ओर नालियाँ होनी चाहिएँ। इसमें पानी के लिए टंकी और पानी की टोंटी होनी चाहिये।

(१०) नौकर घर—नौकरों को रहने के लिए स्वतंत्र स्थान होना जरूरी है। यह स्थान सबसे ऊँचे खण्ड पर, जिसके लिए स्वतन्त्र सीढ़ी है, हो या मुख्य वासस्थान से अलग, परन्तु उसके अहाते के भीतर एक ओर हो।

वासगृहों के प्रकार

वास-गृह अनेक उद्देश्यों से और अनेक कामों के लिए बनवाए जाते हैं। अतः प्रत्येक वास-गृह भीतरी रचना, कमरों की संख्या, विस्तार इत्यादि बातों में विभिन्न होता है। नीचे वास-गृहों के कुछ मुख्य प्रकार और उनकी विशेषताएँ बतायी जाती हैं।

(१) कुटुम्ब निवास-गृह (Residential)—ये वास-गृह विवाहित लोगों के स्थायी निवास के लिए बनवाए जाते हैं। इनमें कम से कम रसोई घर, सेज-घर और शौचघर ये तीन अवश्य होने चाहिएँ। यदि रहनेवाला धनी और अधिक परिवार का हो तो स्नान घर, भण्डार घर, नौकर घर इत्यादि अन्य अधिक कोठरियों का भी घर में होना उचित है। घर में प्रत्येक प्रौढ मनुष्य के लिए कम से कम १०० वर्ग फूट और बालक के लिए ६० वर्ग फूट स्थान मिलना चाहिए। वैसे ही घर के लोगों की सख्या के अनुसार शौच स्थान अधिक (६ मनुष्यों के लिए एक) होने चाहिएँ। यदि एक ही अहाते के भीतर अनेक परिवारों के रहने का प्रबन्ध हो तो प्रत्येक परिवार का निवास रसोई-घर, स्नान-घर, शौच-घर इत्यादि की दृष्टि से स्वतन्त्र और स्वयंपूर्ण हो तथा एक निवास दूसरे निवास से अलग कुछ दूरी पर हो।

(२) संवास-गृह (Lodging houses)—इनको सराय या धर्मशाला भी कह सकते हैं। सवास-गृह उन वास-गृहों को कहते हैं जहाँ पर थोड़े समय के लिए (प्रायः रात्रि के लिए) परदेशी, अपरचित लोग ठहरते हैं या ठहराए जाते हैं। इस प्रकार के संवास-गृह सब तीर्थ क्षेत्रों में बनाए जाते हैं। ये गृह स्थानिक नगरपालिका (Municipality) में रजिस्टर होने चाहिएँ तथा समय-समय पर आरोग्याधिकारियों से उनका निरीक्षण होना चाहिए।

इनमें प्रति व्यक्ति के पीछे २५०-३०० घनफूट (पृष्ठ १९) स्थान मिलना चाहिए और इस हिसाब से कमरे के घनफल के अनुसार प्रत्येक कमरे में मनुष्यों को ठहराना चाहिए। शौचस्थान सवास-गृह में अधिक से अधिक जितने लोग रह सकते हैं उनकी संख्या के अनुसार होने चाहिएँ। सहन में तथा अन्य स्थानों में कचरे के लिए पात्र रखने चाहिएँ। पीने के पानी के लिए नल या कुएँ का प्रबन्ध होना चाहिए। यदि पानी किसी पात्र से रक्खा जाता हो तो वह पात्र पाखाने, पेशाबखाने या अन्य गन्दे स्थान से दूर रहे, उस पर ढकना हो और पानी निकालने के लिए टोंटी या डण्डेदार बर्तन रहे।

(३) झोपड़ियाँ (Huts)—अल्पकाल ठहरने के या रहने के लिए इनका उपयोग प्रायः किया जाता है। गोरगरीबों के और मजदूरों के लिए इनका उपयोग निवास स्थान के तौर पर किया जाता है। झोपडी उस निवास को कहते हैं जिसकी चौतरे के ऊपर की सब बनावट कच्ची होती है। झोपडियों से व्याप्त भू-भाग को वस्ती कहते हैं। स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से वस्ती में झोपडियों की रचना निम्न प्रकार की होनी चाहिए।

बस्ती में सब रास्ते समान्तर हों। मुख्य रास्ते १६ फूट और आड़े रास्ते ९ फूट चौड़े हों। एक झोपड़ी दूसरे से ६ फूट अन्तर पर हो और सब झोपड़ियाँ एक सीध में हों। उनके चौतरे मुख्य रास्ते से २-३ फूट ऊँचे हों। उनकी फर्श सीमेंट की हो। यदि सीमेंट की न होकर मिट्टी की हो तो मिट्टी को बीच-बीच में बदलवा दिया जाय। उनकी दीवारें मिट्टी, कच्ची ईंटें, बाँस की टट्टियाँ, नालीदार चद्दर या देवदार की तख्तियाँ इनकी होती हैं। मिट्टी की दीवार पर चूने की रंग सफेदी करनी चाहिए। प्रत्येक कमरे में २ फूट वर्गफल की दो खिड़कियाँ होनी चाहिएँ। यदि एक हो तो ३ फूट वर्ग फल की होनी चाहिए। इनके वितान घास, फूस, खपड़े, ताड़पत्र, बाँस की टट्टियाँ या नालीदार चद्दरों के बनते हैं। ये १६ फूट से अधिक ऊँचे न हों। शौच स्थान झोपड़ी के पास न होकर पीछे की ओर कुछ दूरी पर हो। इनका चौतरा पक्का और फर्श अप्रवेश्य हो तथा मल उठाने के लिए आने का रास्ता हो। खराब पानी और कूड़ा उठाने का उचित प्रवन्ध हो।

(४) पावरोटी घर (Bakehouses)—जिन घरों में खाने की रोटी बनायी जाती है वे पावरोटी घर कहलाते हैं। रोटी में चपाती, पराँठा, पावरोटी सबका समावेश होता है। आजकल विलायती पावरोटी का प्रचार (पृष्ठ १३१) बढ़ रहा है। इससे प्रत्येक नगर में अनेक रोटीघर दिखाई देते हैं। रोटीघरों का संबंध खाने पीने से होने के कारण इनकी सफाई की ओर ध्यान न देने से खाद्यपेयसंवाहित रोग फैलने का डर रहता है। इसलिए उनको चलाने की अनुज्ञप्ति (Licence) देते समय निम्न प्रतिबन्धों (शर्तों) का पालन अनिवार्य कर देना चाहिए—

(१) ये घर पक्के हों तथा उनकी फर्श सीमेण्ट या चूने की हो। (२) प्रतिदिन एक बार फर्श को पानी से अच्छी तरह साफ किया जाय। (३) इनका उपयोग सोने के लिए न किया जाय। (४) कमरे सुप्रकाशित और सुप्रव्यजित हों और दीवारों पर साल में दो बार चूने की पुताई हो। (५) धूआँ निकल जाने के लिए भट्टे या चूल्हे पर धूमनी का प्रवन्ध हो। (६) रोटी बनाते समय स्वच्छ अँगरखों का उपयोग किया जाय। (७) मेजें स्वच्छ और दरार विरहित हों। (८) आटा रखने के लिए टाँड़ा हो और उस पर उसके बोरे रक्खे जायँ। (९) बनी बनायी रोटी रखने के लिए ढक्कनदार पात्र हों ताकि धूलि और मक्खियाँ उन पर न बैठने पावें। (१०) रोटी घर पाखाना, पेशावखाना तथा मोरी परनाला इत्यादि से दूर हो। (११) त्वग्रोगों से पीड़ित तथा रोगों के वाहक मनुष्य रोटी बनवाने के काम में न नियुक्त किए जायँ। (१२) रोटी घर में कोई पालतू जानवर न हो।

(५) गोशाला और दुग्धागार (Cowsheds and Dairies)—वैसे तो सब पालतू प्राणियों के लिए शालाएँ बनायी जाती हैं और उनकी बनावट में उन प्राणियों के स्वास्थ्य का ध्यान रक्खा जाता है किन्तु गोशाला (जिसमें भैंसों का भी समावेश है) की बनावट में जितना ध्यान उनके स्वास्थ्य का रखना आवश्यक है उतना ही या उससे कुछ अधिक मनुष्यों के स्वास्थ्य का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इसका कारण यह है कि दूध एक अत्यन्त महत्व का खाद्य (पृष्ठ ९७) है, शीघ्रता से दूषित हो जाता है और अत्यन्त भयानक रोग उत्पन्न (पृष्ठ १०३) करता है। इसलिए गोशाला और दुग्धागार की बनावट में दूध रक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूध रखने के स्थान कैसे होने चाहिएँ, उनके पात्रों की सफाई कैसी करनी चाहिए इत्यादि विषयों का विवरण पीछे हो चुका है। गोशाला कैसी होनी चाहिए इसका विवरण आठवें अध्याय में 'पशुपालन' में किया गया है।

(६) भोजनालय और चाय घर—बड़े बड़े नगरों में, जहाँ पर सैकड़ों मनुष्यों को अपरिहार्य कारणों से अकेले रहना पड़ता है तथा जहाँ पर सैकड़ों लोग कामधन्धे के निमित्त बाहर से आते हैं, सार्वजनिक भोजनालयों और चाय घरों की आवश्यकता रहती है और इसलिए इस प्रकार के खाने पीने के घर स्थान-स्थान पर पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त आजकल घर के बाहर खाने पीने का रिवाज भी बहुत बढ़ गया है। इसलिए आरोग्य की दृष्टि से इनकी देख रेख करना बहुत आवश्यक हो जाता है। ये भी खाने पीने से संबंध रखने के कारण अपनी अस्वच्छता से खाद्यपेय संवाहित रोगों के प्रसार में सहायता किया करते हैं।

खाने पीने के स्थान पक्के, सुप्रकाशित और सुप्रव्यजित होने चाहिएँ। फर्श चूना या सीमेण्ट की होकर प्रतिदिन पानी से साफ करनी चाहिए। खाने के मेज प्रत्येक के खाने पीने के बाद साफ करने चाहिएँ और इस दृष्टि से उन पर मर्मरशिला (Marble) होना श्रेयस्कर है क्योंकि वह अप्रवेश्य और टिकाऊ होकर आसानी से स्वच्छ की जा सकती है। रसोई बनाने का स्थान भोजन घर से अलग हो और उसमें धूमनी का उचित प्रबंध हो। रसोई के और जूठे बर्तन अच्छी तरह माँजकर (पृष्ठ १८८) और धोकर उनको २% उपनीरित (Hypochlorite) के विलयन में कुछ समय डुबोकर पानी से साफ करके रखना चाहिए। खाने पीने के द्रव्य रखने के लिए ढक्कनदार पात्र, शीशे के किवाड़ की अलमारियाँ या अन्य प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वे मक्खियों और धूलि धूएँ से बच जायँ। कूड़ा, कचरा तथा जूठन डालने के लिए ढक्कनदार पात्र हों और समय-समय पर उनका कूड़ा नगर

के सार्वजनिक कूड़ापात्र में फेंक दिया जाय। दिन रात कल का पानी न हो तो पीने का पानी रखने के लिए ढक्कनदार टोंटी के हौज हों जिससे पानी में हाथ या प्याले डुवाने की आवश्यकता न पड़े। परोसिये संक्रामक रोगों के अवाहक और त्वग्रोगों से अपीड़ित हों।

अतीवजनसंकुलता (Overcrowding)—निवास-गृहों में रहनेवाले लोगों की संख्या से इसका सम्बन्ध है, नगर-रचना या गृह-रचना से नहीं। जब रहनेवाले लोगों की संख्या रहने योग्य स्थान से अधिक हो जाती है तब उस अवस्था को जनाकीर्णता, जनसंवाधता या जनसंकुलता कहते हैं और जब यह भीड़ बहुत ही अधिक हो जाती है तब उस अवस्था को अतीवजन-संकुलता कहते हैं। वर्तमान काल में भारत का कोई नगर जन-संकुलता से मुक्त नहीं है और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर इत्यादि राजधानी और व्यापार के नगरों में तो यह संकुलता पराकोटी तक पहुँच गयी है। यह अतीवजन-संकुलता तत्तन्नगर निवासी लोगों की प्रजावृद्धि के कारण नहीं परन्तु निर्वासितों के कारण तथा गाँवों से नगरों की ओर उदरभरणार्थ आनेवालों के कारण हुई है। जन-संकुलता की यद्यपि कोई वैध परिभाषा नहीं है तथापि प्रत्येक व्यक्ति के लिए निवासगृह में जो क्षेत्रफल बताया गया है (पृष्ठ १९) उससे कम क्षेत्रफल मिलने पर उस मकान को जन-सकुल कह सकते हैं। प्रवीजन, मोरी परनाले, कूड़ा-कर्कट, पानी, मैला इत्यादि का उचित प्रबन्ध होने पर भी जन-संकुलता के अपने खास दोष होने के कारण प्रत्येक नगरपालिका के सामने जन-सकुलता दूर करने का प्रश्न उपस्थित है और बरसों तक यह प्रश्न बना रहेगा। जन-संकुलता के दोषों का विवरण आगे जीवन-सांख्यिकी में किया गया है।

—ooXoo—

सप्तम अध्याय

औद्योगिक स्वास्थ्य और घृणित धन्धे

औद्योगिक स्वास्थ्य (Occupational Hygiene)

आधुनिक यान्त्रिक और औद्योगिक उन्नति के युग में प्रत्येक राष्ट्र का अधिकांश उत्पादन कल-कारखानों में, खानों में तथा गिरणियों (Mills) मे होता है, जहाँ पर सैकड़ों या सहस्रों कामगार थोड़े स्थान में इकट्ठा होते हैं, वातावरण अशुद्ध रहता है, परिस्थिति अस्वच्छ होती है, प्रकाश कम रहता है और खड़े-खड़े घंटों तक काम करना पड़ता है। इससे कामगारों में खाँसी, दमा, राजयक्ष्मा, कुब्जता, तिर्यग्दृष्टि (Nystagmus) इत्यादि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त यान्त्रिक दुर्घटनाओं (Accident) से अनेकों के हाथ-पैर, आँख-कान इत्यादि अंग-प्रत्यंगों को हानि पहुँचती है और वे सदा के लिए विकल हो जाते हैं तथा अनेकों का मृत्यु होता है। इससे कामगारों को तकलीफ होती है, कारखानों की कार्यक्षमता घटती है और राष्ट्र की आथिक हानि होती है। इसलिए कामगारों की स्वास्थ्यरक्षा का प्रबन्ध करने के लिए औद्योगिक स्वास्थ्यसेवा (Industrial Health service) नामक संघटना स्थापित की गयी है जिसके द्वारा निम्न कार्य किये जाते हैं—

(१) काम करने के लिए उचित पर्यावरण (Environment) उत्पन्न करके तथा उस पर्यावरण में काम करने के लिए कर्मचारियों को तयार करके उनके स्वास्थ्य को बढ़ाना।

(२) व्यावसायिक रोगों का प्रतिबन्धन करना।

(३) काम करते समय होनेवाली दुर्घटनाओं का प्रतिबन्धन करने में सहायता करना।

(४) दुर्घटनाओं के समय तुरन्त उपचार करने की व्यवस्था करना।

(५) दुर्घटनाओं से पीडित व्यक्तियों को यथापूर्व काम करने योग्य बनाने का प्रयत्न करना।

(६) कर्मचारियों को स्वास्थ्यरक्षा की शिक्षा देना।

(७) इस विषय में आवश्यक अन्वेषण और अनुसंधान करना।

इस कार्य के लिए कल-कारखानों की तथा कामगारों की निम्न प्रकारों से देखभाल तथा जाँच की जाती है।

(१) कार्य काल (Hours of work)—कारखाने के प्रत्येक काम में शारीरिक और मानसिक परिश्रम की भिन्नता होती है। इसको देखकर काम का काल निर्धारित करना चाहिए। प्रतिदिन ८ घण्टे का काम ५ दिन और ५ घंटा एक दिन इस प्रकार सप्ताह में कुल ४५ घण्टे का काम हो। प्रतिदिन १० घण्टे से और सप्ताह में ५४ घण्टे से अधिक काम न होना चाहिए। स्त्रियों को प्रसूति से पहले और पश्चात् ६ सप्ताह की छुट्टी दी जाय। अर्थात् उनको उतने दिनों का वेतन मिलना चाहिए। १८ साल से कम अवस्था के लड़कों को प्रतिदिन ७½ घण्टे से अधिक काम न देना चाहिए तथा जिन कामों में प्रकोपक धूलि और जहरीले धूओं से जीवन के लिए भय हो ऐसे कामों पर उनको न रखना चाहिए।

रातपारी का काम लगातार दो सप्ताह से अधिक न हो। जो कारखाने साल भर में कुछ ही मास तक चलते हैं उनमें काम करनेवालों के लिए दैनिक तथा साप्ताहिक काम के घण्टे कुछ अधिक रक्खें तो कोई हानि नहीं।

(२) नियतकालिक निरीक्षण (Periodical inspection)—कामगारों की स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से इसकी बहुत आवश्यकता होती है। इसके लिए स्वतन्त्र निरीक्षक नियुक्त किये जाते हैं और जहाँ नहीं हैं वहाँ पर होने चाहिएँ। ये कामगारों के निवास-स्थानों के तथा जहाँ पर ये काम करते हैं वहाँ के कल-कारखानों तथा गिरणियों के प्रकाश, प्रवीजन, धूलिधूमनिवारण, कार्यकाल, शुद्ध पानी, मलमूत्र विसर्जन इत्यादि के सम्बन्ध में समय-समय पर देख रेख करके उनको ठीक करने की सूचना या आदेश देते हैं और कामगारों के स्वास्थ्य का वैद्यकीय निरीक्षण करके उनको रोग निवारण की दृष्टि से उपयुक्त सूचना देते हैं और मोटे रोगों के उपाय बताते हैं। नियतकालिक निरीक्षण में बीच बीच में काम करनेवालों की कार्यशक्ति का भी निरीक्षण होना जरूरी है। इससे अकार्यक्षम कर्मचारी मालूम होकर उनको निकाला जा सकता है और कारखाने की कार्यक्षमता स्थिर रक्खी जा सकती है। सीसे (Lead) के कारखानों में काम करनेवालों के रक्त का परीक्षण क्षारप्रिय कणिकाभवन (Basophilic stippling) के लिए होना जरूरी होता है जिससे सीसविष (पृष्ठ ४०) का पता लग जाता है। वैसे ही राजयक्ष्मा और फुफ्फुसकणरुग्णता (Pneumoconiosis) उत्पन्न होने की संभावना जिन धन्धों में होती है उनमें कर्मचारियों के फुफ्फुसों का बीच-बीच में और बार बार क्ष-रश्मि चित्रण भी करके देखना चाहिए।

(३) दुर्घटनाएँ (Accidents)—कारखानों में काम करनेवालों में परिस्थिति के कारण अनेक रोग तथा दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। जैसे झुक करके सदैव काम करने से पीठ में कूबड़, खड़े होकर काम करने से सिराकुटिलता (Vericose veins), ठीक प्रकाश न होने से दृष्टिमन्दता, पत्थर या धातु के कण आँखों में जाने से नेत्रव्रण इत्यादि। इनमें से बहुतेरी व्याधियाँ और दुर्घटनाएँ प्रतिबन्धनक्षम होती हैं। ये जिन कारणों से हुआ करते हैं उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे, धोखे के स्थान में उत्तम प्रकाश तथा सूचना लेख, यन्त्रों के चारों ओर अहाता लगाना, खरादों (Lathes) के पास काम करनेवालों की आँखों की रक्षा करने के लिए नेत्ररक्षक चश्मों का उपयोग, अपघातों, दुर्घटनाओं तथा रोगों की चिकित्सा का उत्तम प्रबन्ध इत्यादि।

(४) सुप्रकाश—कारखानों में विशेषतया खानों में उत्तम प्रकाश होना चाहिए। जहाँ पर प्रकाश नहीं रहता वहाँ पर बिजली के द्वारा प्रकाश का प्रबंध होना चाहिए। अल्प प्रकाश में काम करने से अपघात होते हैं तथा आँखें खराब होती हैं। खनकों (Miners) में नेत्रदोलन (Nystagmus) की खास बीमारी होती है। कारखानों में नैसर्गिक प्रकाश आने की दृष्टि से उनका उत्तर या दक्षिणाभिमुख होना जरूरी है। कारखानों की भित्तियों पर चूने की सफेदी करने से भीतर आया हुआ सूर्य प्रकाश भलीभाँति संपूर्ण स्थानों में परावर्तित होता है। कृत्रिम प्रकाशन छतों की बत्तियों से होना चाहिए। जब बत्ती समीप रखने की आवश्यकता होती है तब बत्ती पर इस प्रकार साया (Shade) लगानी चाहिए कि काम के समय तथा कमरे में इधर उधर देखते समय आँखों पर रोशनी न पड़े। कारखानों में भ्राशमान (Fluorescent) प्रकाशन अधिक अच्छा होता है क्योंकि इससे छायाएँ (Shadows) नहीं पड़तीं, एक सा प्रकाश रहता है तथा बिजली का व्यय कम होता है। सुप्रकाश से कारखानों में सफाई अच्छी होती है, कूड़ा इकट्ठा नहीं होने पाता तथा यन्त्रों में कहीं दोष या बिगाड़ हो तो उसका भी तुरन्त पता चल जाता है।

(५) सुप्रवीजन—प्रत्येक कारखाने की तथा गिरणी की इमारत सुप्रव्यजित होनी चाहिए। कारखाने में शुद्ध वायु का ठीक प्रबन्ध न होने से कामगारों की कार्यक्षमता बहुत घट जाती है और वे अनेक रोगों के शिकार (पृष्ठ १२) बन जाते हैं। छोटे कारखानों में नैसर्गिक साधनों से भीतर (पृष्ठ १०) शुद्धवायु मिल सकती है, परन्तु बड़े-बड़े कारखानों और गिरणियों में कृत्रिम प्रवीजन का उपयोग (पृष्ठ १६) करना पड़ता है। जहाँ तक हो सके कारखानों में

पारप्रवीजन (पृष्ठ १४) का ही प्रबन्ध करना उचित है। एक खण्ड के कारखानों में कूट वा ढालू छप्परों से (पृष्ठ १६, २४९) प्रवीजन का बहुत कुछ काम हो जाता है। जिन कारखानों में धूलि, धुआँ और ताप की तकलीफ होती है वहाँ पर प्रेरण, शून्यक या मिश्र विधि से प्रवीजन का प्रबन्ध करना चाहिए। भट्टों के पास काम करनेवालों को प्रेरण विधि से ठंढी हवा देकर उनकी तकलीफ दूर करके कार्यक्षमता बढ़ा सकते हैं। जहाँ हो सके वहाँ पर वातानुकूलन (Air conditioning) का प्रबन्ध किया जाय। इससे कारखानों की कार्यक्षमता और उत्पादन शक्ति बढ़ती है।

(६) स्वच्छता—कारखानों के भीतर तथा बाहर पूर्ण स्वच्छता रखनी चाहिए। दीवालों तथा छतों पर समय-समय पर रंग सफेदी करनी चाहिए। वहाँ पर उत्पन्न होनेवाला खराब पानी नालियों द्वारा परनालों में छोड़ देना चाहिए, नदी या पीने के पानी के जलाशय में न छोड़ना (पृष्ठ २८) चाहिए। फर्श पर इकट्ठा होनेवाली धूलि, कज्जली, महीनकण, तन्तु इत्यादि को यान्त्रिक संमार्जकों (Vacuum cleaners, Suction fans, Dust removing plants) द्वारा साफ करना चाहिए। जिन कारखानों में कामगारों को कोयला, धूलि इत्यादि शरीर की त्वचा खराब करनेवाले पदार्थों से काम करना पड़ता है वहाँ पर शरीर की सफाई की दृष्टि से पानी का प्रबन्ध होना चाहिए।

(७) धूम निवारण—जिन कारखानों में धुआँ, भाप तथा अन्य वायुरूप पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें उनकी निकासी का उचित प्रबन्ध करना चाहिए। यह कार्य बिजली के द्वारा यन्त्र चलाने से, अच्छे भट्ठे बनवाने से, भट्टों पर धुआँ निकल जाने के लिए धूम्रमार्ग, धूमनी, शोषक प्रवीजन (Exhaust ventilation) इत्यादि का प्रयोग करने से होता है।

(८) आक्लेद और तापनियन्त्रण—आक्लिन्न (Humid) और गरम हवा में काम करने से अनुत्साह होता है और बराबर काम करने से स्वास्थ्य खराब होता है। कारखानों में थोड़े स्थान में अधिक लोगों में इकट्ठा होने के कारण वहाँ की हवा गरम और आक्लिन्न (पृष्ठ २०) हो जाती है। कहीं-कहीं सूत की गिरणियों में अच्छा सूत बनने के लिए सोच समझकर हवा आक्लिन्न रक्खी जाती है। इसलिए हवा की क्लिन्नता या गरमी या दोनों का नियन्त्रण कामगारों के स्वास्थ्य की दृष्टि से करना चाहिए।

(९) शुद्ध जल और मलमूत्र का प्रबन्ध—काम की अवधि में काम-

गारों को पीने के लिए शुद्ध पानी का प्रबन्ध होना चाहिए। वैसे ही मलमूत्र विसर्जन के लिए संडास और मूत्रघर भी होने चाहिएँ और उनकी सफाई मेहतरों से रखनी चाहिए।

(१०) निवास-गृह—कारखानों में काम करनेवालों के लिए रहने का भी प्रबन्ध होना चाहिए। एक व्यक्ति के लिए १०×१०×१२ फूट का कमरा हो। विवाहित के लिए ऐसे दो कमरे और रसोई-घर, स्नान-घर, पाखाना, वरामदा ऐसा मकान हो—जहाँ पर ऐसे मकान हों वहाँ पर एक सार्वजनिक रसोई-घर, पाखाना और स्नान-गृह भी रहें।

(११) उपाहार-गृह—यहाँ पर कर्मचारियों को अच्छा, स्वच्छ, शुद्ध, संतुलित आहार मिलने का प्रबन्ध रहे। खाद्य द्रव्यों में मिलावट न हो इस पर विशेष ध्यान दिया जाय।

(१२) बाल-गृह (Creches)—पचास से अधिक स्त्रियाँ जहाँ पर काम करती हैं वहाँ पर उनके बच्चों की देख-भाल करने के लिए, उनको नहलाने और वस्त्र पहनाने के लिए, उनको मुफ्त दूध पिलाने के लिए प्रशिक्षित कुटुम्ब परिचारिकाओं की देख-रेख में बाल-गृह चलाना कारखानों के स्वामियों के लिए अनिवार्य करना चाहिए। इस गृह का उपयोग स्त्रियाँ काम के समय तथा छुट्टी में अपने बच्चों को पिलाने के लिए भी कर सकती हैं।

(१३) शिक्षा-गृह—काम करने वालों को अपने काम में क्या-क्या खतरा हो सकता है इसकी शिक्षा देनी चाहिए। यदि कोई विषैला द्रव्य हो तो उसके विषैलेपन से बचने के उपाय बतलाने चाहिएँ। स्थान-स्थान पर आवश्यकता के अनुसार सावधानी रखने की दृष्टि से सूचनाफलक, चित्रफलक लगवाने चाहिएँ। दुर्घटना के समय प्रथमोपचार (First aid) करने की दृष्टि से कृत्रिम प्रश्वसन (Artificial respiration), रक्तस्तम्भन इत्यादि का प्रशिक्षण उनको देना चाहिए। साधारणतया १५० नौकरों के पीछे कम से कम ४ मनुष्य प्रथमोपचार में भली-भाँति प्रशिक्षित होने चाहिएँ।

औद्योगिक विष (Industrial poisons)

सीस (Lead)—सीसे की खानें, सीसे के रंग, रंगीन कांच, मुद्रसंधानी (टाइप फाउण्ड्री), पानी के नल, बन्दूक की गोलियाँ, चीनी और तामचीनी के बर्तन, विद्युत्संग्रह कोशाएँ (Storage-batteries) इत्यादि के काम करने वाले सीस-

विष (पृष्ठ ४०) से पीडित होते है। शरीर में प्रवेश सूक्ष्म कणों के निगलने से, सूक्ष्म कणों के और भाप के सूँघने से या त्वचा से होता है। मुख और नासा मार्ग महत्व का है।

प्रतिबन्धन—कारखाने के भीतर खाने का अन्न, तथा पीने का पानी न रखना चाहिए। खाना और पीना बाहर करना चाहिए। खाने-पीने से पहले हाथों, नाखूनों और मुख की सफाई करनी चाहिए। खाने-पीने में दूध तथा अन्य पौष्टिक (चूने के खाद्य पृष्ठ १५८) द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त काम पर स्वतन्त्र कपड़ों को पहनना, सीसे की वस्तुओं को उठाने के लिए हाथों का उपयोग न करके औजारों का प्रयोग करना और कारखाने में धूएँ का और हवा की खुलासगी का उचित प्रबन्ध करना इन उपायों से भी सीस विष का उपद्रव कम हो जाता है।

पारा (Mercury ,—ज्वरमापक, तापमापक के कारखानों में, हिंगुल तथा पारे का उपयोग जिनमें होता है ऐसे व्यवसायों में काम करनेवाले पारदविष से पीड़ित होते हैं।

प्रतिबन्धन—पारद साधारण ताप पर भी धीरे-धीरे वाष्परूप होता रहता है। इसलिए उसको हमेशा बन्द बर्तनों में रखे। निकालते समय या काम के समय जिस तरह वह जमीन पर न गिरे उस तरह उसको निकालें। गिरा हुआ पारा निःशेष उठावें, फर्श भी ऐसी चिकनी हो कि गिरा हुआ पारा उठाने में कठिनाई न हो। जिनके दाँत खराब, टूटे या घुने हुए होते हैं वे पारद विष से जल्दी पीड़ित होते हैं। अतः ऐसे दाँतों को निकलवा देना चाहिए। प्रतिदिन मुख की सफाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। कमरों का ताप ६०° फै से कम रखना चाहिए ताकि पारद का उत्पातन (Volatilization) कम से कम हो। धुएँ को जल्दी निकालने के लिए शोषक प्रवीजन का प्रबन्ध करना चाहिए। कामगारों को भाप से बचने के लिए श्वसित्र (Respirator) और शरीर रक्षा के लिए अंगावरक (Overalls) दिये जायँ।

भास्वर (Phosphorus)—दियासलाई के कारखानों में काम करनेवाले इसके विष से पीड़ित होते हैं। इसके विष से अग्निमान्द्य, रक्तक्षय, खाँसी, कृशता और नीचे के जबड़े का गल जाना (Necrosis) ये उपद्रव होते हैं।

प्रतिबन्धन—श्वेत या पीले भास्वर का उपयोग न करके लाल भास्वर का उपयोग करना चाहिए। दाँतों के संबंध में पारे के समान इलाज करना चाहिए।

मुख की सफाई क्षारीय द्रव्य के घोल से करनी चाहिए। कारखाने बहुत खुले स्थानों में होने चाहिएँ तथा कारखानों के कमरे विस्तृत और हवादार होने चाहिएँ। तैलपर्ण (तारपीन) तेल की भाप से भास्वर का विषैलापन कम हो जाता है, इसलिए चौड़ी तश्तरियों में तैलपर्ण तेल भरकर स्थान-स्थान पर रखना चाहिए जिससे काम करनेवाले काम के समय भाप को सूँघते रहें।

सोमल या नेपाली (Arsenic)—सोमल, सोमल के रंग, रंगीन कागज, रंगीन कागज के फूल, पैरीसग्रीन इत्यादि के कारखानों में काम करनेवाले सोमल विष से पीड़ित हो सकते हैं। सीसे के समान इसका भी शरीर में प्रवेश होता है और सीसे के समान इसका भी प्रतिबंधन करना चाहिए।

औद्योगिक वात और धूम

अनेक रासायनिक और धातुओं के कारखानों में अनेक रोगावह और भयावह वात (Gas) तथा धूप (Fume) उत्पन्न होते हैं। उनके इतस्ततः न फैलने के लिए तथा निकासी के लिए कारखानों में कृत्रिम प्रवीजन का उचित प्रबन्ध हो, जहाँ पर ये धूम उत्पन्न होते है वहाँ पर उचित आकार प्रकार के शिरच्छद (Hoods) लगाकर उनके द्वारा वे निस्सारण मार्गों (पृष्ठ १६) में पहुँचा कर पंखों द्वारा बाहर निकाल दिये जायँ तथा उनसे बचने के लिए कर्मचारियों को श्वसित्र (Respirators) या मुखावगुंठन (Masks) दिये जायँ।

(१) धातुधूम (Metal fume)—जस्ता (Zinc), भ्राजातु (Mg) तांबा इनके जलते समय उत्पन्न हुए धूँए में इन धातुओं के भस्म के सूक्ष्मकण होते हैं जिनके अन्तःश्वसन से ज्वर आता है। इसको धातुधूमज्वर या पित्तल संधानक हिमज्वर (Brass founder's ague) कहते हैं। ये धातुकण वस्तुतः औद्योगिक धातुविष न होने से इनसे कोई स्थायी विकार नहीं होता है।

(२) प्रांगार एकजारेय (CO)—लकड़ी, कोयला, प्रस्तरेल (Petrol) इत्यादि दाह्य वस्तुओं को दहन के समय जब जारक पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता तब यह वात उत्पन्न (पृष्ठ ८) होता है। इसलिए ईंटों के तथा धातु गलाने के भट्ठों से यह वात न्यूनाधिक मात्रा में बनता रहता है। विमान तथा मोटर में भी प्रस्तरेल का दहन ठीक न होने से यह बनता है और कभी-कभी भीतर आता है। अंगारवात (Coal gas) में यह ६% और जलवात (Water gas) में यह ३०% होता है। अतः ये दोनों वात विषैले होते हैं। रंग-गंध-रसहीन होने के

कारण इसका अस्तित्व तक विदित नहीं हो सकता। जिसके कारण इससे विषाक्त होने के अनेक आकस्मिक योग (पृष्ठ ८) उत्पन्न होते हैं। प्राणवायु से भी शोणवर्तुलि (Hemoglobin) के साथ इसकी वन्धुता अधिक होती है। इससे श्वसन के साथ भीतर जाने पर यह शोणवर्तुलि के साथ प्रागजार शोणवर्तुलि (Carboxy hemoglobin) नामक स्थायी संयोग वनाता है जिससे लालकणों की जारक संवहनशक्ति (Oxygen carrying power) घट जाती है और प्राणोपरोध (Asphyxia) उत्पन्न होता है। संक्षेप में यह वायु विषैला नहीं, परन्तु प्राणवायु को कम करके विषैला होता है। हाल्डेन ने यह वताया है कि वातावरण में •०५% प्रमाण में इसकी उपस्थिति विषैलापन उत्पन्न करती है। जव इसका प्रमाण •०८% हो जाता है तव आधा रक्त इससे संपूरित (Saturated) होकर वेकार होता है। इसका प्रमाण •१% होने पर १ घण्टे में सिरदर्द, तन्द्रा इत्यादि विषैले लक्षण होते हैं और जव यह प्रमाण •४% हो जाता है तव मृत्यु होता है।

चिकित्सा—इससे वेहोश होने पर रोगी को शुद्ध हवा में लाकर कृत्रिम प्रश्वसन कराना चाहिए। लोह फुफ्फुसों (Iron lungs) का उपयोग इसमें वहुत लाभ करता है। सूँघने के लिए रोगी को ७% प्रां० द्वि० (CO_2) के साथ प्राणवायु देने से भी लाभ होता है। क्योंकि उससे धीरे-धीरे रक्त से प्रां० एकजारेय हटता जाता है।

(२) तिक्ताति (Ammonia)—यह वहुत उग्रगन्ध वात है। नौशादर, वर्फ, रजत और त्रपु पट्टन (Silver-tin-plating) तथा प्रशीतीकरण (Refrigerating) के कारखानों में यह वात मिलता है। अधिक काल तक इसके श्वसन से नेत्र, नासा, गला और फुफ्फुस में कालिक शोथ उत्पन्न होता है।

(३) नीरजी (Chlorine)—यह वात चूर्णातु नीरेय (Chloride of lime), नीरीयों (Chlorates), नीरजी तथा तज्जन्य जीवाणुनाशक पदार्थों को वनानेवाले कारखानों में, कागज और सूत की गिरणियों (Mills) में विरंजन के (Bleaching) कामों में उत्पन्न होता है। यह वहुत उग्रगन्धी है और उससे दम घुट जाता है। अधिक मात्रा में होने पर इसके श्वसन से नासास्राव, अश्रुस्राव, कृच्छ्रश्वसन, खाँसी फुफ्फुसपाक (Pneumonia) इत्यादि विकार होते हैं। अल्प मात्रा में होने पर और अधिक काल तक सेवन करने पर पाचन की खरावियाँ, शिरोरुजा, पाण्डुरोग, कृशता इत्यादि विकार होकर दिनों दिन स्वास्थ्य गिरता जाता है। १०००० भाग में इसका १ भाग ५ कला में घातक होता है।

(४) उदजन शुल्बेय (H_2S —यह वात परनालों में माक्षिकों (Pyrites) की खानों में तथा रबड़ के कारखानों में पाया जाता है। इसकी गन्ध सड़े गले अण्डे के समान होकर १०००० भाग में एक भाग होने पर भी मालूम होती है। अल्प मात्रा में होने पर इससे मितली, पचन की खराबियाँ, कास, शिरोरुजा इत्यादि विकार होते हैं। अधिक मात्रा में (·२–·४% के करीब) होने पर इससे अंगघात, आक्षेप, मूर्च्छा, संन्यास और मृत्यु हो जाता है।

(५) नेपाल्येयित उदजन या नेपी (ASH_3, Arsine)—यह वात रसशालाओं में, रसायनों के तथा चद्दरों पर जस्ता चढ़ाने के (Galvanising) कारखानों में पाया जाता है। यह वात हवा से भारी है जो नीचे की ओर इकट्ठा होता है। इसके अन्तःश्वसन से शोणितमेह, शोणवर्तुलिमेह, मूत्राघात (Suppression of urine) विषैली कामला और रुधिरांशन (Hemolysis) होकर तुरन्त मृत्यु होता है।

(६) प्रांगार द्विशुल्बेय (Carbon disulphide)—यह वात रबड़ बनाने वाले रबड़ से होनेवाले जलाभेद्य (Waterproof) वस्तुओं को बनानेवाले कारखानों में तथा कृत्रिम रेशम के कारखानों में पाया जाता है। दस लाख भाग में इसका १ भाग विषैला परिणाम कर सकता है और डेढ़ भाग घातक हो सकता है। इसका परिणाम रक्त, पेशियाँ तथा मस्तिष्क इनके ऊपर होकर रुधिरांशन (रक्त नाश), पेशीघात, ऐंठन, सुन्नता, अन्धता, भ्रम, शिरोरुजा, स्मरणनाश कंप इत्यादि लक्षण होते हैं।

यह वात हवा से भारी होता है अतः इसे निकालने के लिये शून्यक या निस्सारक (Extract) प्रवीजन की नालियाँ (पृष्ठ १६) फर्श के पास लगाना चाहिएँ। यह वात अभिज्वाल्य याने आग पकडनेवाला (Inflamable) होता है अतः आग या खुली बत्तियाँ उसके पास न रखनी चाहिएँ।

कोयले की खानें (Coal mines)

कोयले की खाने मुख्यतया बगाल, बिहार और उड़ीसा में हैं और उनमें २ लाख के करीब कामगार काम करते हैं। उनमें अल्प स्थान में, अंधेरे में, अशुद्ध हवा में और अस्वच्छता में काम करना पड़ता है जिसके कारण अनेक रोग और अंगघात उत्पन्न होते हैं। कोयले की खानों में काम करनेवालों की जो दुरवस्था होती है वही अन्य खानों में काम करनेवालों की प्रायः हुआ करती है। इसलिए प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण यहाँ पर दिया जाता है—

(१) कुदाल, फावड़ा इत्यादि से सदैव झुक कर काम करने की आवश्यकता होने के कारण उनके हाथ, कुहनी और घुटने आघात से खराब हो जाते हैं, जो घट्टहस्त (Beat hand), घट्ट कूर्पर (Beat elbow) और घट्ट जानु (Beat knee) कहलाते हैं।

(२) अंधेरे में विशिष्ट पद्धति से देखने की सदैव आवश्यकता पड़ने के कारण उनकी आँखों में एक प्रकार का भेंगापन आ जाता है, जिसको खनक नेत्रदोल (Miner's nystagmus) कहते हैं।

(३) खानों में नैसर्गिक प्रवीजन अपर्याप्त होता है। इसके अतिरिक्त अग्नि-धूमिका (Fire-damp इसमें दलदली वायु CH_4 होता है), उत्तर-धूमिका (After-damp, इसमें प्रांगार एकजारेय होता है), श्वेत-धूमिका (White-damp, इसमें प्रां० एकजारेय या उदजन शुल्वेय होता है), कृष्ण-धूमिका (Black-damp, इसमें प्राण वायु नगण्य रहता है) इत्यादि खराब वात बराबर निकलते रहते हैं। इससे खानों में वातावरण बहुत खराब रहता है। वातावरण की खराबी के अतिरिक्त इनसे आग लग कर, बहिःस्फोट (Explosions) होकर दुर्घटनाएँ भी हुआ करती हैं।

(४) अस्वच्छता और खराब वातावरण के कारण खनकों में विसूचिका, अतीसार, मसूरिका, फुफ्फुसपाक, अंकुशोपसृष्टता (Hook worm infection) इत्यादि अनेक रोग उत्पन्न हुआ करते हैं।

इसलिए सफाई की ओर ध्यान देकर खानों को सुशुद्ध, कृत्रिम विधियों से सुप्रव्यजित (पृष्ठ १७) और बिजली की रगीन दुधिया या नलिका बत्तियों से सुप्रकाशित रखना चाहिए।

घृणास्पद धंधे

व्याख्या—ऐसे व्यवसाय जिनमें खराब, सड़नेवाले द्रव्य काम में लाए जाते हैं या जिनमें प्रयुक्त विधियों से दुर्गंध, विषैले वात या जल निकलते हैं और जिनके कारण काम करनेवालों के तथा इतर लोगों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती हैं, घृणास्पद धंधे (Offensive trades) कहलाते हैं। सामाजिक और सार्वजनिक स्वास्थ्य की दृष्टि से इन व्यवसायों की देख रेख होना बहुत आवश्यक होता है। अतः नीचे इन व्यवसायों के नाम तथा देख रेख की बातें बतायी जाती हैं—

सामान्य व्यवस्था—ये व्यवसाय मुख्य बस्ती से दूर स्वतन्त्र स्थानों में होने चाहिएँ। जिन मकानों में ये व्यवसाय किए जायँ वे प्रशस्त, सुप्रकाशित, सुप्रव्यजित और पक्के हों। फर्श और दीवाल जरूर अप्रवेश्य पदार्थ की होनी चाहिए। आवश्यकता के अनुसार उनको पानी या जीवाणुनाशक घोल से प्रतिदिन साफ धुलवा देना चाहिए। प्रकाश के लिए हो सके तो बिजली का उपयोग करना उचित होता है। जिन व्यवसायों में विषैले या दुर्गंधयुक्त वात निकलते हैं या भट्ठे काम में आते हैं वहाँ पर धुएँ की निकासी के लिए ऊँची ऊँची धूमनियाँ लगा देनी चाहिएँ। जिन व्यवसायों में दुर्गन्धित पानी निकलता है या बनता है उनके मकानों में मोरी परनाले का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। स्वास्थ्य नाशक व्यवसायों में निम्न प्रमुख हैं—

(१) चावल की गिरणियाँ (Rice-mills)—धान से चावल बनाने के लिए उनको पानी में भिगोते हैं, भापते हैं। इससे कुछ दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। आगे चलकर कूटने के पश्चात् भूसी निकालने के लिए वे पछाडे जाते हैं जिससे आस पास बहुत भूसी उड़ती है।

(२) तेल की गिरणियाँ (Oil mills)—तेल के लिए सरसों, तिल, अतसी, मूँगफली, कुसुम, सूखी गरी इत्यादि का उपयोग किया जाता है। इन तेलों की महक तथा खली रखने का ठीक प्रबन्ध न होने से उसके विघटन की दुर्गन्ध आस पास फैल जाती है।

(३) पशुओं को पालना—इसमें गो, बैल, भैंस, सूअर, घोड़ा इत्यादि जानवरों का समावेश होता है। इनके सिवा मुर्गी, बतख, इत्यादि पक्षियों का भी इसी में समावेश कर सकते हैं। इनके मलमूत्र से दुर्गंध पैदा होती है तथा मक्खियाँ, मच्छर कृमि इत्यादि उत्पन्न होकर रोग फैलाते हैं। इनका स्थान रहने के मकान से दूर (पृष्ठ २४७) कम से कम २० फूट के अन्तर पर हो, फर्श पक्का, ढलवाँ और चारों ओर की जमीन से ६-१२ इञ्च ऊँचा हो। फर्श के किनारे पर जिधर उसका ढाल हो पक्की मोरी हो। सारे स्थान को दिन में दो बार स्वच्छ करना चाहिए। दीवालों को ऊँचा बनाने की आवश्यकता नहीं है। ऊपर छत होना चाहिए। प्रत्येक गौ के लिये ८×४ फूट, भैंस के लिए ८×५ फूट और घोड़े के लिए ९×५ फूट स्थान मिलना चाहिए। कूडे के लिए पात्र रखने चाहिएँ, और उनको दिन में दो बार साफ करवाना चाहिए।

(४) पशुओं का वध करना—इसके लिए स्वतन्त्र स्थान होने चाहिएँ।

भारतवर्ष में कसाई स्वयं अपने घरों में वध करते हैं। यह पद्धति ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर रुग्ण पशुओं का भी वध होता है, सफाई ठीक नहीं हो सकती है जिसके कारण खाने का मांस दूषित होने का डर अधिक होता है। इसलिए नगरपालिका या सरकार के द्वारा नियन्त्रित सार्वजनिक वध स्थान होने चाहिएं। वध स्थान खुले स्थान में और किसी भी निवासस्थान से १०० गज दूरी पर होने चाहिएँ। उनके चारों ओर ऊँची दिवालों का अहाता होना चाहिए। उसका चबूतरा चारों ओर की भूमि से कुछ ऊँचा होना चाहिए। वहाँ पर पशुओं को रखने, उनका वध करने तथा बचे हुए मांस को रखने के लिए भिन्न-भिन्न स्थान होने चाहिएँ। उनकी फर्श और दीवालें अप्रवेश्य पदार्थ की, चिकनी और कोने गोल होने चाहिएँ। दरवाजे और खिडकियों के किवाड़ जालीदार और स्वयं बंद होनेवाले होने चाहिएँ। वधस्थान के ऊपर कोई मकान न बनाना चाहिए। कसाइयों के रहने के स्थान पाखाना, पेशाबखाना वधस्थान से दूर होने चाहिएँ। वधस्थान में कुत्ते और चूहे जिस प्रकार से न पहुँचने पावें ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए। सांसर्गिक रोग से पीड़ित कोई कसाई वध करने का काम न करे और काम के समय स्वच्छ कपड़े पहने। वध करने के पश्चात् मांस रक्त इत्यादि सेवन करने योग्य पदार्थ उत्तम अप्रवेश्य पदार्थों के पात्रों में ढक्कन से ढककर रखने चाहिएँ तथा त्वचादि त्याज्य पदार्थों को भी दूसरे ढक्कनेदार पात्रों में रखना चाहिए। जल का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। वध का काम समाप्त होने पर तीन घंटे के भीतर फर्श और दीवारों को तीन फुट तक, ब्रुश से रगड़कर पानी से साफ धोवें।

(५) रक्त को उबालना—पशुओं का वध करने से निकला हुआ रक्त खाद के लिए, टर्की रेड़ नामक रंग बनाने के लिए, रक्त की शुक्ति (अल्ब्यूमिन) बनाने के लिए तथा शर्करा को साफ करने के लिए काम में आता है। इसलिए कसाई लोग रक्त को उबाल कर गाढ़ा करते हैं या सुखा लेते हैं। उबालते समय दुर्गन्धित वायु निकलता है। उस वायु को धूमनी के द्वारा मकानों के ऊपर पहुँचाने का प्रबध होना चाहिए।

(६) अस्थियों को एकत्र करना और उबालना—अस्थियों का उपयोग खाद के लिए, चाकू के दस्ते इत्यादि के लिए तथा श्लिषि (Gelatın) नामक पदार्थ बनाने के लिए किया जाता है। बस्ती के पास हड्डियों को इकट्ठा करके न रखना चाहिए। हड्डियों को उबालने से दुर्गन्धित वायु उत्पन्न होता है। इसलिए उनको इकट्ठा करके ऊपर पहुँचाने का प्रबंध धूमनी के द्वारा करना चाहिए।

(७) चरबी को उबालना—चरबी का उपयोग मोमबत्ती, साबुन, यन्त्रों के लिए रोगन इत्यादि कामों के लिए किया जाता है। यह चरबी विशेषतः सूअर, भेड़, बैल इत्यादि जानवरों की प्रयुक्त होती है।

(८) ताँत बनाना (Gut scraping)—इसके लिए सुअर और बकरी की आँतें काम में लायी जाती हैं। यह कार्य अत्यन्त खराब है। इसमें प्रथम अँतड़ियाँ धोकर साफ की जाती हैं। पश्चात् कुछ दिनों तक नमक के पानी में भिगोकर लकडी की पत्ती से खरोंची जाती हैं जिससे उनका पेशी का और आवरण का (Peritoneal) स्तर रह जाय। उसके बाद धोकर उनको सुखाया जाता है।

(९) चमड़े को कमाना (Fell mongering)—इसमें जानवरों का कच्चा चमड़ा पक्का, मजबूत, मुलायम, न सड़नेवाला बनाया जाता है और उसीसे व्यवहारोपयोगी चमड़े की वस्तुएँ बनायी जाती हैं। इस के लिए प्रथम कच्चा चमड़ा पानी में भिगोया जाता है। उसके पश्चात् चूना (Slaked lime) या क्षारातु शुल्बेय (Sodium sulphide) इत्यादि विलोमक (बाल निकालने वाले depilator) द्रव्यों से उनके बाल निकाले जाते हैं। अन्त में बब्बूल की छाल या अन्य शल्किक (Tanic) अम्ल युक्त द्रव्य के घोल में उनको भिगोया जाता हैं। इस व्यवसाय में चमड़े के सड़ने से बहुत दुर्गन्ध उत्पन्न होती है तथा बहुत खराब पानी बनता है।

(१०) ईंटों के भट्ठे—इनसे प्रां० द्विजारेय (CO_2) प्रां० एकजारेय (CO) शुल्वारी द्विजारेय (SO_2), उदजन शुल्बेय (H_2S), इत्यादि वात उत्पन्न होकर आस पास की हवा को खराब कर देते हैं। भट्ठों की रचना ठीक करनी चाहिए, उनमें स्थान स्थान पर ऊँची धूमनी लगानी चाहिए तथा सूखी घास पत्ती को छोड़कर खराब कूड़ा न जलाना चाहिए।

(११) कागज बनाना—इसके लिए कागज की रद्दी, रूई कपड़ों के चिथड़े, बाँस, घास इत्यादि का उपयोग किया जाता है। प्रथम क्षारों से इनका गूदा बनाया जाता है। पश्चात् विरंजन चूर्ण से सब द्रव्यों के रंगों का नाश किया जाता है। बाँस के गूदे के लिए शुल्वारी द्विजारेय (SO_2) का उपयोग किया जाता है। उबालने पर जो क्षारीयजल बचता है वह बहुत खराब होता है। वैसे ही उबालते समय खराब धुएँ निकलते हैं। इन कारणों से कागज के कारखानों के आस पास हवा बहुत खराब रहती है।

पांसुल धन्धे (Dusty trades) – अनेक व्यवसाय ऐसे होते हैं कि उनमें वातावरण सदैव अत्यन्त सूक्ष्म कणों से, धूलि से, अणुरेणु से भरा रहता है। ये कण खनिज, वनस्पतिज या प्राणिज हो सकते हैं—जैसे, सींग, हड्डियाँ, ऊन, रेशम इनके कारखानों में प्राणिज; सूत, अंबाड़ा (Flax) सन (Jute), आटा इनकी गिरणियों में वनस्पतिज; और सीमेन्ट, चूना, पत्थर फोड़ना, विविध धातु, दियासलाई, इत्यादि के कारखानों में खनिज धूलिकण हुआ करते हैं।

ये कण नासा और गले के द्वारा कुछ सीधे फुफ्फुस में पहुँचते हैं और कुछ आन्त्र में पहुँच कर लसायनी या रक्तवाहिनी द्वारा फुफ्फुस में आ जाते हैं। इस प्रकार विविध कणों से युक्त वातावरण में अधिक काल काम करने से फुफ्फुस इन कणों से भर जाता है और उनके अवस्थान से फुफ्फुस में तन्तुओं की वृद्धि (तन्तूत्कर्ष–Fibrosis) होने लगती है। इस विकृति को फुफ्फुसकणरुग्णता (Pneumoconiosis) कहते हैं। जिस प्रकार के कणों से यह विकृति होती है उसके अनुसार नाम दिया जाता है—

(१) कोयले के कणों से होने वाले विकार को अंगारकणरुग्णता (Anthracosis) कहते हैं। खनकों में यह विकार होता है।

(२) पत्थरों के कणों के कारण सैकतकणरुग्णता (Silicosis) होता है। यह विकार सोने के खनकों में पाया जाता है।

(३) अदह (Asbestos) के सूक्ष्मकणों से अदहकणरुग्णता (Asbestosis) होता है। यह विकार अदह पत्र बनाने के कारखानों में काम करनेवालों में होता है।

(४) अयस्, ताम्बा, राँगा, सीस इत्यादि के कणों से अयस्विकणरुग्णता या अयस्युत्कर्ष (Siderosis) होता है। यह विकार उपर्युक्त धातुओं की खानों में काम करनेवालों में होता है।

(५) सूत, रूई इत्यादि के कणों से शणकणरुग्णता (Byssinosis) होता है। यह विकार रूई के कारखानों में काम करने वालों में होता है।

धूलिकणों के द्वारा होनेवाले जीवाणुजन्य रोगों में राजयक्ष्मा और अंगारक्षत (Anthrax) ये निर्देश करने योग्य हैं। उपर्युक्त फुफ्फुसगत विकृतियाँ राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में सहायता करती हैं। अंगारक्षत प्राणियों का रोग है और प्राणिज धूलि कणों में उसके दण्डाणु होने पर मनुष्यों में यह रोग हो जाता है। फुफ्फुस के विकारों के अतिरिक्त अन्य अंगों में भी धूलि कणों से विकार हो जाते

हैं। जैसे सीसे के कणों से सीसविष, पारे के कणों से पारदविष, भास्वर के कणों से अधोहनु का नाश, जस्ते के कणों से प्रवाहिका, मरोड़ इत्यादि।

प्रतिबन्धन—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पांसुल व्यवसायों में धूलि की व्यवस्था ऐसी करनी चाहिए कि वह कामगारों तक जहाँ तक हो सके पहुँच न जाय। यह कार्य निम्न पद्धतियों से किया जाता है—

(१) धूलि की उत्पत्ति को रोकना—यह कार्य छेदना, काटना, रँदना इत्यादि में तेल, पानी या भाप का उपयोग करने से हो जाता है। इसको आर्द्र (Wet) पद्धति कहते हैं।

(२) उत्पन्न धूलि को बाहर आने से रोकना—जिन जिन यन्त्रों से धूलि उत्पन्न होकर बाहर आती है उनके ऊपर चारों ओर से प्रमञ्जूषा (Cabinet) या पेटी (Box) का ढक्कन बनाना।

(३) धूलि निष्कासन—उपर्युक्त पद्धतियों का उपयोग करने पर भी या उपर्युक्त पद्धतियों का उपयोग करने की अशक्यता के कारण जो धूलि कण बाहर आते हैं उनकी निकासी के लिए यान्त्रिक समार्जक, शोषक प्रवीजक, धूलि निवारक सयन्त्र (Dust removal plant) तथा अन्य साधित्र काम में लाना।



अष्टम अध्याय

अवस्कर-मल-मूत-विनियोग

(१) अवस्कर (Refuse)

शहर में जो कूड़ा इकट्ठा होता है उसमें राख, कागज, लकड़ी, धातुओं के टुकड़े, सूखी पत्तियाँ, लीद, गोबर, मल, भोज्य पदार्थों के टुकड़े; सड़े गले फल, साग सब्जी इत्यादि निरिन्द्रिय तथा सेन्द्रिय पदार्थ होते हैं। ये पदार्थ अधिक देर तक एकत्र रहने से सड़ने लगते हैं, उनसे दुर्गन्ध आती है और मक्खियाँ तथा विविध कीड़े उत्पन्न होते हैं जो रोग प्रसार में सहायता करते हैं। इसलिए शहर से इकट्ठे हुए कूड़े को शीघ्र शहर के बाहर ले जाकर उसका नाश करने का प्रबंध होना आवश्यक है।

अवस्करण (Scavenging)—मलप्रणालों द्वारा हटाये जानेवाले द्रव्यों को छोड़कर बाकी घरेलू और नगर का सब अवस्कर[१] याने कूड़ा-कचरा इसको मनुष्यों के द्वारा हटानेके कार्य को अवस्करण कहते हैं। कूड़े को जमा करने के लिए स्थान स्थान पर पात्र होने चाहिएँ। ये पात्र लोहे के चादर के गोल और दोनों ओर से खुले होने चाहिएँ। इनको सड़क या गली के एक कोने में पक्के चबूतरे पर रखना चाहिए। इनके रखने का स्थान किसी मकान के पास न होना चाहिए। मकानों का और सड़क के झाड़ने से निकला हुआ कूड़ा इन पात्रों में गिराना चाहिए, इतस्ततः न फेकना चाहिए। इन पात्रों में इकट्ठे हुए कूड़े को प्रतिदिन एक या दो बार आवश्यकता के अनुसार उठाकर ले जाना चाहिए। कूड़े को ले जाने के लिए बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, या मोटर लारी का उपयोग कर सक्ते हैं। छोटे-छोटे गाँवों या कस्बों के लिए बैल या भैंसा गाड़ी और नगरों के लिए घोड़ा-गाड़ी, मोटर लारी का उपयोग श्रेयस्कर होता है। बम्बई-कलकत्ता जैसे बहुत बड़े नगरों में कूड़े को बहुत दूर ले जाना पड़ता है। इसलिए आग-गाड़ी का उपयोग किया जाता है। जिन गलियों में गाड़ी नहीं जा सकती उनका कचरा ले आने के लिए हाथ गाड़ियों (Wheelbarrows) का उपयोग

---

१. गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम्॥ नारद॥

किया जा सकता है। कहीं-कहीं कूड़ा भरने के लिए पात्र न रखकर ढकनेदार गाड़ियों को रख देते हैं जो भर जाने पर वहाँ से हटायी जाती हैं और उसके बदले दूसरी खाली गाड़ी रक्खी जाती है। कचरा ले जाने का काम रात को या बहुत जल्दी सुबह को करना चाहिए और ले जाते समय गाड़ियों या मोटरों को आच्छादित करना चाहिए जिससे हवा से वह इतस्ततः न उड़ सके।

कूड़े का विनियोग (Disposal)—इस तरह इकट्ठा हुआ कूड़ा निम्न प्रकार से नष्ट किया जाता है।

(१) पाटन (Dumping)—शहर के आसपास कहीं पुराने तालाब, गढ़े, खाई या गहरी भूमि हो तो वहाँ पर शहर का कूड़ा डलवा कर उसको समतल बनाते हैं। यह विधि अस्वास्थ्यजनक होती है। जहाँ पर कूड़ा डाला जाता है वहाँ पर मक्खियाँ, चूहे, कीड़े उत्पन्न होते हैं, वर्षा के दिनों में सड़ने से दुर्गंध पैदा होती है और आस-पास का भूमिस्थ जल दूषित हो जाता है। इसलिए इस विधि को काम में लाते समय अनेक (पृष्ठ २३७) बातों पर ध्यान देना चाहिए। इस तरह कूड़े से पटवा कर बनायी हुई भूमि को पाटस्थली (made soil) कहते हैं। भूमिस्थ जीवाणु इस कूड़े को अपनी क्रिया से मिट्टी के (पृष्ठ २४२) साथ अच्छी तरह मिला देते हैं। इसके लिए कई साल लग जाते हैं। इसलिए पाटस्थली का उपयोग मकान बनवाने के लिए १०–२० साल तक न करना चाहिए।

(२) भस्मीकरण (Incineration)—इसमें कूड़ा विशेष प्रकार के ईंट, चूने के या लोहे के भट्ठों में जलाया जाता है। इनको भट्ठे या भस्मकर भ्राष्ट्र (Incinerators) कहते हैं। मेलड्रम, हार्सफाल, वीहाइन्ह (चित्र न० ७) इसके उदाहरण है। जलाने से कूडा चौथाई रह जाता है। इसका उपयोग सड़कों के बनाने में या चूने के साथ सीमेंट बनाने में होता है। बड़े शहर में जलाने का प्रबन्ध कई स्थानों में करना उचित है। जिससे कूडे को उठाने का खर्च कम हो जाय। यदि अच्छे भट्ठे के द्वारा अच्छी तरह यह काम किया जावे तो यह विधि बहुत उत्तम है।



चित्र न० ७, वीहाइन्ह भट्ठा

(३) समुद्रार्पण—जो शहर समुद्र के किनारे वसे हुए हैं उनका कूड़ा नाव में भर कर समुद्र में किनारे से वहुत दूर फेंका जाता है।

(४) संखादन (Compost)—कूड़े के भीतर सड़नेवाली चीजें वहुत होती हैं। सड़ने का काम वातभी (Aerobe) तृणाणु, फफुन्दी (Fungus) इत्यादि के द्वारा होता है। इनको अपना काम करने के लिए भूयाति (N) भास्वीय (Phosphate) इत्यादि द्रव्यों की जरूरत होती है। अतः कूड़ा गढ़े में इकट्ठा करके या जमीन पर ढेर लगा करके उसमें गोवर, गोमूत्र, मैला पानी के साथ मिलाकर प्रतिदिन मिलाया जाता है। जव कूड़ा अच्छी तरह सड़ जाता है तव उसका उपयोग खाद के लिए वहुत अच्छा होता है। इस पद्धति में कूड़ा और मैला दोनों का अच्छा उपयोग होता है। केवल यह कार्य अच्छी तरह करना चाहिए।

(२) मल विनियोग
(Disposal of human Excreta)

जीवन के लिए अन्न ग्रहण की जितनी आवश्यकता होती है उतनी ही मलोत्सर्जन की होती है और स्वास्थ्य की दृष्टि से सेवन किये जानेवाले अन्न पर जितना ध्यान देने की आवश्यकता होती है उतना ध्यान उत्सृष्ट मल के नाश पर देने की होती है।

मल नाशन की पद्धतियाँ—(१) नैसर्गिक—इसमें खुले मैदान में दूर जाकर शौच किया जाता है। यह पद्धति जहाँ आवादी कम और जमीन वहुत (जैसे ग्राम) वहाँ पर ठीक होती है परन्तु कस्बों और नगरों के लिए ठीक नहीं। इससे जल और भूमि दूषित होकर मलस्थित विसूचिकादि रोगों के जीवाणु स्वस्थ मनुष्यों के पेट में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं।

(२) शौचकूप शौचनलिका इत्यादि—इसमें एक स्थान में मनुष्य मलोत्सर्जन करते हैं। यदि ये शौच स्थान पानी के जलाशय और कूप से दूर हों तो यह पद्धति उत्तम है।

(३) हाथउठाऊ पद्धति, (४) जलवहाऊ पद्धति।

प्रथम दो पद्धतियों में मल को छूने की या उठाने की आवश्यकता नहीं होती और शेष दो पद्धतियों में होती है। तीसरी में यह काम मनुष्यों द्वारा और चौथी में जल और नालियों द्वारा किया जाता है।

प्रथम पद्धति ग्रामों के लिए किसानों के लिए अच्छी है, दूसरी पद्धति ग्रामों और छोटे-छोटे कस्बों के लिए ठीक है, तृतीय पद्धति कस्बों और नगरों के लिए और चौथी बड़े-बड़े नगरों के लिए ठीक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से हाथउठाऊ पद्धति सबसे निकृष्ट है क्योंकि इसमें शौचस्थानों से मैल की गाड़ियों में मल हटाते समय और मैले की गाड़ियों का मल खंदकों में भरते समय प्रत्यक्ष नरकवास का अनुभव हुआ करता है। इसके लिए अधिक धन की आवश्यकता नहीं होती तथा इसको कार्यान्वित करने के लिए शौचागार, गृहपरिवाह, प्रणाल इत्यादि की प्रतिष्ठापना की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए सब कस्बों और शहरों में यही पद्धति प्रचलित रही। स्वास्थ्य की दृष्टि से जल-बहाऊ पद्धति सर्वोत्तम है। इसको कार्यान्वित करने के लिए बहुत धन और जल तथा मोरी प्रणालों की प्रतिष्ठापना की आवश्यकता होती है। बहुत बड़े शहरों में इसके बिना मलनाशन का कार्य ठीक हो नहीं सकता। इसलिए यह पद्धति बडे-बडे शहरों में प्रयुक्त होती है और जहाँ पर जलप्रदाय अच्छा है वहाँ पर प्रचलित की जा रही है।

हाथ उठाऊ पद्धति

(Conservancy system)

इसमें भंगी शौच स्थानों से मल को बाल्टी इत्यादि से उठाकर और गाड़ियों में भरकर शहर के बाहर खदकों में भर देते हैं।

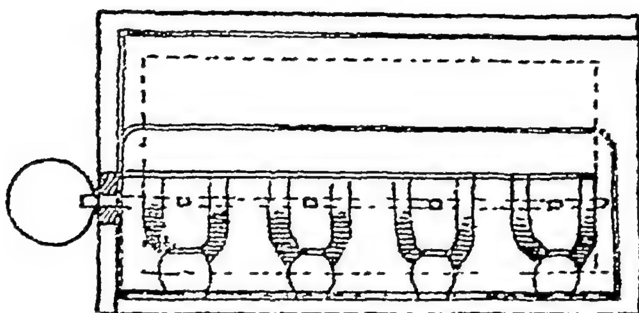
इसके लिए निम्न प्रकार के शौच स्थान काम मे लाए जाते हैं।

(१) स्वजनिक या निजी शौचागार (Privy)—निजी मकानों के लिए जो शौचस्थान बनाये जाते हैं वे स्वजनिक कहलाते हैं। इनकी रचना में निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए। शौच स्थान रहने के स्थान से भिन्न भाग में और कुएँ से तथा भोजनालय से काफी दूरी पर हो। छत के अतिरिक्त उसका प्रत्येक भाग चूना या सीमेंट जैसे अप्रवेश्य पदार्थ का हो। वह एक ऊँचे चबूतरे पर हो। उसका फर्श इस प्रकार ढलवाँ हो कि उस पर गिरा हुआ जल और मूत्र बहकर नीचे रखे हुए पात्र में पहुँच जावे। उसमें हवा और प्रकाश का उत्तम प्रबन्ध हो। उसमें मल और तरल के लिए स्वतन्त्र पात्र हो। ये पात्र लोहे के होकर हमेशा अलकतरे से पुते रहें। पीछे की ओर से एक खिड़की या द्वार हो जिससे उसकी सफाई की जा सके। इस द्वार पर किवाड़ हो जिससे बाहर वालों को यह स्थान

न दिखाई दे। बैठने का स्थान तथा तीन चार फूट तक की दीवाल चिकनी हो। पावदान फर्श से दो तीन इञ्च ऊँचे हों और उनके बीच में ८-९ इञ्च का अन्तर रहे। मल और मूत्र के पात्र बैठक से ३-४ फूट नीचे हों ताकि मलमूत्र के छींटे ऊपर न उड सकें। आज कल छींटे न उडने वाले प्रत्यास्फालक पात्र (Antisplash pails) भी मिलते हैं। मलमूत्र के लिए एक पात्र रखने से मल जल्दी सड़ने लगता है और दुर्गंध अधिक आती है। इसलिए दोनों के लिए पृथक् पात्र होना उचित है। पात्र रखने का स्थान पक्का कांक्रीट का बना हुआ, आसपास के भूमितल से कम से कम ६ इञ्च ऊँचा और पीछे की खिड़की की ओर ढलवाँ हो तथा उसके कोने अवश्य गोल हों। प्रतिदिन एक या दो वार मल को ले जाने का प्रबंध हो। यदि हो सके तो प्रतिदिन एक वार शौच स्थान को फेनाइल या अन्य जीवाणुनाशक और दुर्गन्धनाशक द्रव्य के घोल से धुलवा देना चाहिए। शौचस्थान के पास पानी का नल होना चाहिए।

(२) सार्वजनिक शौचागार—ये शौच स्थान सार्वजनिक स्थानों पर बनाए जाते हैं और इनका उपयोग प्रत्येक व्यक्ति वक्त जरूरत पर कर सकता है।

सार्वजनिक शौचागार



चित्र न० ८

ऐसे शौचस्थान पाठशाला, स्कूल, कालेज, बाजार, नाटक गृह, रेलवे स्टेशन और शहरों में गरीब लोगों के मुहल्लों में आवश्यक होते हैं। स्त्रियों और पुरुषों के लिए इनका अलग-अलग होना जरूरी है। ये दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी।

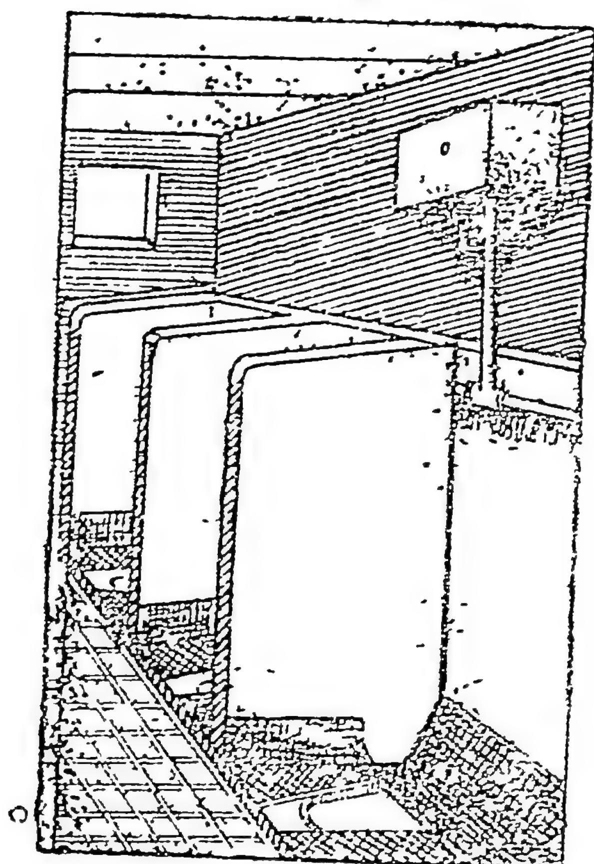
स्थायी (चित्र नं० ८)—इनका उपयोग उपर्युक्त स्थानों के लिए किया जाता है। ये शौच स्थान ईंटों के चबूतरे पर, जो कम से कम एक फुट ऊँचा हो, बनवाने चाहिएँ। इनकी बनावट लोहे की चादर की या ईंटों की हो सकती है। इनके भीतर भी हवा और प्रकाश का काफी प्रबंध होना चाहिए। मल और मूत्र के पात्र

का भी वैसा ही स्वतन्त्र प्रबन्ध होना चाहिए। इनमें अनेक व्यक्तियों के लिए अनेक स्थान होते हैं। जब इनकी संख्या बहुत होती है तब इनकी दो पंक्तियाँ बनाई जाती हैं जिनके द्वार विरुद्ध दिशाओं की ओर खुलते हैं और दोनों पंक्तियों के बीच में भंगी के जाने के लिए तीन फूट के लगभग अंतर रक्खा जाता है। इनके चारों ओर ईंटों का या चादर का अहाता हो और अहाते के भीतर पानी का नल भी हो। रात में इनमें प्रकाश के लिए बत्ती का प्रबंध होना जरूरी है, वरना लोगों के इतस्ततः मलत्याग करने का डर रहता है। प्रत्येक शौचस्थान के लिए एक स्वतन्त्र मेहतर तैनात करके उसके रहने का स्थान पास ही में होना चाहिए, जिससे दिन में जितनी बार आवश्यक हो उतनी बार उनकी सफाई की जा सके।

अस्थायी—इनकी आवश्यकता मेला, सैनिक शिबिर, निरोधन शिबिर (क्वारन्टीनकैम्प), थोड़े दिनों के लिए होनेवाली सभाएँ, सम्मेलन इत्यादि के लिए होती है। इनके बनाने में ईंट या चूने का उपयोग बिलकुल नहीं किया जाता। ये लोहे के चादर के इस प्रकार बनाए जाते हैं कि ये सहज में एक स्थान से दूसरे स्थान में हटाए जा सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर तह बना कर गोदाम में थोड़े स्थान में रक्खे जा सकते हैं। इनके पैरों के नीचे कुछ ईंटें रक्खी जाती हैं और मल पात्र जमीन पर ही रक्खा जाता है। कुछ समय के पश्चात् जब भूमि गन्दी हो जाती है तब इनको वहाँ से हटाकर दूसरे स्थान में पहले की तरह खड़ा कर देते हैं और पहले स्थान को खोद डालते हैं जिससे वायु और धूप की सहायता से वह स्थान स्वच्छ और निर्गन्ध हो जाता है। साधारणतया बरसात में एक मास और अन्य ऋतुओं में दो मास के पश्चात् इनका स्थानान्तर करना जरूरी है।

मूत्रागार (Urinals चित्र नं० ९)—सार्वजनिक शौचागारों के समान जनता की सुविधा के लिए पेशाबखानों की स्थान-स्थान पर आवश्यकता होती है। मूत्र से सम्बन्ध रखनेवाला भाग शीशा, चीनीमिट्टी या आकाचित मिट्टी के खपडेल इनका चिकना अप्रवेश्य स्वरूप का बनाया जाय। उसमें या तो निरन्तर पानी बहता रहे या समय-समय पर आप से आप जोर से उसका उद्धावन (Flush) होता रहे। देहातों में ये स्थान ऊँचाई पर बनाये जायँ और उनका मूत्र एक पात्र में इकट्ठा हो जो समय-समय पर वहाँ से उचित रीति से नष्ट किया जाय।

सार्वजनिक मूत्रागार



चित्र नं० ९

इनके अतिरिक्त निम्न अस्थायी शौचस्थानों का भी उपयोग प्रसंगवशात् विशिष्ट लोगों द्वारा विशिष्ट परिस्थिति में किया जाता है।

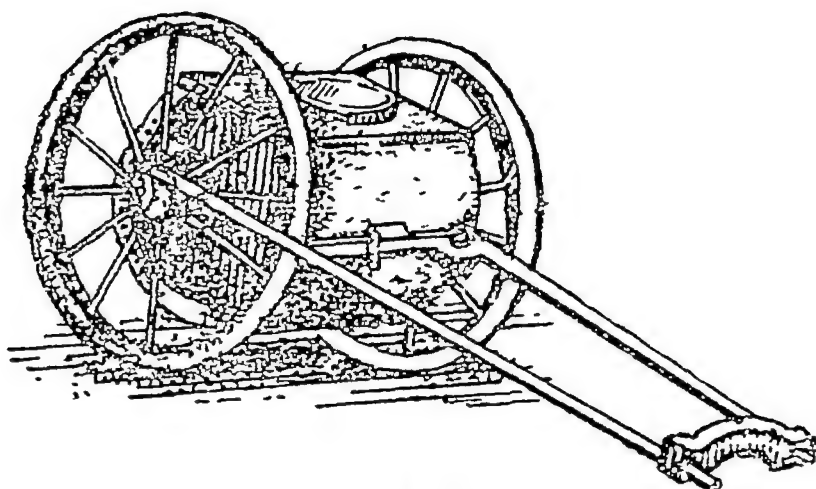
(३) शौचकोष्ठ (Commode)—इसका उपयोग मुख्यतया युरोपियन, अंग्रेज तथा अंग्रेजी फैशन के भारतीय करते हैं। इसमें लकड़ी या अयस् की मजबूत बड़ौची के तख्ते के बीच में चीनी मिट्टी का या आकाचित (Enamalled) कोष्ठ होता है और उस पर एक ढक्कन होता है। यह सुख-वाह्य शौच स्थान है जो जहाँ चाहे वहाँ रख सकते हैं तथा शौच से निपटने के पश्चात् जो हटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि मेहतर का प्रबन्ध हो तो तुरन्त और आसानी से साफ किया जा सकता है। इसलिए वृद्धों, दुर्बलों, रोगियों के लिए तथा जहाँ पर शौचस्थान नहीं हैं ऐसे स्थानों में इसका उपयोग करना ठीक है। परन्तु निरन्तर इसका उपयोग करना हितकर (पृष्ठ १७४) नहीं है।

(४) पात्र शौचागार (Receptacle latrine)—यह भी शौचकोष्ठ के समान सुखवाह्य होता है। इसमें एक बालटी पर बैठक लगायी जाती है और उस पर आप से आप लगनेवाला ढक्कन होता है। इसका भी उपयोग उसी के समान होता है।

(५) रासायनिक शौचकुण्ड (Chemical closet)—इसमें एक टंकी में दह विक्षार (Caustic soda) और दर्शव (Phenol) का घोल भरा रहता है। इस घोल के ऊपर आम तेल (Crude oil) छोड़ा जाता है। विक्षार मल को गलाता है, दर्शव जीवाणु नाशन करता है और तेल दुर्गन्ध को रोकता है। इसका उपयोग जहाँ से मल पात्र शीघ्रता से नहीं हटाया जा सकता ऐसे विमान, नाव, मोटर इत्यादि स्थानों के लिए किया जाता है।

मल को एकत्र करना—इन शौच स्थानों से मैला भंगियों द्वारा हटाया जाता है। शौच स्थानों से भंगी मैले को मैले की गाड़ी (चित्र नं० १०) में भर देते हैं और वह गाड़ी मल को नगर के बाहर ले जाती है। यह कार्य इस प्रकार से

मैले की गाडी



चित्र न० १०

होना चाहिए कि उससे किसी प्रकार की दुर्गन्ध न फैलने पावे, न मल किसी व्यक्ति को दिखाई दे, न कहीं मल गिरने पावे। परन्तु व्यवहार में मल हटाने का कार्य बहुत लापरवाही से किया जाता है जिसमे मल हटाते समय दुर्गन्ध, मक्खियों की भिनभिनाहट, स्थान-स्थान पर मल का गिरना इत्यादि स्वास्थ्यनाशक और घृणाजनक घटनाएँ हुआ करती हैं। इसका कारण यह है कि शौच स्थानों के खुले

पात्रों से मल की गाड़ियों में मल डालना पड़ता है। इसकी अपेक्षा शौच स्थानों में ढकनेदार पात्र रखना प्रशस्त है जो मल से भरने के बाद ढकने से अच्छी तरह वन्द करके वैसे ही गाड़ी में रक्खे जा सकते हैं। इस प्रकार की गाड़ी को पात्रगाड़ी (Receptacle cart) कहते हैं। बड़े-बड़े शहरों में आजकल पात्रगाड़ियों के बदले पात्रमोटरें होती हैं जिनमें एक सौ तक पात्र रक्खे जा सकते हैं। शौच स्थानों से मल को हटाने का और शहर के बाहर ले जाने का कार्य रात्रि के अन्तिम प्रहर में या दोपहर में करना चाहिए। मल को हटाने के काम में प्रयुक्त हुए पात्रों को तथा गाड़ियों को काम समाप्त होने पर प्रतिदिन भीतर बाहर से साफ धोना चाहिए और उन पर पेस्टेरिंन छोड़ना चाहिए जिससे मक्खियाँ उन पर न भिन-भिनाया करें तथा महीने में एक बार उनको अलकतरे से पोतना चाहिए जिससे वे जल्दी न विगड़ जायँ।

मैले का विनियोग (Disposal)

इस प्रकार गाड़ियों द्वारा एकत्र किया हुआ मल शहर के बाहर एक निर्दिष्ट स्थान तक ले जाकर उसका विनियोग इस प्रकार करना चाहिए कि उससे सार्वजनिक स्वास्थ्य को हानि न पहुँच सके। यह कार्य निम्न पद्धतियों से किया जाता है।

(१) खात पूरण (Trenching)—जिस जमीन में मल गाड़ा जाता है उसको खात-भूमि (Trenching ground) कहते हैं। खात पूरण मैले का विनियोग करने की जैविक (Biological) पद्धति है और उष्ण कटिवन्ध में इसका प्रयोग मल नाशन के लिए बहुत किया जाता है। अतः वह काम में कैसे लायी जाय इसकी सर्वोत्तम पद्धति की जानकारी आवश्यक है।

स्थान—इसके लिए स्थान शहर से बाहर आधे मील की दूरी पर उस दिशा में हो जहाँ से वायुप्रवाह नगर की ओर हमेशा न वहता हो तथा जिस तरफ नगर के बढ़ने की संभावना न हो। यह स्थान शहर के पानी पीने के जलाशय से दूर और ऊँचाई पर स्थित हो, जिससे वर्षा में वहाँ पर पानी इकट्ठा न होने पावे तथा उससे जलाशय दूषित न होने पावे। इसके किनारे पर ऊँचे वृक्ष लगाने चाहिएँ। शहर से वहाँ तक जाने के लिए पक्की सड़क होनी चाहिए। उस स्थान के पास पात्रादि को धोने के लिए पानी का और उनको रखने के लिए तथा भंगियों के रहने के लिए मकान का प्रबन्ध हो।

खात भूमि—खात भूमि हलकी छिद्री और वालुकायुक्त उत्तम होती है। चिकनी भूमि ठीक नहीं होती। भूमि के ऊपर के हिस्से में जो जीवाणु

होते हैं वे मल को मिट्टी के साथ मिला देते हैं। इसलिए मल बहुत गहरा भी न गाड़ना चाहिए। खात भूमि के लिए जमीन काफी लम्बी और चौड़ी होनी चाहिए जो शहर के लिए तीन साल तक बिना दो बार प्रयोग किए काम में आ सके। इस भूमि के तीन भाग करके एक भाग एक साल के लिए काम में लाया जाता है। तीन साल के पश्चात् प्रत्येक भाग का उपयोग दूसरी बार मल छोडने के लिए किया जाता है। दो साल तक उस भूमि में घास, ईख, तमाखू इत्यादि की खेती की जाती है। भूमि में छोडे हुए मैले का अच्छा विनियोग होने की दृष्टि से खेती करना अत्यन्त आवश्यक है। खेती न करने से वह भूमि फिर से खातपूरण के लिए अयोग्य हो जाती है। इसके विपरीत यदि खेती और खातपूरण इस प्रकार भूमि का बराबर उपयोग किया जाय तो वह भूमि उत्तरोत्तर खातपूरण के लिए अधिक पक्व (Ripens) हो जाती है और पहिले की अपेक्षा मैले का नाश अधिक शीघ्रता से किया करती है।

पद्धति—ऐसी भूमि में छः छः फूट के अन्तर पर डेढ़ फूट चौड़ी, एक से डेढ़ फूट गहरी, २०–३० फूट लम्बी खाइयाँ बनानी चाहिएँ। अधिक गहरी खाइयों में (Deep trenching) जीवाणु न होने से मैले का नाश ठीक नहीं हो पाता तथा खेती के लिए मैले के खाद का उपयोग न होने से भूमि यथापूर्व नहीं होती। इसके विपरीत केवल छः इञ्च की उथली खाई रखने से मैला सूखकर उसकी धूलि हवा के साथ फैलकर हानि हो सकती है। उपर्युक्त मध्यम गहराई की खाइयों में वर्षा ऋतु में चौथाई गहराई तक और गरमियों में तिहाई मल भर दिया जाता है और उसके बाद उसके ऊपर खाई में से निकली हुई पूरी मिट्टी ठोंक पीट करके भर दी जाती है जिससे वह खाई के किनारों से कुछ ऊँची रहे। इस मर्यादा से अधिक मल भरने से और मिट्टी कम छोडने से मल और उसका जलांश ऊपर निकल आता है और दुर्गन्ध तथा मक्खियाँ उत्पन्न होती है। इसलिए मल भरने में और मिट्टी छोडने में देख-भाल और सावधानी की आवश्यकता होती है। मल भरने का काम भूमि के एक ओर से प्रारम्भ करके क्रमशः दूसरी ओर होना चाहिए। मल भरने के तीन मास के पश्चात् भूमि में खेती प्रारम्भ करनी चाहिए।

(२) भस्मीकरण (Incineration)—जनता के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह विधि खाई में मल भरने की अपेक्षा उत्तम है। इसमें भूमिगत जल या हवा खराब होने का डर नहीं रहता। दहन के लिए विशेष प्रकार के भट्ठे (Incinerators) होते हैं। इसमें मल के साथ लकडी का बुरादा, उसकी छीलन,

शुष्क घास फूस या पत्तियाँ, तिनके, कोयले का चूर, सूखा कूड़ा इत्यादि पदार्थ मिलाकर उसको जलाया जाता है। मल का पूर्ण दहन होने के लिए इन पदार्थों का पर्याप्त मात्रा में मल के साथ अच्छी तरह मिलना बहुत आवश्यक होता है। इस काम के लिए भंगियों की देख-भाल करने की आवश्यकता होती है। बरसात के दिनों में ईंधन रखने के लिए विशेष प्रबन्ध करना चाहिए। इस विधि से उत्तम काम होने के लिए उत्तम भट्ठे, पर्याप्त राशि में ज्वलनोपयोगी पदार्थों का मिलना और भंगियों की देख-रेख इन तीन बातों की आवश्यकता होती है। ज्वलनोपयोगी कूड़ा पर्याप्त न होने पर अतिरिक्त ईंधन मिलाना पड़ता है। इसके कारण यह पद्धति खर्चीली होती है।

(२) कूड़ा मिश्रण या संखादन—इसमें मल के साथ चार-पाँच गुना पानी मिलाकर उसका घोल खाइयों में भरे हुए कूड़े पर डाला जाता है। इससे भूमिगत वातपी (Aerobic) तृणाणु कूड़े को तेजी से मिट्टी के साथ मिलाने का काम करते हैं, क्योंकि उनको मल के पानी से जलांश तथा भूयाति और अन्य खाद्य द्रव्यों की खोराक मिलती है। मैले के पानी से कूड़ा बराबर गीला रक्खा जाता है। इसके लिए प्रारम्भ में १५ दिन तक मैले का पानी बराबर कूड़े के ऊपर छोड़ा जाता है। इसके पश्चात् एक-एक दो-दो दिन छोड़कर छोड़ा जाता है। इसका उद्देश्य कूड़े को तर रखना होता है। इससे १-२ मास में कूड़ा सड़कर खाद बन जाता है। इस खाद का उपयोग खेती के लिये कर सकते हैं। नया कूड़ा सड़ाने के लिये उसमें इस खाद का थोड़ा सा भाग मिलाया जाता है। इससे खाद बनाने का कार्य तेजी से होता है। इसमे लाभ यह होता है कि कूड़ा और मैला दोनों का विनियोग एक ही में होकर जो खाद बनती है उससे इस पद्धति को काम में लाने के लिए जो खर्च होता है उससे अधिक आमदनी होती है। संक्षेप में यह अर्थकरी पद्धति है।

हाथ उठाऊ विधि के दोष—(१) इस विधि में पेशाबखाना, स्नानगृह इत्यादि के मलिनोदक (Sullage) का स्वतन्त्र प्रबन्ध करना पड़ता है। (२) काम को चलाने के लिए असंख्य भंगी, गाड़ियाँ, मल-पात्र, बैल इत्यादि को रखना पड़ता है जिससे चालू खर्चा (Running expences) बहुत अधिक होता है। (३) बहुत बड़े शहरों में इस विधि से ठीक सफाई रखना असम्भव होता है। (४) मल का हरण शीघ्र न होने के कारण शौच स्थानों में मल सड़ता है और दुर्गन्ध पैदा होती है। (५) शौच स्थानों के पात्रों से गाड़ी में मल डालते समय दुर्गन्ध पैदा होती है और मल स्थान-स्थान पर गिरता है जिससे वायुमण्डल

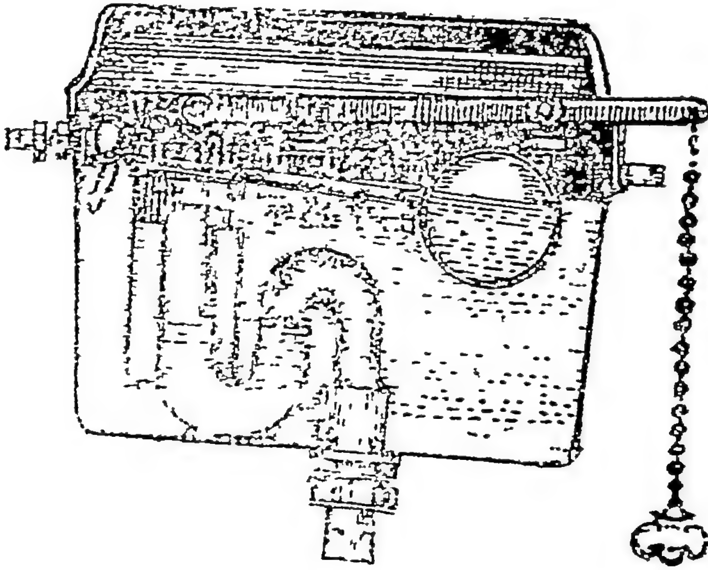
खराब हो जाता है और मक्खियों के द्वारा मल से फैलनेवाले रोगों का प्रसार हो जाता है। खात भूमि का प्रबन्ध ठीक न किया जाय तो उससे भी मक्खियाँ उत्पन्न होती हैं और भूमिगत जल खराब हो सकता है (६) आजकल के दिनों में भंगियों का नियन्त्रण करना कठिन हो गया है और उनकी लापरवाही से या हड़ताल से स्वास्थ्य का नाश होने की संभावना अधिकाधिक हो रही है। संक्षेप में इस पद्धति में मल के द्वारा फैलनेवाले रोगों का प्रसार कम होने की बहुत कम आशा की जा सकती है।

मलिनोदक का विनियोग

मकानों के भीतर का सब गन्दा, बेकार, अनुपयुक्त पानी जिसमें ठोस मल नहीं मिला रहता मलिनोदक (Sullage) कहलाता है। जब उसमें ठोस मल भी मिला रहता है तब उसको मलोदक (Sewage) कहते हैं। हाथ उठाऊ पद्धति में इस जल के विनियोग का स्वतन्त्र प्रबन्ध करना पडता है। उचित प्रबन्ध न करने से यह जल सड़कों पर फैलता है, स्थान-स्थान पर इक्ट्ठा होता है, दुर्गंध पैदा करता है, मच्छर मक्खियों की उत्पत्ति का स्थान बनता है और जमीन में रसकर आस पास के पीने के पानी को दूषित कर सकता है। अतः इसका उचित प्रबन्ध होना जरूरी है। जहाँ पर पानी की कमी रहती है, पानी दूर से लाना पडता है या कूँए से खींच कर निकालना पड़ता है वहाँ पर पानी की फजूल खर्ची नहीं होती और मलिनोदक की राशि कम रहती है परन्तु जहाँ पर जल प्रदाय (Water Supply) की टोंटियाँ घर में पहुँचती है वहाँ पर पानी की फजूल खर्ची शुरू होकर मलिनोदक के उपद्रव बढते है। अतः मलिनोदक के विनियोग का उचित प्रबन्ध किये विना कहीं भी जल प्रदाय का प्रबन्ध न करना चाहिए या यों कह सकते है कि उसका उचित प्रबन्ध करने के पश्चात् जलप्रदाय प्रारम्भ करना चाहिए। भारतवर्ष में इस बात पर ध्यान न देकर अनेक नगरों और कस्बों में जलप्रदाय शुरू किये गये है जिसके फलस्वरूप उन स्थानों में गंदगी, मच्छर, जूड़ी बुखार इत्यादि उपद्रव पहिले की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ गये हैं।

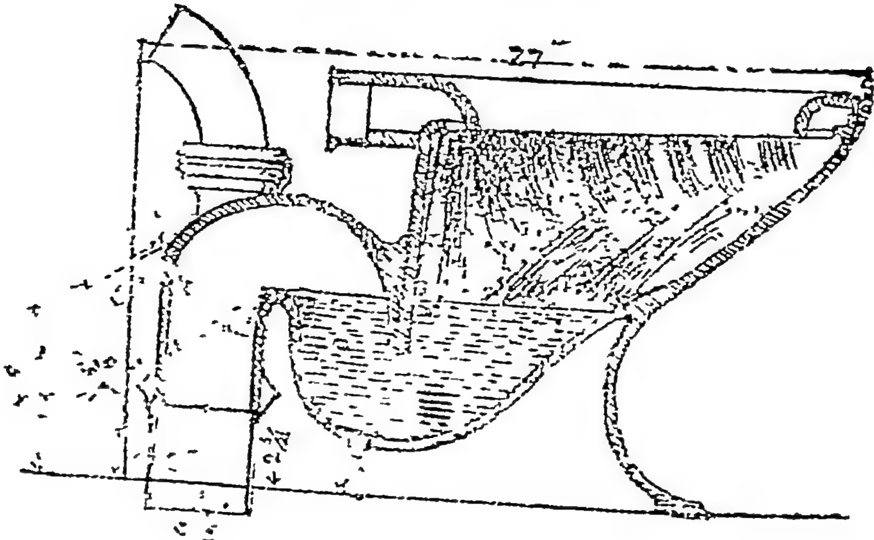
मलिनोदक के लिए पक्की नालियाँ होनी चाहिएँ और उनसे इकट्ठा हुआ गन्दा पानी खेती के लिए या खुले स्थान पर सींचने के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। जहाँ पर नालियाँ नहीं हैं वहाँ पर मकानों के पास टंकियाँ बनायी जाँय और उनका पानी गाडियों में भर कर उपर्युक्त कामों के लिए प्रयुक्त किया जाय। इन नालियों में बहाव जोर का न होने से कीचड जगह-जगह इकट्ठा होकर प्रवाह में

जलोद्धावनसाधित्र (Flushing apparatus)



चित्र नं० ११

निधावन शौचकुण्ड (Washdown closet)



चित्र नं० १२

बाधा डालती है। अतः प्रति दिन इन नालियों की सफाई झाडू से तथा पानी से होनी चाहिए।

जल बहाऊ पद्धति

(Water carriage system)

इस पद्धति में शौच स्थान विशेष प्रकार से बनाये जाते है। ये स्थान पहले की तरह मुख्य निवास स्थान से दूर ही बनाने चाहिएँ, परन्तु यदि उनकी रचना ठीक हो तो मकान के पास रखने से भी उनसे कोई खराबी या तकलीफ नहीं हो सकती। ये स्थान भी अप्रवेश्य पदार्थ के अधिकतर चीनी मिट्टी के खपड़ेल (Tiles) के बनाये जाते हैं। फर्श के मध्य में शौच कुण्ड होता है और चारों ओर की फर्श कुण्ड की ओर ढालू होती है। जल बहाऊ पद्धति के शौचस्थान को जल शौचागार कहते हैं। गृहान्तर्गत संपूर्ण जल बहाऊ अधिष्ठापन के लिए चित्र १७ देखिए।

(१) जल शौचागार (Water closet)—ये मनुष्यों के शौच के लिए बनाये हुए स्वास्थ्यप्रद अधिष्ठापन (Sanitary installation) होते हैं जो एक ओर गृहपरिवाहों और मल नलिकाओं द्वारा मल प्रणालों से जोड़े रहते हैं और दूसरी ओर जलोद्धावन टकियों के साथ जिसके जल के द्वारा उनका मल मलप्रणालों मे बहाया जाता है। इस जल शौचागार के निम्न अग होते है—

उद्धावन साधित्र—(चित्र न० ११) यह लोहे की टकी होती है जो दीवाल में ४-५ फूट ऊँचाई पर लगी रहती है। इसमें १०-१५ सेर पानी रहता है। इसका सम्बन्ध एक मार्ग से मकान के नल के साथ या पानी की बड़ी टकी के साथ होता है और दूसरे मार्ग से इसका सम्बन्ध १¼-१½ इञ्च व्यास को नलिका द्वारा मलपात्र के साथ होता है। पानी आने का नल इस प्रकार टंकी से मिला रहता है कि टकी भर जाने पर पानी का आना आप से आप बन्द हो जाय। टंकी के ऊपर ढक्कन रहता है और इस ढक्कन के साथ जजीर लगी रहती है जिसको खींचने से टंकी का सारा जल जोर के साथ मलपात्र के किनारे से तथा पीछे से वहता है। मल त्याग करने के पश्चात् प्रत्येक समय जजीर को खींचकर मल को प्रवाहित करना चाहिए। सार्वजनिक शौच स्थानों में टंकी का प्रवन्ध इस प्रकार का होता है कि समय-समय पर आप से आप जल बहता रहता है, जल बहाने के लिए किसी व्यक्ति को जजीर खींचने की आवश्यकता नहीं होती।

शौच कुण्ड (Closet)—ये चीनी मिट्टी के होते हैं। इनका ऊपर का हिस्सा चौड़ा और नीचे का तंग होता है। नीचे की वनावट इस प्रकार की होती है कि उसमें एक मर्यादा तक पानी भरा रहता है और इसी में मल गिरता है और

ऊपर की टंकी से जो जल आता है वह मल को बहा देता है। ये कुण्ड कई प्रकार के होते हैं (जैसे, Valve closet, siphonic closet, washout closet wash down closet, Trough closet)। इनमें निधावन शौचकुण्ड (चित्र नं० १२) सर्वोत्तम है और उसी का ही अधिक उपयोग किया जाता है। कुण्ड चाहे जिस प्रकार का हो उसके पीछे की दीवाल खड़ी (Vertical) हो जिससे मल सीधा कुण्ड के पानी में गिरे और उसके किनारे से पानी का उद्धावन (Rim flush) हो। शौच कुण्ड कितना भी अच्छा क्यों न हो उसको समय-समय पर माँज कर साफ रखना चाहिए।

द्रोणी शौच कुण्ड (चित्र नं० १३)—ये शौचागार कारागृह, रुग्णालय, विद्यालय इत्यादि के लिए बहुत उपयुक्त होते हैं क्योंकि एक समय पर इसका उपयोग अनेक व्यक्ति कर सकते हैं, ये सस्ते पड़ते हैं तथा जल्दी बिगड़ते नहीं और थोड़े पानी में साफ हो जाते हैं। इसमें अनेक शौचकुण्ड एक दूसरे से पृथक्-पृथक् ढालू जमीन पर बनाये हुए लम्बी द्रोणी (Trough) पर लगाये रहते हैं और द्रोणी के नीचे के मुख पर एक वार (बांध Weir) लगा रहता है जिसमें उसमें बराबर पानी भरा रहता है और एक ही जलोद्धावन टंकी से सब मैला बहाया जाता है।

पाश (Trap)—इनके कारण मलपात्र के नीचे के हिस्से में पानी भरा रहता है। इनका आकार अंग्रेजी एस् या पी (चित्र नं० १६) के समान हुआ करता है और उनमें हमेशा जल भरा रहता है, जल के कारण मल नलिका के खराब वायु जलपात्र में याने पर्याय से घर में नहीं आ सकते। पाश को उचित रूप से रखकर पानी से भरने पर पानी के पृष्ठ भाग में और पाश के मोड़ के ऊपर के पृष्ठ भाग के अत्यन्त निम्न स्थान में जो अन्तर होता है उसे जलमुद्रा (Water seal चित्र नं० १६ में दो रेखाओं के बीच का अन्तर) कहते हैं। पाश का कार्य इसी जल मुद्रा पर निर्भर होता है। इस जल मुद्रा की मोटाई ढाई इञ्च से कम कदापि न होनी चाहिए। ये पाश शौच कुण्ड और मलनलिका के बीच में, पेशावखाना और स्नान गृह इनके और गृहपरिवाह के बीच में तथा गृहपरिवाह और सड़कों के बीच में रक्खे जाते हैं।

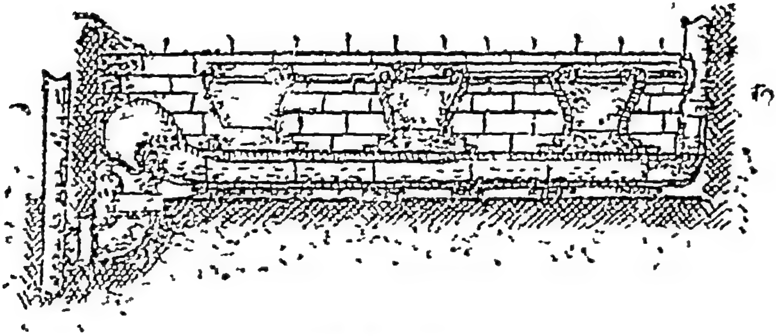
(२) मलनलिका (Soilpipes)—यह वह नलिका है जो मल को मलपात्र से गृहपरिवाह तक ले जाती है। यह नलिका लोहे की या सीसे की गोल आकार की होती है। इसका व्यास चार इञ्च का होना चाहिए और इसको मकान की बाहरी दिवाल पर कीलों द्वारा लगाना चाहिए। यदि हो सके तो इनको मकान की उस दिशा में लगाना चाहिए जहाँ पर धूप कम आती हो या इनके ऊपर लकड़ी का आवरण बनाकर लगाना चाहिए जिससे धूप के द्वारा इनके जोड़ खराब न

होने पावें। इनका ऊपरी सिरा मकान के छत से ६-८ फूट ऊँचा रहे और उसके ऊपर लोहे की जाली लगा दी जाय जिससे पत्ती भीतर प्रवेश न कर सकें। इनका नीचे का सिरा गृहपरिवाह के साथ बिना पाश के मिलाया जाय जिससे शौचकुण्ड का मलोदक बिना रोक टोक के बह जा सके। (चित्र १७ में नं० २ देखिए)

प्रतिनिनाल नलिका (Antisiphon tube)—जब मकान में कई खण्ड होते हैं और प्रत्येक मञ्जिल पर शौचस्थान होते हैं तब वे शौचस्थान एक ही मल नलिका के साथ जोड़ दिये जाते हैं। जब ऊपर शौचस्थान से पानी वेग के साथ नीचे को बहता है तब मध्य में होने वाले शौचस्थानों से पाशों का पानी भी नीचे की ओर खींचा जाता है और पाश निष्क्रिय हो जाते हैं जिससे मकान के भीतर दूषित वायु का प्रवेश होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए दो ढाई इञ्च व्यास की नलिका मलनलिका की भांति दीवाल के साथ उसी के पास लगायी जाती है। इसका नीचे का सिरा नीचे के मलपात्र के पास के तनिक आगे जोड़ दिया जाता है और इसी प्रकार से प्रत्येक मञ्जिल का पाश नलिका द्वारा इससे जोड़ दिया जाता है। इसका ऊपर का सिरा छत के पास मलनलिका में ही जोड दिया जाता है। इसको प्रतिनिनाल नलिका कहते हैं। इसके होने से पाश के कार्य में कोई बाधा नहीं हो सकती। (चित्र नं० १७ में नं० ३ में देखिए)

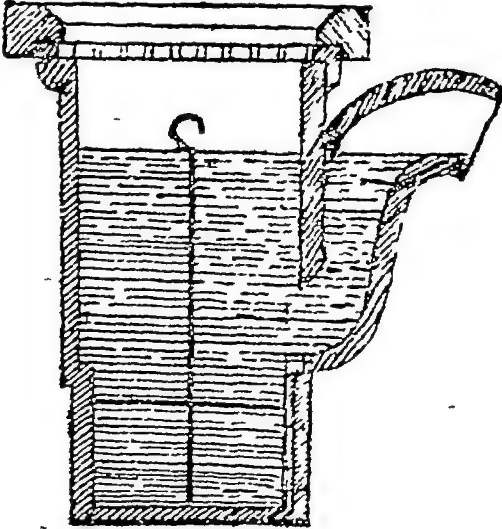
(३) गृह परिवाह (House drain)—यह वह नल है जिसमें से होकर मलमूत्र, सारे मकान का खराब जल तथा वर्षा जल सड़कों के प्रणाल में जाता है। ये नल चीनी मिट्टी या लोहे के होते है। जहाँ तक हो सके ये नल मकान के भीतर सीधे रेखा में लगाये जायें और जहाँ पर दिशा बदलने की आवश्यकता हो वहाँ पर गोल कोन लगाया जाय या निरीक्षण कोटरी बनायी जाय। जहाँ पर इसके साथ दूसरा नल मिले वहाँ पर वह इस प्रकार जोडा जाय कि दोनों नल अंग्रेजी वाय (Y) के समान मिले। इससे परिवाहगत जल के प्रवाह में बाधा उत्पन्न नही होती। इनका व्यास आवश्यकता के अनुसार ४-६ इञ्च रखना चाहिए और ढाल व्यास के दसगुना, याने ४ इंच व्यास के नल के लिए ४० इंच में एक इंच के प्रमाण में, होना चाहिए। ये नल छः इंच कांक्रीट के पीठ की ऊपर बिछाने चाहिएँ जिससे जमीन के धँस जाने से या इनके ऊपर भार पड़ने से कोई खराबी न हो सके। जहाँ तक हो सके दीवाल के नीचे इनको न बनाना चाहिए, किन्तु यदि बनाना पड़े तो इनके चारों ओर छ इञ्च का कांक्रीट करना चाहिए। गृह परिवाह और प्रणाल के बीच में पाश रखना चाहिए जिससे प्रणाल का वायु परिवाह मे न आ सके। इसके साथ-साथ परिवाह में शुद्ध वायु का भी

द्रोणी शौचकुण्ड (Trough water closet)



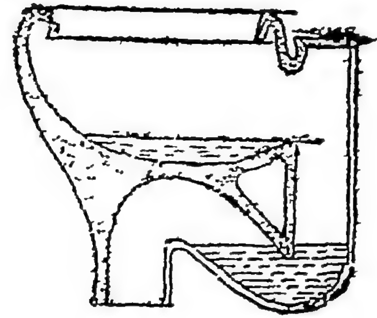
चित्र नं० १३

अंगणजलपाश (Gully trap)



चित्र नं० १४

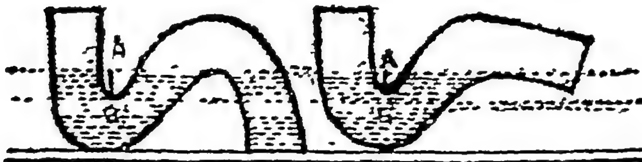
अपधावन शौचकुण्ड
(Washout closet)



चित्र नं० १५

पाश (Traps)

एस्. आकारका पी. आकारका



चित्र नं० १६

प्रबन्ध करना चाहिए। यह प्रबन्ध विशेष प्रकार की अभ्रक कपाट पेटिका (Mica valve box) पाश के पास लगाकर किया जाता है, जिससे केवल शुद्ध हवा भीतर जा सकती है परन्तु भीतर की खराब हवा बाहर नहीं आ सकती। परिवाह के भीतर आयी हुई हवा मलनलिका के ऊपर के सिरे से मकानों के ऊपर बाहर निकलती है। चित्र नं० १७ में देखिए।

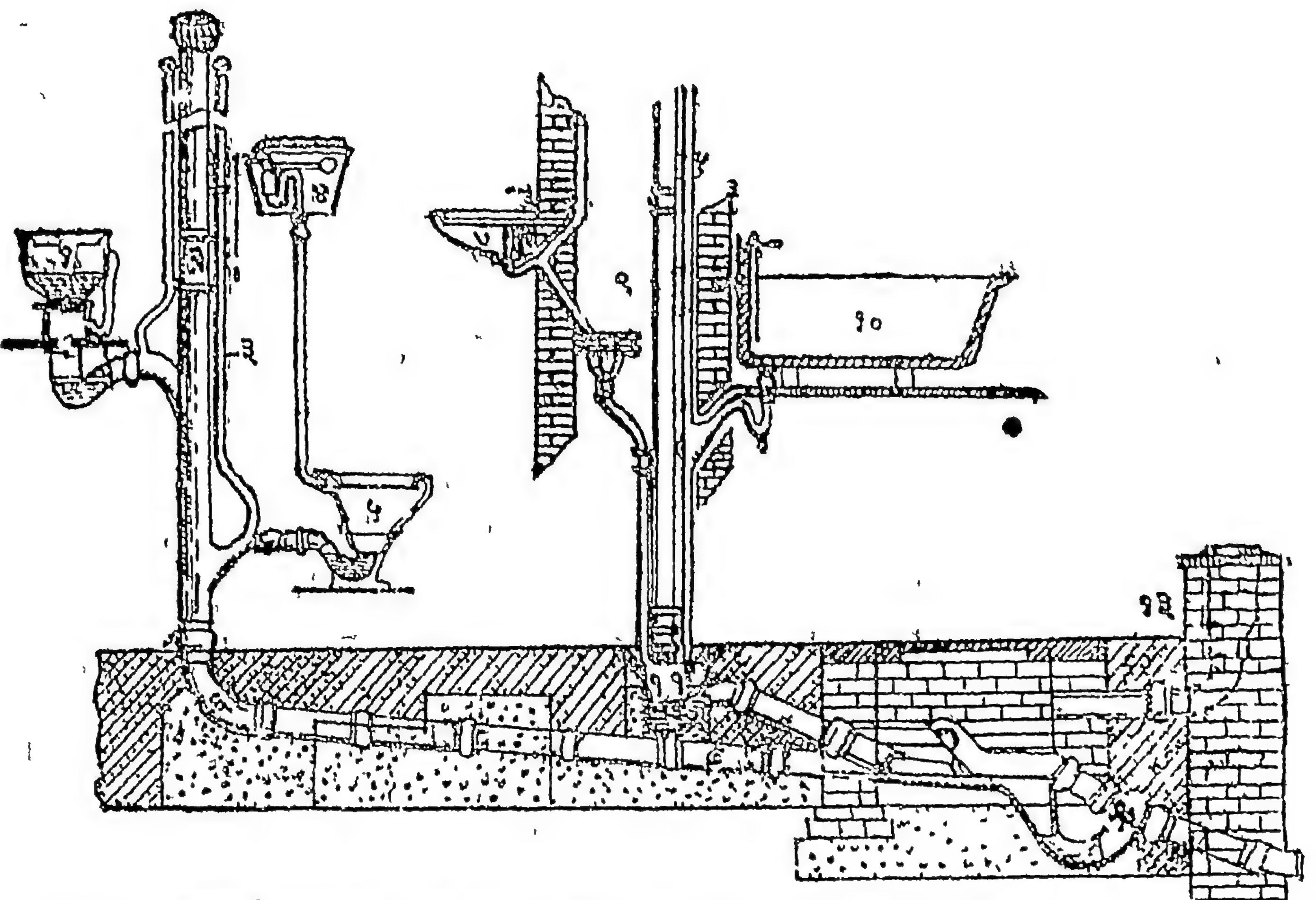
शौचकुण्ड से लेकर सड़क के प्रणाल तक की नलियों के जोड़ जलवन्द और हवाबन्द (Water-tight and air-tight) होने चाहिएँ। इसके सम्बन्ध की परीक्षा जल कसौटी (Hydrostatic test), धूम कसौटी (Smoke test) रासायनिक तैल कसौटी (Chemical test) और वायु कसौटी (Pneumatic test) इनके द्वारा की जाती है। अगर कहीं पर कोई जोड़ चूता हो तो उसका पता इनके द्वारा लग जाता है।

अंगण जलपाश (Gully trap चित्र नं० १४)—यह पाश अंगण में लगाया जाता है जहाँ से अंगण का बरसात का या अन्य खराब पानी प्रणाल के साथ मिलता है। दीवाल से यह फूटभर दूरी पर रहता है। इसके ऊपर जालीदार ढकना रहता है और भीतर इकट्ठा होनेवाले कंकड़ कीचड़ इत्यादि को निकालने के लिए उसके तली में एक पात्र रहता है जो भर जाने पर ऊपर मध्यवर्ति अँकुडी से निकाला जाता है।

मलप्रणाल (Sewars)—गुरुत्वाकर्षण के बल पर जिन भूमिगत प्रणालों में वर्षाजल, मोरीपरनाले का मलिनोदक तथा पाखाना, पेशावखाने का मलोदक (Sewage) एक साथ बहाया जाता है उनको मलप्रणाल कहते हैं और मलोदक बहाने की इस पद्धति को संयुक्त पद्धति (Combined system) कहते हैं। जब मकानों के स्नान गृहादि का तथा वर्षा का मलिनोदक स्वतन्त्र प्रणालों से और पाखानों का मलोदक दूसरे प्रणालों से बहाया जाता है तब उसको पृथक् (Separate) पद्धति कहते हैं। मलिनोदक के प्रणाल सीधे नदी में छोड़ दिये जाते हैं परन्तु मलोदकवाह से इकट्ठा हुआ जल नीचे बतायी हुई पद्धतियों से विनियुक्त किया जाता है।

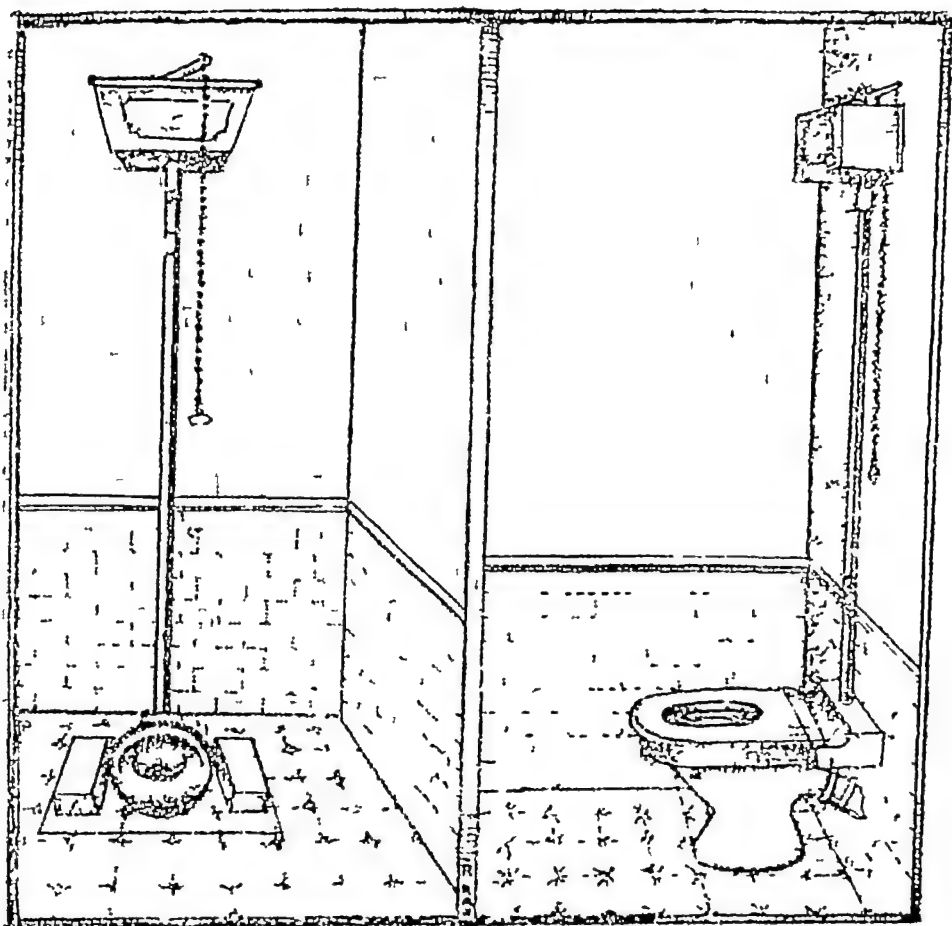
स्वतन्त्र पद्धति के लाभालाभ—(१) मलप्रणाल छोटे रख सकते हैं और उनका उद्धावन (Flushing) आसानी से हो जाता है।

(२) मलोदक राशि में कम और संघटन में एक सा होने से उसका शुद्धिकरण और उपयोगीकरण आसानी से कर सकते हैं।



चित्र नं० १७, **सम्पूर्ण गृहपरिवाह का चित्र**—१ और ५ शौचकुण्ड, २ मलनलिका, ३ प्रतिनिनाल नलिका, ४ जलोद्धावन टंकी, ६ गृहपरिवाह पक्के कांक्रीट पर जमाया हुआ, ९ बरसाती पानी की नलिका, ८ हाथ मुँह धोने का पात्र, १० स्नान द्रोणी, ११ अंगणजल पाश, १२ गृहपरिवाह और मलप्रणाल के बीच का पाश।

चित्र न० १८, जल शौचागार



भारतीयपद्धनिका पाश्चात्यपद्धनिका

(३) किसी नगर की आबादी के आधार पर प्रति व्यक्ति दिये हुये जल से मलोदक की राशि का अनुमान कर सकते हैं।

(४) संयुक्त पद्धति से अल्पव्ययी होती है।

(५) दो स्वतन्त्र नालियों की आवश्यकता होती है और गलती से जोडते समय गलत सम्बन्ध हो सकता है।

(६) मलिनोदक और वर्षोदक से प्रणालों का जो उद्धावन हो सकता है उसका लाभ नही मिलता है।

१८ इञ्च व्यास तक के प्रणाल आकार में गोल लोहे के या चीनी मिट्टी के या सीमेण्ट कांक्रीट के होते हैं। बड़े प्रणाल आकार में नोकीला भाग नीचे करके खड़े किये हुये अण्डे की तरह होते हैं और ईंट और सीमेण्ट से बनाये जाते हैं। प्रणाल के नीचे सीमेंट कांक्रीट की पक्की तह बिछानी चाहिए और ये जहाँ तक हो सके सरल रेखा में होने चाहिएँ। जहाँ पर दिशा बदलने की आवश्यकता हो वहाँ पर गोल मोड़ या निरीक्षण वेश्म बनाये जायँ। इनमें ढाल भी काफी रखना चाहिए। ५ फुट व्यास के प्रणाल में प्रति मील लम्बाई मे ४ फुट ढाल होना चाहिए। १० फूट व्यास के प्रणाल के लिए ढाल प्रति मील २ फुट का होना चाहिए। इन प्रणालों के साथ घर के नल या अन्य प्रणाल इस प्रकार जोड़ने चाहिएँ कि दोनों अंग्रेजी वाय (Y) के समान मिल जायँ।

(५) निरीक्षण वेश्म—परनालों की देखभाल करने के लिए स्थान-स्थान पर पक्की कोठरियाँ बनायी जाती है जिनमें मनुष्य उतर कर नालियों को देखा करते हैं। ये कोठरियाँ इसलिए निरीक्षण वेश्म या मनुष्य विवर (Inspection chamber or manhole) कहलाती हैं। छोटे प्रणाल बड़े प्रणाल के साथ प्रायः इसी स्थान पर जोड़ दिये जाते हैं। इसी कोठरी के फर्श के बीच में नाली होती है जिसके दोनों ओर की भूमि ढलवाँ होती है। इसी कोठरी के छत में भीतर जाने के लिए द्वार होता है जो लोहे के ढकने से बन्द रहता है। ऊपर से नीचे उतरने के लिए कोठरी की दीवाल में लोहे की सीढ़ी लगायी जाती है जिसके द्वारा मजदूर नीचे उतरते हैं।

मलप्रणालों की सफाई—प्रणालों में ढाल बहुत कम होने के कारण तथा पानी का बहाव मन्द होने के कारण स्थान-स्थान पर उनके अवरुद्ध होने की संभावना होती है। यह अवस्था विशेष करके गर्मियों में अधिक होती है। इसलिए प्रणालों को स्वच्छ करने की आवश्यकता होती है। यह प्रबन्ध साधारणतया दो प्रकार से किया जाता है। कभी-कभी निरीक्षण कोठरी से जाने वाले प्रणाल के मुखपर किवाड़ लगाकर मुख बन्द किया जाता है जिससे कोठरी में जल इकट्ठा होने लगता है। जब काफी इकट्ठा हो जाता है तब मुख खोल दिया जाता है जिससे कोठरी का जल बड़े वेग से प्रणालों में बहकर उनमें जो कुछ होता है उसको बहा देता है। इस प्रकार प्रणाल स्वच्छ होते हैं। कहीं-कहीं स्थान-स्थान पर पानी की टंकियाँ बनाई जाती हैं जो समय-समय पर आप से आप बड़े जोर के साथ प्रणालों में पानी छोड़ा करती हैं। इन टंकियों में ५०० गैलन तक पानी रहता है। साधारणतया ये टंकीयाँ निरीक्षण कोठरी के साथ बनाई जाती हैं।

इसमें देख-रेख की सुविधा होती है और बनाने का खर्चा कम लगता है। वर्षा ऋतु में प्रणालों को इन पद्धतियों से साफ करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि समय-समय पर वर्षा जल के द्वारा ये आप से आप साफ हो जाते है।

प्रणालों में प्रवीजन—खराब सेन्द्रिय चीजों के सड़ जाने से प्रणालों में प्राणवायु की कमी होकर प्रां० द्विजारेय, दलदली वात, उदजनशुल्बेय तिक्तातु-शुल्बेय इत्यादि दूषित तथा ज्वलनशील वातों की अधिकता होती है। इसके सिवा उनकी हवा में कई तरह के रोगोत्पादक जीवाणु भी उपस्थित रहते हैं। इसलिए प्रणालों में शुद्ध वायु के आने का और अशुद्ध वायु के निकल जाने का प्रबन्ध करना बहुत आवश्यक होता है। जहाँ पर प्रणालों में जल काफी तेजी से बहता है, या समय-समय पर उनकी सफाई उपर्युक्त पद्धतियों द्वारा की जाती है वहाँ पर प्रणालों के वायु बहुत खराब नहीं होते हैं तथापि सफाई इत्यादि होने पर भी कहीं-न-कहीं मैले का ठोस भाग इकट्ठा होकर सड़ता है और उससे दूषित वायु उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रणालों में प्रवीजन का प्रबन्ध करना चाहिए। शुद्ध वायु के प्रबन्ध की साधारण रीति यह है कि निरीक्षण कोठरी के ढक्कन सच्छिद्र बनाये जाते हैं और उनके नीचे एक पेटिका रहती है जिसमे छिद्रों में से गिरी हुई चीजें रुक जाती हैं। इसके सिवा स्थान-स्थान पर सड़क के बीच से एक लोहे की लम्बी नली प्रणाल तक लगाई जाती है। इसका नीचे का सिरा प्रणाल में ऊपर की ओर खुलता है और ऊपर का सिरा सड़क पर खुलता है। इस सिरे में निरीक्षण कोठरी के समान छिद्रयुक्त पेटिका के साथ ढकना रहता है। इस प्रकार की नालियाँ सौ-सौ गज की दूरी पर प्रणाल में लगा दी जाती है। कुछ नालियों के द्वारा वायु भीतर आता है और कुछ नालियों के द्वारा बाहर निकलता है और प्रणाल का वायु स्वच्छ रहता है। इस प्रकार के प्रबन्ध में एक आपत्ति यह होती है कि नालियों से निकलती हुई खराब दुर्गन्धयुक्त हवा सड़क पर चलनेवालों को कष्ट पहुँचाती है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए नालियों का ऊपर का खुला सिरा सड़क या गली के बीच में न बनाकर मकानों के किनारे बनाते हैं और वहाँ दूसरे नलों के द्वारा, जो मकानों की दीवारों पर कीलों द्वारा लगाए जाते हैं; उनका सिरा मकानों की छतों से ४-५ फूट ऊपर खुला कर दिया जाता है। इससे प्रणालों के खराब वायु मकानों से ऊपर जाकर वायुमण्डल में मिलते हैं और किसी को कष्ट नहीं देते और न किसी के स्वास्थ्य को खराब कर सकते हैं। ऊपर एक जाली का गोला भी लगाया जाता है जिससे नलों मे पक्षी न जा सके।

प्रणालों के वातों के परिणाम—प्रणाल की सफाई का उचित प्रबन्ध करने पर भी वहाँ का वायु जरूर खराब रहता है। जब सफाई का प्रबंध नहीं होता तब अधिक खराब रहता है। प्रणाल के वात के सेवन से, इसलिए स्वास्थ्य पर बुरा परिणाम होता है। यह परिणाम आकस्मिक और विलम्बित दो प्रकार का होता है। प्रणाल के वायु लगातार सेवन करने से विलम्बित परिणाम होता है जिसमें गले में शोथ, पाण्डुरोग इत्यादि विकार होते हैं। जब प्रणाल का वायु अत्यन्त खराब होता है तब मूर्च्छा या मृत्यु होता है। यह दुर्घटना निरीक्षण कोठरी में काम करते समय होती है। इसलिए उसमें काम करते समय निम्न नियमों के अनुसार काम करें। कोठरी में प्रवेश करने के पहले कुछ समय तक उसका मुख खुला रखके पश्चात् एक जलता हुआ दीया भीतर छोड़ना चाहिए। यदि दीया बुझ जाय तो भीतर न उतरना चाहिए। यदि १५-२० मिनट तक दिया जलता रहे तो भीतर उतरना चाहिए। काम करते समय भी जलता दिया कोठरी में रखना चाहिए। यदि बीच में वह बुझ जाय तो तुरन्त बाहर निकलना चाहिए। प्रणालों में आधे घंटे से अधिक देर तक लगाकर काम न करें। आधा घण्टा काम करने के पश्चात् करनेवालों को बाहर बुला कर दूसरे मजदूरों को काम करने के लिए भेजना चाहिए। यदि कोई मनुष्य काम करते समय मूर्छित हो जावे या उसको चक्कर-सा मालूम हो तो उसको तुरन्त बाहर निकालकर खुली हवा में रखना चाहिए और आवश्यक हो तो कृत्रिम प्रश्वास (Artificial respiration) या उचित चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिये।

कृत्रिम संचालन—प्रणालों में मलयुक्त जल भलीभाँति बहने के लिए वे काफी ढाल होने चाहिएँ। जहाँ पर काफी ढाल मिलता है वहाँ पर पानी अच्छी तरह बहता है। परन्तु जो स्थान बहुत नीचे होते हैं वहाँ पर प्रणालों को काफी ढलवाँ बनाना कठिन होता है। ऐसे स्थानों पर कृत्रिम विधियों द्वारा जल को बहाना पड़ता है। इन विधियों में जल के संचालन के लिए वायु से शक्ति ली जाती है। अतः ये वायुसंचालित विधियाँ (Pneumatic Systems of Sewage-removal) कहलाती हैं। शोनविधि (Shone System) में वायु के दबाव से संचालन किया जाता है और लीरनर की विधि (Liernur's System) में चूषण के द्वारा (Suction) संचालन होता है।

मलोदक का विनियोग—मलप्रणालों से इकट्ठा हुआ मलोदक या तो बहुत अधिक जल के साथ मिला दिया जाता है या अनेक पद्धतियों से बहुत कुछ शुद्ध किया जाता है। पहिले को अवमिश्रण (Dilution) कहते हैं और यह कार्य नदी

या समुद्र में मैले का पानी छोड़ करके किया जाता है। दूसरे को शुद्धिकरण (Purification) कहते है और यह कार्य भौमिक, रासायनिक या जैविक पद्धतियों से किया जाता है।

(१) नदी या समुद्र में छोड़ना—यह अवमिश्रण पद्धति है। इसको तब प्रयुक्त कर सकते हैं जब जल का प्रवाह इतना अधिक हो कि मलोदकगत भारी द्रव्य इधर उधर साद Silt) के रूप में न नीचे बैठ सके न हलके द्रव्य किनारे के आस पास तैरते रहें और जल की राशि इतनी अधिक हो कि मलोदक मिलने पर भी मछलियाँ तथा अन्य जलचर जिन्दे रह सके तथा सेन्द्रिय द्रव्यों पर काम करने वाले वातपी (Aerobe) जीवाणु उनके नाशन का अपना कार्य कर सके।

समुद्र—समुद्र का पानी पीने के काम में नहीं लाया जाता है, इसलिए समुद्र तथा खाडियों के किनारे के शहरों में यह विधि बहुत उत्तम होती है। जहाँपर जल की राशि पर्याप्त होती है तथा जिस तरफ शहर का सम्बन्ध बहुत कम होता है उस तरफ मलोदक समुद्र में भाटे के पृष्ठभाग से बहुत नीचा किनारे से बहुत दूर छोडना चाहिए। वह जल के साथ मिलकर इतना फैलता है कि उससे किसी प्रकार की न हानि होती है न दुर्गन्ध आती है।

नदी—भारतवर्ष में नदियों का उपयोग पीने के पानी के लिए, स्नान के लिए, कपडे धोने के लिए तथा अन्य अनेक कामों के लिए किया जाता है। इसलिए जहाँ तक हो सके मलोदक को नदी[1] में छोड़ने की विधि भारतवर्ष में काम में न लानी चाहिए। अगर नदी में छोडना हो तो छोड़ने से पूर्व भौमिक, रासायनिक या जविक विधियों द्वारा उसकी प्राथमिक शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिए। उसके पश्चात् निम्न नियमों के अनुसार उसको नदी में छोड सकते हैं।

(१) नगर से पर्याप्त दूरी पर, नगर से नीचे की ओर जिधर को जल का प्रवाह हो रहा हो, छोडें। ऊपर की ओर कदापि न छोडें। (२) प्रणाल का

---

१. नाप्सु मूत्रं पुरीष वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥ मनुस्मृति ४-५६॥
मूत्राद्यमेध्यलिप्तवस्त्र अन्यद्वा युक्तोच्छिष्टाद्यमेध्यम्। कुल्लूकभट्ट॥

केवल धर्मशास्त्र में नही कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसके लिए दण्डविधान दिया है—
पुण्यस्थानोदकस्थानराजपरिग्रहेषु पणोत्तराविष्टा दण्डाः। मूत्रेष्वर्धदण्डाः॥

मनुस्मृति में नदी के किनारे पर मल-मूत्र का उत्सर्ग करने का निषेध किया गया है—
न मूत्र पथि कुर्वीत, न जले, न नदीतीरमासाद्य। मनुस्मृति ४ ४५-४७॥
न नदीतटमाश्रित्यमूत्रपुरीषे कुर्यात्। कुल्लूकभट्ट॥

मुख नदी के जलपृष्ठभाग से काफी नीचा हो जिससे नदी में गिरा हुआ मल जल्दी ऊपर न आवे। (३) प्रणाल के मुख पर एक कपाट (Valve) इस प्रकार से लगावे कि प्रणाल का मैला नदी में तो गिर सके परन्तु नदी का जल भीतर न आने पावे। (४) जिन नदियों में पानी बहुत अधिक हो तथा वेग[1] तीव्र हो उन नदियों में मैला छोड़ना चाहिए। इसके विपरीत प्रकार की नदियों में मैला न छोड़े, क्योंकि जल की कमी, प्रवाह की मंदता, मैले की अधिकता से नदी का जल खराब होता है, मछलियाँ तथा अन्य जीव-जन्तु जो पानी की सफाई करने में सहायता करते हैं, पानी में प्राणवायु की कमी होने से मर जाते हैं और ऐसी नदी के किनारे पर बसे हुए सब गाँवों और नगरों में जलवाह्य रोगों का प्रसार हो जाता है। पीछे पृष्ठ २७ पर 'नदी' और पृष्ठ ४१ पर जलशुद्धि के नैसर्गिक साधन देखो।

(२) भौमिक पद्धति—जहाँ पर शहर के आसपास जमीन काफी सस्ती और बहुत मिल सकती है वहाँ पर यह विधि बहुत फायदेमन्द होती है। इन विधियों में मैले का पानी जमीन पर फैलाया जाता है। इससे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ती है क्योंकि भूमिगत जीवाणु मैले के सेन्द्रिय द्रव्यों को खाद में परिवर्तित करते हैं। ऐसी जमीन का उपयोग खेती के लिए बहुत लाभप्रद होता है। इन विधियों को काम में लाने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए—

भूमि सूखी और छिद्री (Porous) हो। उस पर मैले का पानी फैलाने से पूर्व पानी में होनेवाले बड़े-बड़े टुकड़े पृथक् कर दिये जायँ। भूमि को कई भागों में बाँट दिया जाय और प्रत्येक भाग बारी-बारी से काम में लाया जाय। प्रत्येक भाग कुछ काल तक प्रयोग में लाने के बाद कुछ काल तक खाली छोड़ दिया जाय। जमीन काफी ढालवाँ बनायी जाय जिससे उसके ऊपर छोड़ा हुआ जल आप से आप तमाम जमीन पर फैल सके। भूमि पर उतना ही मैला फैलाया जाय जितना वह सोख सके। यह विधि दो प्रकार से काम में लायी जाती है—

(अ) विस्तृत सिंचन (Broad irrigation)—मैले के पानी की वैज्ञानिक पद्धति से शुद्धि करने की यह सबसे पुरानी पद्धति है। जब बहुत सी मामूली खेती की भूमि पर मैले का पानी सींचा जाता है ताकि उसकी उपजाऊ शक्ति बढ़े, उसमें उत्तम उपज हो, साथ-साथ मैले की भी सफाई हो जावे तब उसको विस्तृत सिंचन या मलोदक खेती (Sewage farming) कहते हैं। जिस भूमि में

---

१. मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति ॥ मनुस्मृति ५-१० ॥
श्लेष्माद्यशुचिदूषितो नदीप्रवाहश्च वेगेन शुद्ध्यति ॥ कुल्लूकभट्ट ॥

यह विधि काम में लायी जाती है उसमें सीताएँ और चौडी चौडी मेंड (Furrows) समानान्तर बना दी जाती हैं। दो सीताओं (कूण्ड Ridge) के बीच में ५० फूट के लगभग चौडी मेंड होती है जिसके किनारे सीताओं की ओर ढालू होते हैं। मैले का पानी सीताओं में भरा जाता है और मेंडों के ऊपर घास, गन्ना, केला, शाक इत्यादि की उपज की जाती है। इस प्रकार से मैले का नाश करने के लिए प्रति १००-२०० मनुष्यों के पीछे एक एकड़ जमीन की आवश्यकता होती है।

(आ) खण्डित अधः निस्यन्दन (Intermittent downward filtration)—इसमें जमीन का उपयोग एक निथारक (filter) की तरह मैले के पानी को शुद्ध करने के लिए किया जाता है। इसके लिए भूमि बहुत छिदरी होनी चाहिए। इस प्रकार मैले की सफाई करने के लिए प्रथम प्रकार की अपेक्षा थोडी भूमि की आवश्यकता होती है। साधारणतया एक एकड जमीन २००० मनुष्यों के मैले के जल के लिए पर्याप्त होती है। इसके लिए भूमि में छ फूट की गहराई पर दस-दस फूट की चौडाई पर नालियाँ बनायी जाती हैं। इनके ऊपर बडे-बडे कंकड और पत्थर रक्खे जाते हैं और सबसे ऊपर छिदरी सूखी मिट्टी फैलायी जाती है। इस भूमि पर प्रथम प्रकार की तरह खाइयाँ और मेंड बनायी जाती हैं। जमीन का पृष्ठ भाग काफी ढालवां बनाया जाता है, जिससे खाइयों में डाला हुआ मैला आपसे आप तमाम स्थान पर फैल सके। भूमि को कई भागों में बांट कर प्रत्येक भाग पर बारी-बारी से मलोदक को फैलाया जाता है। छ: घण्टे तक एक भाग को प्रयोग करने के पश्चात् १० घण्टे तक उसको खुला छोड दिया जाता है। इससे जमीन के छिद्र अवरुद्ध न होकर निथारक का कार्य ठीक होता है। मेंड़ों के ऊपर घास, गन्ना इत्यादि की खेती की जा सकती है। नालियों द्वारा नीचे जो पानी निकलता है वह काफी साफ रहता है और किसी नदी में छोड़ दिया जाता है।

(३) रासायनिक पद्धति (Chemical treatment)—इसमें मैले के पानी को बडी-बड़ी निस्सादक टंकियों में भर कर उसमें मिले हुए तथा लटके हुए पदार्थ रासायनिक पदार्थों की सहायता से नीचे बैठाए जाते हैं और पानी साफ किया जाता है। इसके लिए चूना (१ गैलन पीछे १२ ग्रेन), फिटकिरी (१ गैलन पीछे ५-१० ग्रेन), अयस् शुल्वीय (Iron Sulphate, Copperas, एक गैलन पीछे २-५ ग्रेन) इत्यादि रासायनिक द्रव्य मिलाए जाते हैं। यह पद्धति बहुत कम काम में लायी जाती है क्योंकि इसमें निम्न दोष होते है।

दोष—जो कीचड अवपंक (Sludge) या निस्साद बनता है उसकी राशि बहुत होती है। इसको निकालने में बहुत कठिनाई होती है, तिस पर भी इसमें भूमि

को उपजाऊ बनाने की शक्ति कुछ भी नहीं होती। निस्साद के ऊपर जो तरल रहता है उसको उद्द्रव (Effluent) कहते हैं। वह यद्यपि देखने में निर्मल होता है तथापि तद्गत रोगाणु पूर्णतया नष्ट नही होते। इसलिए उसको नदी में भी नहीं छोड़ सकते। जिन टकियों में इस विधि का प्रयोग किया जाता है उनके खुले रहने के कारण चारों ओर दुर्गन्ध फैलती है।

जैविक पद्धति (Biological treatment)—संसार चक्र की अनन्त घटनाओं में जीवाणु बहुत बड़ा (पृष्ठ २४२) भाग लेते हैं। मृत प्राणि या वनस्पतियों के शरीरों का नाश करके (आगे पृष्ठ ३०६ पर दफन देखो) उनको मिट्टी में मिलाना, जल की शुद्धि करना (पृष्ठ ४२) जमीन की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाना, दूध से दही, पनीर इत्यादि पदार्थों को उत्पन्न करना ये सब कार्य जीवाणुओं के द्वारा ही हुआ करते हैं। मैले को खाई में भरना, विस्तृत सिंचन, अधः निस्यन्दन इन विधियों में मैले का नाश जीवाणु के द्वारा ही किया जाता है। परन्तु इन पद्धतियों के नाम से इस बात का पता नहीं चलता। इस विधि में मैले के भीतर जो जीवाणु होते हैं उन्हीं के द्वारा विशेष आयोजना करके मैले का नाश किया जाता है। मैले में दो प्रकार के तृणाणु उपस्थित होते हैं वातपी और वातभी। वातभी (Anaerobes) तृणाणु वे हैं जिनको प्राणवायु की आवश्यकता नहीं होती, अथवा प्राणवायु की उपस्थिति में जो न पल सकते हैं, न अपना कार्य कर सकते हैं। वातपी (Aerobes) तृणाणु वे है जिनको प्राणवायु की आवश्यकता होती है, अथवा प्राणवायु की उपस्थिति में ही ये पलते है और अपना कार्य कर सकते हैं। वातभी तृणाणुओं की क्रिया से मैले के ठोस सेन्द्रिय पदार्थ गल कर स्निग्धाम्ल, तिक्ताति (अमोनिया) तथा अन्य घुलनशील भूयात्य (नैट्रोजन) पदार्थों में परिवर्तित होते हैं। इसको वातभी द्रवीकरण (Anaerobic liquefaction) कहते हैं। मैले के ऊपर इन वातभी जीवाणुओं का कार्य सुचारु रूप से होने के लिए विशेष प्रकार की बन्द कोठरी की जरूरत पड़ती है जिसको दूषक टकी कहते हैं। इसमें द्रवीकरण का कार्य होता है। इस टंकी के अर्ध पाचित मैले का पूर्णपाचन वातपी तृणाणुओं के द्वारा किया जाता है जो तिक्ताति (अमोनिया) तथा तिक्ताति युक्त पदार्थों को भूयित (नाइट्राइट) और भूयीय (नाइट्रेट) में परिवर्तित करते हैं। ये पदार्थ वनस्पतियों के उत्तम खाद्य होते है। इसको वातपीभूयन (Aerobic nitrification) कहते हैं। वातपी तृणाणुओं के कार्य के लिए परिच्यावित मल (Percolating filters) या सस्पर्श निस्यन्द क्यारियाँ (Contact beds) बनाई जाती हैं।

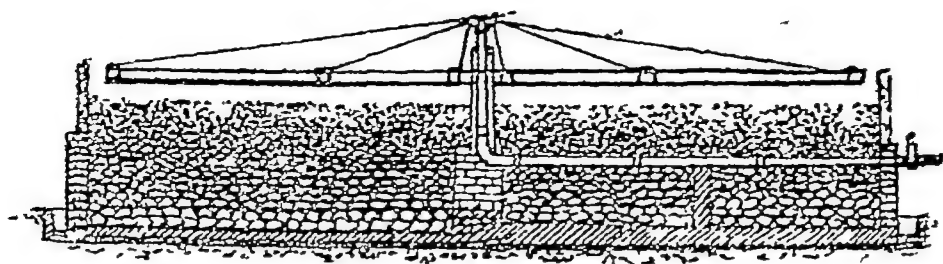
दूषक टकी (Septic tank)—भूमि के नीचे ईंट और सीमेंट का बनाया हुआ यह एक चौकोर कुण्ड होता है। इसकी गहराई ६-८ फूट और लबाई चौड़ाई से ५-६ गुना होती है। ६० फूट लंबा, १२ फूट चौडा और ६ फूट गहरा कुण्ड २००० मनुष्यों के मल का नाश करने के लिए पर्याप्त होता है। इस कुण्ड से पूर्व एक छोटी सी कोठरी बना दी जाती है जिसमें से होकर मैला कुण्ड में आता है। मैले में होनेवाले ईंटों के टुकड़े, कंकड या अन्य ठोस पदार्थ इस कोठरी में अटक जाते हैं। इसलिये इसको ककड कोठरी (Grit chamber) कहते है। इस कंकड़ कोठरी की समाई दूषक टंकी के $\frac{1}{८}$ होती है। इसका फर्श कुन्ड की ओर ढालवाँ होता है और बीच में कंकड इत्यादि को इकट्ठा करने के लिए कुछ गहरा बनाया जाता है। कंकड कोठरी और दूषक टकी का सबंध एक १२ से १८ इञ्च के द्वार से होता है जो नीचे फर्श के पास रहता है। कोठरी और कुण्ड का ऊपर का भाग पूर्णतया ढक दिया जाता है। निरीक्षण के लिए प्रत्येक छत में ढकनेदार द्वार रक्खे जाते हैं और वायु के बाहर जाने के लिए प्रणाल के समान नलों का प्रबन्ध किया जाता है। प्रणालों से आया हुआ मैला ककड़ कोठरी मे से होकर दूषक टंकी में धीरे-धीरे जाता है। कोठरी तथा टंकी के तरल के ऊपर ४-६ इञ्च की गाढ़े पदार्थ की तह बन जाती है। इस तह के नीचे वातभी तृणाणु मैले को विश्लेषित करने का काम किया करते हैं। इस कार्य में प्रां० द्विजारेय प्रां० एकजारेय, उदजन शुल्बेय, दलदल का वायु इत्यादि वात उत्पन्न होते है। टकी में मैला रहने का काल उससे निकलनेवाले जल के विनियोग पर निर्भर होता है। यदि जल का विनियोग खेती के लिए करना हो तो मैला टकी में छः घण्टे तक रहना चाहिए। यदि पानी को नदी में छोड़ना हो तो मैला २२-२४ घण्टे तक टंकी में रहना चाहिए। अर्थात् टकी में मैले का प्रवाह इस काल के अनुसार नियन्त्रित करना चाहिए। वातभी तृणाणुओं के कार्य से कुण्ड का तरल कुछ मैला और प्राय. दुर्गंध रहित होता है जो कंकड़ कोठरी की दूसरी ओर की दीवाल में बनाए हुए द्वार से बाहर निकल कर निस्यन्दन क्यारियों में आता है।

सस्पर्श क्यारियाँ (Contact beds)—ये ऊपर से खुले हुए ईंट और सीमेन्ट के बनाये हुए चौकोर ३-४ फूट गहराई के हौज होते हैं। इनमें $\frac{1}{2}$ से २ इञ्च मोटाई के ककड़, ढिम्भे, ईंटों के टुकड़े, झाँवे इत्यादि भरे रहते हैं। दूपित टंकी से आया हुआ तरल निस्यन्दन क्यारी में अच्छी तरह फैलाकर छोड़ा जाता है जो इन कंकड़ों में से होकर धीरे धीरे नीचे चला जाता है। इस समय में उस तरल पर वातपी तृणाणुओं का कार्य होकर तरल गत पदार्थ भूमीय (नाइट्रेट) में परिवर्तित होते

हैं। इसके अतिरिक्त प्रां० द्विजारेय जल इत्यादि पदार्थ इनकी क्रिया से उत्पन्न होते हैं। क्यारियों को लगातार प्रयोग न करना चाहिए। अन्यथा प्राणवायु न मिलने के कारण वातपी जीवाणु मर जायँगे। चार घंटे काम लेने के पश्चात् ८ घंटे विश्राम देना चाहिए। महीने में एक बार क्यारियों के कंकड़-पत्थरों को निकलवाकर उनको साफ करवा देना चाहिए। विश्राम तथा सफाई की आवश्यकता पड़ने के कारण कई क्यारियों का बनाना आवश्यक होता है। एवं उनको चलाने के लिए चालक (Operator) की आवश्यकता होती है यह उनमें दोष है।

परिच्यावी मलोदक निस्यन्दक (Percolating Sewage filter)—ये भी उपर्युक्त क्यारियों के समान कंकड-पत्थरों से भरे हुए होते है। परंतु इनकी निम्न विशेषताएँ होती हैं। इनकी गहराई ६ फूट होती है, इनका आकार प्रायः गोल होता है और टकी से आए हुए तरल को इनके ऊपर फैलाने के लिए परि-

परिच्यावी मलोदक निस्यन्दक



चित्र न० १९

भ्रमणशील नल लगाए जाते हैं जो कंकड़ों के ऊपर तरल को टपकाते या छिड़काते (Trickling Sprinkling) हुए स्वयं बराबर घूमते रहते हैं।

सुरचित परिच्यावी निस्यदकों की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती तथा वे सस्पर्श क्यारियों की अपेक्षा अधिक सस्ते और कार्यक्षम होते हैं।

इस प्रकार क्यारियों में से निकला हुआ जल समुद्र में डाल सकते हैं, खेती के कामों में उपयोग कर सकते हैं और कल कारखानों में वाष्पित्र (Boiler) के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं, परन्तु जिस नदी का पानी पीने के लिए प्रयुक्त होता है उसमें छोड़ नहीं सकते, क्योंकि उसके जलवाह्य रोगों के जीवाणु पूर्णतया नष्ट नहीं होते। यदि नदी में छोड़ना हो तो प्रथम उस पर रोगाणुनाशकों का प्रयोग करने के पश्चात् छोड़ना चाहिए। दूषक टंकी पद्धति का प्रयोग करते समय

निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए। (१) पर्याप्त मात्रा में पानी का उपयोग करें जिससे मल अच्छी तरह प्रवाहित हो जाय। (२) सफाई के लिए पानी का ही उपयोग करें, रोगाणुनाशक घोल का उपयोग न करें, क्योंकि उसका कार्य जीवाणुओं की उपस्थिति पर निर्भर होता है। (३) टंकी सीमेंट कांक्रीट की जलाभेद्य बनानी चाहिए, जिससे कि भीतर का जल दीवाल या फर्श में से चूकर कम न होने पावे और एक निश्चित ऊँचाई पर हमेशा रहे। (४) उसमे उत्पन्न होनेवाले वातों को बाहर जाने के लिए एक नल होना चाहिए। नया कुण्ड प्रयोग में लाने के पूर्व किसी काम करते हुए कुण्ड का कुछ कीचड़ और ऊपर का द्रव उसमें डाल देना चाहिए। उसके पश्चात् उसमें जल भरके उसका उपयोग करना चाहिए। साधारणतया छः महीने के पश्चात् भीतरी जीवाणुओं का कार्य संतोषजनक होने लगता है।

क्षिप्रकारित कीचड़ विधि (Activated Sludge Process)—यह विधि भी जैविक है। परन्तु इसमें केवल वातपी तृणाणुओं से काम लिया जाता है और मैले का पानी वायु से खूब हिलाया जाता है। इसलिए इसको जीववातेरण (Bio-aeration) विधि भी कहते हैं। मलोदक विनियोग की वस्तुतः यह वातपी (Aerobic) पद्धति है और अभी तक प्रचलित पद्धतियों में सबसे अधिक संतोषप्रद सिद्ध हुई है। इसमें प्रथम जाली से कंकड तथा मैले के ठोस ठोस टुकडे अलग करके पानी एक गोल हौज में लिया जाता है। इसमें नीचे से वायु बडे जोर के साथ छोटे-छोटे बबूले के रूप में प्रविष्ट किया जाता है जिससे मैले के वियोजन (Disintegration) का कार्य हो जाता है। इसके बाद महीन जाली में से होकर पानी दूसरे हौज में चला जाता है जहाँ पर ऊपर तैली या स्निग्ध पदार्थ तैरते है और अलग किए जाते है और पानी नीचे से तीसरे हौज में चला जाता है, जहाँ पर पहले का (नीचे देखो) क्षिप्रकारित कीचड १५-६०% तक मिलाया जाता है तथा वह पानी फिर से वातेरित (Aerated) किया जाता है। इसमें पुराना कीचड और वात के द्वारा अच्छी तरह मथने के बाद पानी निस्सादक (Settling) हौजों मे चला जाता है। यहाँ पर कीचड नीचे बैठता है और साफ पानी ऊपर रहता है।

क्षिप्रकारी कीचड बनाने की विधि—वातेरण टंकी (Aerating tank) में मलोदक लेकर उसमें १ प्रस्थ (गैलन) मलोदक के पीछे पौने दो घन फूट हवा संपीडन के साथ और सूक्ष्म बबूलों के रूप में (Bubbles) नीचे से प्रविष्ट की जाती है जिससे ये बबूले मलोदक में नीचे से ऊपर उठते हैं। यह कार्य मलोदक-तिक्ताति

(अमोनिया) भूयित (नायट्रेट) में परिवर्तित होने तक किया जाता है। उसके पश्चात् हवा मिलाना वद किया जाता है और कीचड़ को नीचे बैठने दिया जाता है। ऊपर का साफ पानी निकाल कर फिर उसमें मलोदक मिलाकर वही वातेरण का कार्य किया जाता है और पश्चात् साफ पानी निकाला जाता है। इस प्रकार कई वार करने पर बना हुआ कीचड़ क्षिप्रकारी होता है। देखने में यह कीचड़ दोषक टंकी के कीचड़ के समान दिखाई देता है परन्तु यह निर्घृणित तथा वातपीतृणाणु संवर्ध (Aerobic bacterial culture) रहता है।

वातेरण—यह कार्य टंकी की तली में छिद्रे खपड़े (Porous tiles) बैठाकर उनमें से हवा का उद्धमन (Blowing) करने से किया जाता है या शंक्वाकृति तली की टंकी में तली से ६ इञ्च ऊँचाई पर स्थापित मध्यवर्ती नलिका में मलोदक और कीचड ऊपर की ओर खींचकर उसको बराबर ऊपर के सिरे से फिर से टंकी में छिड़काकर किया जाता है। दूसरी पद्धति को सरल पृष्ठ वातेरण पद्धति (Simplex Surface Aeration Process) कहते हैं।

कीचड़ का विनियोग—विस्तृत सिंचन को छोड़कर सब पद्धतियों से बड़ा भारी कीचड़ बनता है। इस पद्धति से भी बहुत कीचड़ बनता है जिसमें ९८–९९% पानी रहता है (१)।

उपयोग—संखाद (पृष्ठ २०२) बनाने के लिए इसका उपयोग कर सकते हैं। (२) वैसे ही उसको सुखाकर पानी की राशि कम कर दी जाय तो उसमें भूयाति और भास्वीय वहुत होने से भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए उसका उपयोग खाद के तौर पर बहुत अच्छा होता है। (३) यदि उसको विशिष्ट पद्धति से और विशिष्ट आकार प्रकार की टंकियों में सड़ाया जाय तो उससे दलदली वात (CH_4) उत्पन्न होता है जो जलाने के या यन्त्र चलाने के काम में लाया जा सकता है। इसके सड़ाव से जो वात बनता है उसमें ६०–६५% दलदलीवात, २५–३०% प्रां० द्वि० जारेय और शेष उद्‌जन तथा अन्यवात होते हैं। जब कीचड़ का उदजनायन सकेन्द्रण (pH) ६·८–७·६ के बीच में और ताप ८४° सें० रहता है तब उसके सडने का काम भलीभाँति चलता है और पूर्ण सड़ाव के लिए २०–३० दिन लग जाते हैं।

क्षिप्रकारिन कीचड विधि के लाभ—(१) इसके लिए स्थान कम तथा प्राथमिक खर्चा भी कम लगता है। (२) साधन सामग्री तथा यन्त्रों की सरलता और स्थान की अल्पता होने के कारण थोडे कुशल कर्मचारियों से काम हो जाता है। (३) कीचड़ का उपयोग खेती के लिए तथा संखाद (पृष्ठ २७३) पद्धति से छूरे

के नाश करने के लिए भी अच्छा होता है। (४) इससे जो पानी निकलता है वह अपूतिक्षम, अघृणित और साफ रहता है तथा उसमें आन्त्रिक, विसूचिका इत्यादि के विकारी दण्डाणु नहीं पाए जाते।

विभिन्न पद्धतियों के गुणावगुण—ऊपर मैले को हटाने की तथा उसके विनियोग की जो विभिन्न पद्धतियाँ वर्णन की गयी हैं उनमें जलवहाऊ पद्धति ही सर्वोत्तम है, क्योंकि उससे वासस्थानों से मैले का पूरा दूरीकरण अत्यन्त थोड़े समय में होता है जो मैले की विनियोग पद्धतियों का सबसे महत्व का और प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। बड़े शहरों के लिए यही एक मात्र पद्धति उपयोगी होती है। इस विधि से जो पानी इकट्ठा होता है उसको नदी में न छोड़ना चाहिए। जहाँ पर भूमि की कमी नहीं वहाँ पर उसका विनियोग भौमिक पद्धतियों द्वारा करके भूमि की उपजाऊ शक्ति वढ़ाकर आर्थिक लाभ उठाना चाहिए। जहाँ पर जमीन की कमी होती है वहाँ पर जैविक विधि का प्रयोग करना चाहिए और उससे निकलने वाले जल को या तो खेतो के या वाणिज्य के काम में लाना चाहिए या अगर नदी में छोड़ना हो तो नीरजी (क्लोरीन) या अन्य रोगाणुनाशक द्रव्य से सस्कारित करके पश्चात् नदी में डालना चाहिए।

उत्तम मलोदक उद्वाह के लक्षण—यदि जैविक पद्धति से मलोदक भलीभाँति पाचित हुआ हो तो उससे निकलने वाले जल में निम्न गुण होने चाहिएँ।

(१) उसमें मल की दुर्गन्ध न हो तथा छोटी सी मछली उसमें छोड़ने पर तत्काल न मरे।

(२) उसमें ज्यादा तलछट न होना चाहिए।

(३) उसमें सेन्द्रिय तिक्ताति (Organic Ammonia) की राशि दशलक्ष भाग में एक भाग से अधिक न होनी चाहिए।

(४) ८०° फै० ताप पर प्राणवायु प्रचूषण ४ घण्टे में एक लक्ष भाग में डेढ़ भाग से अधिक न हो।

(५) अवलम्बित (Suspended) पदार्थों की मात्रा उसके लाख भाग में ३ भाग से अधिक न होनी चाहिए।

(६) ८०° फै० ताप पर वन्द कूपी में एक सप्ताह रखने पर उसमें वात, दुर्गन्ध इत्यादि सड़न के लक्षण न दिखाई देने चाहिएँ।

---

(३) मृत का अन्तिम नाश

मृत्यु जैसे शरीर के लिए एक अपरिहार्य घटना है वैसे ही मृत शरीर का अन्त्यकर्म समाज के लिए एक अपरिहार्य कार्य है। भिन्न-भिन्न देशों में यह कार्य करने की भिन्न-भिन्न विधियाँ प्रचलित हैं। कहीं पर मृत शरीर को यों ही छोड़ देते हैं, कहीं पर समुद्र में या नदी में फेंक देते हैं, कहीं पर कुत्तों या जंगली जानवरों या गिद्ध-चील इत्यादि पक्षियों द्वारा उसका नाश किया जाता है और कहीं पर उसके छोटे-छोटे टुकड़े बनाकर पक्षियों के सामने फेंक दिए जाते हैं। उल्लेख करने के अलावा इन विधियों का अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये असभ्य और अस्वास्थ्यजनक विधियाँ हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करने लायक केवल दो ही विधियाँ हैं जो अत्यंत प्राचीन काल से सभ्य जातियों में प्रचलित हैं। मृत्यु के जो अनेक कारण हैं उनमें संक्रामक रोगसमूह बहुत महत्त्व का कारण है। यद्यपि मृत शरीर से सजीव शरीर के समान रोग फैलने का डर नहीं होता तथापि मसूरिका, विसूचिका इत्यादि कुछ ऐसे रोग हैं कि जो मृत शरीर से फैल सकते हैं। इसलिए शवों को कपड़े से भली-भाँति लपेट कर ले जाना चाहिए। यदि मसूरिका जैसे भयानक रोग से मृत हो तो रोगाणुनाशक घोल में भिगोए हुए कपड़े में लपेटना चाहिए। संक्षेप में शवों का नाश इस प्रकार होना चाहिए कि किसी को उनसे उपद्रव या उपसर्ग न होने पावे।

(१) अग्नि संस्कार या दहन (Cremation)—इससे ३–४ घण्टे में शव की तिनका भर राख हो जाती है और यदि आधुनिक यन्त्र का उपयोग किया जाय तो एकाध घण्टे में वही कार्य हो जाता है। इस विधि के लिए न अधिक समय लगता है, न अधिक स्थान की आवश्यकता होती है। केवल यही नहीं, इससे न दुर्गन्ध पैदा होती है, न वातावरण खराब होता है, न स्थलीजल दूषित होता है, और न किसी प्रकार से उपसर्ग फैलने का डर रहता है। इसलिए मृत शरीरों का नाश करने की दृष्टि से यही सर्वोत्तम विधि है। परन्तु व्यवहार में इसमें कई दोष दिखाई देते हैं। अतः निम्न नियमों के अनुसार इसको प्रयोग में लावें।

दहन कर्म—(१) श्मशान भूमि प्रायः नदियों के या तालाबों के तट पर होती है। यह स्थान नगर के नीचे की ओर, जिधर को जल का प्रवाह हो, अन्तिम बस्ती से ५०० फूट की दूरी पर हो। (२) दहन के लिए पर्याप्त लकड़ी का प्रयोग

करे। साधारणतया एक शव को जलाने के लिए ५ मन लकड़ी की आवश्यकता होती है। इससे भी कुछ अधिक लकड़ी का प्रयोग करें तो अच्छा है। लकड़ी के साथ चन्दन, घी इत्यादि का भी प्रयोग करने का जो रिवाज है वह बहुत अच्छा है। इससे अग्नि अधिक प्रदीप्त होता है और दुर्गन्ध नहीं आती। शव को लकड़ियों में इस प्रकार रखना चाहिए कि बाहर से उसका तनिक भी भाग न दिखाई दे सके। (३) चिता अच्छी तरह सुलगने पर उससे धुआँ और दुर्गन्ध आना अग्नितापकी कमी का सूचक होता है। शव के साथ सम्बन्ध रखनेवाली हर चीज को उसके साथ जला देना चाहिए, उनको नदी में फेंकना या यों ही छोड़ देना उचित नहीं है। (४) अर्धदग्ध शरीर को नदी में न फेंकना चाहिए। पूर्णतया दग्ध हुए शरीर की राख और हड्डियाँ नदी में फेंक सकते हैं। (५) जहाँ पर श्मशान बस्ती के पास है वहाँ पर उसके चारों ओर ऊँची दीवालें होनी चाहिएँ।

दहन भ्राष्ट्र—आजकल दहन के लिए विशेष प्रकार के बिजली के या वायु के दाहक यन्त्र या भट्ठे बनाये गए हैं जिनमें शव आधे घण्टे में पूर्णतया जल जाता है। इनका उपयोग योरप में और भारतवर्ष के यूरोपियन लोगों के लिए किया जा रहा है। इसमें चिता लकड़ी की न होकर विशेष प्रकार के पत्थरों के स्फटिकों के महीन टुकड़ों (Broken quartz) की होती है जिसकी लम्बाई ७ फूट और चौडाई ढाई फूट रहती है। इसमें नीचे से ज्वलनशील वायु (Gas) और हवा बडे जोर के साथ धौंकी जाती है। इससे स्फटिक श्वेतोष्ण (White hot) होकर शव को शीघ्र जला देते हैं। ऐसे कई भट्ठे थोड़े से स्थान में लगाये जाते है और एक वायु सपीडक (Air compressor) सब को उपयुक्त होता है।

दहन के विरुद्ध आक्षेप—सब से बडा आक्षेप यह होता है कि यदि मृत व्यक्ति के मृत्यु के सम्बन्ध में कारणों का अनुसन्धान करना हो तो शव जल जाने पर बहुत कुछ सबूत, प्रमाण या साक्ष्य नष्ट हो जाता है। यह आक्षेप सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित न होने के कारण इससे दहन विधि की श्रेष्ठता घटती नहीं। इसका निराकरण श्मशान भूमि पर मृत व्यक्ति की नाम, लिंग, रोग, चिकित्सक इत्यादि बातें पंजिकाबद्ध करने से या चिकित्सक का प्रमाण-पत्र अनिवार्य करने से हो सकता है। तांबा, सखिया इत्यादि से मृत्यु हुआ हो तो जलने के पश्चात् भी राखी से, व जली हुई लकडी से उसका पता लग जाता है।

(२) दफन (Earth burial)—इसमें शव जमीन में गाड़ा जाता है। यह विधि आम तौर से मुसलमान, ईसाई और हिंदुओं की कुछ नीची जातियों में तथा संन्यासियों में प्रचलित है। गाड़ने से जमीन की ऊपर की तहों में जो जीवाणु उपस्थित होते हैं वे मृत शरीर का नाश करके उनको मिट्टी के साथ मिला देते हैं। एक तरह से यह जैविक क्रिया है। पृष्ठ २४३

दोष—इससे प्रां० द्विजारेय, उदजन शुल्बेय इत्यादि विषैले वात उत्पन्न होकर आसपास के वायुमण्डल को खराब कर देते हैं। इसके अतिरिक्त शव के सड़ने से अनेक विषैले द्रव्य उत्पन्न होते हैं तथा जीवाणु बढ़ते हैं जिनसे आसपास का अनुस्थली जल खराब होने का डर रहता है। यह विधि बहुत खर्चीली भी है, क्योंकि जमीन खरीदने में, उस पर कब्र या समाधि बाँधने में तथा हर साल उसकी मरम्मत करने में बहुत पैसा लगता है। इस विधि को निर्दोष करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए।

दफनकर्म—(१) दफन भूमि शहर से दूर हो। उसके चारों ओर ऊँचा अहाता हो जिससे शृगाल इत्यादि पशु उसके भीतर न जा सकें। उस भूमि में तथा आसपास वृक्ष भी हों जो शव के सड़न से उत्पन्न होनेवाले प्रां० द्विजारेय को शोषित करें। (२) गाड़ने की जमीन रेतीली या कंकरीली, थुरैरी और नरम हो। चिकनी भूमि अच्छी नहीं होती। उसमें दरार इत्यादि भी न हो, न वह अधिक ऊँचाई पर स्थित हो। (३) एक साल तक बच्चों के लिए ३ फूट लम्बा और २ ½ फूट चौड़ा, १० साल तक ५ फूट लम्बा ३ फुट चौड़ा, उसके पश्चात् ७ फूट लंबा और ४ फूट चौड़ा स्थान पर्याप्त होता है। इसके अनुसार चार चार फूट अन्तर बीच में छोड़कर दफन की भूमि कई स्थानों में बाँट दी जाय और इन स्थानों के चारों ओर मार्ग बनाए जायँ। (४) शव को जमीन के भीतर ३–५ फूट की गहराई तक गाड़ना चाहिए क्योंकि इसमें जीवाणुओं की सख्या अधिक से अधिक (पृष्ठ ९, २४२) होने से शव का नाश कम से कम समय में होता है। इससे अधिक गहराई पर नाश के लिए प्रति एक फूट के पीछे एक वर्ष अधिक काल लगता है और भूमिगत जल खराब होने का डर रहता है। अनुस्थली जल और शवों में कम से कम दो फूट का अन्तर रहना जरूरी है। तीन फूट से कम गहराई पर गाड़ने से शृगाल-कुत्ते इत्यादि के उपद्रव का डर रहता है। (५) पक्की कब्र में या धातुओं की कठिन संदूक में शव को रखना अच्छा नहीं है। इससे शव पर जीवाणुओं का कार्य ठीक नहीं होता और शव के नाश के लिए अधिक समय लग जाता है।

पतली लकड़ी के संदूक में या वैसे ही जमीन में शव को उपर्युक्त गहराई में गाड़ दिया जाय तो एक वर्ष भर में शरीर के कोमल अंग नष्ट हो जाते हैं।

दहन या दफन के लिए निश्चित स्थान होने चाहिएँ। इतस्ततः बस्ती में शवों को जलाना या दफनाना हानिकर[1] है।

(३) शवपरिरक्षण—मृत्यु के पश्चात् शव को तुरन्त जलाना या दफनाना सर्वोत्तम मार्ग होता है। अधिक काल रखने से शरीर सड़ने लगता है। परन्तु कभी-कभी कारणवश मृतशरीर को कुछ दिनों तक रखने की आवश्यकता होती है तथा कहीं-कहीं कुछ व्यक्तियों का मृत शरीर स्थायी रूप से रहे ऐसी इच्छा कुछ लोग रखते हैं। इसके लिए निम्न विधियाँ प्रयुक्त होती हैं—

(१) तैल में रखना[2]—तैल में डुबोकर रखने से हवा का सम्बन्ध बंद होकर शरीर में सड़ने की क्रिया कुछ काल तक स्थगित होती है।

(२) प्रांगविक अम्ल (Carbolic acid) १ भाग, मधुरी (Glycerine) १० भाग, सुपव (Alcohol) ५० भाग और पानी ४० भाग का घोल बनाकर उसमें से ४-५ सेर गले की रक्त वाहिनी से शरीर में प्रविष्ट करने से और पश्चात् शरीर पर तेल या मृद्वसा (Vaseline) लगाने से कुछ काल तक शव रह सकता है।

(३) बरफ के संदूक में तथा वस्त्र-सुव्युद (Formaldehyde) की भाप में ३–४ सप्ताह शव रखने से भी वह टिकाऊ हो जाता है।

(४) आमोदभरण या अन्तरामोदन (Embalming)—इसी को विशुष्कीकरण (Desiccation) या नोमीकरण (Mummification) भी कहते हैं। यह पद्धति प्राचीन मिश्र (Egypt) में प्रयुक्त होती थी। इसमें प्रथम शव के

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसके लिए दण्ड बताया है—मार्गविपर्यासे शवद्वारादन्यतश्शवनिर्णयने पूर्वस्साहसदण्डः।

२. तैल से भी शव की रक्षा होती है। महाराज दशरथ की शरीर रक्षा की कथा से यह सबको विदित है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी 'तैलाभ्यक्तमाशुमृतकं परीक्षेत'। ऐसा लिखा है।

उदरस्थ[1] अंग निकाले जाते थे। उसके पश्चात् उदर गुहा तेल से साफ करके उसमें गधा विरोजा तथा अन्य सुगन्धी (आमोदी) द्रव्य भर दिए जाते थे। उसके वाद मोम और कपड़ों से खूब लपेट करके हवा बंद स्थिति में रक्खे जाते थे। इस पद्धति से हजारों वर्ष पूर्व रक्खे हुए शव आज तक जैसे के तैसे पाये गये हैं और ससार भर के सग्रहालयों में कौतुक का एक विषय हो गये हैं।

(५) हवा वन्द करके रखना—इसके लिए सीस (Lead) की मोटी चद्दर की हवाबन्द संदूक या पत्थर की हवा वंद शवाधि या समाधि बनायी जाती है और उसमें प्रेत रक्खा जाता है। हवा और जीवाणुओं से असंवन्धित रहने के कारण शव (पृष्ठ ३०६) अधिक काल तक रहता है।



तैलद्रोण्या तदाऽऽमात्याः सवेश्य जगतीपतिम्।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम्॥ (वा. रामायण)

१. आन्त्र में जीवाणु होने के कारण वे मृत शरीर में जल्दी सड़ाव पैदा करते हैं। इसलिए आन्त्र को निकालना शव रक्षा की दृष्टि से आवश्यक होता है। मृत परीक्षा में शरीर अधिक दिन रखना पड़ता था। इसलिए सुश्रुत में शव को 'निसृष्टान्त्र पुरीष' करने के लिए लिखा है।

नवम अध्याय

आन्तरीक्षिकी और जलवायु

आन्तरीक्षिकी (Meteorology) वातावरण का ताप एवं दवाव, प्रवात, आक्लेद, सूर्यप्रकाश, विद्युत, वर्षा, इत्यादि अन्तरीक्षगत विविध दृग्विषयों (Phenomena) से जो शास्त्र निगडित है, जो विविध यन्त्रों तथा उपकरणों द्वारा उनका निरीक्षण तथा नापन करता है और उनमे होनेवाले नैत्यिक एव आकस्मिक परिवर्तनों की खोज करता है वह आन्तरीक्षिका कहलाता है। किसी स्थान की देश प्रकृति (जलवायु) या किसी समय की ऋतु प्रकृति अन्तरीक्षगत उपर्युक्त विषयों के संयुक्त प्रभाव से वनती है तथा किसी स्थान के निवासियों की देह-प्रकृति देश प्रकृति के चिरकालिक या आकस्मिक प्रभाव से वनती या विगडती है। इसलिए स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से आन्तरिक्षिकी और जलवायु दोनों का तात्विक ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए। आन्तरीक्षिकी में निम्न विषयों का मुख्यतया विचार होता है—

(१) वातावरण का ताप

पृथ्वी की ताप ग्रहण शक्ति—पृथ्वी को सूर्य से विकिरण द्वारा उष्णता मिलती है। जब सूर्य ठीक सिर के ऊपर रहता है तब अधिक से अधिक और जब क्षितिज पर रहता है तब कम से कम उष्णता प्राप्त होती है। सूर्य की किरणों से भूमि जितनी गरम होती है उतनी हवा से नहीं होती, यद्यपि किरणें उसमें से होकर भूमि तक पहुँच जाती हैं। शिशिर ऋतु में मध्याह्न में भूपृष्ठभाग के ताप की अपेक्षा ४ फूट पर वातावरण का ताप १०°–२०° अंश अधिक रहता है जो ग्रीष्म-ऋतु में ४०°–५०° अंश तक अधिक होता है। वर्षा ऋतु में यह अन्तर सबसे कम रहता है। पृथ्वी की गरमी पृथ्वी में नहीं रहती, परन्तु उससे निकल कर ऊपर की हवा में चली जाती है। इससे भूमि के पास जो हवा की तह होती है वह गरम हो जाती है। यह गरम हवा हलकी होकर ऊपर उठती है और उसका स्थान दूसरी ठंढी हवा लेती है। यह कार्य बराबर जारी रहता है, जिससे काफी ऊँचाई तक वातावरण गरम हो जाता है। संक्षेप में वातावरण की उष्णता सूर्य की अपेक्षा भूमि से उत्पन्न होती है। प्रां० द्विजारेय और पानी की भाप में उष्णता सग्रहण का गुण अधिक होने के कारण इनसे युक्त नगरों की हवा गावों की हवा की अपेक्षा और वादलों से छायी हुई हवा निरभ्र हवा की अपेक्षा अधिक गरम

होती है। हवा का दूसरा गुण यह होता है कि वह जितनी अधिक भारी होती है उतनी ही कम उष्णता उससे निकल सकती है, या यों कहें कि उसमें अधिक उष्णता रह सकती है। वैसे ही जितनी हवा विरल या पतली होती है उतनी अधिक उष्णता उससे निकल जा सकती है, या यों कहें कि उतनी कम उष्णता उसमें रह सकती है। इन कारणों से पहाड़ों या ऊँचे स्थानों की हवा नीचे के स्थानों की हवा की अपेक्षा दिन मे कम तपती है और रात में अधिक ठंढी होती है। अर्थात् ऊँचे स्थानों के वातावरण में ताप का अन्तर (Range) अधिक रहता है।

भूमि के समान जल जल्दी गरम भी नहीं होता न जल्दी ठंढा होता है। इसलिए जल के ऊपर का या समीपवर्ति वातावरण जल से दूरवर्ति स्थानों के वातावरण के समान दिन में न अधिक गरम होता है, न रात में अधिक ठंढा होता है। अर्थात् ताप का अन्तर कम रहता है।

संक्षेप में 'किसी स्थान के वातावरण का ताप (१) उस स्थान के अक्षांश (Latitude) (२) समुद्र तल से ऊँचाई, (३) प्रवात की दिशा, और (४) समुद्र से अन्तर इन बातों पर निर्भर होता है।

मध्यम ताप—दिन में प्रत्येक घण्टे पर ताप देख कर उनके जोड को २४ से भाग देने पर जो फल आता है उसको दैनंदिन मध्यम ताप (Daily mean temperature) कहते हैं। एक मास के सब दिनों का मध्यम ताप जोडकर उसको ३० से भाग देने पर जो फल आता है उसको मासिक मध्यमताप कहते हैं। बारहों मासों का मध्यम ताप जोड़कर उसको १२ से भाग देने पर जो फल आता है उसको वार्षिक मध्यमताप कहते हैं।

वातावरण का ताप जैसे अहोरात्र मे बदलता है वैसे वर्ष मे भी बदलता रहता है। दिन में सौरविकिरण के शोषण से ताप अधिक रहता है और रात में उसके न होने से कम रहता है। इसको दैनंदिन परिवर्तन (Diurnal variation) कहते हैं और अधिक से अधिक तथा कम से कम ताप मे जो फर्क होता है उसको दैनंदिन अभिसीमा (Range) कहते हैं। वर्ष में भी उत्तरायण में ताप अधिक और दक्षिणायन में ताप कम रहता है। इस दृष्टि से जनवरी मास या मकर संक्रान्ति का मास सबसे अधिक ठंढा और कर्क संक्रान्ति का मास अर्थात् जुलाई सबसे अधिक गरम रहता है। इसको वार्षिक परिवर्तन कहते हैं।

ताप और रोग—वातावरण के ताप का ज्ञान अनेक औपसर्गिक रोगों के मरकविज्ञान (Epidemology) की दृष्टि से महत्त्व का होता है। विषम ज्वर के कीटाणु जब वातावरण का मध्यम ताप १६° सें. से कम होता है तब मच्छर के

पेट में वृद्धि नहीं कर सकते। इसका अर्थ यह होता है कि जाडे में जब मध्यम ताप १६° में से कम होता है तब विषमज्वर का प्रसार मच्छरों से नही हो सकता। वैसे ही प्लेग के दण्डाणु जब मध्यम ताप ५०° फै० से कम या ८५° फै० से अधिक हो जाता है तब पिस्सु के पेट में नहीं बढ़ सकते। इसका अर्थ यह होता है कि अधिक सर्दी या अधिक गरमी के मौसम में प्लेग नहीं हो सकता तथा बढ़ सकता।

ताप नापने के उपकरण—ताप नापने के लिए जो उपकरण काम में लाये जाते हैं तापमापक (Thermometers) कहलाते हैं। अधिक ऊँचे ताप पर उबलने के कारण तथा ताप वृद्धि के अनुसार नियमित वृद्धि होने के कारण पारा और बहुत कम ताप पर भी घन न होने के कारण सुषव (Alcohol) इन दो द्रवों का उपयोग तापमापक में किया जाता है।

(१) अहोरात्र का सबसे अधिक और कम ताप मालूम करने के लिए एक सयुक्त तापमापक यन्त्र बनाया गया है जिसको सिक्स का अल्पिष्ठ और भूयिष्ठ तापमापक (Six's Maximum minimum thermometer) कहते है। इसमें अंग्रेजी U के आकार की नली में पारद और सुषव इस प्रकार भरा रहता है कि उनके द्वारा अहोरात्र का अल्पिष्ठ और भूयिष्ठ ताप आपसे आप मालूम हो जाय। ताप देखने पर प्रतिदिन उसको ठीक करके रखना पड़ता है। दूसरा भी एक संयुक्त तापमापक यन्त्र होता है जिसमें अल्पिष्ठ के लिए सुषव का अलग और भूयिष्ठ के लिए पारे का अलग तापमापक यन्त्र एक ही फलक में लगे हुए रहते है। ये तापमापक यन्त्र खुले स्थान में, परन्तु छाया द्वारा सूर्य की प्रत्यक्ष किरण से सुरक्षित रक्खे जाते है।

(२) शून्य या सौर विकिरण तापमापक (Vacuum or solar radiation thermometer)—यह भी स्वयमभिलेखी (Self-registering) पारद का तापमापक होता है। परन्तु सूर्य की किरणें अधिक शोषित हो जायँ तथा शोषित उष्णता वापिस न चली जाय इसलिए उसकी घुंडी (Bulb) काली होती है तथा एक निर्वात काच की पेटी में रक्खी रहती है। यह तापमापक भूमि से ४ फूट की ऊँचाई पर मकान से और वृक्षों से दूर प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश में रक्खा जाता है। उपर्युक्त (१) छाया में रक्खे हुए तापमापक के भूयिष्ठ ताप में और इसके भूयिष्ठ ताप में जो अन्तर होता है वह सौर विकिरण की राशि माना जाता है।

(३) धरातली तापमापक (Terestrial thermometer)—यह तापमापक छाया में हरियाली से ४ इञ्च ऊँचाई पर रक्खा जाता है। अगर हरियाली न हो तो भूमि पर एक बडा काला फलक रखकर उस पर इसको रक्खें। इसके और

हवा में रक्खे हुए तापमापक के अतिपृष्ठ ताप में जो अन्तर होता है उसको धरातली विकिरण कहते हैं।

(२) वातावरण का निपीड

(Atmospheric pressure)

हवा यद्यपि हलकी मालूम होती है तो भी उसमें वजन (पृष्ठ १) होता है और वजन के कारण घनत्व भी। यदि हवा को दबाया जाय तो उसका घनत्व और उसके साथ भार बढ़ता है और यदि फैलाया जाय तो उसका घनत्व और उसके साथ उसका भार घटता है। भूपृष्ठ के पास की हवा पर ऊपर की सारी हवा का बोझ पड़ने के कारण वह अधिक घन तथा भारी होती है। यद्यपि वातावरण की ऊँचाई सैकड़ों मील (पृष्ठ १) की बतायी जाती है तथापि संपूर्ण वातावरण की हवा का ½ भार केवल ५ मील की ऊँचाई के भीतर की हवा से ही मिलता है। हवा अपने भार के कारण उसके भीतर रहने वाले सब पदार्थों पर दबाव डालती है।

भारमापक (Barometer)—वातावरण का भार मापने के यन्त्र को भारमापक कहते हैं। इसमें भी तापमापक के समान मुख्यतया पारे का ही उपयोग किया जाता है। इसके लिए एकमुखी नली में पारा भर करके वह पारे की कटोरी में उलटी करके रक्खी जाती है। कटोरी के पारे के ऊपर वातावरण का जो दबाव पड़ता है उससे नली के भीतर पारा कुछ ऊँचाई तक खड़ा रहता है और उसके ऊपर का स्थान निर्वात होता है। वातावरण के दबाव के अनुसार नली का पारा ऊँचा या नीचा होता है। समुद्र के समतल पर हवा का भार प्रतिवर्ग इञ्च पर ३० घन इञ्च पारे के भार के बराबर होता है या लगभग १५ पौण्ड प्रतिवर्ग इञ्च के लगभग होता है। इसको एक वातावरण का भार या निपीड कहते हैं।

पारे का भारमापक वर्षा, धूप तथा हवा के झोके से सुरक्षित स्थान में अँगेठी या अग्नि स्थान से दूर लटकाकर रक्खा जाता है। उसके साथ एक तापमापक भी रहता है जिससे ताप के अनुसार उसकी ऊँचाई में संस्कार किया जाय।

पारद भारमापक इधर-उधर ले जाने में, पास रखने में कठिनाई होती है। इसलिए एक ऐसा भारमापक तयार किया है कि जिसमें पारा, मधुरी (Glycerine) पानी या अन्य तरल की आवश्यकता ही न पड़े। इस कारण से इसको अनीर (Aneroid) भारमापक कहते हैं। इसमें प्रत्यानमों (Springs) का उपयोग

किया गया है। इसलिए इसमें पारद भारमापक के समान सूक्ष्मवेदित्व नहीं आता तथा बिगड़ने का सदैव डर रहता है। परन्तु यह उठाऊ होने के कारण पर्वतारोहण, विमानारोहण तथा प्रवासों में उपयोगी होता है।

ऊँचाई का परिणाम—ऊँचाई के अनुसार वायु हलका होता है। प्रति ९१० फूट के पीछे पारे की ऊँचाई १ इञ्च कम होती है। ऊँचाई के अनुसार भार बदलता है और पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थान भिन्न-भिन्न ऊँचाई पर स्थित होने के कारण वातावरण का भार भी भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न होता है। अधिक ऊँचाई पर हवा इतनी पतली और भार इतना कम होता है कि प्राणियों को साँस लेने में कठिनाई होती है और उसी को पार्वत्य रोग कहते हैं। इसलिए ऊँचे पठार या पहाड़ मनुष्य के रहने योग्य नहीं होते।

उष्णता का परिणाम—गरम हवा पतली और हलकी (पृष्ठ ३०९) होती है और ठंढी हवा ठोस और भारी होती है। इसलिए सर्दी या गर्मी के अनुसार हवा का भार बढ़ता या घटता है और उसका परिणाम दिन, मास या वर्ष के भिन्न-भिन्न समयों में वातावरण का भार भिन्न-भिन्न होने में होता है।

भाप का प्रभाव—भाप हवा से हलकी होने के कारण हवा में भाप की राशि बढ़ने से हवा हलकी हो जाती है और उसके अनुसार उसका दबाव भी उतना ही कम हो जाता है। इसलिए तर हवा सूखी हवा से भारी होती है। जल के ऊपर की हवा में भाप सदैव अधिक होने से वहाँ की हवा का भार स्थल के ऊपर की हवा के भार की अपेक्षा सदैव अधिक हुआ करता है। ऋतु के अनुसार वातावरण में भाप की न्यूनाधिकता होती है और उसके अनुसार वर्ष भर वातावरण के भार में भी न्यूनाधिकता हुआ करती है।

समभार रेखाएँ (Isobars)— उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि वातावरण का भार केवल भिन्न-भिन्न स्थानों में ही नहीं, दिन के भिन्न-भिन्न समयों में, मास के भिन्न-भिन्न दिनों में, और वर्ष के भिन्न-भिन्न मासों में, उष्णता और भाप की न्यूनाधिकता के कारण भिन्न-भिन्न हुआ करता है। मासिक मध्यमताप (पृष्ठ ३१०) के समान इसमें भी मासिक मध्यम भार निकाला जाता है। यदि भिन्न-भिन्न स्थानों के मध्यम मासिक भार निकाल कर एक भार के स्थानों को मिलाया जाय तो रेखाएँ बनती हैं वे समभार रेखाएँ कहलाती हैं।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात—भूगोल के मानचित्र पर समभार रेखाएँ खींचने से जो नकशा बनता है उसको आर्तवी या मौसमी नकशा (Weather or

Synoptic map) कहते हैं । प्रायः समभार रेखाओं से टेढ़े चक्कर बनते हैं। जब इन रेखाओं से बने हुए चित्र में कम भार का क्षेत्र चारों ओर अधिकाधिक भार के क्षेत्रों से घिरा रहता है तब उसको 'मन्दी' (Depression) और वातावरण को चक्रवातिक (Cyclonic) कहते हैं। जब अधिक भार का क्षेत्र अल्पाल्प भार के क्षेत्रों से घिरा रहता है तब उसको तेजी (High) और वातावरण को प्रतिचक्रवातिक (Anticyclonic) कहते हैं।

उपर्युक्त कारणों से वातावरण के भार में यद्यपि बहुत फर्क नहीं पड़ता, फिर भी उससे आर्तवी स्थिति का अच्छा ज्ञान हो जाता है और उसी के अनुभव पर उसका भविष्य भी बतलाया जाता है। जैसे वातावरण चक्रवातिक होने से अधिक भार के चारों ओर के क्षेत्रों से अल्पभार के मध्य क्षेत्र की ओर हवा बहने लगती है और मध्य में कम भार के कारण ऊपर चढ़ती जाती है, साथ-साथ ठंढी भी होती है। इससे उसमें होनेवाली भाप जमने लगती है और वर्षा होने की संभावना बढ़ती है या वर्षा होने लगती है। इसके विरुद्ध जब वातावरण प्रति-चक्रवातिक होता है तब मध्य स्थान की हवा बाहर की ओर बहने लगती है, ऊपर की हवा नीचे गिरने लगती है और वर्षा नहीं होती, परन्तु वातावरण में शुष्कता आ जाती है। कभी-कभी भूमि से अधिक गर्मी निकल जाने के कारण पाला भी पड़ने लगता है।

ये चक्रवात तथा प्रतिचक्रवात कभी-कभी अल्पकाल के लिए बड़ी तेजी से बहते हैं और जिन स्थानों के ऊपर से बहते हैं उन स्थानों तथा जहाजों को बहुत हानि पहुँचाते हैं। ये तेज चक्रवात कहीं प्रभञ्जन (Tornado) कहीं आँधी (Hurricane), कहीं तूफान (Typhoon), और झंझावात (Storms) इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं।

(३) प्रवात (Winds)

वातावरण में उष्णता, भाप तथा अन्य भौतिक कारणों से जो विषमताएँ उत्पन्न होती हैं उनसे वातावरण में गति उत्पन्न होती है जिसको प्रवात कहते हैं। वातावरण को उष्णता मुख्यतया तप्त भूमि से (पृष्ठ ३०९) प्राप्त होती है। भूमध्य के पास (Equator) भूमि अधिक तप्त होने से वातावरण भी अधिक तप्त हुआ करता है। ताप वृद्धि के साथ वातावरण में पानी की भाप समाने की शक्ति भी बढ़ती है। इस प्रकार एक स्थान में हवा गरम और हलकी और दूसरे स्थान में ठंढी और भारी हो जाती है। यह विषमता दूर करने के लिए प्रतिचक्रवातिक स्थान से चक्रवातिक स्थान की ओर हवा बहने लगती है। जैसे अक्तूबर, नवम्बर

के मासों में शीत के कारण भूमि के ऊपर की हवा भारी और सूखी होती है। परन्तु समुद्र के ऊपर की हवा उतनी भारी और सूखी नहीं होती। इसलिए इन दिनों में स्थल की हवा समुद्र की ओर बहती है। एप्रिल और मई के मासों में स्थल की हवा गरम होती है। इसलिए समुद्र से जमीन की ओर प्रवात की दिशा होती है।

वाणिज्य प्रवात (Tradewinds)—ध्रुव प्रदेश शीत होने से और विषुवत या भूमध्य प्रदेश उष्ण होने से हवा ध्रुव प्रदेशों से भूमध्य की ओर बहती है। उसकी गति में पृथ्वी की गति के कारण कुछ फर्क होता है। उत्तर गोलार्ध में दाहिनी ओर और दक्षिण गोलार्ध में बाँई ओर हवा का रुख हो जाता है। इसको फेरेल (Ferrels' rule) का नियम कहते हैं। इसलिए उत्तर से आनेवाली हवा ऐशान (North eastern) और दक्षिण से आनेवाली नैर्ऋती (South western) हो जाती है। ऐशान और नैर्ऋत प्रवात वाणिज्य इसलिए कहलाते हैं कि अग्नि-पोत बनने से पहले व्यापारी नावें पाल पर इन प्रवातों से चला करती थीं। भारतवर्ष की दृष्टि से नैर्ऋती प्रवात दक्षिणी महासागर से आने के कारण आक्लिन्न (Humid) रहता है और उसी से बरसात होती है। यह प्रवात जून के मास में प्रारम्भ होता है, लङ्का की ओर से आता है और उत्तर की ओर दो प्रवाहों में बहता है। एक को गङ्गासागरी (Bay of Bengal) प्रवाह कहते हैं। यह प्रवाह सीधा गंगासागर से ब्रह्मदेश, बंगाल और आसाम होता हुआ पछाड़ खाकर (Deflected) बिहार, युक्तप्रान्त और दक्षिण पंजाब तक पहुँचता हैं। दूसरे को सिन्धुसागरी या अरब समुद्री (Arabian sea) प्रवाह कहते है। यह प्रवाह मद्रास, बम्बई और मध्य भारतवर्ष होता हुआ गंगासागरी प्रवाह को मिलता है। नैर्ऋती प्रवात की अवधि जुलाई से अक्तूबर (आषाढ़ से आश्विन) तक होती है और इसी में अधिकांश पानी बरसता है। इसलिए इनका उल्लेख चतुर्मास, चौमासा या वर्षा काल से किया जाता है। ऐशान प्रवात मुख्यतया भूमि पर से आने के कारण सूखा रहता है। जब कभी बीच में थोड़ा सा समुद्र रहता है तब उसमें कुछ तरी आ जाती है और कभी-कभी थोड़ा सा पानी बरसता है। अवशिष्ट दिनों में आकाशनिरभ्र, हवा शुष्क और मौसिम अच्छा और स्वास्थ्यकर होता है।

अन्य प्रवात—(१) उपर्युक्त वाणिज्य प्रवातों के अतिरिक्त और भी छोटे मोटे प्रवात उत्पन्न हुआ करते हैं। जैसे बहुत बड़े स्थल पर सब स्थानों में गर्मी हमेशा एक सी नहीं होती, परन्तु बराबर बदलती रहती है। इस कारण से दिन के

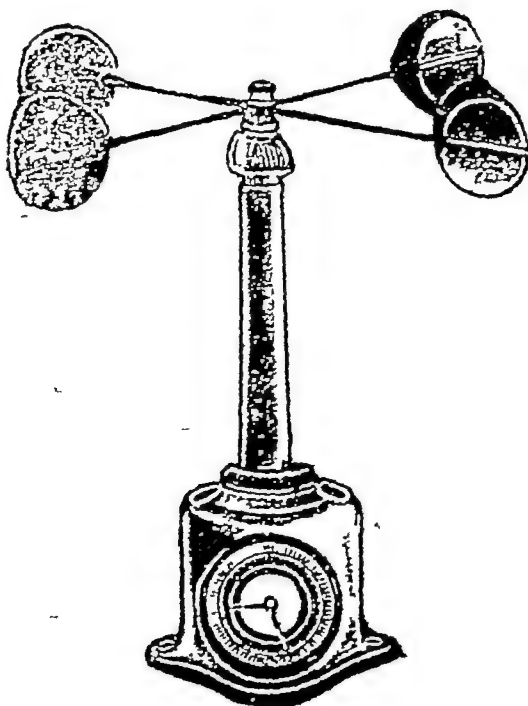
भिन्न-भिन्न समयों में तथा वर्ष के भिन्न-भिन्न ऋतुओं में हवा बहा करती है। इसको सामयिक (Periodical) प्रवात कहते हैं।

(२) समुद्र या बड़े जलाशय के भूमि पर भी प्रवात चलते हैं जो समुद्री और स्थल समीर (Sea and land breezes) कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि दिन में स्थल के ऊपर की हवा अधिक गर्म होने से हलकी होकर जल के ऊपर की भारी हवा से हटायी जाती है। इसलिए दिन के समय जल-से स्थल की ओर हवा बहती है। इसको समुद्री समीर कहते हैं। रात में स्थिति उलट जाती है। इसलिए स्थल से जल की ओर हवा बहती है। इसको स्थल समीर कहते हैं।

(३) स्थानिक प्रवात—अनेक स्थानों में केवल उन्हीं स्थानों में मर्यादित ठण्ढ या गर्म हवाएँ चलती हैं। उनको स्थानिक (Local) प्रवात कहते हैं।

प्रवात गति मापन—प्रवात की गति और दबाव नापने के लिए जो यन्त्र काम में लाया जाता है उसको अनिलमापक (Anemometer) कहते हैं।

अनिलमापक



चित्र न० २०

इसमें एक खड़े डण्डे के ऊपर के सिर पर धातु के दो दण्डे + चिह्न के समान

कील से ढीले बैठाए जाते हैं, ताकि वे आसानी से घुम सकें। इन दण्डों के चारों टोंकों पर धातु की चार कटोरियाँ लगी रहती हैं। हवा इन कटोरियों में भर कर डण्डों को घुमाती है। ये घुमाव नीचे की घड़ी में दिखाने का तथा तदनुसार गति प्रकट करने का प्रवन्ध रहता है। यह यन्त्र जमीन से कोई २० फूट ऊँचाई पर रक्खा जाता है। गति विरोध न होने की दृष्टि से उसमें समय-समय पर तेल लगाया जाता है।

(४) वातावरण का आक्लेद (Humidity)

वातावरण की भाप—जलावरण (पृष्ठ २३६) का जल सूर्य की उष्णता से निरन्तर भाप के रूप में (पृष्ठ ४) वातावरण में जाता रहता है। भाप हवा से भी हलकी होने के कारण हवा में ऊपर उठकर तैरती है। हवा में भाप को सोखने की शक्ति होती है और यह शक्ति ताप के अनुसार न्यूनाधिक हुआ करती है। अधिक गर्म हवा अधिक भाप को अपने भीतर रख सकती है। वातावरण की नीचे की तह जितनी गर्म होती है (पृष्ठ ३०९) उतनी ऊपर की तह नहीं होती। इसलिए नीची तह की हवा जितनी भाप रख सकती है उतनी ऊँची तह की नहीं रख सकती। वातावरण में जितनी भाप होती है उसका $\frac{3}{4}$ भाग २½ मील की ऊँचाई तक की हवा में ही रहता है, ५ मील की ऊपर की हवा में भाप बिलकुल नहीं रहती।

वास्तविक और सापेक्ष आक्लेद—वातावरण में पानी की जो भाप होती है उसको आक्लेदांश (Degree of humidity) कहते हैं। वातावरण की निश्चित राशि में जब भाप की निश्चित राशि बतायी जाती है तब उसको वास्तविक (Absolute) आक्लेद कहते हैं। साधारणतया एक घनमान (Cubic metre) में भाप की राशि धान्यों (Grams) में बतायी जाती है। अनेक रोगों के मरक-विज्ञान में इसका ज्ञान उपयोगी होता है। यह बताया जाता है कि जब वास्तविक आक्लेद ०.४०० से कम रहता है तब विसूचिका का रोग अधिक नहीं फैल सकता। उसके प्रसार के लिए अधिक आक्लेद की आवश्यकता होती है।

जब किसी विशिष्ट ताप पर संतृप्त हवा में होनेवाली भाप की राशि की प्रतिशतता (Percentage) में उस ताप पर हवा में प्रत्यक्ष विद्यमान होनेवाली भाप की राशि बतलायी जाती है तब उसको सम्बद्ध (Relative) आक्लेद कहते है। किसी ताप पर जब हवा और अधिक भाप नहीं रख सकती तब उस ताप

के लिए वह हवा वाष्पसंतृप्त या खाली संतृप्त (Saturated) कही जाती है। इससे सवद्ध आक्लेद का सूत्र निम्न प्रकार का होता है—

$$\text{सवद्ध आक्लेद} = \frac{\text{क ताप पर विद्यमान वाष्प राशि}}{\text{क ताप पर सतर्पणार्थ आवश्यक वाष्प राशि}}$$

आन्तरीक्षिकीय कार्य में वास्तविक आक्लेद की अपेक्षा संवद्ध का अधिक महत्त्व होता है। मरकविज्ञान की दृष्टि से भी सवद्ध आक्लेद का ज्ञान उपयोगी होता है। यह देखा गया है कि विषमज्वर का प्रसार सं० आक्लेद ६३% या उससे अधिक होने पर ही हो सकता है। इससे कम होने पर कठिनता से होता है।

प्रत्येक ताप पर संतर्पण के लिए आवश्यक मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। अधिक ताप पर अधिक और कम ताप पर कम। एक ताप पर संतृप्त हवा यदि अधिक गरम की जाय तो उसमें और अधिक भाप रह सकती है और यदि उसको ठंढा किया जाय उसमें होने वाली भाप छोटी-छोटी बूँदों के रूप में उससे अलग होने लगती है। भाप के अलग होने के तरीके को सघनन कहते हैं। जिस ताप पर हवा ठढ़ी करने से सघनन का कार्य प्रारंभ होता है और जिस ताप पर फिर से हवा गरम करने पर संघनन नष्ट हो जाता है उन दोनों के औसत ताप को अवश्यायाक (Dew-point) कहते हैं।

आक्लेदमापन—वातावरण में जो तरी होती है उसके नापने के यन्त्र को उन्दमापक (Hygrometer) कहते हैं। ये अनेक प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार में अत्यन्त उड़नशील दच्चु (Ether) के वाष्पीकरण से हवा ठंढी करके तापमापक पर प्रत्यक्ष अवश्यायांक देखा जाता है। इसमें ड्यानिअल (Daniell), रेनाल्ट (Regnault) और डाइन (Dine) के उन्दमापक आते हैं। इनमें अवश्यायांक प्रत्यक्ष देखा जाता है इसलिए ये प्रत्यक्ष (Direct) उन्दमापक भी कहलाते हैं। दूसरे प्रकार में पानी में भिगोया हुआ मलमल जैसा कपड़ा तापमान की घुंडी पर रखकर उससे उत्पन्न होनेवाली तापाल्पता (दूसरे रूखे घुंडीवाले तापमान से दर्शाये हुए ताप का अन्तर) को देखकर सारणियों की सहायता से अवश्यायांक निकाला जाता है। इसका सिद्धान्त यह है कि वातावरण की भाप की राशि के अनुसार जमीन पर रक्खे हुए पानी या भीगे कपडे से वाष्पीभवन होगा, यदि वातावरण में भाप की अधिकता हो तो कम वाष्पीभवन और पानी का या भीगे कपड़े का कम ठंढा होना और वातावरण में भाप कम होने पर वाष्पीभवन अधिक और तदनुसार पानी का या भीगे कपड़े का अधिक ठंढा होना। इस प्रकार में

मान्सन का आर्द्र और शुष्क कन्द (Manson's wet and dry bulb) उन्दमापक आता है जिसमें दो तापमान होते हैं, एक की घुडी सूखी और दूसरे की घुंडी नजदीक के जलपात्र से सम्बन्ध रखनेवाली भीगी मलमल से लपेटी रहती है। भीगे कपडे से अधिक बाष्पीभवन होकर अधिक से अधिक तापाल्पता थोड़े समय में उत्पन्न हो जाय इस दृष्टि से इस यन्त्र में घुमाने की आयोजना करके जो उन्दमापक बनाये गये हैं वे शिशिरमापक (Psychrometer) कहलाते हैं। एक में बच्चों की घुमाने की चरखी (खिलौना) के समान डण्डा लगा रहता है जिससे वह यन्त्र तेजी से घुमाया जाता है। इसको लटकन (Sling) शिशिरमान कहते हैं। दूसरे प्रकार के उन्दमानों को अप्रत्यक्ष (Indirect) कहते हैं। क्योंकि उनमें अवश्यायांक सारणियों की सहायता से निकाला जाता है। तीसरे प्रकार में हवा की निश्चित राशि में विद्यमान भाप को चूर्णातुनीरेय (Calcium chloride) जैसे उन्दग्राही (Hygroscopic) रसायनों में शोषित करके उसका भार देखकर तद्द्वारा सारणियों से अवश्यायांक निकालते हैं। इनको रासायनिक उन्दमापक कहते हैं।

(९) मेघ, कुहरा, ओस

नदी, नद, तालाब, समुद्र इत्यादि जलाशयों से वातावरण में भाप सदैव मिलती (पृष्ठ ४) रहती है। परन्तु उसकी राशि अल्प होने के कारण तथा वह निराकर और रंगहीन होने के कारण अदृश्य और अप्रकट रहती है। जब उसकी राशि बढ़ती है या वातावरण का स्थानिक या प्रादेशिक ताप कम होता है तब वह जमने लगकर तरल या घन बनती है, अर्थात् साकार होती है तथा सूर्य क्रिरणों से उसमें रंग दिखाई देते है। इस अवस्था में वह हमको दीखने लगती है। मेघ आदि उपर्युक्त नाम उसकी विविध साकार अवस्था के निदर्शक हैं।

ओस और पाला (Dew and frost)—जब वातावरण निरभ्र होता है तब भूमि अपनी उष्णता शीघ्रता से निकाल सकती है। इसका परिणाम धरातल के ऊपर की हवा बहुत ठंढी होने में होता है। इससे उस शीत हवा में होनेवाली भाप छोटे-छोटे बिन्दुओं के रूप में घास, पत्तियों पर जम जाती है। इसको ओस कहते हैं। अभ्राच्छादित रातों में तथा छायादार स्थानों में उष्णता निकल जाने का कार्य पूर्ण रूप से न होने के कारण ओस नहीं बन सकती। जब शीत इतना अधिक हो जाता है कि पानी जमकर हिम बन सकता है तब ओस बिन्दू हिम के छोटे-छोटे कणों के समान बन जाते हैं। इसको पाला कहते हैं। पाला फसलों को हानि पहुँचाता है।

कुहरा (Fog)—जल से जो भाप बनती है वह हलकी होने के कारण ऊपर उठती रहती है। जब धरातल के निकटवर्ती हवा का ताप बहुत कम हो जाता है तब वह भाप, जो उस निकटवर्ती तह में रहती है, सूक्ष्म कणों के रूप में जमकर धूएँ की तरह उसमें तैरती रहती है। इसको कुहरा कहते हैं। प्रातःकाल के समय अधिक सर्दी होने के कारण कुहरा प्रायः इसी समय दिखाई देता है। नदी और जलाशय के ऊपर की हवा में भाप अधिक होने के कारण उन स्थानों पर कुहरा प्रातःकाल में सदैव दिखाई देता है। पहाड़ों पर भी कुहरा हमेशा रहता है क्योंकि ऊँचाई पर हवा अधिक शीत (पृष्ठ ३०९) रहती है। भाप का पानी धूलि कणों पर (पृष्ठ ५) जमता है। शहरों में धूलि के कण अधिक तथा रंगीन होने के कारण कुहरा घना और रंगीन दिखाई देता है।

धुन्ध या धुन्धर (Mist)—यह भी कुहरा की भाँति बनती है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें जल के कण तनिक बड़े होते हैं। इसलिए कुहरे की अपेक्षा इससे कपड़े या अन्य वस्तुएँ अधिक गीली हो जाती हैं।

मेघ (Cloud)—जल से जो भाप बनती है वह हलकी होने के कारण धीरे-धीरे ऊपर उठती रहती है और बहुत ऊँचाई तक चली जाती है। जब तक भाप की राशि अधिक नहीं होती तब तक वह अदृश्य रहती है। परन्तु इसकी राशि अधिक होने पर तथा ऊपर की सर्द हवा से संबंध होने पर वह दृश्य सूक्ष्म कणों में जमने लगती है। इस प्रकार जब भाप काफी जम जाती है तब वह सफेद धूएँ की तरह दिखाई देती है। भाप की इकट्ठा हुई सूक्ष्म दृश्य बूँदों को मेघ या बादल कहते हैं। कुहरा, धून्ध और मेघ वास्तव में एक ही वस्तु है। मेघ की परिभाषा में कुहरा भूमि से संलग (संलग्न) और भूमि पर आराम करनेवाला मेघ है और धुन्ध भूमि से अलग परन्तु भूमि से निकट रहनेवाला मेघ है। वैसे ही मेघ को भूमि से बहुत ऊँचा रहनेवाला कुहरा कह सकते हैं। इनकी ऊँचाई १-४ मील होती है। मेघरेखा (Cloud line) इस ऊँचाई को कहते हैं जिसके नीचे प्रायः मेघ नहीं बनते।

वर्गीकरण—ऊँचाई, स्वरूप और वृष्टिकर गुणों के अनुसार मेघों के निम्नवर्ग किए जाते हैं—

(क) उत्तुङ्गमेघ; मध्यम ऊँचाई २०००० फूट। इसके प्रकार।

१. कुरली मेघ (Cirrus)—ये सबसे ऊँचे और टेढ़े तथा बल खाए हुए दिखाई देते हैं।

२. कुरल संस्तरी (Cirro-stratus)—ये कुरल से कुछ नीचे होते हैं और बहुत फैले हुए रहते हैं।

(ख) तुङ्ग मेघ—ऊँचाई १०–२५ सहस्र फूट। इसके प्रकार।

३. कुरल-संचयी (Cirro-cumulus)—ये कुरली और संचयी मेघों के बीच में रहते हैं और उनके समान दिखाई देते हैं।

४. उच्च-संचयी (Alto-cumulus)—

५. उच्च-संस्तरी (Alto-stratus)—

(ग) अनुतुङ्ग मेघ—७००० फूट से नीचे। इसके प्रकार

६. संस्तर-संचयी (Strato-cumulus)

७. अम्बुद (Nimbus)

(घ) दैनन्दिन आरोही प्रवाह से उत्पन्न होनेवाले मेघ—इसके प्रकार

८. संचायी (Cumulus)—ऊँचाई ४५००–५५०० फूट—

९. संचायी-अम्बुद (Cumulo-nimbus)—ऊँचाई ४५०० से २५०० फूट।

(ङ) ऊँचा कुहरा—ऊँचाई ४०० फूट से नीचे। इसके प्रकार

१०. संस्तरी (Stratus)

इनमें १, ४, ६ वर्ग के मेघ अलग-अलग गोलाई लिए हुए रहते हैं और सूखी हवा में पाए जाते हैं। २, ५, और ७ वर्ग के मेघ काफी लम्बे चौड़े फैले हुए वितान की तरह रहते हैं और बरसाती हवा में पाए जाते हैं।

(६) वर्षा

मेघ वातावरणगत भाप के जमने से बनते हैं। प्रारम्भ में मेघों के कण बहुत सूक्ष्म होते हैं। आगे चलकर जब वातावरण में अधिकाधिक भाप आने लगती है तथा तैरते-तैरते जल कण अधिक ठंढे हो जाते हैं तब उन पर अधिकाधिक भाप जमकर वे काफी बड़े हो जाते हैं। इससे मेघ भी घने और काले दिखाई देने लगते है। जब ये कण इतने बडे होते हैं कि हवा उनको नहीं ढो सकती तब गुरुत्वाकर्षण से ये भूमि की ओर खींचे जाते हैं। इसी को वर्षा कहते हैं। ओस एक प्रकार की वर्षा ही है। केवल अन्तर इतना ही है कि वर्षा का जल ऊँचाई पर बनकर नीचे गिरता है और ओस का जल जमीन के पास पेड़ पत्तों पर, घास फूस पर बनकर रह जाता है या गिरता है।

अवृष्टि, ओले और हिमतुषार—जब वर्षा की बूँदें ऊपर से गिरते समय

बीच में गरम हवा में पहुँच जाती है तब फिरसे भाप बनती है और भूमि पर वर्षा नहीं होती। इस प्रकार की स्थिति मरुभूमि में हमेशा हुआ करती है; क्योंकि उसके ऊपर की हवा प्रायः गरम रहती है। जब कभी ऊपर से गिरते समय वर्षा की बूँदें ठंढी हवा में से गुजरती हैं तब वे जमकर बरफ बन जाती है और ओलों के रूप में भूमि पर गिरती हैं। बहुत ऊँचाई पर हवा ठंढी होने के कारण बादल बर्फ के छोटे-छोटे कणों के रूप में रहते हैं। गिरते समय भूमि के समीप की हवा गर्म होने के कारण पिघल कर पानी के रूप में वर्षा होती है। परन्तु ठंढे देशों में तथा पहाड़ों की चोटियों पर जहाँ हवा का ताप बहुत कम रहता है बादलों के कण न पिघल कर हिमतुषार के रूप में गिरा करते हैं। इसका अर्थ यह है कि ऐसे स्थानों में वर्षा पानी की न होकर हिमतुषारों की होती है। इनसे भूमि पूर्णतया ढक जाती है। जब इनकी तह काफी मोटी हो जाती है तब ये कण अपने ही दबाव से ठोस होकर बर्फ बन जाते हैं।

वर्षा की राशि—किसी स्थान पर जो वर्षा होती है वह अनेक बातों पर निर्भर होती है। उनमें निम्न मुख्य हैं—

(१) भूमध्य रेखा से अन्तर—भूमध्य रेखा के पास गरमी अधिक होती है और पानी की भाप भी अधिक होती है। इस कारण से उष्ण कटिबन्ध में वर्षा अधिक होती है। उत्तर और दक्षिण ध्रुव की ओर धीरे-धीरे वर्षा का प्रमाण कम होता जाता है।

(२) समुद्र से अन्तर—समुद्र जल का बड़ा भारी भंडार है और उससे ही पानी की अधिक से अधिक भाप (पृष्ठ ४) बनती है। इसलिए समुद्र समीपवर्ती स्थानों में दूर स्थानों की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है। भाप से भरी हुई हवा जैसे-जैसे भीतर की ओर जाती है वैसे-वैसे अपनी भाप को वर्षा के रूप में गिराती जाती है। इसलिए समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में सबसे अधिक, समुद्र निकटवर्ती प्रदेशों में कम वर्षा हुआ करती है।

(३) ऊँचाई और पर्वत सामीप्य—जब बादल ऊँचे पर्वतों से टकराते हैं तब वे ऊपर चढ़ते हैं और ऊपर चढ़ते समय फैलकर ठण्डे हो जाते हैं और वर्षा होती है। इसलिए पर्वतों के उन ढलानों पर जहाँ वह टकराती है अत्यधिक वर्षा होती है और दूसरी ओर ढलान शुष्क रहता है। इस शुष्क प्रदेश को वर्षा छाया (Rain shadow) प्रदेश कहते हैं। इसलिए किसी प्रदेश में वर्षा होने के लिए उसमें हवा को रोकनेवाला पहाड़ होना चाहिए। हिमालय इस प्रकार का पहाड़

होने के कारण उसके ऊपर तथा दक्षिण में बहुत वर्षा होती है। चेरापूँजी में वार्षिक वर्षा ५०० इञ्च के करीब होती है। यदि यह पहाड़ समुद्र किनारे के पास हो तो उसके दूसरी ओर बहुत कम वर्षा होती है। इस प्रकार की स्थिति बम्बई में दिखाई देती है, जहाँ कोंकण में १०० इञ्च के करीब मध्यम वर्षा होती है, सह्याद्रि के ऊपर ३०० इञ्च तक होती है, परन्तु दूसरी ओर देश में २५-४० इञ्च से अधिक नहीं होती।

वर्षा का मापन—वर्षा का मापन इञ्चों में किया जाता है और उसको नापने के लिए जो यन्त्र होता है उसको वर्षमान (पृष्ठ २५) कहते हैं। इसके लिए एक बोतल में, जिस पर पानी ग्रहण करने के लिए एक चोंगा रहता है, वर्षा का पानी इकट्ठा किया जाता है। फिर उसको एक मापक रम्भ (Measuring cylinder) से नापते हैं जिस पर इञ्चों के निशान लगे रहते हैं। चोंगे का व्यास ५ इञ्च का होता है। यह यन्त्र खूले स्थान में भूमि पर इस प्रकार रक्खा रहता है कि चोंगे का मुँह भूमि से १ फूट ऊँचाई पर रहे। एक इञ्च वर्षा का व्यावहारिक अर्थ यह होता है कि यदि सारा वर्षा का जल भूमि तल पर इकट्ठा रहे और तनिक भी भाप में या जमीन में न चला जाय तथा न बहने पावे तो जितने क्षेत्र पर एक इञ्च वर्षा हुई है उतने भूमि के क्षेत्र पर पानी की गहराई १ इञ्च होगी।

(७) सूर्य-प्रकाश, प्रजारक और विद्युत्

आन्तरीक्षिकीय विषयों में इनका भी समावेश होता है। सूर्य-प्रकाश का समय नापने के लिए सूर्य-प्रकाश अभिलेखक (Sunshine recorder) नामक यन्त्र होता है। यन्त्र ऐसे स्थान में रक्खा जाता है कि जब तक सूर्य दोनों क्षितिजों के ऊपर रहे तब तक उसका प्रकाश बराबर उस पर गिरता रहे। इसमें मध्य में ४ इञ्च व्यास का काच गोल रहता है और उसके पीछे कागज इस प्रकार रक्खा रहता है कि उस पर सूर्य ठीक प्रतिबिम्बित हो जाय। इस प्रखर बिम्ब से कागज पर उदय से अस्त तक प्रकाश का ठीक अभिलेख हो जाता है। प्रजारक वातावरण का एक महत्व का संघटक है (पृष्ठ ३) और स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है। इसकी विद्यमानता का ज्ञान दहातु जम्बेय (KI) और मण्डपत्र (Starch paper) से किया जाता है।

आन्तरीक्षिकी का उपयोग—उपर्युक्त आन्तरीक्षिकीय दग्विषयों का ज्ञान किसी स्थान की देशप्रकृति या आवहवा की जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से

बहुत उपयोगी होता है। इसके अतिरिक्त इनका और भी एक महत्व का उपयोग होता है। यदि अनेक स्थानों से ताप, भार, आक्लेद, अवश्यायांक इत्यादि हग्विषयों के दैनन्दिन वेध प्राप्त करके उनके अभिलेखों से नक्शे या चित्र बनाए जायँ तो भविष्य में होनेवाली वृष्टि, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, आँधी-तूफान इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ अनुमान किया जा सकता है। इनका अनुमान कृषकों, वैमानिकों तथा नाविकों की दृष्टि से बहुत महत्व का होता है। इससे प्राण और धन की हानि कम होती है। इसलिए संसार में अनेक स्थानों में आन्तरीक्षिकीय वेध-शालाएँ (Meteorological observatory) स्थापित की गई हैं। भारतवर्ष में पूना और दिल्ली में इस प्रकार की वेधशालाएँ हैं जो नैत्यिक तथा आकस्मिक मौसम का हाल बतलाया करती हैं।

जलवायु या देश प्रकृति (Climate)

प्रत्येक देश या प्रदेश की जलवायु का वहाँ के निवासियों के स्वभाव, स्वास्थ्य, शरीर संहनन, साहसिकता, सहनशीलता इत्यादि बातों पर बहुत प्रभाव पड़ता है, यहाँ तक कि जलवायु के आधार पर किसी प्रदेश-निवासियों के उपर्युक्त विषयों के संबन्ध में कुछ अनुमान किया जा सकता है। भारतवर्ष में पंजाब, महाराष्ट्र, बङ्गाल के निवासियों के स्वास्थ्य-साहसिकतादि में जो अन्तर दिखाई देता है वह वहाँ की जलवायु का मुख्यतया प्रभाव है। केवल यही नहीं, जलवायु का प्रभाव खान-पान, आचार, धर्म, शरीर के रंग इत्यादि पर भी होता है। इसलिए जलवायु स्वास्थ्य पर किस प्रकार प्रभाव डालती है इसका ज्ञान स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। स्थावर जङ्गम सजीव सृष्टि की जीवन-यात्रा की दृष्टि से वातावरण का ताप, भार, आक्लेद इत्यादि आन्तरीक्षिकीय हग्विषयों का जो संयोग होता है उसको जलवायु कहते हैं।

जलवायु और ऋतु—इन दोनों में भेद करना आवश्यक है। किसी समय में वातावरण का ताप, भार, आक्लेद, मेघ, वर्षा, सूर्य प्रकाश इत्यादि की जो विशिष्ट स्थिति होती है उसको ऋतु (Weather) कहते है। ऋतु वर्ष भर बदलते रहते हैं। अनेक वर्षों की ऋतु संबन्धी घटनाओं का जो सार होता है उसको जलवायु कहते हैं। किसी प्रदेश की जलवायु भी बदल सकती है, परन्तु उसके लिए बहुत अधिक काल लगता है। जलवायु से किसी विशिष्ट दिन या मास की दशा का ज्ञान नहीं होता परन्तु वर्ष भर के अधिकसंख्य दिनों या मासों की दशा का ज्ञान हो जाता है।

किसी स्थान की जलवायु या देश प्रकृति निम्न बातों पर निर्भर होती है—

(१) अक्षांश (Latitude)—भूमध्य रेखा के निकट स्थान प्रायः दूरवर्ती स्थानों की अपेक्षा अधिक गर्म होते हैं, क्योंकि भूमध्य-रेखा के आसपास के स्थानों पर सूर्य की किरणें थोड़ी बहुत सीधी पड़ती हैं।

(२) ऊँचाई—ऊँचे स्थान नीचे स्थानों की अपेक्षा ठंढे रहते हैं, क्योंकि वातावरण ऊँचाई पर (पृष्ठ ३०९) ठण्ढा होता जाता है। प्रति ३३० फूट ऊँचाई पर ताप १°फै० कम होता जाता है। इसलिए विषुवत् रेखा के आसपास के पहाड़ भी उससे दूरवर्ती स्थानों की अपेक्षा ठण्ढे होते हैं।

(३) समुद्र, तालाव इत्यादि वड़े जलाशय—पानी की विशिष्ट उष्णता (Sp. heat) भूमि से चौगुना अधिक होने से भूमि की अपेक्षा पानी तपने में तथा तपने पर ठण्ढा होने में अधिक समय लगता है या यों कह सकते हैं कि पानी न जल्दी तपता है न जल्दी ठण्ढा होता है। इसलिए जल के ऊपर का तथा जल समीपवर्ती वातावरण स्थल के ऊपर के वातावरण की अपेक्षा गर्मियों में कम गर्म और सर्दी में कम सर्द होने के कारण जल समीपवर्ती प्रदेशों में दिन रात के तथा ग्रीष्म और शिशिर ऋतु के ताप में बहुत अन्तर नहीं दिखाई देता। संक्षेप में वातावरण के ताप में काफी एकरूपता होती है। समुद्र का पानी २८° फै० पर और मीठा पानी ३२° फै० पर जमता है जिससे जब तालाव का पानी जमता है तब समुद्र का नहीं जमता। इसलिए शिशिर ऋतु के शीत को तथा ग्रीष्म ऋतु की गर्मी को मीठे पानी की अपेक्षा समुद्र का पानी अधिक कम कर देता है। संक्षेप में समुद्र तथा जलाशयों की समीपता जलवायु को सम (Equable) और दूरता विषम (Extreme) वनाती है।

(४) प्रवात—प्रत्येक प्रदेश में भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से प्रवात चलते हैं। जब प्रवात समुद्र के ऊपर से वहते हैं तब हवा को तर वनाते हैं, और जब भूमि पर से आते हैं तब हवा को सूखी वनाते हैं। वैसे ही जाड़े में हिमालय जैसे शीत पहाड से आनेवाले प्रवात हवा को ठण्ढा वना देते हैं और वनस्पतिहीन पहाडों से गर्मी में आनेवाले प्रवात हवा को गर्म वनाते हैं।

(५) पहाडों की समापता—वर्षा लानेवाली हवा के आरपार यदि कोई पहाड हो तो एक ओर के देश की हवा तर और दूसरे ओर के देश की हवा सूखी रहती है। जैसे, वम्वई में सह्याद्रि के कारण कोंकण तर और देश सूखा होता है। उत्तर भारत में हिमालय का दक्षिण भाग तर और उत्तर भाग (तिब्बत) सूखा रहता है। पहाड़ गर्म या सर्द हवा से भी देश को वचाते हैं।

(६) स्थली की बनावट—भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थली में उष्णता प्रशोषण और निष्कासन की शक्ति भिन्न-भिन्न परिमाण में होती है। अर्थात् कुछ ऐसी मिट्टी होती है जो जल्द गर्म और जल्द ठण्ढी हो जाती है तथा कुछ ऐसी भी रहती है जो बहुत धीरे-धीरे गर्म या ठण्ढी होती है। रेतीली मिट्टी करेली मिट्टी से जल्द गर्म या ठण्ढी हो जाती है। राजपूताने में मिट्टी रेतीली होने से वह स्थान दिन में अधिक गरम और रात में अधिक सर्द हो जाता है। बंगाल की स्थली करेली होने से वहाँ पर दिन रात में अधिक फर्क नहीं होता।

(७) स्थली का ढलुवाँपन या समतलता—समतल स्थली पर पानी इकट्ठा होता है, अधिक पानी भूमि में प्रशोषित होता है, दलदल होती है। इसलिए वहाँ की हवा तर रहती है और अधिक गरम नहीं होने पाती। ढलुवाँ भूमि में पानी न ठहरने के कारण हवा सूखी रहती है।

(८) जंगल वनस्पतियाँ—ये भूमि से होने वाले विकिरण (Radiation) को कम करती हैं, पानी बरसाने वाले बादलों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं जिससे वर्षा अधिक होकर वातावरणगत क्लिन्नता बढ़ती है और वातावरण ठंढा और सम रहने में सहायता होती है। जहाँ पर जंगल या पौधे नहीं होते या काट दिये जाते हैं वहाँ पर उपर्युक्त लाभ न होने से दिन में ताप बढ़ता है और रात में बहुत घटता है। संक्षेप में जलवायु में अधिक विषमता उत्पन्न होती है।

जलवायु या देश प्रकृति का वर्गीकरण[1]

जलवायु पर प्रभाव डालनेवाले कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न परिमाण

---

१. जिसको आजकल जलवायु, आबोहवा या हवा पानी कहते हैं उसको प्राचीन परिभाषा में देश या देशप्रकृति कहा है। देशप्रकृति का विचार करते समय वर्षा, जलाशय, वनस्पतियाँ, प्रवात इत्यादि का भी विचार किया गया है और उसके अनुसार देश के तीन वर्ग किये गये हैं—जांगल, आनूप और साधारण। ये वर्ग उपर्युक्त वर्गों के समान सम्पूर्ण भूगोल का विचार करके नहीं, परन्तु मुख्यतया भारतवर्ष की स्थिति की दृष्टि से किये गये हैं। इनमें जांगल उष्ण (उष्णदारुणवातः), आनूप शीत (शिशिरपवनबहुल.), और साधारण समशीतोष्ण जलवायु के वर्ग हैं—समाः साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्ममारुताः। दोषाणां समता जन्तोस्तस्मात्साधारणो मतः ॥ सुश्रुत ॥ आयुर्वेद में रोग चिकित्सा में देश ज्ञान का बहुत उपयोग किया जाता है—तत्र दशविधन्तु कारणम् यदुक्तमग्रे। तद्यथा—अयं कस्मिन् भूमिदेशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा, तस्मिंश्च भूमिदेशे

में होने के कारण पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जलवायु मिलती है। सूक्ष्मता से विचार करने पर इसके असंख्य वर्ग होते हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से और मोटे तौर पर इसके निम्न वर्ग प्रधान हैं—

(१) शीत जलवायु (Cold climate)—इसमें ध्रुव प्रदेशों से ५०° अक्षांश तक का प्रदेश आता है। यहाँ शीत बहुत अधिक और गर्मी बहुत कम होती है। मध्यम ताप ५०° और ४०° फै० के बीच में होता है और कभी-कभी हिमबिन्दु से भी कम रहता है। यहाँ वर्षा नगण्य होती है परन्तु वर्फ बहुत रहता है। इस जलवायु के प्रदेश को शीत-कटिबन्ध (Frigid zone) कहते हैं। अतिशीत से फुफ्फुसों और वृक्कों पर काम का बोझा अधिक पडता है, फिर भी वैज्ञानिकों का कहना है कि इस प्रदेश के निवासियों में संसार के अन्य प्रदेशों के निवासियों की अपेक्षा मृत्यु सबसे कम या नीची होती है। शीत के कारण यहाँ के लोग ओजस्वी और बलवान् भी रहते हैं।

(२) समशीतोष्ण जलवायु (Temparate)—इसकी मर्यादा ५०° से ३५° अक्षांश तक होती है। यहाँ पर मध्यम ताप ६०° से ५०° फै तक रहता है। इस जलवायु के प्रदेश स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम माने जाते हैं। इस समय

मनुष्याणामिदमाहारजातमिद विहारजातमिदमाचारजातमेतावच्च बलमेवविधसात्म्यमेवं-विधो दोष इमे व्याधयो हितमिदमहितमिदमितिप्रायो ग्रहणेन ॥ चरक विमान ॥

केवल यही नहीं, बलवर्धन में देश का क्या महत्व होता है इसका भी सूक्ष्म निरीक्षण पाया जाता है। चरक सहिता में नैसर्गिक बलवृद्धिकर भावों में प्रथम देश का ही निर्देश किया गया है—बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा बलवत्पुरुषे देशे जन्म ॥ चरक शारीर ॥ इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—देशमहिम्ना बलवन्तः पुरुषा यस्मिन् देशे सैन्धवादौ स बलवत्पुरुषो देशः, तत्र जातो देशमहिम्नैव बलवान् भवति, यथा सैन्धवा बलवन्तः पुरुषाः ॥ सैन्धव का अर्थ सिन्धु नदी समीप के प्रदेश में उत्पन्न हुआ—सिन्धु-नदीसमीपे देशे भवः। आधुनिक भौगोलिक परिभाषा में सैन्धव देश से पंजाब, वायव्य सीमाप्रान्त अभिप्रेत होता है। उपर्युक्त चरक के और चक्रपाणिदत्त के कथन के साथ आधुनिक हायजीन की पुस्तकों में मिलनेवाला निम्नोक्त वाक्य तुलना करने योग्य है—In the northwest of India the dry climate and the constant struggle between man and nature have combined to produce a race brave and hardy with physical development.

संसार के सबसे उन्नत और बलशाली लोग इस जलवायु के भूप्रदेश में हैं। इसको समशीतोष्ण या साधारण कटिबंध भी कहते हैं।

(३) उष्ण (Warm climate) जलवायु—इसकी मर्यादाएँ विषुवद्वृत्त के दोनों ओर ३५° अक्षांश तक होती हैं। भारतवर्ष इसी में आता है और संसार के अधिकसंख्य लोग इसी जलवायु के प्रदेशों में रहते हैं। इस प्रदेश को उष्ण कटिबंध (Torrid) भी कहते हैं। इसके अत्युष्ण या वैषुवत (Equatorial), उष्ण (Tropical) और अनुष्ण (Subtropical) करके तीन विभाग किए जाते हैं। इनमें गर्मियों में अधिक ताप (११८° फै तक) और जाड़े में सर्दी भी बहुत होती है और वर्षा भी अधिक होती है। स्वास्थ्यविज्ञान की दृष्टि से इस कटिबंध का महत्व उसमें होनेवाले विषम ज्वर, कालाजार, पीतज्वर, लू लगना, अतीसार, यकृद्विद्रधि, मसूरिका इत्यादि रोगों में है। ये रोग इसलिए उष्णकटिबंधज (Tropical) कहलाते हैं।

(४) पहाड़ी जलवायु—अत्यधिक शीतोष्ण ; अधिक शुद्धता, वातावरण का पतलापन तथा भारालपता (पृष्ठ ३१२) इत्यादि पहाड़ी जलवायु की विशेषताएँ होती हैं। राजयक्ष्मियों के लिए यह जलवायु हितकर होती है।

(५) सामुद्र, सागरी जलवायु (Marine, oceanic) – समशीतोष्णता अधिक वर्षा और तरी, वातावरण में नमक और जम्बुकी की अधिकता ये सामुद्र जलवायु की विशेषताएँ होती हैं। इस जलवायु में गर्मी और सर्दी, दिन और रात इनके ताप में बहुत अन्तर नहीं रहता।

जलवायु और स्वास्थ्य

ताप, आक्लेद, भार, प्रकाश इत्यादि जलवायु के विविध अंगों का प्राणियों के स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिए उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ पर दिया जाता है।

ताप—वातावरण के ताप का मुख्य निकास सूर्य की किरणें हैं। सूर्य की किरणें सीधी किसी वस्तु के ऊपर गिरने से जो उष्णता प्राप्त होती है उसको सौर उष्णता (Sun heat) या विकिरणज (Radient) उष्णता कहते हैं। इस उष्णता से मनुष्यों के शरीर तथा अन्य घन और तरल पदार्थ गरम होते हैं। परन्तु इस उष्णता में हवा को गरम करने की शक्ति बहुत कम होती है। वह तप्त पृथ्वी से गरम होती है। इस उष्णता को वात उष्णता (Air heat) या छाया ताप (Shade temparature) कहते हैं।

साँप और मेंढक के समान मनुष्य प्रविषतापीय (Poikilothermic) न होकर समतापीय (Isothermic) है। इसका अर्थ यह है कि वातावरण का ताप चाहे जो हो, उसके शरीर का ताप एक सा रहेगा। यह कार्य शरीरगत उष्णताजनन और उष्णता नाशन के नियमन (Regulation) पर निर्भर होता है और मस्तिष्कगत एक केन्द्र के द्वारा किया जाता है जिसको तापनियामक केन्द्र (Heat regulating centre) कहते हैं। शरीर में उष्णताजनन सेवन किए हुए आहार से शरीर के विविध अग प्रत्यंगों में मुख्यतया पेशियों में होता है। उष्णता नाशन मुख्यतया त्वचा से विकिरण, संवहन और बाष्पीभवन के द्वारा होता है। इनमें विकिरण (Radiation) और संवहन (Conduction) के द्वारा साधारण ताप के करीब-करीब ७३% उष्णता का नाश होता है। जब ताप बढ़ता है तब बाष्पीभवन से उष्णता नाशन का काम किया जाता है। साधारण ताप में केवल २७% उष्णता बाष्पीभवन से नष्ट होती है। परन्तु जब ताप बढ़ता है और विकिरण तथा संवहन से उष्णता नाशन पर्याप्त नहीं हो सकता तब ५०% से अधिक उष्णता बाष्पीभवन से नष्ट की जाती है।

स्वास्थ्य पर ताप का परिणाम—जब वातावरण का ताप बढ़ता है तब उष्णता नाशन में कठिनाई उत्पन्न होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए त्वचा को सचमुच चोटीसे एडी तक पसीना बहाना पड़ता है, फिर भी वह कार्य सतोषजनक नहीं हो सकता। इसलिए उष्णताजनक द्रव्य (अन्न) और कर्म (व्यायाम, परिश्रम) कम करने पड़ते हैं। अधिक ताप बढ़ने पर इससे भी ताप नियमन ठीक न होकर शरीर के भीतरी अंग-प्रत्यंगों में ताप की कुछ अधिकता होती है। इस अधिकता का परिणाम अंग-प्रत्यंगों के रक्ताधिक्य में, तद्गत विनिवर्त (Katabolism) और विनिवर्तजन्य विषैले पदार्थ बढ़ने में होता है। इस प्रकार का परिणाम यद्यपि सपूर्ण शरीर पर होता है तथापि पचनसस्थान, त्वचा, रक्तोत्पादक अंग (मज्जा), मस्तिष्क और नाड़ीसंस्थान इनके ऊपर अधिक होता है। इससे त्वचा में फोड़े फुन्सियाँ, घर्म राजिका (Prickly heat) तृषा, क्षुधानाश, अजीर्ण, प्रवाहिका, रक्त की कमी, आलस्य, ग्लानि, काम करने की अनिच्छा, नाड्यवसन्नता (Neurasthenia) इत्यादि अनेक विकारों की उत्पत्ति में होता है। जब ताप अधिक बढता है या त्वचा अपना काम करने में असमर्थ हो जाती है तब आतपमूर्च्छा (Heat apoplexy), आतपज्वर (Heat fever), सूर्यातपदग्ध (Sun stroke), आतप-उद्वेष्टन (Heat-cramp), आतप विषण्णता (Heat-exhaustion) इत्यादि नामों से प्रसिद्ध भयानक विकार हो सकते हैं।

रोगों पर उष्णता का परिणाम—वातावरण की तापवृद्धि मक्खियाँ, मच्छर, पिस्सू इत्यादि कीड़ों-मकोड़ों की तथा जीवाणुओं की वृद्धि में सहायता करती है। इसलिए विषमज्वर, दण्डकज्वर, श्लीपदज्वर, मसूरिका, प्लेग इत्यादि रोगों के मरक उत्पन्न होते हैं।

स्वास्थ्य पर शीत का परिणाम—वातावरण का ताप कम होने पर उष्णता का नाश होने लगता है। इसको कम करने के लिए त्वचागत रक्त संचार कम होकर विकिरण और संवहन से होनेवाला नाश अल्प किया जाता है और स्वेदोत्पत्ति बन्द होकर वाष्पीभवन से होनेवाला नाश पूर्णतया रोका जाता है। इसके अतिरिक्त उष्णताजनक द्रव्यों (अन्न) के अधिक सेवन से तथा व्यायामादि कर्मों से अधिक उष्णता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका परिणाम शरीर के संपूर्ण अंग-प्रत्यंग अधिक कार्यक्षम होने में होकर स्वास्थ्य में सुधार होता है।

रोगों पर शीत का प्रभाव—शीत का खराब परिणाम वृक्कों पर तथा श्वसन संस्थान पर होकर प्रतिश्याय, खाँसी, दमा, क्षय, फुफ्फुसपाक, रोहिणी, रोमान्तिका, कुकर खाँसी, आमवात इत्यादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जब वातावरण के ताप में एकाएक बहुत अन्तर हो जाता है तब उसका परिणाम धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्तन से अधिक स्वास्थ्यनाशक होता है।

आक्लेद के परिणाम—वातावरण में पानी की भाप न्यूनाधिक अनुपात में सदैव उपस्थित रहती है। जब हवा में आक्लेदांश अधिक रहता है तब तर या आर्द्र (Moist) और जब कम रहता है तब शुष्क जलवायु (Dry) कहते हैं। आर्द्र या तर जलवायु में त्वचा द्वारा उष्णता नाशन का कार्य ठीक नहीं हो सकता जिससे भीतर गरमी और बेचैनी (पृष्ठ २०) मालूम होने लगती है। आर्द्र और गरम हवा जीवाणुवृद्धि और पूतिजनन में सहायता करती है और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। इस प्रकार की हवा में राजयक्ष्मा, कुष्ठ, विसूचिका इत्यादि रोग बढ़ते हैं। सूखी गरम हवा में मसूरिका रोग बढ़ता है। विसूचिका और विषमज्वर के बढ़ने में (पृष्ठ ३१७, ३१८) वातावरण के आक्लेद का घनिष्ठ संबंध होता है।

वातावरण का भार—कुछ टेढ़ी रह कर अपनी अक्षरेखा (Axis) पर दिनरात में परिभ्रमण करने के कारण तथा वर्ष भर में एक बार सूर्य के चारों ओर लम्बवृत्त में परिक्रमा करने के कारण पृथ्वी के प्रत्येक स्थान पर से मिलने वाली

उष्णता में दैनिक तथा वार्षिक घटबढ़ चक्रनेमिक्रम से हुआ करती है। इस घटबढ़ का परिणाम वातावरण गत ताप और आक्लेद के घटबढ में होता है। परन्तु वातावरण के भार पर पृथ्वी की गतियों का कुछ भी परिणाम नहीं होता। इसलिए पृथ्वी के प्रत्येक स्थान का वातावरण का भार करीब-करीब एक-सा रहता है। भार की घटबढ़ अपने स्थान से ऊँचे या नीचे जाने पर ही हो सकती है। इसलिए एक स्थान पर रहने वालों के तथा उसी समतल पर स्थानान्तर करनेवालों के स्वास्थ्य पर वातावरण के भार का कुछ भी परिणाम नहीं होता।

स्वास्थ्य पर भारात्पता का परिणाम—समुद्र समतल पर वातावरण का भार प्रतिवर्ग इञ्च १५ पौण्ड का होता है। ऊँचाई पर वातावरण विरल होता जाता है अर्थात् उसका भार भी कम होता जाता है। प्रति ३०० फूट ऊँचाई पर ताप १° फ़ै और प्रति १८०० फूट ऊँचाई पर भार १ पौण्ड (आधा सेर) कम होता है। वातावरण की विरलता के साथ प्राणवायु की भी विरलता हो जाती है।

मनुष्य जब यकायक बहुत ऊँचा चला जाता है तब प्राणवायु की विरलता के कारण उसमें गंभीर श्वसन, चिड़चिड़ापन, शिरोरुजा, अनिद्रा, मानसिक थकावट, नकसीर फूटना, कर्णक्ष्वेड (कान में आवाज), दिल में धड़कन और कभी-कभी वमन और शक्ति निपात इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसको पार्वत या विहगम व्याधि (Mountain, Aviator's sickness) कहते हैं। यदि मनुष्य धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाय तो शरीर भी विरल हवा के लिए धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जाता है और उपर्युक्त लक्षण नहीं उत्पन्न होते। शरीर में जो फर्क होता है वह रक्तगत कायाणुओं की संख्या और तद्गत रागक की वृद्धि में दिखाई देता है। स्वस्थावस्था में प्रति घ. सि. मा. (घन मिली मीटर) रुधिर कायाणु ५० लाख होते हैं। ऊँचाई पर सदैव रहने से उनकी संख्या ऊँचाई के अनुसार १ करोड़ तक हो सकती है।

स्वास्थ्य पर भाराधिक्य का परिणाम—यह स्थिति समुद्र तली पर काम करने वालों में उत्पन्न होती है। ये लोग बड़े-बड़े निमज्जन घटों (Diving bells) या संपीडित वातवेश्मों (Caissons) में बैठकर समुद्र में नीचे काम करने के लिए भेजे जाते हैं। घटों या वेश्मों में पीडन के साथ हवा भर देते हैं और गहराई के अनुसार पीड़न बढ़ाया जाता है। यह पीडन दो से चार वातावरण तक (३०–६० पौण्ड प्रतिवर्ग इञ्च) हो सकता है। इसका परिणाम रक्त में भूयाति के घुलने में होता है। जब मनुष्य इतने अधिक भार के वातावरण से कम भार के वातावरण में यकायक आता है तब रक्त में घुला हुआ वायु बुद्बुद

के रूप में निकलने लगता है और ये वातबुद्बुद रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसको वाय्वन्तःशल्यता (Gas embolism) कहते हैं। यह विकृति भयानक है। इससे वमन, भ्रम, हाथ पैरों में पीड़ा, एकांग या पक्षघात, मूर्च्छा, संन्यास इत्यादि लक्षण होकर मृत्यु तक हो जाता है। इसको वातवेश्म व्याधि (Caisson disease) कहते हैं।

चिकित्सा—रोग के लक्षण उत्पन्न होने पर रोगी को फिर से एक से अधिक वातावरण के दबाव के कमरे में रखना चाहिए। इसके लिए एक स्वतन्त्र कोठरी ही रखना उचित है।

प्रतिबन्धन—वातवेश्मरोग न होने के लिए विगाहकों को यकायक बाहर न जाना चाहिए। उनका निपीड़ धीरे-धीरे कम करने से यह आपत्ति नहीं उत्पन्न होती है। धीरे-धीरे निपीड़ कम करने की इस पद्धति को हाल्डेन की क्रमपद्धति (Stage method) कहते हैं। वैसे ही तीन वातावरण से अधिक भार के स्थान में १ घंटे से अधिक काम न करना चाहिए तथा बीच में कुछ घंटों तक आराम करके दूसरी बार काम करना चाहिए।

सूर्य प्रकाश—सूर्य प्रकाश की किरणें दृश्य और अदृश्य करके दो प्रकार की होती हैं। दृश्य किरणें सात रंग की होती हैं। उनके एक ओर लाल और दूसरी ओर बैंगनी किरणें होती हैं। इनसे प्रकाश मिलता है, इसलिए ये प्रकाश किरणें (Light-rays) कहलाती हैं। लाल के नीचे की और बैंगनी के ऊपर की किरणें अदृश्य होती हैं। लाल के नीचे की किरणें अधोरक्त (Infra red) कहलाती हैं और इनमें उष्णंकर (Calorific) या उष्णता देने का गुण होता है। इसलिए इनको उष्णता रश्मियाँ (Heat rays) भी कहते हैं। बैंगनी के ऊपर की किरणें नील-लोहितातीत (Ultra-violet) कहलाती हैं और उनमें रासायनिक परिवर्तन करने का गुण होता है। इसलिए इनको रसायनिक रश्मियाँ (Chemical rays) भी कहते हैं।

स्वास्थ्य पर परिणाम—जीव सृष्टि के स्वास्थ्य के लिए सूर्यप्रकाश[१] एक आवश्यक साधन है। सूर्य से हमको उष्णता और प्रकाश मिलता है। उसके बिना न पौधे पनप सकते हैं (पृष्ठ ४) न प्राणी जी सकते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से नीललोहितातीत सौर रश्मियाँ विशेष महत्व की हैं। इनमें जीवाणु नाशन का गुण होने के कारण (पृष्ठ ११, ४२) जल, स्थल और वातावरण में होनेवाले जीवाणु, जिनके ऊपर

---

१. आरोग्य भास्करादिच्छेत्। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

ये रश्मियाँ गिरती हैं, निर्बल होते हैं या मर जाते हैं। इनमें त्वचा के भीतर प्रवेश करके (पृष्ठ ७०) तद्गत व्युदपैत्तव तथा अन्य पैत्तवों को जीवतिक्ति घ में परिवर्तित करने की शक्ति होती है। अभ्यंग से विकिरण द्वारा (पृष्ठ १८३) होनेवाली उष्णता का नाश कम होता है। इसलिए जाड़े में अभ्यंग शीत रक्षा की दृष्टि से हितकर होता है। अभ्यंग सूर्य की किरणों को परावर्तित (Reflect) करके धूप से शरीर की रक्षा करता है। और सबसे अधिक उससे नीललोहितातीत रश्मियों के प्रचूषण में सहायता होती है जिससे अभ्यग करने के पश्चात् यदि थोड़ी देर धूप में बैठा जाय तो लगाये हुए तेल से तथा त्वचा के नीचे स्थित कुछ पूर्वसरों से (पृष्ठ ७०) शरीर में जी० घ की उत्पत्ति होती है। बच्चों और स्त्रियों को जी० घ० की अत्यन्त आवश्यकता होती है। अतः उनके लिए तैल लगाकर धूप में बैठना स्वास्थ्यवर्धक होता है। जीवतिक्ति घ की कमी के कारण बच्चों में अस्थिवक्रता रोग और स्त्रियों मे अस्थिमृदुता उत्पन्न (पृष्ठ ७१) हो सकता है। सूर्य प्रकाश की कमी राजयक्ष्मा

पो की उत्पत्ति में भी सहायता करती है।

कभी सूर्य किरणों की अधिकता हानि भी करती है। यह हानि अधिकतर उसकी पश्चात् क्रूर किरणों से होती है। अधिक काल तक धूप में काम करने से अनावृत की आवर जल जाती है और आतपज्वर, आतपमूर्च्छा इत्यादि विकार उत्पन्न होने में अन्य पथ्यता होती है। इसलिए कड़ी धूप से शरीर की, विशेषतया शिर और पृष्ठ महत्व जली रक्षा करनी चाहिए। शिरस्त्राण सिर को उष्णता से बचाकर ठण्ढा रखने के सहयोग का है (२०२) होता है।

को भारत में जलवायु वातावरण में होकर पृथ्वी पर तथा मनुष्यों पर आती हैं। उष्ण देश में रहकर तावरण के सघटक उनमें बहुत कुछ परिवर्तन करते हैं। धूलि, गर्म कपड़े, मोजे, बूट सेन्द्रिय पदार्थ इत्यादि से परिपूर्ण वातावरण सूर्य की नील- असभव है। अंग्रेज रश्मियों को नष्ट करता है या उनको बेकार करता है। यही कारण नी बस्तियों का सूर्यप्रकाश बाहर के खुले स्थान के सूर्य प्रकाश नहीं हो सकता।

सौरागार (Solarium)—सूर्यरश्मि चिकित्सा (Heliotherapy) के लिए लिए बनाये हुए ये मकान हैं। सौराष्ट्र के जामनगर में एक सौरागार बनाया हुआ है। उसका नीचे का हिस्सा स्थिर और ऊपर का ऊँचाई पर घूमने वाला (Revolving) होता है जिसमें बारहों मास तथा दिनभर सूर्य की रश्मियाँ आ सकती हैं। वहाँ पर ऊपर से विशेष करके स्फटिकों के द्वारा सूर्य की नीललोहितातीत और अधोरक्त रश्मियाँ लेने का प्रबंध किया हुआ रहता है जिनसे रोगों की चिकित्सा

की जाती है। जब सूर्यप्रकाश नहीं मिलता तब चिकित्सा में खण्डन होने के लिए बिजली की कृत्रिम रश्मियों का भी प्रबन्ध वहाँ पर किया हुआ रहता है।

जलवायुसात्म्य या देशसात्म्य

मनुष्यों के शरीरों में काल और परिस्थिति की दृष्टि से अनुवर्तन (Adaptation) करने की आश्चर्यकारक शक्ति है। प्रतिदिन, प्रति ऋतु और प्रतिवर्ष बाहर जो हेर फेर होते हैं, उनके अनुसार मनुष्यों के शरीर में परिवर्तन होते हैं। शीत में स्वेदाभाव और क्षुधावृद्धि एवं ग्रीष्म में स्वेदोत्पत्ति और क्षुधानाश ये कालानुवर्तित्व के सुन्दर उदाहरण हैं। वैसे ही ऊँचाई पर सदैव रहने से रुधिरकायाणुओं की वृद्धि (पृष्ठ २२१) परिस्थित्यनुवर्तित्व का सुन्दर उदाहरण है। अनुवर्तन में समय की आवश्यकता होती है और यह समय जिसका अनुवर्तन करना है उसकी अल्पता तथा महत्ता पर निर्भर होता है। यदि बहुत बड़े फर्क का अनुवर्तन करना हो तो समय अधिक और यदि अल्प फर्क का अनुवर्तन करना हो तो कम लगता है। इसका अर्थ यह है कि कभी कभी देशसात्म्य एक मनुष्य के जीवन में हो जाता है और कभी कभी अनेक पीढ़ियों तक की होता। यह समय कुछ अभ्यास तथा रहन-सहन पर भी निर्भर होत दूसरी अनुवर्तन से शरीर बलवान् रहता है। यही कारण है कि जिस प्रदेश की ज किरणें के तापादि अंगों में होनेवाले फर्क बहुत अधिक होते हैं उस प्रदेश के लोग किरणें (Equable) जलवायु के स्थान के लोगों की अपेक्षा अधिक प्रबल कहलाती हैं साहसी और मोटे ताजे होते हैं। भारतवर्ष में इसके लिए पंजाब है। इसलिए सीमा प्रान्त (सैन्धव देश) का उदाहरण (पृष्ठ २२७) दिया जा ऊपर की किरणें

जलवायु सात्म्य (Acclimatisation)—जब मनुष्यों यनिक परिवर्तन Chemical rays) समूह किसी एक स्थान में सदियों तक या कई पीढियों तक वस उस वंश या समूह के लोग उस स्थान की जलवायु से या देशप्रकृति से भली भाँति अभ्यस्त होकर उस जलवायु के हेरफेरों को तकलीफ के बिना सहन करने में समर्थ होते हैं। परतु जब वही वंश या समूह दूसरे विभिन्न जलवायु के स्थान में जाकर बसता है तब उनके शरीर नयी जलवायु से अनभ्यस्त होने के कारण उसके हेरफेरों को प्रारंभ में बिना तकलीफ के नहीं सह सकते। धीरे धीरे शरीर पर जलवायु के विविध अंगों का परिणाम होने लगता है और उससे अनुवर्तनक्षमता (Adaptability) बढ़ने लगती है। जैसे जैसे अनुवर्तनक्षमता बढ़ती जाती है वैसे वैसे जलवायु से होने वाली तकलीफें कम होती हैं और एक काल

ऐसा आ जाता है कि वे मनुष्य पूर्व जलवायु के समान इस नये जलवायु को भली भाँति सह सकते हैं। एक प्रकार की जलवायु या देशप्रकृति के स्थान से दूसरी प्रकार की जलवायु या देशप्रकृति के स्थान में जाकर बसने के बाद नयी जलवायु के हेरफेरों के साथ सफलता से प्रतीकार करने के लिए जितनी अनुवर्तन-क्षमता शरीर में उत्पन्न होनी चाहिए उतनी अनुवर्तनक्षमता उत्पन्न होने की स्थिति को जलवायुसात्म्य या देशसात्म्य कहते हैं। शारीरिक बल, मानसिक उत्साह, पराक्रमी वृत्ति, जनसंख्यावृद्धि और दीर्घायु ये देशसात्म्य के लक्षण हैं। देशान्तर करने के पश्चात् जब ये लक्षण किसी वंश (Race) या जाति के लोगों में दिखाई देने लगते हैं तब उनके लिए जलवायुसात्म्य हो गया ऐसा समझ सकते हैं।

देशसात्म्य की कुञ्जी—जलवायुसात्म्य शरीर के भीतरी परिवर्तनों से होता है इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु यदि देशसात्म्य का कार्य केवल भीतरी परिवर्तनों पर छोड़ दिया जाय तो सात्म्य होने में विलम्ब लगता है और कभी कभी सात्म्य हो भी नहीं सकता। इसका कारण यह है कि देशान्तर करने के पश्चात् दूसरे देश के रीति-रिवाज के अनुसार आहार-विहार, रहन-सहन रखने की आवश्यकता होती है। रोग चिकित्सा में आहार-विहार, रहन-सहन तथा अन्य पथ्यकर विषयों के सेवन में रोगी के सहयोग का जो महत्व होता है वही महत्व जलवायुसात्म्य प्राप्ति में आहार-विहारादि विषयों के सेवन में मनुष्यों के सहयोग का है। कुछ शास्त्रज्ञों की यह राय है कि यूरोप के या इंग्लैण्ड के लोगों को भारत में जलवायुसात्म्य नहीं हो सकता। कैसे हो? यदि वे भारत जैसे उष्ण देश में रहकर अपने शीत देश का मांसाहार, मद्यसेवन, नेकटाय, कालर, गर्म कपड़े, मोजे, बूट इत्यादि को छोड़ना नहीं चाहते तो उनके लिए देशसात्म्य असंभव है। अंग्रेज बड़े पुराने मत के और दुराग्रही (Conservative) होते हैं। यदि वे भारत में रहकर भारतीयों के समान आहार-विहार, वस्त्र प्रावरण इत्यादि का सेवन करेंगे तो देशसात्म्य होने में देरी नहीं लगेगी। भारत उष्ण देश है। यहाँ पर मांसप्रधान आहार, अत्यधिक मद्यसेवन तथा धूम्रपान, दिन रात गरम कपड़ों से पैर से सिर तक शरीर को ढाकना अहितकर होता है। उष्ण प्रदेश में तापाधिक्य शरीर में अधिक अम्लों की उत्पत्ति करके रक्त की अम्ल-क्षार समता (Acid base equilibrium) को बिगाड़ता है तथा आन्त्र में अधिक सड़न पैदा करता है। मांसाहार दोनों में (पृष्ठ १६४) सहायता करता है। इसलिए उष्ण प्रदेश में आने पर उनको मांसाहार धीरे-धीरे कम करना चाहिए। तापाधिक्य

त्वचागत रक्त संचार को बढ़ाकर स्वेद उत्पन्न करता है और यकृत् को सुस्त तथा अकार्यक्षम करता है। मद्य भी वही कार्य करता है। इसलिए मद्यसेवन भी उष्ण प्रदेश में आने पर उनको धीरे-धीरे कम करना चाहिए। तापाधिक्य से त्वचा काली हो जाती है। यह कालापन त्वचा में मेचकि (Melanin) नामक रागक की उत्पत्ति से होता है। यह काला रंग धूप से शरीर की रक्षा करता है। यही कारण है कि अधिक उष्ण प्रदेश के लोग अधिक काले, मध्यम उष्ण प्रदेश के साँवले और शीत प्रदेश के लोग गोरे होते हैं। त्वचा का रंग एक नैसर्गिक स्थिति है, इसमें उच्चता, नीचता या छोटे-बड़ेपन का जरा सा भी संवन्ध नहीं होता। अंग्रेजों को भारत में आने पर धीरे-धीरे सिर से पैर तक शरीर को ढाकने की आदत छोड़कर भारतियों के समान काला आदमी बनना चाहिए। यदि वे भारत में रहकर 'गोरासाव' रहना चाहते हैं जो उनको आतपज्वर, आतपमूर्च्छा तथा अन्य आतपजन्य विकारों से बचने की आशा भी न करनी चाहिए।

देशसात्म्य के नियम[1]—जिस देश में सदा के लिए रहना है, उस देश के निवासियों के समान आहार-विहार रहन-सहन रखना चाहिए। प्रत्येक देश के आहार-विहार रहन-सहन की पद्धति के पीछे सैकड़ों या सहस्रों वर्षों का अनुभव रहता है। यदि आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से उसमें कोई खास दोष मालूम हो उसको दूर कर सकते हैं। यह इसलिए बताया गया है कि कई बार लोगों के आहार-विहार रहन-सहन इत्यादि में अस्वास्थ्यकर रीति रिवाज रहते हैं, जो नये मनुष्यों के लिए हानिकर हो सकते हैं परन्तु जो तद्देश निवासियों को सैकड़ों या सहस्रों वर्षों के अभ्यास से बहुत कम हानिकर होते हैं।

देशसात्म्य[2] प्राप्त होने के लिए देश गुण विपरीत आहार-विहार रखना पड़ता

---

१ सात्म्यानि तु देशजातिरोगर्तुव्यायामोदकदिवास्वप्नप्रभृतीनि यान्यबाधकराणि भवन्ति।

उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणे सति ॥ सुश्रुत ॥

२. तत्र देशसात्म्यं व्यायामादि यद्देशगुणविपरीत, यथा—अनूपे शीतस्निग्धे, उष्णरूक्षमन्न चेष्टितं च, तद्विपरीत जाङ्गले श्रेयम्। उक्त हि चरके—देशानामामयाना च विपरीतगुणं गुणैः। सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टित चाद्यमेव च ॥इति॥ अन्ये तु देशशब्देन देशस्थानामपि ग्रहणात् तद्देशस्थसात्म्यमपि देशसात्म्य ग्राहयन्ति। यथा—वाह्लीका पह्लवाश्चीनाः शूलिकाः यवनाः शकाः। मांसमाध्वीकगोधूमशाल्वैश्वानरगोचिताः ॥ चरक। इति। एतच्च यदि देशगुणविपरीतं न भवति तदौकसात्म्ये प्रविष्टमेवेति पश्यामः॥ चक्रपाणिदत्त। सुश्रुत टीका ॥

है। जैसे शीत प्रदेशों में अधिक उषंकरी अर्हा (पृष्ठ ८० देश प्रकृति देखो) का अर्थात् गरम आहार तथा अन्य गरम वस्तुओं का सेवन, गरम कपड़ों का उपयोग इत्यादि और उष्णदेश में इससे विपरीत।

[1]एक देश से दूसरे विभिन्न देश में स्थानान्तर करने के पश्चात् आहार-विहार का परिवर्तन धीरे-धीरे करना चाहिए। शरीर एक प्रकार के आहार-विहार से अभ्यस्त होने के कारण यदि परिवर्तन यकायक किया तो हानिकारक होगा। धीरे-धीरे अभ्यास करने से शरीर दूसरे प्रकार के आहारादि के लिए भी तयार हो (३३१ पृष्ठ पर ऊँचाई का परिणाम देखो) जाता है।



१. एक सात्म्य छोडकर दूसरा सात्म्य प्राप्त होने के बीच में जो समय बीतता है उसको सधिकाल कहते हैं। इस संधिकाल में पूर्वसात्म्य के आहारादि को धीरे-धीरे छोडकर दूसरे सात्म्य के आहारादि को धीरे-धीरे ग्रहण करना चाहिए—

तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात्।
असात्म्यजा हि रोगाः स्यु. सहसा त्यागशीलनात्॥ अष्टांगहृदय॥
उचिदादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।
हित क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते॥
क्रमेणापचिता दोषा. क्रमेणोपचिता गुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च॥ चरक॥

दशम अध्याय

उपसर्ग और उसका प्रतिबन्धन

जीवाणु (Microbes, micro-organisms)

व्याख्या, वर्ग, प्रकार—संसार की सजीव या चेतन सृष्टि में जो जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनको देखने के लिए अणुवीक्षणयन्त्र या सूक्ष्मदर्शक (Microscope) की आवश्यकता होती है वे अणुवीक्ष्यजीव या जीवाणु कहलाते हैं। ये अनन्त और सर्वव्यापक होते हैं। कुछ तो हमेशा पालतू प्राणियों के समान मनुष्यों की त्वचा पर, बालों पर, पचन संस्थान में, मूत्र-प्रजनन-संस्थान में, कर्णनासादि अगों में उपस्थित रहते हैं। ये सहवासी या सहभोजी (Commensals) कहलाते हैं। अधिक संख्य जीवाणु सृष्टिचक्र में बहुत ही (पृष्ठ २४२) लाभदायक होते हैं। इनके द्वारा दूध से दही, पनीर, गन्ने या द्राक्षा रस से मद्य, मैले से खाद (पृष्ठ २७४, २८०), मृत शरीरों (पृष्ठ ३०६) से मिट्टी, वातावरण से भूयाति को ग्रहण करके उससे पौधों के लिए खाद इत्यादि अनन्त आवश्यक क्रियाएँ हुआ करती हैं। जो जीवाणु केवल मृतशरीरों पर या सडे गले सेंद्रिय द्रव्यों पर अपना निर्वाह करते हैं और जीवधारियों से प्रायः दूर रहते हैं वे पूत्युपजीवी (Saprophytes) कहलाते हैं। जो भूयाति से खाद बनाते हैं वे भूयीय-तृणाणु (Nitro-bacter) कहलाते हैं। कुछ जीवाणु प्राणियों में रोग भी उत्पन्न करते हैं। ये विकारी जीवाणु (Pathogenic) या रोगाणु कहलाते हैं। ये अपना निर्वाह अन्य जीवधारियों के ऊपर करते हैं, इसलिए परोपजीवी (Parasites) भी कहलाते हैं। कुछ वास्तविक विकारी जीवाणु कभी-कभी सहवासी स्वरूप के याने शरीर में रहते हुए भी रोग न उत्पन्न करनेवाले होते हैं। विकारी जीवाणुओं की यह स्थिति वाहकों (Carriers) में दिखाई देती है। सब विकारी जीवाणु सब जाति के प्राणियों में रोग उत्पन्न नहीं कर सकते। कुछ मनुष्येतर प्राणियों में, कुछ केवल मनुष्यों में और कुछ दोनों में रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

जीवाणुओं के मुख्यतया निम्न मोटे-मोटे वर्ग किये जाते हैं।

(१) तृणाणु (Bacteria)—ये वनस्पति वर्ग के अत्यन्त सूक्ष्म जीव माने जाते हैं। ये केवल एक कोशा (Cell) के होकर आकार में गोल, लम्बे या

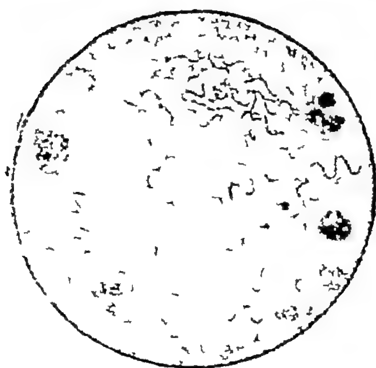
टेढ़े होते हैं। इनके शरीर में न्यष्टि नहीं होती। सख्यावृद्धि वड़ी तेजी के साथ लम्बाई या चौड़ाई के रूख फट जाने से होती है। कुछ गतियुक्त या चञ्चल होते हैं और कुछ प्रतिकूल परिस्थिति में क्षुल्लक (Spore) जैसे प्रतिकारक रूप धारण कर सकते हैं। आकार के अनुसार इनके निम्न भेद किये जाते हैं—

(अ) गोलाणु (Cocci)—ये सरसों के समान गोल-गोल या कुछ लंबोतरे होते हैं। लंबाई और चौड़ाई में इनका व्यास प्रायः समान होता है। मोटाई प्रायः १ णु (म्यू) के करीब होती है।

(आ) दण्डाणु (Bacilli)—ये डण्डे के समान लम्बे हैं। कुछ चौखूँटे और कुछ अडाकार भी होते हैं। इनकी लम्बाई चौडाई से दुगुनी या उससे अधिक होती है।

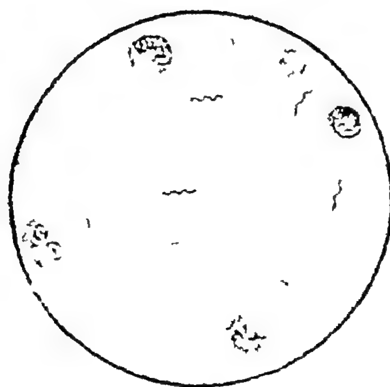
(इ) चक्रकाणु (Spirillae)—ये कुछ टेढ़े मुड़े हुए या चक्राकार होते हैं। जब एक स्थान में वक्रता होती है तब ये वक्राणु (Vibrio) कहलाते हैं; जैसे—विसूचिका वक्राणु। जब चक्राकार अनेक वक्रताएँ होती हैं तब उसको चक्रकीटाणु (Spirochaete) कहते हैं। ये सब गतियुक्त या चञ्चल होते हैं। ये लम्बाई में बहुत अधिक होते हैं।

आवर्तक ज्वर के चक्रकीटाणु



चित्र न० २१

मूषकदशज्वर के चक्रकाणु



चित्र न० २२

(२) कीटाणु (Protozoa)—ये प्राणि विभाग के अत्यन्त सूक्ष्म जीव माने जाते है। ये तृणाणु के समान एक कोशा के ही होते हैं, परन्तु इनमे न्यष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। ये आकार में गोल या बहुत लम्बे तथा

प्रायः गतियुक्त होते हैं। संख्या-वृद्धि विभजन, कोषोत्पत्ति या मैथुन से होती है। इनका निश्चित जीवन-चक्र होता है और कई कीटाणुओं में इसके लिये दो स्वतन्त्र प्राणियों की आवश्यकता होती है। कुछ कीटाणु प्रतिकूल परिस्थिति में प्रतिकारक कोष्ट (Cysts) बनाते हैं।

(३) रिकेट्सिया (Rickettsia)—शरीररचना में तृणाणुओं से मिलते हैं। परन्तु कृत्रिम निर्जीव वर्धनकों में संवर्धित न होने के गुण में ये तृणाणुओं से भिन्न और विषाणुओं से मिलते जुलते होते हैं। सूक्ष्मता में ये तृणाणुओं से सूक्ष्म और विषाणुओं से कुछ बड़े होते हैं। इनमें कुछ रिकेट्सिया इसलिए सूक्ष्मदर्शकातीत और निस्यन्दनशील और कुछ अनिस्यन्दनशील होते हैं। ये केवल जीवित कोशाओं में वर्धित हो सकते हैं। इनसे अनेक प्रकार के तन्द्रिक ज्वर उत्पन्न होते है।

(४) सूक्ष्म दर्शकातीत (Ultra-microscopic)—उपर्युक्त तीनों प्रकार के जीवाणु सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी जीवाणु विद्यमान हैं कि जो सूक्ष्मदर्शक से दिखाई नहीं देते। ये सूक्ष्मदर्शकातीत या अतिसूक्ष्म कहलाते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म निस्यन्दकों (Filters) से छनकर बाहर निकल आते है, इसलिए निस्यन्दनशील (Filterable) कहलाते हैं। अदृश्य होने के कारण इनके स्वरूपादि का ज्ञान असम्भव है। कार्य की दृष्टि से इस वर्ग के जीवाणु विषाणु (Virus) कहलाते हैं।

परिमाण (Size)—जीवाणुओं के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उनके शरीर मापन के लिये जो मानदण्ड नियत किया गया है वह अत्यन्त सूक्ष्म है और उसे μ (मैक्रोन संक्षेप-म्यू) कहते है। इसकी लम्बाई एक मिलीमीटर का $\frac{१}{१०००}$ भाग या एक इञ्च का $\frac{१}{२५०००}$ भाग होती है। इसका अर्थ यह है कि जो जीवाणु एक μ लम्बा है उसके २५००० जीवाणु एक सीध में पास-पास रक्खें जायँ तो वे लम्बाई में एक इञ्च होंगे। परिमाण की दृष्टि से सूक्ष्मदर्शकातीतों के सम्बन्ध मे कहना बेकार है। तृणाणु साधारणतया कीटाणुओं की अपेक्षा परिमाण में छोटे होते हैं।

वासस्थान—तृणाणु सर्वव्यापी होने के कारण वायु, जल, भूमि तथा प्राणियों के शरीर पर कहीं अधिक कहीं कम, कभी अधिक कभी कम संख्या मे मिलते है। इनमें विकारी और अविकारी दोनों प्रकार के उपस्थित रहते है।

भूमि—भूमि के उपरितन भाग में इनकी संख्या बहुत अधिक होती (पृष्ठ ९) है और पाँच-छः फुट गहराई के पश्चात् कम होती है। नीचे के भाग

में वातभी स्वरूप के होते हैं। भूमि में होनेवाले तृणाणु अधिकतर पूत्युपजीवी होते है, जो सेन्द्रिय पदार्थों में सडन उत्पन्न करके उनका नाश करते हैं। इनके अतिरिक्त विकारी स्वरूप के भी अनेक तृणाणु समय समय पर उपसृष्ट रोगियों के मलमूत्रादि के साथ भूमि में पहुँच जाते हैं। विकारियों में निम्न प्रधान हैं—पूयजनक गोलाणु, क्षय, कुष्ठ, अंगारक्षत (ऐन्थ्राक्स), धनुर्वात, अतीसार, विसूचिका, आन्त्रिकज्वर, एन्फ्लुएन्जा, दुष्टशोथ, वातिककोथ के दण्डाणु।

जल—जल में भी अनेक तृणाणु उपस्थित रहते हैं। इनके तीन विभाग कर सकते हैं। (१) स्वाभाविक जल तृणाणु (Water bacteria), ये अविकारी होते हैं। (२) स्थली तृणाणु (Soil bacteria), ये वर्षा के कारण भूमि से बहकर पानी में मिलते हैं या जब जोर की हवा चलती है तब धूलि के साथ उड़कर पानी में मिलते हैं। (३) मोरी परनाले के मलोदक (Sewage) तृणाणु, ये विकारी होते हैं। इनमें निम्न प्रधान हैं—विसूचिका, अतीसार, आन्त्रिकज्वर के दण्डाणु। इनके अतिरिक्त भूमि में मिलनेवाले अन्य सब तृणाणु पानी में मिल सकते हैं।

वायुमण्डल—तृणाणु वायुमण्डल में भी होते हैं। इनकी सख्या, ऋतु, स्थान और वायु-प्रवाह पर न्यूनाधिक हुआ करती है। ग्रीष्म ऋतु में शरद् तथा हेमन्त ऋतु की अपेक्षा अधिक होते हैं। खूब पानी बरसने के बाद इनकी सख्या वायुमण्डल से कम हो जाती है। जोर से हवा चलने पर इनकी संख्या बढ़ती है। जिस स्थान पर मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की बस्ती होती है उस स्थान के वायुमण्डल में अन्य स्थान की अपेक्षा इनकी सख्या अधिक होती है। वायुमण्डल में विकारी तथा अविकारी दोनों रहते हैं। विकारियों में निम्न प्रधान हैं।

सामान्य पूयजनक गोलाणु, राजयक्ष्मा, धनुस्तम्भ, अगारक्षत आंत्रिकज्वर, इन्फ्लुएन्जा, रोहिणी के दण्डाणु, मसूरिका, रोमान्तिका आदि के विषाणु।

प्राणियों का शरीर—मनुष्यों की त्वचा पर विशेष करके नखों में तथा अतिकेशयुक्त भागों पर जीवाणु सदैव उपस्थित होते हैं। महास्रोत में विशेष करके मुख, गला तथा आन्त्र में इनकी संख्या पर्याप्त होती है। आमाशय में अम्ल के प्रभाव से इनकी संख्या बहुत कम होती है। श्वसनसंस्थान में नासा-पश्चिम-भाग, ग्रसनिका तथा मोटी-मोटी श्वासनलिकाओं में जीवाणु होते हैं। स्वस्थावस्था में वायुकोष तथा सूक्ष्मश्वासनलिकाओं में ये नहीं मिलते हैं। बाह्य गुह्यांगों में ये होते हैं। शरीर पर रहनेवाले ये सहवासी या सहभोजी (Commensals) कहलाते हैं।

सहवासियों में विकारी तथा अविकारी दोनों प्रकार के उपस्थित रहते हैं। विकारी क्वचित् मनुष्यों के मुख, नासा और महास्रोत में निवास करते हुए भी रोग उत्पन्न नहीं करते हैं पर उनका उत्सर्ग शरीर-छिद्रों से सदैव होता है जिससे अन्य लोग रोग से पीड़ित हो जाते हैं। शरीर के भीतर रहने की यह अवस्था 'वाहकावस्था' (Carrier stage) कहलाती है और जिस मनुष्य के शरीर से जीवाणु निकल आते हैं वह मनुष्य 'वाहक' (Carrier) कहलाता है। यह अवस्था विशेष करके अतीसार, रोहिणी, आन्त्रिक, रोहिणी, विसूचिका इत्यादि के सम्बन्ध में देखने में आती है।

अनेक प्राणियों और कीटकों के शरीर में भी अनेक विकारी जीवाणु सहभोजी के तौर पर, विकार करने के लिए या उनमें अपनी जीवनी का एक चक्र व्यतीत करने के लिए उपस्थित रहते हैं।

उपसर्ग (Infection)

व्याख्या—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि विकारी जीवाणु हवा में, पानी में, भूमि में, मुख में, नासा में, गले में, त्वचा पर उपस्थित रहने के कारण बराबर खाद्यपेयों तथा साँस द्वारा शरीर में प्रवेश करते रहते हैं। परन्तु केवल प्रवेश या उपस्थिति उपसर्ग के लिए पर्याप्त नहीं होती। उपसर्ग उत्पन्न होने में जीवाणुओं की संख्या, तीव्रता, प्रवेश मार्ग, निवास स्थान, आक्रान्त मनुष्य की आयु, प्रकृति, शारीरिक और मानसिक स्थिति इत्यादि कई बातों का सम्बन्ध आता है। उपसर्गकारी जीवाणुओं की उपस्थिति की उस अवस्था को उपसर्ग कह सकते है जब ये शरीर में पनपकर संख्यावृद्धि और विषोत्पत्ति करके शरीर पर अपना प्रभाव डालने लगते है और उसके कारण शरीर के धातुओं मे प्रतिक्रिया प्रारंभ होती है।

उपसर्ग के स्थान (Sources of infection)—जिन प्राणियों में उपसर्गकारी जीवाणु पनपते हैं, प्रगुणित होते हैं उनको उपसर्गस्थान कहते हैं। सब औपसर्गिक रोग ग्रहणशील (Susceptible) मनुष्यों में इन उपसर्गस्थानों से आये हुए उपसर्गकारी जीवाणुओं के आक्रमण से हुआ करते हैं। इन उपसर्गस्थानों को उपसर्ग के सञ्चयाधार (Reservoir) भी कहते हैं। भूमि, जल, खाद्यपेय, हवा इनमें रहनेवाले (पृष्ठ ३४१) उपसर्गकारी जीवाणुओं से भी औपसर्गिक रोग होते हैं परन्तु इनको उपसर्गस्थान नहीं कहते परन्तु उपसर्ग के वाहन (Vehicle) कहते

हैं। मनुष्यों को उपसर्ग पहुँचानेवाले स्थान अनन्त होते हुए उनको निम्न तीन वर्गों में बाँट सकते है।

(१) मनुष्य—मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु होता है। यह कटु सत्य अन्य व्यवहारों के समान रोगों के सम्बन्ध में भी अनुभव में आता है। व्याधित या वाहक मनुष्यों के द्वारा अनेक भीषण रोग स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं।

(२) चतुष्पाद प्राणि—ये प्राणि प्रायः घरेलू या पालतू होते हैं और हमेशा मनुष्यों के निकट संवन्ध में आते है।

(३) कीटक—ये प्रायः मनुष्योपजीवी कीड़े होते है जो अधिकतर मनुष्यों के रक्त पर अपना निर्वाह किया करते हैं। इनका अपना कोई रोग नहीं होता, परन्तु ये अन्य व्याधित प्राणियों या मनुष्यों से रोगाणुओं का संवहन करके उनको स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त करते हैं। पिस्सू, जूँआ, खटमल ऐसे कुछ कीटकों के अन्न स्रोतमे रिकेट्सिया जाति के (पृष्ठ ३४०) जीवाणु स्वाभाविक निवासी होते हैं जो उनके लिए अविकारी होते हुए मनुष्यों के लिए विकारी होते हैं। नीचे तीनों विभागो से मनुष्यों को प्राप्त होने वाले रोगों के नाम दिए जाते हैं।

१. मनुष्यजन्य—गर्दनतोड़ बुखार, फुफ्फुसपाक (न्यूमोनिया), सोजाक, फिरंग, उपदंश, विसूचिका, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, एन्फ्लुएन्जा, राजयक्ष्मा, कुकुर खाँसी, कुष्ठ, रोहिणी, मसूरिका, रोमान्तिका, पीतज्वर, कनफेर, विषमज्वर, कालाजार इत्यादि।

२. प्राणिजन्यरोग—घोडे से धनुर्वात; गौ से धनुर्वात, क्षय, अगारक्षत, माल्टा ज्वर; भेड़ से धनुर्वात, अगारक्षत, वकरी से माल्टा ज्वर, कुत्ते, सियार से जल संत्रास; वदरों से पीत ज्वर; चूहे से प्लेग, मूषिकदशज्वर, स्फीतकृमि, औपसर्गिक कामला इत्यादि।

३. कीटकजन्यरोग—आगे पृष्ठ ३४६ देखिए।

उपसर्गान्तर (Cross infection)—जव एक प्रकार के उपसर्ग से पीडित होते हुए दूसरे प्रकार के उपसर्ग से पीडित होते है तव उपसर्गान्तर कहते हैं। घर की अपेक्षा आतुरालय में इसको प्राप्त करने की सभावना वरावर वनी रहती है क्योंकि वहाँ एक ही विभाग में अनेक प्रकारों के उपसर्ग से पीडित रोगी साथ-साथ रहते हैं और उनके उपसर्गकारी जीवाणु निम्नोक्त पद्धतियों से शरीर के वाहर निकल

कर विविध संक्रमण मार्गों से एक दूसरे के पास पहुँचते रहते हैं। उन उपसर्गों में श्वसन संस्थान, पचन संस्थान और त्वचा के उपसर्ग विशेष महत्व के होते हैं। उपसर्गान्तर होने का भय शिशुओं और बालकों में अधिक रहता है।

प्रभाव—रोगाणुओं के उपसर्ग से भीषण स्वरूप के असंख्य संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं, जो प्रतिवर्ष असंख्य प्राणियों का संहार किया करते हैं तथा असंख्य प्राणियों को सदा के लिए या अल्प काल के लिए दुर्बल बनाकर उनका जीवन संकटमय बनाते हैं। तृणाणुविषाणुजन्य रोग संख्या में बहुत, शीघ्र फैलनेवाले, भयानक और संसारव्यापी होते हैं। कीटाणुजन्य रोग संख्या में मध्यम, चिरकालीन स्वरूप के, धीरे-धीरे फैलनेवाले और प्रायः उष्ण या अनुष्णकटिबन्धव्यापी होते हैं। रिकेट्सियाजन्य रोग संख्या में सबसे कम, प्रायः एकैकेशः होने वाले हैं।

उपसर्गस्थानों से रोगाणु निष्क्रमण मार्ग—उपसर्गकारी जीवाणु जब तक अपने उपसर्ग स्थानों में ही मर्यादित या बंद रहते हैं तब तक उनसे किसी को कोई डर नहीं होता। औरों पर उनका आक्रमण होने के लिए उनका अपने स्थान से बाहर निकलना आवश्यक होता है। निकलने के मार्ग शरीर के उपसृष्ट संस्थानों या अंगों के अनुसार निम्न हो सकते हैं—

(१) श्वसनमार्ग—मुख और श्वसन संस्थान के विविध प्रत्यंगों के उपसर्गकारी जीवाणु मुख नासा से बाहर निकलते हैं। श्वासप्रश्वास का कार्य निरन्तर जारी रहना आवश्यक होने के कारण इस मार्ग से निकलनेवाले जीवाणुओं द्वारा फैलने वाले रोगों का नियन्त्रण करना बहुत कठिन कर्म होता है।

(२) आन्त्रमार्ग—इसके जीवाणु प्रायः गुद से मल के साथ निकलते हैं। वमन से यद्यपि जीवाणु निकल सकते हैं तथापि वमन द्वारा निकलने की सम्भावना बहुत कम होती है।

(३) मूत्रमार्ग—मूत्रण और प्रजनन संस्थान के जीवाणु मूत्र मार्ग से मूत्र के साथ निकलते हैं।

संक्रमणमार्ग—उपर्युक्त मार्गों से अपने स्थानों के बाहर निकलने पर जिन मार्गों से ये रोगाणु अन्य मनुष्यों तक पहुँचते हैं उनको संक्रमण मार्ग (Modes of transmission) कहते हैं। ये तीन हैं—

१. प्रत्यक्ष (Direct) संक्रमण—इस मार्ग में मृत, व्याधित या वाहक मनुष्य या पशु के प्रत्यक्ष संसर्ग से उपसर्ग का प्रसार होता है। फिरंग, सोजाक, उपदंश

तथा त्वचा के अनेक रोग प्रत्यक्ष सस्पर्श या संसर्ग से फैलते हैं। प्रत्यक्ष संसर्ग से फैलनेवाले रोग ।स्पर्शिक या सासर्गिक (Contagious) कहलाते हैं।

स्पर्श के समान चुम्बन, दूषित हाथ, चम्मच, प्याला, रूमाल, तौलिया इत्यादि रोगी से सबंध रखनेवाले साधन भी प्रत्यक्ष में समाविष्ट किये जाते हैं।[1]

कुछ रोगों मे प्रत्यक्ष संसर्ग की आवश्यकता नहीं होती। रोगी के खाँसते, छींकते, जोर से बोलते समय मुख-नासा-गलास्राव के सूक्ष्म विन्दु जोर से बाहर उत्क्षिप्त होकर सामने बैठनेवालों को उपसर्ग पहुँचाते हैं। इसको विन्दूत्क्षेपोपसर्ग (Droplet infection) कहते है। इस प्रकार से राजयक्ष्मा, प्रतिश्याय, मस्तिष्क-सुषुम्नाज्वर, रोहिणी, कुकुरखाँसी, रोमान्तिका, फुफ्फुस प्लेग, फुफ्फुसपाक (न्युमोनिया), एन्फ्लुएञ्जा इत्यादि रोग फैलते है।

प्राणियों के कुछ रोग जो मनुष्यों में भी हुआ करते हैं, प्रत्यक्ष संबध से ही हुआ करते हैं। इनमें जलसन्त्रास और मूषिकदंशजज्वर उल्लेखनीय हैं। ये रोग उपसृष्ट कुत्ते के और चूहे के काटने से होते है।

सक्षेप में उपसृष्ट प्राणियों से संबध, उनसे सम्बन्धित वस्त्रपात्रादि से सम्बन्ध, विन्दूत्क्षेप और उपसृष्ट प्राणियों के दंश ये प्रत्यक्ष सक्रमण मार्ग मे समाविष्ट किये जाते है।

२. अप्रत्यक्ष सक्रमण (Indirect)—जब उपसर्ग उपसृष्ट प्राणियों से उपर्युक्त स्वरूप का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होते हुए अनुपसृष्ट व्यक्तियों पर सक्रान्त होता है तब उसको अप्रत्यक्ष संक्रमण कहते हैं। इसके लिए उपसर्गकारी जीवाणुओं में शरीर के बाहर कुछ काल तक जीवित रहने की शक्ति तथा उनको एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने के लिए वाहन इन दो बातों की आवश्यकता होती है। इस वाहन को (Vehicle) प्रसारक (Vector) कहते हैं।

ये प्रसारक सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के हो सकते हैं। दूषित जल,

---

[1] प्रसगाद्गात्रसंस्पर्शान्नि श्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम्॥ सुश्रुत॥

तत्र नासारन्ध्रानुगतेन वायुना श्वासकासप्रतिश्यायत्वगिन्द्रियगतेन ज्वरमसूरिकादय.। डल्हण॥ अस्माकं शरीराणि व्रणमुखेन, अन्नपानादिद्वारेण प्रविष्टाः। सायनाचार्य॥

दूध, वायु, भूमि, खाद्य ये निर्जीव के और विविध कीड़े-मकोड़े सजीव के उदाहरण हैं।

कीटक—काटनेवाले और न काटनेवाले करके कीटकों के दो विभाग कर सकते हैं। इनके द्वारा रोगों का प्रसार निम्न प्रकारों से होता है।

(१) इसमें कीडे अपने परों, सूँडों, पैरों पर रोगाणुओं को ढोकर एक स्थान से दूसरे स्थान में छोड़ने का काम किया करते हैं। इनको निष्क्रिय (Passive) या केवल या यान्त्रिक (Mechanical) प्रसारक कहते हैं। घरेलू मक्खी इसका उत्तम उदाहरण है।

(२) इसमें कीड़े दंश करके अपने महास्रोत में रोगाणुओं को लेकर उनको संवर्धित होने देते हैं और पश्चात् अनेकगुण संख्या में उनको अपने दंश से स्वस्थ मनुष्यों पर उनका संक्रमण किया करते हैं। पिस्सू इसका उत्तम उदाहरण है।

(३) इसमें कीड़ों के शरीर में रोगाणुओं के जीवनचक्र का एक चक्र हुआ करता है जिसके बिना वे दूसरों पर संक्रमण नहीं कर सकते। विषमज्वर प्रसारक मच्छर और कालज्वर प्रसारक कालमक्षिका (फ्लेबोटोमस) इसके उत्तम उदाहरण हैं।

(४) इसमें कीडे स्वयं रोगाणुओं का संवर्धन करते हुए अपनी सन्तान में भी उनको संक्रान्त करते हैं जिससे एक बार उपसृष्ट हुआ कीड़ा केवल स्वयं ही नहीं, अपनी संतान द्वारा भी रोग का प्रसारक बना रहता है। परिवर्तित (Relapsing), और शैलपर्वत (Rocky mountain) ज्वर की किलनी (Tick) और वालुमक्षिका (Sand fly) ज्वर की वालुमक्षिका इसके उत्तम उदाहरण हैं।

कीटकों से फैलनेवाले रोग—

(१) गृहमक्षिका—आन्त्रिक, विसूचिका, अतीसार तथा अन्य खाद्यपेय संवाहित रोग।

(२) मच्छर—विषमज्वर, श्लीपद, दण्डकज्वर, पीतज्वर।

(३) पिस्सू—प्लेग, तन्द्रिकज्वर, शैशवीय कालज्वर।

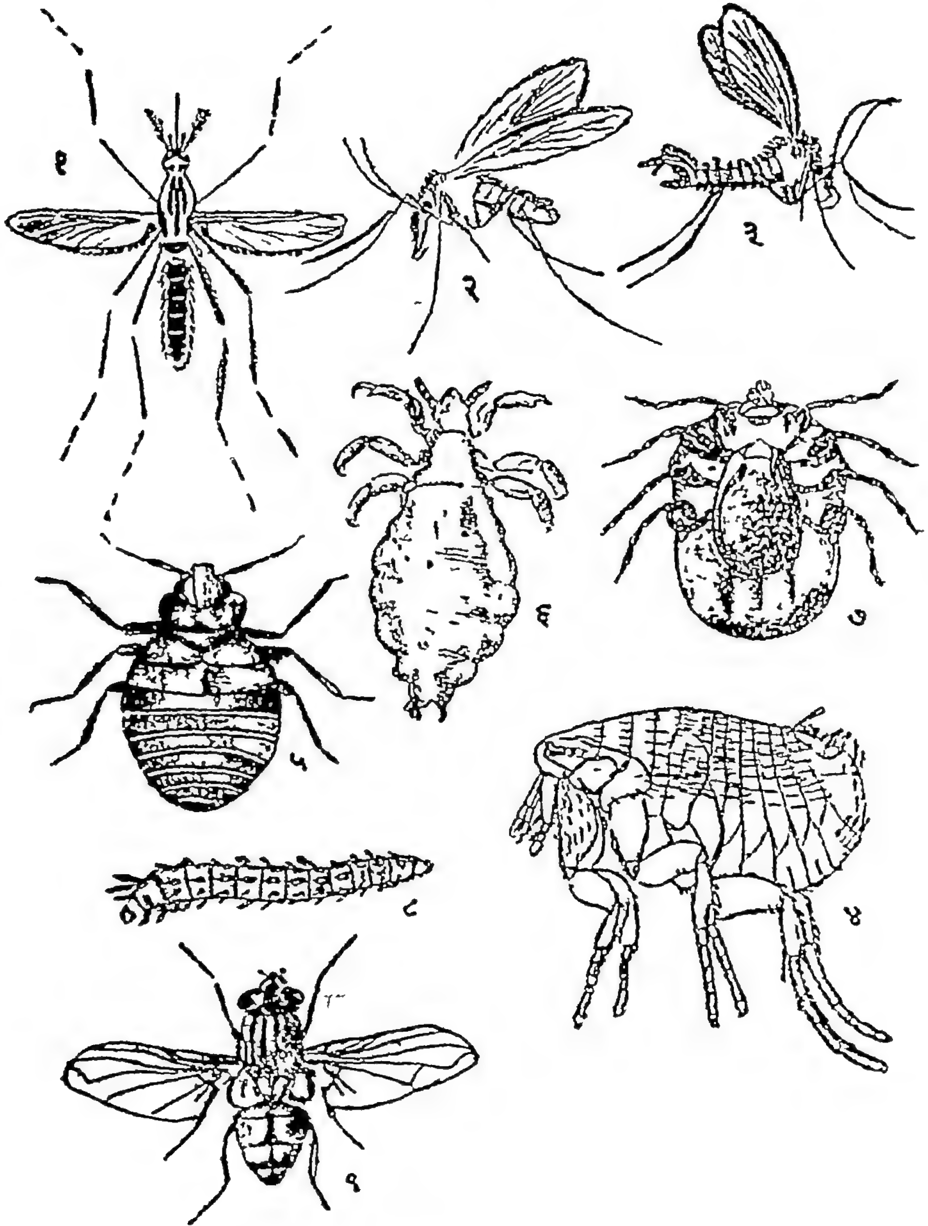
(४) यूका—तन्द्रिकज्वर, परिवर्तितज्वर; खंदकज्वर।

(५) कालमक्षिका (Tse Tse)—निद्रारोग।

(६) वालुमक्षिका—कालाजार, वालुमक्षिकाज्वर, पौर्वात्यव्रण।

(७) किलनी (Tick)—आफ्रिकाका परिवर्तितज्वर, तन्द्रिकज्वर, शैलपर्वतज्वर।

रोगवाहक कीटक



चित्र न० २३

१ मच्छर, २-३ कालाजार की मक्खी, ४ पिस्सू, ५ खटमल, ६ जूँ, ७ किलनी-८ घरेलू मक्खी की इल्ली, ९ घरेलू मक्खी।

(४) वाहक—जो मनुष्य अपने शरीर में विकारी जीवाणुओं को स्थान देते हुए स्वयं पीड़ित नहीं होते हैं वे वाहक कहलाते हैं। वाहक दो प्रकार के होते हैं। जो रोग निर्मुक्त होने के पश्चात् न्यूनाधिक काल तक जीवाणुओं का वाहन करते हैं वे व्याधित वाहक होते हैं; इनके भी संनिवृत्त वाहक और कालिक वाहक करके दो विभाग होते हैं। आगे आन्त्रिक ज्वर देखिए। और जो स्वयं रोग से कदापि पीड़ित न होते हुए जीवाणुओं का वहन करते हैं वे स्वस्थ वाहक होते हैं। ये वाहक खाद्यपेय पदार्थों को तथा हवा को दूषित करके रोग प्रसार में सहायता करते हैं। एक दृष्टि से वाहक मनुष्य रुग्ण मनुष्य के समान होते हैं, परन्तु उनसे ये अधिक भयंकर होते हैं क्योंकि रुग्ण मनुष्य के रोग का ज्ञान हो जाता है और इनका ज्ञान नहीं होता, जिसके कारण ये बेखटके जहाँ-तहाँ मिल-जुल के रोगों को फैलाते हैं। यह वाहकावस्था आन्त्रिक ज्वर, विसूचिका, अतीसार, रोहिणी इन रोगों में अधिक दिखाई देती है।

शरीर प्रवेश मार्ग—इस तरह वाहक या रुग्ण मनुष्य से खाद्यपेय, हवा इत्यादि के द्वारा इतस्ततः फैले हुए रोगाणु स्वस्थ मनुष्यों के शरीर में निम्न मार्गों द्वारा प्रवेश करते हैं।

(१) त्वचा—(अ) श्लेष्मल त्वचा द्वारा—फिरंग, सोजाक, उपदंश।
(आ) क्षत या व्रण द्वारा—विसर्ग, धनुर्वात।
(इ) दंश द्वारा—विषम-ज्वर, कालाजार, प्लेग, श्लीपद, जल-संत्रास, मूषिकदंशज्वर, अंकुश कृमि।

(२) पचन संस्थान—विसूचिका, अतीसार, आन्त्रिक ज्वर, राजयक्ष्मा, माल्टा-ज्वर, विविध कृमि, कालाजार।

(३) श्वसन संस्थान—राजयक्ष्मा, फुफ्फुस प्लेग, न्युमोनिया, एन्फ्लुएन्जा, रोहिणी, मस्तिष्कसुषुम्ना-ज्वर, कुकुर खाँसी, मसूरिका, रोमान्तिका इत्यादि।

उपसर्ग का उचित मार्ग—उपसर्ग उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक विकारी जीवाणु का विशिष्ट मार्ग और स्थान होता है। अन्य मार्ग से अन्य स्थान में पहुँचने पर ये रोग उत्पन्न करने में प्रायः असमर्थ होते हैं। त्वचा में छोटे-छोटे क्षत या व्रण होने से त्वचा द्वारा होनेवाले रोग होने में आसानी होती है। पचन संस्थान या श्वसन संस्थान में खराबी होने से उनके रोग होने में आसानी होती है। श्वसन संस्थान के बिन्दूत्क्षेपों तथा हवा से, और पचन संस्थान के खाद्यपेयों से उत्पन्न होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि पचन या श्वसन संस्थान से प्रविष्ट हुए जीवाणु

उन्ही में विकार उत्पन्न करें। कभी-कभी ये दूसरे सस्थानों मे भी विकृति उत्पन्न करते है। जैसे, राजयक्ष्मा और मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर।

संचयकाल (Incubation period)—अनुकूल परिस्थिति होने पर भी जीवाणु शरीर में प्रविष्ट होते ही रोग के लक्षण प्रकट नहीं होते। इसके लिए कुछ काल आवश्यक होता है। जीवाणुओं के शरीर प्रवेश दिन से रोग के लक्षण प्रकट होने के दिन तक का जो काल होता है वह सचयकाल कहलाता है। इस काल में जीवाणु तथा उनका विष दिन प्रति दिन सचित होते रहते है और जब पर्याप्त मात्रा मे सचित होते हैं तब रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। प्रत्येक रोग का सचय काल न्यूनाधिक फर्क से नियत रहता है। जीवाणुओं की संख्या, तीव्रता अधिक होने से और मनुष्य की प्रतीकारक शक्ति कमजोर होने से संचय काल कम; और संख्या, तीव्रता कम तथा मनुष्य की प्रतीकारक शक्ति अधिक होने से संचय काल अधिक होता है। चालीसा की दृष्टि से (पृष्ठ ३५२) सचय काल का ज्ञान बहुत आवश्यक है, क्योंकि रोग प्रसार रोकने की दृष्टि से यह अवधि पूर्ण होने तक मनुष्यों को अधिकतम निरोधन या चालीसा में रखना आवश्यक होता है।

उपसर्ग काल (Infective period)—रोग निवृत्त होने के पश्चात् भी कुछ काल तक रोगियों के शरीर से उस रोग के जीवाणु मल-मूत्रादि के साथ निकलते रहते हैं। जीवाणु निकलने की यह अवधि उपसर्गकाल कहलाती है। इस अवधि में रोगनिवृत्त मनुष्य को दूसरे स्वस्थ मनुष्यों के साथ बहुत सम्बन्ध रखना ठीक नहीं है, जहाँ तक हो सके पृथक् रहना ही उचित है। नीचे मुख्य सक्रामक रोगों के सञ्चयकाल और उपसर्ग काल दिए जाते हैं।

रोग का नाम	सञ्चयकाल	उपसर्ग काल
मसूरिका	१२ दिन	६ सप्ताह
त्वङ् मसूरिका	१०–१२ "	३ "
रोमान्तिका	८–१५ "	४ "
एन्फ्लुएञ्जा	१–५ "	२ "
रोहिणी	१–८ "	६ "
कर्ण फेर	१२–२२ "	३ "
कुकुरखाँसी	३–२१ "	८ "
आन्त्रिकज्वर	५–२० "	६ "
विसूचिका	कुछ घंटों से ५ "	२ "
प्लेग	३–१० "	३ "
दण्डकज्वर	३–६ "	३ "

उपसर्ग नियन्त्रण (Control of Infection)

जब कोई व्यक्ति किसी उपसर्ग से पीड़ित हो जाता है तब वह उपसर्ग उसी में मर्यादित करके अन्य स्वस्थ मनुष्यों पर उसका संक्रमण न होने देना तथा यदि हो सके तो उसका निर्मूलन करना नियन्त्रण का प्रधान उद्देश्य है। यह कार्य एक व्यक्ति का नहीं, आम जनता का है जो उसकी सहायता के बिना सफल नहीं हो सकता। इसलिए पाठशाला की पुस्तकें, हस्तपत्रिकाएँ, भित्तिविज्ञप्तियाँ, मायादीप (Magic lantern), सार्वजनिक व्याख्यान, निरूपण, आकाशवाणी (Radio), चल चित्रपट (Cinema) इत्यादि के द्वारा आम जनता में संक्रामक रोगों की उत्पत्ति, प्रसार, उनके लक्षण, प्रतिबंधन इत्यादि बातों के संबंध में ज्ञान फैलाना चाहिए। यह कार्य बहुत महत्व का है, क्योंकि जनताके शिक्षित हुए बिना रोग प्रतिबन्धन में उससे पूर्ण सहयोग मिलना असंभव है।

उपसर्ग के संचयाधारों का नाश करना प्रसार रोकने का सर्वोत्तम मार्ग है। इसके लिए ठीक निदान होना बहुत आवश्यक होता है। यदि कोई चूहा प्लेग से, कुत्ता पागलपन से (अलर्क Rabies) पीडित और बकरी माल्टाज्वरोपसर्ग से उपसृष्ट मालूम हुए तो उनका नाश करने से आगे उपसर्ग नहीं फैल सकता। परन्तु नाशन का मार्ग मनुष्यों के लिए अनुपयुक्त है। अतः जब उपसर्ग के स्थान मनुष्य होते हैं तब उनके लिए निम्न पद्धतियों का अवलम्बन करना चाहिए—

(१) अधिसूचना (Notification)

संक्रामक रोग से अगर कोई व्यक्ति पीड़ित हो जाय तो उसकी सूचना स्वास्थ्य विभाग के स्थानिक अधिकारियों को देना अधिसूचना का अर्थ है। रोग प्रसार रोकने का यह प्रारंभिक मूल उपाय है। उससे निम्न फायदे होते हैं—रोग प्रारम्भ का स्थान मालूम होकर उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में जाँच करने में सुविधा होती है, रोग पीड़ित व्यक्ति को अलग (पृष्ठ ३५१) किया जा सकता है, तथा उसके परिवार के लिए, आसपास के स्वस्थ मनुष्यों के लिए टीका इत्यादिका प्रबन्ध किया जा सकता है, खाद्य-पेयों-द्वारा फैलनेवाला रोग हो तो शहर के पानी की, दूध की तथा खाद्यपेयों की जाँच की जा सकती है, पाठशाला, कालेज नाटकगृह या चलचित्रगृह इत्यादि बन्द किए जा सकते हैं तथा शहर में उस विशिष्ट रोग के प्रतिबन्धन सम्बन्ध में प्रथम उपायों के द्वारा ज्ञान फैलाया जा सकता है। सूचना देने का काम डाक्टरों या वैद्यों का है। तथापि शिक्षित जनता भी इसमें सहायता कर सकती है। भारतवर्ष में कुछ

नगरपालिकाओं को छोड़कर अन्य स्थानों में निवेद्य या अधिसूच्य (Notifiable) रोगों का कानून नहीं है।

(२) अलग्न करण (Isolation)

इसमें संक्रामक रोग पीड़ित मनुष्य अन्य स्वस्थ्य मनुष्यों से अलग किया जाता है, जिससे रोगी का उपसर्ग औरों को न पहुँच सके। अलग्न करण निम्न दो रीति से किया जाता है।

(१) स्वगृहान्तर्गत अलग्न करण (Private isolation)—इसमें रोगी इतर स्वस्थ मनुष्यों से अपने घर में एक स्वतन्त्र स्थान में अलग रक्खा जाता है। जिस घर में अनेक कमरे और अनेक खण्ड होते हैं वहाँ पर रोगी को अलग रखने का प्रबन्ध निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

(१) रोगी का स्थान मकान के सबसे ऊँचे मंजिल पर या मकान से पृथक् और दो कमरे का हो। (२) वहाँ से सब अनावश्यक वस्तुएँ हटायी जाय। (३) कमरे में हवा और प्रकाश का सुप्रबन्ध हो। (४) कमरे के दरवाजों और खिड़कियों पर ५% प्रांगविक अम्ल के घोल में भिगोये हुए पर्दे टाँग दिये जायँ (५) परिचारकों के सिवा कमरे में और कोई न जावे। परिचर्या के समय स्वतन्त्र कपड़े पहने जायँ और काम समाप्त होने पर हाथों को उपसर्ग नाशक घोल से साफ धोकर कपड़े बदल दिये जायँ (६) रोगी के कमरे से कोई वस्त्र या पात्र बिना विशोधन किये घर में न ले लिया जाय। (७) रोगी के मल, मूत्र, थूक इत्यादि के लिए स्वतन्त्र ढक्कन वाले पात्र तथा उसके भीतर ५% प्रांगविक अम्ल का घोल रखकर उसको बाहर ले जाकर जमीन में गाड़ दिया जाय या जला दिया जाय। (८) परिचारक के सिवा अन्य मनुष्य रोगी के कमरे में न जाकर खिड़कियों से ही बात चीत करे। (९) मक्खियाँ, मच्छर इत्यादि को दूर रखने का या नाश करने का प्रबन्ध हो। (१०) उपसर्ग काल समाप्त होने पर रोगी को साबुन और गरम पानी से साफ नहलाकर और स्वच्छ कपड़े पहनाकर फिर दूसरे मनुष्यों के साथ मिलने-जुलने की आज्ञा देनी चाहिये। इन नियमों का घर में पूर्णतया पालन करना बहुत कठिन है, तथापि 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' इस न्याय से इन नियमों का आंशिक पालन भी रोग प्रतिबंधन की दृष्टि से लाभ-दायक होता है।

(२) रुग्णालयान्तर्गत अलग्नकरण (Hospital isolation)—इसमें औपसर्गिक रोगों की स्वतन्त्र चिकित्सा करनेवाले चिकित्सालयों में रोगी रक्खा

जाता है। रोगी को अलग रखने की यह रीति प्रथम रीति की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम होती है। क्योंकि यहाँ पर उपसर्गनाशन का तथा चिकित्सा का उचित प्रबन्ध तज्ज्ञों के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के चिकित्सालय प्रत्येक नगर में होने चाहिएँ। ये औपसर्गिक या अलग्नकरण रुग्णालय कहलाते हैं।

अलग्नकरण रुग्णालय (Isolation Hospital)—ये रुग्णालय घनी बस्ती से दूर परन्तु शहर के समीप ऊँचे सूखे और स्वास्थ्यप्रद स्थान पर होने चाहिएँ। वहाँ प्रत्येक संक्रामक रोग का अलाहिदा विभाग होना चाहिए। निदान न हुए रोगियोंके लिये अवलोकन विभाग (Observation ward) होना चाहिए। प्रत्येक रोगी के लिए स्थान और हवा का उचित प्रबन्ध (पृष्ठ १९) होना चाहिए। वहाँ पर रोगियों के लिए चिकित्सा और शुश्रुषा, मलमूत्रादि का नाश, वस्त्रपात्रादि का विशोधन, विशुद्ध जल इनका उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। उपसर्गनाशन के लिए वाष्प उपसर्गनाशित्र (Steam disinfecter) हो जो रुग्णालय के अलावा शहर के काम में भी उपयोगी हो सकता है।

कभी-कभी रुग्ण व्यक्ति के परिवार के लोग स्वतन्त्र शिविर में पृथक् किये जाते हैं (Segregation) जिससे उनमें कोई उपसृष्ट हो तो उसका पता चले और उससे परिवार के बाहर रोग न फैलने पावे।

रुग्णवाहन (Ambulances)—रोगियों को चिकित्सालय में ले जाने के लिए स्वतन्त्र वाहन रखना आवश्यक है। किराये के वाहनों का उपयोग करना हानिकर है, क्योंकि उनका विशोधन न होने से वे रोग प्रसार में सहायता करते हैं। इसके लिए डोली, पालकी, म्याना, रबड़ पहिये की गाड़ी या मोटर प्रयुक्त कर सकते हैं। इनमें मोटर सर्वोत्तम है। ये वाहन आरक्षियों के थानों पर या मुख्य-मुख्य सार्वजनिक स्थानों पर रखने चाहिएँ और रोगी को ले जाने के बाद प्रत्येक समय उनका विशोधन करना चाहिए।

निरोधन (Quarantine)

इसमें दूषित स्थान के स्वस्थ लोगों का निरोधन किया जाता है जिससे वे अन्य स्थान में नहीं जा सकते। प्राचीनकाल में औपसर्गिक रोगों के प्रसार का ठीक ज्ञान न होने से सब लोगों के लिए ४० दिनों का निरोधन किया जाता था। इसलिए इसको चालीसा (Quarantain-forty) नाम दिया गया। अब चालीसा शब्द एक दृष्टि से निरर्थक हो गया है, क्योंकि प्रत्येक औपसर्गिक रोग का

निरोधन का काल उसके संचय काल की अधिक से अधिक अवधि के (पृष्ठ ३४९) अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

निरोधन के प्रकार—(१) अन्तर्दिश (Inward)—जब कोई स्वस्थ नगर या कस्बा अपनी रक्षा के लिए बाहर से अपने भीतर आनेवालों का निरोधन करता है तब उसको अन्तर्दिश निरोधन कहते हैं।

(२) बहिर्दिश—जब किसी उपसृष्ट नगर या ग्राम पर आस-पास के लोगों की रक्षा की दृष्टि से बाहर जाने के लिए निरोधन लगाया जाता है तब उसको बहिर्दिश निरोधन कहते हैं।

(३) अन्ताराष्ट्रिय (International)—जब कोई राष्ट्र उपसृष्ट स्थानों से अपने राष्ट्र में आनेवालों के ऊपर या निरोधन लगाये हुए विशिष्ट रोगों के लिए अन्य लोगों के ऊपर बन्दरगाहों पर निरोधन करता है तब उसको अन्ताराष्ट्रिय कहते हैं। अन्तर्दिश निरोधन का ही यह एक प्रकार है।

(४) शालेय (Scholastic)—पाठशालाएँ बच्चों में औपसर्गिक रोग फैलने के बड़े भारी केन्द्र होती हैं। इसलिए यदि किसी घर के बालक रोहिणी, चेचक, रोमान्तिका, कुकुरखाँसी, कर्णफेर इत्यादि बालकों के रोग से पीड़ित हों तो आखिरी पीड़ित व्यक्ति के उपसर्ग काल के अन्त तक उस घर के बच्चों को पाठशाला में न भेजना चाहिए। यदि ये रोग शहर में अधिक प्रमाण में फैल रहे हों तो कुछ काल तक समस्त पाठशालाओं को बन्द करना ही उचित होता है।

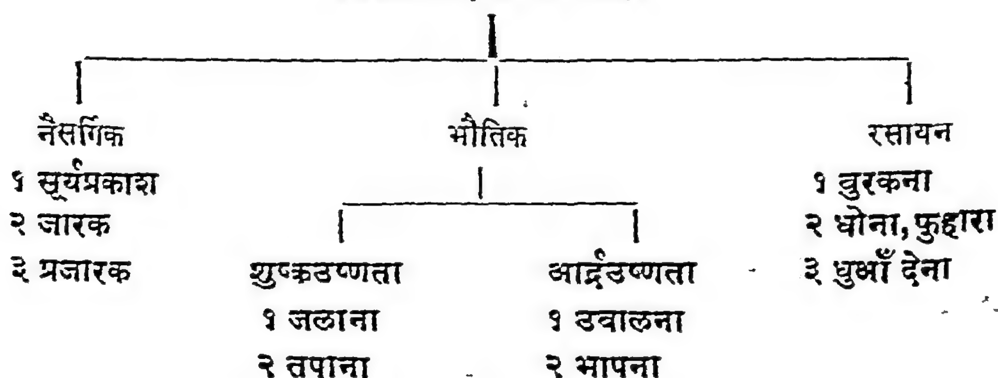
(५) गृह्य (Domestic)—जिस घर में औपसर्गिक रोग से कोई पीड़ित होता है उस घर के लोगों को बाहर जाने से रोका जाता है तथा बाहर के लोग भीतर नहीं जाने दिये जाते हैं। इसका उपयोग मुख्यतया मसूरिका जैसे भयानक रोगों के लिए किया जाता है।

निरोधन के दोष—इसमें यात्रियों को बहुत कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं, व्यापार में बाधा उत्पन्न होती है, निरोधन के डर के मारे रोग छिपाने की कोशिश होती है और निरोधन काल में स्वस्थ और उपसृष्ट मनुष्य एक स्थान में रक्खे जाने के कारण स्वस्थों में रोग फैलने की सम्भावना होती है। इन दोषों के कारण तथा टीका का उत्तम उपयोग होने के कारण चालीसा का प्रयोग आजकल केवल कुछ बन्दरगाहों के लिए सीमित हुआ है।

(३) उपसर्गनाशन (Disinfection)

औपसर्गिक रोगों के रोगाणुओं का नाश करने को उपसर्गनाशन या रोगाणुनाशन कहते हैं। जो द्रव्य रोगाणुओं का या उपसर्गकारी विष का नाश करते हैं वे उपसर्गनाशक (Disinfectants) या रोगाणुनाशक (Germicides) कहलाते हैं। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं कि जो अपनी उपस्थिति में जीवाणुओं को पनपने या बढने नहीं देते। ये दोषहर (Antiseptic) कहलाते हैं। सब उपसर्गनाशक द्रव्य अल्प मात्रा में दोषहरण का काम करते हैं परन्तु दोषहर उपसर्गनाशन का काम नहीं कर सकते। जो द्रव्य सड़ी गली वस्तुओं की दुर्गन्ध दूर करते हैं वे दुर्गन्धहर (Deodorants or Deodorisers) कहलाते हैं। इनमें कुछ सड़ी गली वस्तुओं को जारित करके दुर्गन्ध हरण करते हैं और कुछ सड़ाव उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं को नष्ट न करके केवल दुर्गन्ध को अपनी उग्रगन्ध से दबाते हैं।

उपसर्गनाशक के प्रकार



नैसर्गिक उपसर्गनाशन—सूर्यकिरण और शुद्ध हवा ये नैसर्गिक रोगाणुनाशक हैं। इनके द्वारा जीवाणुओं का आर्द्रता नष्ट होती है जिससे उनकी वृद्धि बन्द होकर रोगोत्पादक शक्ति घट जाती है। इसके सिवा सूर्य की नीललोहितातीत किरणों का (पृष्ठ ११ देखो) तथा हवा के प्रजारक का जीवाणुओं पर घातक परिणाम होता है। आन्त्रिक ज्वर के दण्डाणु सूर्य किरणों से ½ से २ घण्टे में और राजयक्ष्मा के कुछ मिनटों से कुछ घण्टों में मर जाते हैं। जो जीवाणु पदार्थों के पृष्ठ भाग पर होते हैं उनके ऊपर गहराई में स्थित हुए जीवाणुओं की अपेक्षा इनका घातक परिणाम अधिक होता है। इसलिए मल मूत्रादि से अधिक खराब हुए मोटे-मोटे गद्दे कम्बल इत्यादि के विशोधन के लिए केवल सूर्य-प्रकाश पर

निर्भर होना उचित नहीं है। परन्तु यदि बहुत दूषित हुए पतले कपड़े अधिक काल तक सूर्य-किरणों में रक्खे जायँ तो वे शुद्ध हो जाते है।

सूर्य की लाल और पीली किरणों में यह शक्ति नहीं होती परन्तु बैंगनी, नीललोहितातीत (Ultra violet) और औष्म्य किरणों में होती है। उष्णकटिबंध के सूर्य प्रकाश में ये उपसर्गनाशक किरणें भरपूर होती है जिनके कारण जलाशय के जल का विशोधन (पृष्ठ ४२) हुआ करता है। प्रसृत (Diffused) प्रकाश में जीवाणुवृद्धिविरोधन की शक्ति रहती है।

(१) भौतिक (Physical)—भौतिक का रूप उष्णता है जो शुष्क (Dry) और आर्द्र (Moist) इन दो प्रकारों में प्रयुक्त होती है। शुष्क में जलाना, गरम हवा से तपाना और आर्द्र में उबालना और भाप ये साधन प्रयुक्त होते हैं।

(२) ज्वलन—जीवाणुनाशन के लिए यह उत्तम विधि है। मल-मूत्रादि से दूषित छोटे-छोटे कपड़े, फटे कम्बल, तकिया, कागज, लकड़ी के टुकड़े तथा जिसमें प्लेग जैसे भयंकर रोग से मृत्यु हुई है ऐसी घास फूस की झोपड़ियाँ इनका नाश करने के लिए इसका उपयोग करना उचित है। छोटी-छोटी चीजों को जलाने के लिए विशेष भट्ठे होते हैं। कपड़ों को खुले स्थान में न जलावे, नहीं तो हवा से उनके न जले हुए अंश इतस्ततः फैलते हैं। थूक, मल इनका नाश भी इनके साथ घास-फूस, लकड़ी का बुरादा, मिट्टी के तेल के साथ मिलाकर करना उचित है।

(३) गरम हवा—इसमें वस्तुओं के भीतर प्रवेश करने की शक्ति कम होती है जिससे वस्तुओं के मध्य स्थित जीवाणु नष्ट नहीं होते और जीवाणुनाशन के लिए अधिक ताप (१५०° सें०) की आवश्यकता होती है जिससे वस्त्र खराब हो जाते हैं, इसलिए आजकल इस साधन का उपयोग काँच के बर्तन, रबड़ और चमड़ों की चीजें, पुस्तकें इनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के विशोधन के लिए नहीं किया जाता है। विशोधन के लिए ये वस्तुएँ एक बद वेश्म (Chamber) में रखकर गरम की जाती हैं और २ घण्टे तक ताप १००° श० रक्खा जाता है।

(४) उबालना—इससे बीस मिनट में दूषित चीजें निर्जीवाणुक हो जाती हैं। पानी में २% कपड़े का खार मिलाने से उसकी रोगाणुनाशक शक्ति बढ़ जाती है। यह विधि रोगी के तौलिया, कम्बल, चादर, रूमाल इत्यादि वस्त्र तथा खाने-पीने के बर्तन साफ करने के लिए बहुत उत्तम है। फर्श की सफाई के लिए भी उबलते पानी का उपयोग कर सकते हैं। घर में ही इस विधि को काम

में ला सकते हैं यह इस विधि की विशेषता है। उबालने से पूर्व कपड़ों के रक्त या मल के धब्बे साबुन और गरम पानी से मिटाने चाहिएँ, वरना वे पक्के हो जाते हैं। इस विधि में दोष ये हैं कि यह कुछ मन्द है, मोटे भारी कपड़ों के लिए उपयोगी नहीं होती है तथा ऊनी और गरम कपड़ों को खराब करती है।

(५) जलवाष्प—जीवाणु नाशन के लिए जलवाष्प साधन उत्तम है। जब वाष्प ठण्ढी वस्तुओं के सम्पर्क में आती है तब वह फिर से शीघ्र जल में परिवर्तित होती है और उस समय वह अपनी गुप्त उष्णता (Latent heat) को बाहर छोड़ती है। इस तरह जलवाष्प वस्तुओं के भीतर प्रवेश करती हुई उनको गरम करती जाती है तथा अधिक तेजी से जीवाणुनाशन का काम करती है। भाप २१२° फै. ताप पर ५ मिनट में सब प्रकार के जीवाणु तथा उनके क्षुल्लक (Spore) नष्ट कर देती है जिसके लिये उष्ण हवा को २५०° फै. ताप ४ घण्टे तक आवश्यक होता है। जलवाष्प द्वारा विशोधन इसी तत्व पर निर्भर होता है। इससे वस्तुओं की खराबी नहीं होती। उष्ण हवा की अपेक्षा भाप वस्तुओं के भीतर अधिक तेजी से घुसती है। वाष्प का उपयोग निम्न तीन प्रकार से किया जाता है।

(१) प्रवाहयुक्त वाष्प—जब पानी से बनती हुई वाष्प एक मार्ग से आकर और वस्तुओं के भीतर से होकर दूसरे मार्ग से जाती रहती है तब प्रवाही (Current) कहलाती है। इस प्रकार की भाप में वस्तुओं के भीतर प्रवेश करने की शक्ति बहुत नहीं होती। थ्रेश (Thresh's), लेलीन (Lelean's sack) और सर्बिअन (Serbian barrel) ये प्रवाही वाष्प उपसर्गनाशित्र हैं।

(२) निपीडयुक्त—जब पानी से बनती हुई भाप किसी बन्द पात्र में इकट्ठा होती है तब पात्र के भीतर भाप का निपीड़ बढ़ता है। इसको निपीडयुक्त या सपृक्त (Saturated) भाप कहते हैं। यह भाप ठण्ढी वस्तुओं के साथ संबंधित होने पर $\frac{१}{६८००}$ वें हिस्से तक संघनित (Condense) हो जाती है जिसके कारण प्रवाही भाप की अपेक्षा इसमें वस्तुओं को गरम करने की तथा उनके भीतर प्रवेश करने की शक्ति बहुत अधिक होती है। अतः विशोधन के लिए इस प्रकार की भाप अधिक प्रशस्त होती है। साधारणतया इस भाप में ११५°–१२०° श. ताप पर आधे घण्टे तक वस्तुओं को रखने से उनके सम्पूर्ण रोगाणुओं का नाश हो जाता है। इससे ऊन और रेशम के कपड़े खराब होते हैं। वाशिंगटन लीअन (Washington-Lyon) और इक्विफेक्स (Equifex) निपीड युक्त बाष्प उपसर्गनाशित्र हैं।

(३) अधितप्त (Super heated)—जब पानी समाप्त हो जाता है और पात्र में इकट्ठा हुई भाप गरम की जाती है तब वह अधितप्त भाप कहलाती है। इसके गुण उष्णवायु के समान (पृष्ठ ३५५) होते हैं। इसलिए इसका उपयोग विशोधन के लिए नहीं किया जाता।

उपसर्ग नाशन का स्थान (Disinfecting station)—यह स्थान दो कमरों का होता है, एक दूषित वस्तुओं के लिए और एक विशोधित वस्तुओं के लिए। दोनों कमरों के लिए प्रवेश स्थान अलाहिदा होते हैं और दोनों के बीच में दीवाल होती है। इस दीवाल में यन्त्र रक्खा जाता है। कमरे अप्रवेश्य पदार्थों के होते हैं और समय समय पर वे रोगाणुनाशक घोल से धोए जाते हैं। प्रत्येक कमरे में काम करनेवाले मनुष्य स्वतन्त्र होते हैं। एक कमरे के द्वारा यन्त्र में दूषित वस्तुओं का प्रवेश होता है और उनका विशोधन होने के पश्चात् दूसरे कमरे के द्वारा वे वस्तुएँ बाहर निकाली जाती हैं। दोनों कमरे आपस में केवल यन्त्र के द्वारा मिले हुए रहने के कारण विशोधित वस्तुओं का सम्बन्ध दूषित वस्तुओं के साथ नहीं हो सकता।

रासायनिक रोगाणुनाशन—इसमें विविध रासायनिक द्रव्यों की क्रिया से जल, मलमूत्र, मोरी-परनाले, मकान इत्यादि में होनेवाले रोगाणुओं का नाश किया जाता है। इनका क्षेत्र आजकल बहुत बढ़ गया है। ये द्रव्य चूर्ण, घोल या भाप के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं।

कार्यपद्धति—रासायनिक पदार्थ जीवाणुओं के कायाणुरस (Cytoplasm) को जारित करके, गाढ़ा बनाके, उसके जलांश को शोषित करके तथा उसके ऊपर आवरण बना के (अधिचूषण Adsorption) उनका नाश करते हैं।

आदर्श रोगाणुनाशक—आदर्श रोगाणुनाशक में निम्न गुण होने चाहिएँ—(१) उसमें वस्तुओं के भीतर प्रवेश करके शीघ्रता से जीवाणुनाशन की शक्ति होनी चाहिए। (२) मलमूत्रादि सेन्द्रिय पदार्थों के सामने उसकी जीवाणुनाशन की शक्ति कम न होनी चाहिए। (३) जीवाणुओं को छोड़कर उसकी क्रिया मनुष्यों की त्वचा, कपड़े, बर्तन इत्यादि पर न होनी चाहिए। (४) मनुष्यों के लिए वह विषैला न होना चाहिए। (५) पानी में वह खूब मजे में मिलने वाला होना चाहिए। (६) चरबी को घोलने की शक्ति उसमें होनी चाहिए। (७) बहुत सस्ता भी होना चाहिए। एवं गुण विशिष्ट रासायनिक पदार्थ आज

उपलब्ध नहीं है, इसलिए उपलब्ध पदार्थों का उपयोग उनके दोषों को यथाशक्ति हटाकर सावधानी से किया जाता है।

कार्य प्रभावकारी कारक—रासायनिक द्रव्यों की रोगाणुनाशक शक्ति पर प्रभाव डालनेवाली अनेक बातें होती हैं जिनमें निम्न निर्देश करने योग्य हैं—

(१) भौतिक स्वरूप—यथा चूर्ण, घोल या भाप।

(२) विलेयक—यदि घोल बनाया गया हो तो विलेयक (Solvent) के गुणावगुण।

(३) संकेन्द्रण—यदि घोल बनाया गया हो तो तद्गत रोगाणुनाशक की मात्रा।

(४) रोगाणुप्रतिकारिता—जैसे रसकपूर का १ : १००० का घोल धनुर्वात दण्डाणुओं का नाश कर सकता है परन्तु उनके चुल्लकों का नहीं कर सकता।

(५) आश्रय स्थान—जलाश्रित जीवाणु मन्द घोल से नष्ट हो सकते हैं परन्तु श्लेष्माश्रित या वस्त्राश्रित नहीं हो सकते।

(६) ताप—अधिक ताप पर द्रव्यों की रोगाणुनाशक शक्ति बढ़ती है। प्रांगविक अम्ल की रोगाणुनाशक शक्ति प्रत्येक १०° से ताप वृद्धि पर लगभग दस गुना अधिक हो जाती है।

(७) सेन्द्रिय द्रव्यों का उपस्थिति—यथा श्लेष्मा इत्यादि।

(१) जीवचूर्णक (Quick lime)—यह बहुत उपयोगी और अच्छा उपसर्ग नाशक है जो ३% घोल में आन्त्रिक दण्डाओं को कुछ घण्टों में नष्ट कर देता है। इसका २०% घोल मलस्थित सब रोगाणुओं को १ घण्टे में नष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त इसकी विशेषता यह है कि यह बहुत सस्ता और देहातों में भी मिलनेवाला पदार्थ है। इसका उपयोग पानी, मलमूत्र और मकान की सफाई के लिए किया जाता है। यह पदार्थ ताजा होना चाहिए, अन्यथा हवा से आर्द्रता और प्रां० द्विजारेय को शोषण करके खड़िया (Carbonate) में परिवर्तित होता है। रोगाणुनाशन के लिए इसका दुधिया घोल (Milk of lime) निम्न प्रकार से बनाकर प्रयोग में लाया जाता है—१ भाग चूना, २ भाग पानी के साथ मिलाकर प्रथम चूने का चूर्ण बनाया जाता है, फिर उसका एक भाग ८ भाग पानी के साथ अच्छी तरह मिलाकर घोल बनाया जाता है। मल स्थित रोगाणुओं का नाश करने के लिए उसके साथ समप्रमाण में चूने का दुधिया

घोल सलाई के साथ भली-भाँति मिलाकर दो घण्टे तक उसको वैसे ही रखना चाहिए। पश्चात् जमीन में गाड़ सकते हैं या परनाले में छोड़ सकते हैं।

(२) रसकपूर—(Mercury perchloride)—यह अत्यन्त तीव्र रोगाणुनाशक पदार्थ है, जो एक हजार भाग में एक भाग की शक्ति में ६० कलाओं में जीवाणुनाशन का और ५०० भाग में १ भाग की शक्ति में छुल्लकनाशन का काम करता है। इसमें निम्न दोष ये है—शुक्लिय (अल्ब्यूमिन) पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर इसकी शक्ति घट जाती है, धातुओं के वर्तनों को यह खराब करता है या खा जाता है रोगाणुनाशक तथा इसका घोल पानी के समान निर्गन्ध और निर्मल होने के कारण भूल से इनका सेवन होकर मृत्यु होने का डर रहता है। इसके साथ अम्ल या लवण मिलाने से प्रथम दोष तथा कुछ रग मिलाने से तीसरा दोष दूर हो जाता है। अतः जीवाणुनाशन के लिए इसका घोल निम्न प्रकार से बनाया जाता है—सवा तोला रसकपूर, ढाई तोला उदनीरिक (हैड्रोक्लोरिक) अम्ल, ढाई रत्ती विनीली नील (अनीलिनब्ल्यू) और १५ सेर पानी।

(३) पारद जाम्बेय (Mercury iodide)—रस कपूर से यह कम विषैला है तथा उसके समान शुक्लिय द्रव्यों से निस्सादित नहीं होता। यह पानी में अविलेय होने के कारण इसका विलयन बनाने के लिए दहातु जम्बेय का उपयोग करना पड़ता है। इसका घोल १००० : १ की शक्ति में बनाया जाता है और अधिकतर शस्त्र चिकित्सा में उपसर्ग नाशन के लिए प्रयुक्त होता है।

(४) अंगाराल जनित उपसर्ग नाशक (Coal-tar disinfectants)—ये उदांगार (Hydrocarbons), तेल, दर्शव (Phenols) और उनकी श्रेणी के अन्य पदार्थ साबुन, राल, शुक्ल्याभ (Albuminoid) पदार्थ और पानी के संयोग होते हैं। इनमें उपसर्गनाशन का काम दर्शव, क्रविपव (Cresols) तथा उनकी श्रेणी के रसायन करते हैं और साबुन तथा राल उनका अच्छा प्रनिलम्ब (Emulsion) बनाने के लिए मिलाए जाते हैं। ये सफेद और भूरे दो रंग के होते हैं। पानी के साथ मिलाने पर इनका दुधिया घोल बन जाता है। प्रांगविक अम्ल से ये कम विषैले, अधिक सस्ते और १०-१५ गुना अधिक उपसर्ग नाशक होते है। इनमें निम्न प्रधान हैं—

(अ) प्रांगविक अम्ल या दर्शव (Carbolic Acid or phenol)—अंगाराल के तिर्यक्पातन से प्राप्त होता है। सेन्द्रिय द्रव्यों से यह निष्क्रिय नहीं होता, परंतु

यह विषैला और दाहक है। इसलिए इससे हाथ खराब हो जाते हैं। यह सस्ता है और धातुओं पर इसका परिणाम नहीं होता। इसका २% घोल सामान्य दण्डाणुओं को कुछ कलाओं से कुछ घण्टों में नष्ट कर देता है, परन्तु क्षुल्लकोद्वह (Spore bearing) दण्डाणुओं के लिए यह व्यर्थ हो जाता है। फर्श, छत और दीवाल के उपसर्ग नाशन के लिए यह उत्तम द्रव्य है। परन्तु हाथ जल जाने के कारण इसका उपयोग फुहारे (Spray) से या रस्सी में बँधे हुए कपड़े से करना चाहिए। उपसर्गनाशन के लिए उसका उपयोग ५% में और मलमूत्र थूक इत्यादि के नाशन के लिए १०% में उपयोग किया जाता है।

(आ) फर्शल (Phenyl)—दर्शव से यह द्रव्य अधिक सस्ता और दुगुना उपसर्ग नाशक है।

(इ) इज़ाल (Izal)—उच्च दर्शवों का यह इमल्शन है। दर्शवों से यह आठगुना अधिक उपसर्ग नाशक है। आन्त्रस्थ रोगाणु नाशन के लिए यह बहुत प्रशस्त द्रव्य है। ५०० : १ का इसका घोल १५ कलाओं में आन्त्रिक रोगी के मल-मूत्र का उपसर्गनाशन करता है। प्रत्यक्ष मल मूत्र उपसर्गनाशन के लिए इसका ७% घोल प्रयुक्त होता है।

(ई) सिलीन (Cyllin)—दर्शव से यह १७ गुना अधिक उपसर्ग नाशक है। यह बहुत सस्ता और कार्यक्षम द्रव्य है जो मोरी-परनाले की सफाई के लिए १५० : १ भाग में प्रयुक्त होता है।

(उ) हैकोल (Hycol)—यह दर्शव से २० गुना अधिक उपसर्ग नाशक है। इसमें अच्छी गन्ध होती है। पानी में मिलाने पर इसका भूरे रंग का घोल बनता है।

(ऊ) लायसोल (Lysol)—दहातु, साबुन और पानी में बनाया हुआ यह क्रेषिपव का (Cresol) इमल्शन है। उपसर्गनाशन के लिए उसका उपयोग ४% घोल के रूप में किया जाता है।

(५) साबुन (Soap)—विशोधन की दृष्टि से साबुन बहुत लोकप्रिय वस्तु है। परन्तु उसमें रोगाणुनाशन का गुण नगण्य होता है। इसका मुख्य गुण मल हटाने का है अर्थात् यह अपक्षालक (Detergent) है। यदि गरम जल के साथ इसका उपयोग किया जाय तो अपक्षालन का कार्य उत्तम होता है जिससे उपसर्ग नाशन में सहायता होती है। यदि गरम पानी से बहुत अधिक झाग पैदा करके तीन मिनिट तक हाथों को साबुन से धोया जाय तो उन पर के बहुतेरे

विकारी जीवाणु नष्ट हो सकते हैं। यही कारण है कि साबुन उपसर्ग नाशक माना जाता है।

(६) उःश्यामिक अम्ल (Hydrocyanic Acid) - शुल्बारिक अम्ल और पानी के मिश्रण में क्षारातुश्यामेय डाल कर यह वात उत्पन्न किया जाता है। ५ औंस श्यामेय क्ष्योदे शुल्बारिक अम्ल और दुगुने पानी के साथ मिलाने पर १००० घनफूट कमरे के लिए पर्याप्त होता है। श्यामजन नीरेय (Cynogen chloride) और झीक्लोन-बी (Zyklon-B) इसी के योग हैं। ये भी प्रयुक्त होते हैं। इसका उपयोग मुख्यतया धूपन के लिए किया जाता है। यह अत्यन्त विषैला वात है जो कपड़ों में फँसा रहता है और त्वचा द्वारा भी शरीर में प्रचूषित हो सकता है। इसलिए अनुभविक और कर्माभ्यस्त लोगों के द्वारा ही धूपन का काम करना पडता है। बड़े-बड़े बेलनों में तरल रूप में भरा हुआ यह वात मिलता है। १००० घन फूट स्थान के लिए ५ तोला तरल पर्याप्त होता है। इसका मुख्य उपयोग जहाजों के उपसर्गनाशन के लिए तथा प्लेग में बिलों में चूहों के नाशन के लिए किया जाता है। चूहों के अतिरिक्त इस वायु से मक्खियाँ, मच्छर, खटमल इत्यादि कीड़े तथा उनके अण्डे भी मर जाते हैं। धूपन के समय स्थान ३–४ घण्टे तक पूर्णतया बन्द करना पडता है और धूपकों (Fumigators) को मुखावगुंठनों (Facemasks) का प्रयोग करना पड़ता है। कमरा या बन्द स्थान खोलने के पश्चात् उसमें प्रवेश करने से पहले वात पूर्णतया नष्ट हुआ कि नहीं इसको भी देखना पड़ता है।

झीक्लोन-बी में उदश्यामिक अम्लवायु के साथ अश्रुवायु (Tear gas) भी मिलाया हुआ रहता है। इसलिए जिस स्थान में धूपन के लिए झीक्लोन का उपयोग किया गया है वहाँ पर किवाड़ खोलने के कुछ काल के पश्चात् यदि उदश्यामिक वायु अवशिष्ट रही हो तो प्रवेश करने पर उसकी भयसूचना आँखों में अश्रुपूरण से हो जाती है। यदि अन्य योगों का उपयोग किया गया हो तो कमरे में १० सेकन्ड तक बेंझीडीन कॉपर एसीटेट के घोल में भिगोया हुआ कागज घुमाया जाता है। यदि उदश्यामिक वायु शेष हो तो वह नीला बनता है।

(७) शुल्बार्य अम्ल (Sulphurous acid)—उपसर्गनाशन के लिए शुल्बारि या गन्धक धूएँ के रूप में (SO_2) प्रयुक्त होता है। परन्तु सूखा धूआँ यह काम नहीं कर सकता, उसको तरी (१%) की आवश्यकता होती है। १००० घन फूट आयतन के स्थान के लिए १ सेर गन्धक पर्याप्त होता है। इसका उपयोग निम्न प्रकार से किया जाता है।

घट पद्धति (Pot method)—इसमें सुपव या कोहल (Alcohol) में गीला किया हुआ गन्धक एक घड़े में भरकर वह घड़ा पानी भरे हुए एक बड़े पात्र में रक्खा जाता है। यह धूआँ कुछ भारी होने के कारण गन्धक जलाने का पात्र काफी ऊँचाई पर रखना आवश्यक है। गन्धक जलते समय पात्रस्थित जल से पर्याप्त आर्द्रता धुएँ को मिल जाती है। एक हजार घनफुट आयतन के कमरे के लिए १ सेर गन्धक पर्याप्त होता है। विशोधन के कमरे के दरवाजे, खिड़कियाँ, झरोखे इत्यादि पूर्णतया बन्द करके पश्चात् गन्धक जलाना चाहिए और छः घण्टे तक कमरा बन्द रखना चाहिए। गन्धक का धूआँ रंगीन चीजों को, कपड़ों को, धातुओं के बर्तनों को खराब करता है। इसका प्रभाव चूहे, मच्छर, मक्खियाँ, पिस्सू, खटमल इत्यादि प्राणियों पर अधिक होता है और इन्हीं का नाश करने के लिए इसका उपयोग जहाज, गोदाम, गाड़ी के डिब्बे, अस्तबल इनके विशोधन में किया जाता है। घरेलू उपयोग के लिए गन्धक, गोबर और नीम की पत्ती से बनाये हुए उपले बहुत अच्छे होते हैं। आजकल गन्धक धुआँ द्रवरूप में बेलनों में भरा हुआ भी मिलता है जिसकी टोंटी खोलने से धूआँ बाहर आता है। इसके सिवा क्लेटन के उपसर्गनाशित्र (Clayton's disinfector) के द्वारा गन्धक का उपयोग किया जाता है।

नीरजी (Chlorine)—यह हरे रंग का, प्रकोपक और भारी वायु है। इसके उपसर्गनाशक और दुर्गंधहर गुण उदजन (Hydrogen) के लिए इसमें जो बन्धुता (Affinity) होती है उस पर निर्भर होते हैं, क्योंकि हवा में होनेवाले जलांश से उदजन आकर्षित कर यह वायु नवजात (Nascent) प्राणवायु को स्वतन्त्र करके तद्द्वारा जीवाणु तथा सेन्द्रिय द्रव्यों का नाश करता है। इसलिए इसको अपने कार्य को आर्द्रता की आवश्यकता होती है। $\frac{1}{2}$–१% घोल लगभग सब तृणाणुओं को ५ मिनिट में और ५% घोल जुल्लकों को १ घण्टे में नष्ट करता है। कमरे के विशोधन के लिए विरंजन चूर्ण (पृष्ठ ४५) पर उदनीरिक अम्ल का प्रयोग करके वायु उत्पन्न किया जाता है। १००० घनफूट स्थान के लिए १ सेर चूर्ण और आधा सेर अम्ल पर्याप्त होता है। कमरे में वायु अच्छी तरह फैल जाय इसलिए अनेक पात्र अनेक स्थानों में काफी ऊँचाई पर रक्खे जायँ। इसके लिए क्लोरोपिक्रिन, क्लोरोजेन, क्लोरास, विद्युदंशिक नीरजी (Electrolytic chlorine) इत्यादि अनेक योग प्रयुक्त किये जाते हैं।

वम्रि (Formalin)—वम्रसुन्युद (Formaldehyde) वायु का यह घोल है। इसमें ४०% वायु होता है। दश भाग पानी के साथ एक भाग वम्रस्वि

मिलाने से रोगाणुनाशन का काम उत्तम होता है। इस घोल का उपयोग मलमूत्र थूक इत्यादि का नाश करने के लिए, पाखाना, मोरियाँ कमरे इत्यादि की सफाई के लिए, कपडे, लोह और फौलाद को छोड़कर तांबा पीतल इत्यादि धातु के वर्तनों के लिये तैल चित्रों, तस्वीरों के विशोधन के लिए कर सकते हैं।

इसका उपयोग धूपन के लिए भी होता है। इसके धुएँ से रेशमी, ऊनी, सूती तथा रंगीन कपडे, धातुओं के पदार्थ, पुस्तकें, चमडे की चीजें तस्वीरें इत्यादि खराब नहीं होतीं और जीवाणुओं के साथ मक्खियाँ, मच्छर पिस्सू इत्यादि कीडे मर जाते हैं। इसमें वस्तुओं के भीतर प्रवेश करने की शक्ति बहुत होती है। इसका उपयोग निम्न प्रकार से करते हैं—

(१) परावम्र पद्धति (Para form method)—इसमें परावम्र की गोलियाँ विशेष प्रकार की वत्ती (Alphormant lamp) में जलाकर वात उत्पन्न किया जाता है। एक हजार घनफूट स्थान के लिए २५-३० गोलियों की आवश्यकता होती है। (२) अतिलोहकीय परमैंगेनेट पद्धति—इसमें विशेष पात्र में पोटास परमैंगेनेट और फार्मेलिन मिलाकर वात उत्पन्न किया जाता है। एक बालटी में ५ औंस लोहकित रखकर (एक हजार घनफुट के लिए यह राशि पर्याप्त होती है) उस पर १०-१५ औंस वम्रस्वि (फार्मेलिन) उतने ही पानी के साथ मिलाकर छोड़ दिया जाता है। थोड़े मिनिटों में जोर के साथ वात उत्पन्न होता है। यह वात आशु ज्वलनशील होने के कारण उसके पास अग्नि न होना चाहिए, वरना बड़ा स्फोट (Explosion) होने का डर रहता है। कमरा छः घण्टों तक बन्द करके रखना चाहिए। लोहकित के बदले विरंजनचूर्ण का भी उपयोग कर सकते हैं। १००० घन फुट के लिए १ सेर चूर्ण और १।) सेर वम्रस्वि (फार्मेलिन) की आवश्यकता होती है।

वम्रस्वि शीकर (Formolin spray)—वम्रस्वि का प्रयोग फुहारे के रूप में भी उपसर्ग नाशन के लिए किया जाता है।

कीटक-नाशन

जो द्रव्य कीटकों का नाश करते हैं वे कीटघ्न या कीटनाशक (Insecticide) कहलाते हैं। ये द्रव्य चूर्ण, घोल या धूँआ इन तीन रूपों में प्रयुक्त होते हैं। ये कीटकों पर विषैला प्रभाव डालकर या प्राणोपरोध (Suffocation) करके उनका नाश करते हैं।

कीटघ्नद्रव्य—वम्रस्वि, गंधक, उदश्यामिक अम्ल वायु, प्रस्तरैल (Petroleum),

स्तैल (मिट्टी का तैल), संखिया के योग (जैसे प्यारिसंग्रीन) पायरेथ्रम, द्वि. द्वि. त्रि. (D D. T.) तथा उसकी श्रेणी के अन्य द्रव्य इस काम के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनमें पहले तीन द्रव्य ऊपर वर्णन किये गये हैं। अन्य द्रव्य आगे मच्छर तथा मक्खियों के नाशन में वर्णित हैं।

उपसर्गनाशन की व्यावहारिक पद्धतियाँ—इसमें कमरे, कपड़े, कुर्सी, मेज इत्यादि उपसृष्ट सामान, मलमूत्रादि त्याज्य वस्तु, स्नानगृह, पाखाना इत्यादि का विशोधन इस प्रकार से करना चाहिए, जिससे तद्गत रोगाणुओं का तथा रोगाणुवाहक कीटकों का पूर्णतया नाश हो जाय, इसका विचार होता है।

कपड़े—इसके लिए उत्क्वथन, ज्वलन, सूर्यप्रकाश भाप और रोगाणु नाशक घोल इन पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। कपड़ों को कम से कम आधा घण्टा उबालना चाहिए। घोल के लिए ५% फेनाल, १०% फार्मेलिन या १% रस कपूर का प्रयोग होता है। इनके घोल में काफी देर तक वस्त्रों को रखना चाहिए। जहाँ पर वाष्पयंत्र द्वारा विशोधन की सुविधा हो वहाँ पर सब दूषित कपड़ों को मजबूत बोरों (Gunny bags) में भरकर भेज देना चाहिए। जिन वस्त्रों पर मल मूत्र थूक इत्यादि के धब्बे होते हैं उनको उबालने से पूर्व गरम पानी और साबुन से मिटा देना चाहिए। विशोधन के लिए हमेशा मृदु जल का ही उपयोग करना उचित है, क्योंकि कठिन जल में जीवाणु नाशक द्रव्यों का कार्य ठीक नहीं होता। फटे पुराने कपड़े तथा मलमूत्रादि से अत्यन्त खराब हुए कपड़े, जो बहुत कीमती न हों जलाना ही उचित है। तकिया, गद्दे इत्यादि मोटे कपड़े कुछ दिनों तक धूप में अदल बदल करके तपाने से विशोधित होते हैं।

वर्तन पुस्तकें इत्यादि—खाने पीने के वर्तन पन्द्रह मिनट तक उबलते पानी में या धोने के विक्षार (Washing soda) के बहुत गरम पानी में रखने से शुद्ध हो जाते हैं। कुर्सी, टेबुल, तथा काठ की अन्य वस्तुएँ साबुन के गरम पानी से, रस कपूर के या विरंजन चूर्ण के १ हजार भाग पानी में एक भाग के घोल से खूब रगड़ने पर शुद्ध हो जाती हैं। तैलचित्र (Oil paintings) फार्मेलिन के घोल से रगड़कर विशुद्ध कर सकते हैं। पुस्तकें, चमड़े की चीजें एक छोटे बन्द कमरे में तीन चार घण्टे तक फार्मेलिन के धुएँ में रखने से शुद्ध होती हैं। चाकू, छुरी इत्यादि वस्तुएँ १% फार्मेलिन के घोल में दो घण्टे तक रखने से शुद्ध होती हैं। हाथ प्रथम साबुन के गरम पानी में ब्रुश से धोकर पश्चात् लायसोल या रसकपूर के (५०० में १) घोल से स्वच्छ होते हैं।

मलमूत्र थूक—अतीसार, आन्त्रिक ज्वर में मलमूत्र का, विसूचिका में वमन और मल का; राजयक्ष्मा, फुफ्फुसपाक (न्युमोनिया), फौफ्फुसिक, प्लेग, एन्फ्लुएञ्जा में थूक का; रोहिणी रोमान्तिका में नासा और गले के स्राव का नाश करना अत्यावश्यक है, क्योंकि इनमें रोगाणु होते हैं। मल का नाश चूने से (पृष्ठ ३५८ देखो), ५% इझाल से, १०% प्रांगविक अम्ल के घोल से, या १०% वस्त्रि (फार्मेलिन) के घोल से सम प्रमाण में अच्छी तरह मिला कर दो तीन घण्टे तक रखने से होता है, किंवा एक बालटी भर उबलता हुआ पानी उसमें छोड़कर पानी ठण्ढा होने तक रखने से होता है। थूक, नासास्राव, गले का स्राव इनको रद्दी कपड़ों के टुकड़ों में एकत्र करके जलाना चाहिए। थूकदानी में हमेशा ५% प्रांगविक अम्ल का घोल रखना अच्छा होता है।

मकान और कमरे—इसके लिए जलन, धावन (Washing) और धूपन ये तीन विधियाँ हैं। महामारी के दिनों में जब स्थानान्तर के लिए घास फूस की झोपड़ियाँ बनायी जाती हैं तब उनका विशोधन ज्वलन से ही करना उचित है। पक्के मकानों का विशोधन धावन या धूपन से किया जाता है। धूपन (Fumigation) के लिए कमरे का हवा बन्द होना आवश्यक है। फार्मेलिन, गन्धक या उदश्यामिक (हैड्रोसैनिक) अम्ल का प्रयोग धूपन के लिए होता है और कमरा छः घण्टों तक बन्द रक्खा जाता है। धावन के लिए फेनाल, फार्मेलिन रसकपूर इत्यादि के घोल प्रयुक्त होते हैं। मकान के विशोधन में अधिक ध्यान फर्श, चार पाँच फुट तक दीवाल, इनके कोने, दरार, बिल इनकी ओर देना चाहिए। दीवाल और फर्श को प्रथम तार के ब्रुश से रगड़कर पश्चात् घोल से धोना चाहिए। धोने के लिए, फुहारे (Spray) का भी उपयोग किया जाता है।

मकान का विशोधन करने से पूर्व उसके भीतर की सब चीजें हटा देनी चाहिएँ और उनका विशोधन स्वतन्त्रतया पूर्वोक्त पद्धति से करना चाहिए। फिर धावन फुहारा या धूपन के द्वारा उसकी सफाई करने के पश्चात् उसको चूने की सफेदी करवाना चाहिए और पश्चात् कुछ रोज तक वह स्थान खुला रख छोड़ना चाहिए।

शौच स्थान और नालियाँ—आन्त्रिक ज्वर, विसूचिका इत्यादि पचन संस्थान के रोगों में इनके ऊपर ध्यान देना परमावश्यक है। इनको ब्रुश से रगड़कर पश्चात् फेनाल, या विरंजन चूर्ण या अन्य उपसर्ग नाशक के घोल से साफ धोना चाहिए।

अनुषंगी और अन्तिम उपसर्ग नाशन—रुग्णावस्था में प्रति दिन

उपसर्ग फैलाने वाले द्रव्यों या वस्तुओं का जब उपसर्गनाशन किया जाता है तब उसको अनुषंगी (Concurrent) उपसर्गनाशन कहते हैं। इसमें रोगी के मलमूत्र, थूक, नासास्राव, गले का स्राव इत्यादि का तथा रोगी से सम्बन्धित वस्त्रपात्रादि का उपसर्ग नाशन किया जाता है। जब रोगी ठीक होने के पश्चात्, रुग्णालय जाने के या मरने के पश्चात् उसके कमरे का या घर का उपसर्ग नाशन किया जाता है तब उसको अन्तिम (Terminal) उपसर्गनाशन कहते हैं। इसमे अधिकतर फर्श, दीवाल, वाहक कीडे तथा अन्य जीव बड़े-बड़े गद्दे, दरी, किताबें इनके नाशन या उपसर्ग नाशन पर ध्यान दिया जाता है। रोग प्रतिवन्धन की दृष्टि से दोनों उपयुक्त होने पर भी अनुषंगी उपसर्गनाशन अधिक महत्व का है। यदि उसको दिन प्रतिदिन भलीभाँति काम में लाया जाय तो अन्तिम उपसर्गनाशन का कोई महत्व नहीं रहता। उपसर्ग का प्रसार रोगी से प्रतिदिन उत्सर्गित होने वाले मलमूत्रादि से होने के कारण रोग प्रतिवन्धन का अधिकांश कार्य अनुषंगी उपसर्गनाशन से ही होता है न कि अन्तिम उपसर्गनाशन से। अतः सार्वजनिक रोग प्रतिवन्धन के उपायों में आजकल अन्तिम उपसर्गनाशन पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, अनुषंगी पर दिया जाता है।

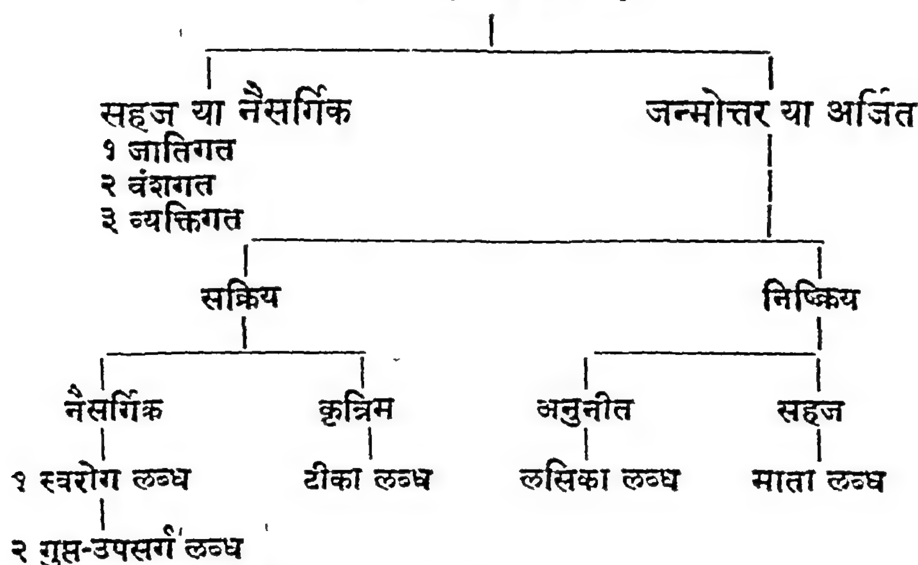
(४) प्रतिकारवर्धन

रोगियों का अलग्नकरण, संशयितों का निरोधन और मलमूत्रादि का उपसर्गनाशन कितना भी क्यों न किया जाय कुछ उपसर्गकारी जीवाणु वातावरण, जल, खाद्यपेय इनमें निकल जाते हैं और स्वस्थ मनुष्यों के पास पहुँचते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिवन्धन और उपसर्गनाशन का उचित प्रवन्ध करने पर भी उपसर्गकारी जीवाणुओं से वचना कठिन है। फिर जहाँ इस प्रकार का प्रवन्ध नहीं है वहाँ पर क्या कहना है ?

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक रोगाणुओं से सम्बन्धित होने के अगणित प्रसंग उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रत्येक समय मनुष्य उपसृष्ट या रुग्ण नहीं होता। इसका कारण यह है कि मनुष्यों के शरीर में कुछ प्रतीकारक शक्ति होती है जिसके वल पर वह रोगाणुओं से आक्रान्त होने पर भी उपसृष्ट या रुग्ण नहीं होता। इसको अग्रहणशील (Nonsusceptible) या क्षम (Immune) कहते हैं। इसके विपरीत जिनके शरीर में प्रतिकारकता नहीं होती वे ग्रहणशील या अक्षम कहलाते हैं और रोगाणुओं से सम्बन्धित या आक्रान्त होने पर यही रुग्ण होते हैं। इस साधन से मनुष्य प्रतिकारक या क्षम वनाये जाते हैं जिससे रोगाणुओं

से आक्रान्त होने पर भी रोगाक्रान्त न हो सकें। यह साधन उपर्युक्त साधनों के समान समाज की रक्षा उपसर्गों से करता है। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह व्यक्ति की रक्षा करता है जो दूसरे साधन से नहीं हो सकती। इसमें दोष यह है कि प्रत्येक उपसर्ग के लिए यह साधन उपलब्ध नहीं है और प्रत्येक उपसर्ग के लिए अलग-अलग साधन का उपयोग करना पड़ता है।

व्याधिक्षमता (Immunity)—विकारी जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश होने के पश्चात् उनसे होनेवाले उपसर्ग को रोकने की, उपसर्ग होने के पश्चात् तज्जन्यरोगोत्पत्ति को रोकने की या उत्पन्न रोग के साथ प्रतीकार करने की जो शक्ति प्राणियों के शरीर में होती है वह व्याधिक्षमता[1] कहलाती है। आज कल कृत्रिम साधनों से (टीका) व्याधिक्षमता बढ़ाने की रीति साध्य होने के कारण मसूरिका, प्लेग इत्यादि अत्यन्त भयानक उपसर्गों का प्रतिबन्धन करने में बहुत सफलता प्राप्त हुई है।



सहिष्णुता या अभिक्षमता (Tolerance or premunition)—ऊपर क्षमता के जो विविध भेद बताये गये हैं वे मुख्यतया तृणाणु जनित उपसर्ग के हैं। कीटाणु जनित उपसर्ग में और भी एक प्रकार की क्षमता दिखाई देती है जिसको सहिष्णुता

१. व्याधिक्षमत्व व्याधिबलविरोधित्व, व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्। चक्रपाणि-दत्त चरक टीका।

या अभिक्षमता कहते हैं। साधारणतया तृणाणुजन्य रोगों में क्षमता उत्पन्न होने पर उपसर्ग का नाश होता है। इसमें जब तक शरीर में उपसर्ग बना रहता है तबतक क्षमता बनी रहती है, अर्थात् क्षमतोत्पत्ति के लिए उपसर्ग की निरन्तर उत्तेजना या उपस्थिति आवश्यक होती है। विषमज्वरपीडित प्रदेशों के निवासियों में विषमज्वर के लिए जो क्षमता दिखाई देती है वह इसी प्रकार की होती है।

सहज, स्वाभाविक या नैसर्गिक (Natural)—यह क्षमता प्राणियों के शरीर में जन्म से ही होती है। यह सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की होती है और सर्व प्राणिजगत् में एक सी नहीं रहती। कुष्ठ रोग के लिए सर्व मनुष्येतर प्राणि तथा उष्णरक्त प्राणियों के रोगों के लिए मेंढक, सर्प, कच्छपादि सर्व शीतरक्त प्राणी सम्पूर्णतया क्षम होते हैं। इस प्रकार की क्षमता न पूर्ण होती है न स्थायी। बहुधा अन्यसापेक्ष ही रहती है और प्राणियों के स्वास्थ्य[1] तथा बाह्य परिस्थिति पर न्यूनाधिक हुआ करती है। यह क्षमता अक्षत बाह्यत्वचा और श्लेष्मलावरण, त्वचा के स्वेदादिस्राव, आमाशयिकरस, रक्तरसान्तर्गत प्रतियोगी पदार्थों की उचित मात्रा, शरीर रक्षक श्वेतकायाणुओं की उचित संख्या इत्यादि पर निर्भर होती है। इसलिए इसका विनाश अधिक शीत या अधिक उष्णता, हीनाशन, अनशन, दूषित वायु सेवन, मद्य सेवन, रक्तस्राव तथा मधुमेह, वृक्कशोथादि शरीर-दौर्बल्यकर चिरकारी रोग इत्यादि से हो जाता है। तथा रोगाणुओं को बहुत अधिक संख्या में या उनके विषको बहुत अधिक मात्रा में शरीर में प्रविष्ट करने से इसके होते हुए रोग उत्पन्न किया जा सकता है। वैसे ही कृत्रिम पद्धति से इस नैसर्गिक क्षमता को बढ़ाया जा सकता है।

यह सहज क्षमता तीन प्रकार की देखने में आती है।

(१) जातिगत (Species)—एक जाति के प्राणियों में विशिष्ट रोग के लिए जो सामान्य जन्मसिद्ध क्षमता होती है इसका नाम 'जातिगत' क्षमता है।

कुत्ते की जाति आन्थ्राक्स के लिए, मुर्गी धनुस्तम्भ के लिए, कुत्ता, मूषक बकरी की जाति राजयक्ष्मा[2] के लिए और मनुष्य जाति राइण्डरपेस्ट (जानवरों का अतिसार) के लिए सहज क्षम होती है।

---

१. शरीराणि—चातिस्थूलान्यनिविष्टमांसशोणितास्थीनि, दुर्बलान्यसात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराण्यल्पसत्त्वानि वा भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि॥ चरक॥

२. अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृङ् मांसालयानि प्रतिसेवमानः।
स्नानादिनानाविधिना जहाति मासादशेषं नियमेन शोषम्॥ सुश्रुत॥

(२) वंशगत (Racial)—एक जाति के भिन्न-भिन्न वंशों में जो विशिष्ट क्षमता होती है उसका नाम 'वंशगत' क्षमता है। बकरी जाति की आल्जेरिअन (एक प्रान्त का नाम) बकरी में आन्थ्राक्स के लिए जो क्षमता होती है वह सामान्य ग्राम्य बकरी में नहीं दिखाई देती। मूषक जाति के मूसा (Rat) वंश में आन्थ्राक्स के लिए जो क्षमता होती है वह चूहिया (Mouse) वंश में नहीं होती है। अफ्रिका के निग्रो लोगों में पीतज्वर के लिए जो क्षमता होती है वह अन्य वंश के मनुष्यों में नहीं दिखाई देती है।

(३) वैयक्तिक (Individual)—यह क्षमता अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में अधिक दिखाई देती है, जो कुछ व्यक्तियों में माता-पिता से, कुछ व्यक्तियों में शरीर के भीतरी रासायनिक पदार्थों से, कुछ व्यक्तियों में शरीर रचना विशेष से और कुछ व्यक्तियों में परिस्थिति से उत्पन्न होती है।

नैसर्गिक क्षमता के समान कुछ व्यक्तियों में नैसर्गिक अक्षमता या ग्रहणशीलता भी रहती है जिसके कारण वे औरों से अधिक और बार बार कुछ रोगों से बराबर पीडित हुआ करते हैं।

जन्मोत्तर (Acquired)—यह व्याधिक्षमता जन्म होने के पश्चात् रोग उत्पन्न होने से होती है या कृत्रिम पद्धति से उत्पन्न की जाती है। इसके अनुसार यह क्षमता दो प्रकार की होती है। यह सदैव विशेष प्रकार की होती है। इसको अर्जित भी कहते हैं।

(१) रोगलब्ध—मनुष्य जब रोग से पीड़ित होता है तब पीडितावस्था में उसके शरीर के भीतर क्षमता उत्पन्न होती है। यदि यह क्षमता सबल न हो तो रोगी अधिक काल तक व्याधित रहता है और उसका मृत्यु भी हो सकता है। यदि क्षमता निर्बल न हो तो रोगी शीघ्र रोग से निर्मुक्त होता है। तत्पश्चात् बहुधा उसी रोग से वह पीड़ित नहीं होता। इसका कारण यह है कि व्याधितावस्था में शरीर के भीतर जो क्षमता उत्पन्न होती है वह रोगमुक्त होने के पश्चात् भी कुछ काल के लिए शरीर में ठहरती है। इस प्रकार रोगलब्ध क्षमता को नैसर्गिक सक्रिय अर्जित क्षमता (पृष्ठ ३७०) कहते हैं। शरीर में क्षमता बनी रहने के काल के अनुसार व्याधिलब्ध क्षमता के दो प्रकार किए गए हैं।

(अ) स्थायी—इससे रोग निर्मुक्त होने के पश्चात् बरसों तक वा जन्म भर क्षमता शरीर में रहती है। यथा—फिरंग; मसूरिका, प्लेग, त्वङ् मसूरिका, पीतज्वर, रोमान्तिका, कर्णफेर इत्यादि।

(आ) अस्थायी—इसमें रोग मुक्त होने के पश्चात् क्षमता अल्पकाल तक रहती है जैसे, एन्फ्लुएन्जा, न्युमोनिया, सोजाक, विसूचिका इत्यादि। इसलिए स्थायी क्षमता उत्पन्न करनेवाले रोगों में मनुष्य दूसरी बार प्रायः पीड़ित नहीं होता और अस्थायी क्षमता उत्पन्न करनेवाले रोगों से दूसरी बार पीड़ित हो सकता है।

रोग निर्मुक्त होने के पश्चात् न्यूनाधिक काल तक शरीर का जो रक्षण उसी रोग से होता है इसका कारण यह है कि व्याधितावस्था में शरीर के भीतर जीवाणुनाशक विषनाशक या दोनों प्रकार के पदार्थ पर्याप्त मात्रा में बनते हैं जो उतने काल तक शरीर में रहते हैं; तथा शारीरिक कोशाएँ उन विशिष्ट जीवाणुओं के साथ तथा उनके विष के साथ प्रतिकार करने की शिक्षा पाकर अभिसंस्कृत हो जाती हैं जिससे दूसरे समय वे उनका विनाश सफलता से और आसानी से कर सकती हैं।

(२) कृत्रिम (Artificial)—इसमें स्वाभाविक व्याधि होने से शरीर में जो परिवर्तन होता है वही परिवर्तन कृत्रिम उपायों द्वारा किया जाता है। अतः इसका नाम 'कृत्रिम क्षमता' है। यह क्षमता दो पद्धतियों से उत्पन्न की जाती है। अतः इसके अनुसार इस क्षमता के दो भेद होते हैं।

'सक्रिय क्षमता' (Active)—रोगाणु या उनके विष का अघातक मात्रा में प्रवेश करके जो क्षमता उत्पन्न की जाती है उसका नाम 'सक्रिय क्षमता' है। इसमें क्षमता जनक पदार्थ प्राणियों के ही शरीर में उत्पन्न होते हैं और उत्पत्ति के समय कचित् रोग के सौम्य लक्षण उत्पन्न भी होते हैं। चूँकि क्षमताकांक्षी प्राणी क्षमता की उत्पत्ति करने की क्रिया में प्रत्यक्ष भाग लेता है अतः इस क्षमता का नाम 'सक्रिय या प्रत्यक्ष' क्षमता रक्खा है। रोगलब्ध क्षमता इसी प्रकार की होती है। कृत्रिम सक्रिय क्षमता शरीर में सजीव, मृत, मृदुकृत या संस्कारित रोगाणुओं का या उनके विष का अन्तर्रोपण (Inoculation) करके उत्पन्न की जाती है। क्षमता उत्पन्न करने के लिए जो द्रव शरीर में प्रविष्ट किया जाता है वह मसूरी (Vaccine) कहलाता है। मसूरियाँ प्रायः मृत रोगाणुओं से बनायी जाती हैं परन्तु आजकल संस्कारित सजीव जीवाणुओं से भी बनायी जाने (जैसे प्लेग और राजयक्ष्मा की) लगी हैं। मसूरिओं का उपयोग प्रायः रोगप्रतिषेध के लिए किया जाता है।

निम्न रोगों के लिए इस प्रकार की प्रतिषेधक मसूरियाँ प्रयुक्त होती हैं—आन्त्रिकवर्ग के ज्वर, प्लेग, विसूचिका, मसूरिका, कुकुरखाँसी, रोहिणी, राजयक्ष्मा, पीतज्वर।

निष्क्रिय क्षमता (Passive)—प्रत्यक्ष या सक्रिय विधि द्वारा रोगक्षम किए हुए मनुष्येतर प्राणियों के शरीर की लसीका का मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके यह क्षमता उत्पन्न की जाती है। इसमें बने बनाये प्रतियोगी पदार्थ मनुष्य शरीर में प्रविष्ट किये जाते हैं, उनकी उत्पत्ति में मनुष्य प्रत्यक्ष भाग नहीं लेता। इसलिए यह क्षमता अप्रत्यक्ष या निष्क्रिय कहलाती है। इसके लिए जो द्रव्य मनुष्य शरीर में प्रविष्ट किया जाता है उसको क्षमलसिका (Immune serum) कहते हैं। क्षमलसिका निम्न तीन प्रकार की होती है—

(१) प्रति तृणाण्वीय (Anti-bacterial)—मनुष्येतर प्राणियों के शरीर में तृणाणु प्रवेशित करके क्षमता उत्पन्न होने के पश्चात् उसके रक्त से यह लसिका निकाली जाती है इसलिए इसमें तृणाणु नाशक गुण होते हैं। इस प्रकार की लसिकाओं में प्लेग की (एन्टीप्लेगसीरम), अतीसार की (एन्टीडीसेन्ट्री सीरम), मस्तिष्कावरणशोथ की (एन्टीमेनिंगोकोकल सीरम) लसिकाएँ प्रधान हैं।

(२) प्रतिवैषिक (Anti-toxic)—इसमें प्राणियों के शरीर में तृणाणु वहिर्विष प्रविष्ट करके क्षमता उत्पन्न की जाती है। इसलिए प्राणियों की रक्त लसीका में प्रतिविष उपस्थित रहता है। प्रतिवैषिक लसिकाओं में धनुर्वात, अतीसार और रोहिणी की लसिकाएँ प्रधान हैं।

(३) संनिवृत्त (Convalescent)—रोग से निवृत्त होने के पश्चात् मनुष्यों के रक्त से जो लसिका निकाली जाती है वह सनिवृत्त लसिका कहलाती है। विषाणु-रोग सनिवृत्तों की लसिका में क्षमताजनक गुण पाए जाते हैं। रोमान्तिका, शैशवीय अंगघात इन रोगों में इसका उपयोग किया जाता है। इसलिए इसको प्रतिविषाण्विय (Antiviral) लसिका भी कहते हैं। ये लसिकाएँ मानवी होने के कारण इनमें विजातीय प्रोभूजिन न होने से इनके प्रयोग से शरीर में प्रतिक्रिया (Serum reaction) नहीं होती तथा इनमें क्षमताजनक गुण भी अधिक रहते हैं। परन्तु ये बच्चों से प्राप्त होने के कारण इनका प्रयोग बड़े पैमाने पर नहीं किया जा सकता।

सक्रिय और निष्क्रिय क्षमता में भेद

(१) सक्रिय (मसूरीजन्य) में क्षमताजनक प्रतियोगी (Antibodies) मनुष्य शरीर में उत्पन्न किए जाते हैं। निष्क्रिय (लसिकाजन्य) में बने बनाए प्रतियोगी शरीर में प्रविष्ट किए जाते हैं।

(२) सक्रिय में शरीर में क्रिया प्रारंभ होने पर प्रतिक्रिया के तौर पर ज्वरादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। निष्क्रिय में शरीर में क्रिया न होने से प्रतिक्रिया के ज्वरादि लक्षण नहीं होते।

(३) सक्रिय में टीका लगाने के पश्चात् क्षमताजनक प्रतियोगी उत्पन्न होने के लिए ८–१० दिन की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ यह होता है कि जिसका टीका लगाया गया है उसके लिए शरीर ८–१० दिन के पश्चात् क्षम हो जाता है। निष्क्रिय में प्रतियोगी बने बनाए शरीर में प्रविष्ट होने के कारण लसिका प्रवेश के समय से शरीर में क्षमता उत्पन्न होती है।

(४) सक्रिय क्षमता अधिक काल तक (३–१२ मास) और निष्क्रिय क्षमता अल्पकाल तक रहती है।

(५) सक्रिय का उपयोग इसलिए प्रायः अनागत-व्याधि प्रतिबन्धन के लिए और निष्क्रिय का उपयोग आगत व्याधि चिकित्सा के लिए हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि उपसर्ग प्रतिबन्धन की दृष्टि से व्याधि-क्षमता के विविध प्रकारों में केवल सक्रिय क्षमता हो उपयोगी साधन है और इसका उपयोग निम्न रोगों के उपसर्ग से बचाने के लिए बहुत ही हितकर और कार्यक्षम सिद्ध हुआ है—प्लेग, मसूरिका, विसूचिका, आन्त्रिक जलसंत्रास, रोहिणी इत्यादि।

वृन्द क्षमता (Herd immunity)—किसी वंश, जाति या प्रदेश के लोगों में जो सामूहिक या सांघिक क्षमता होती है वह वृन्द क्षमता कहलाती है। यह क्षमता एक घराने के या परम्परा के या एक प्रदेश के स्थिर निवासियों में पायी जाती है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को क्षम होने की आवश्यकता नहीं होती। कुछ व्यक्ति अक्षम होने पर भी वे रोगों के आक्रमण से बच जाते हैं, जैसे बहुसंख्य सबल मनुष्यों के वृन्द के कुछ व्यक्ति निर्बल होने पर भी औरों के आक्रमण से बच जाते हैं। जो बात क्षमता के बारे में होती है वही अक्षमता या ग्रहणशीलता (Susceptibility) के बारे में होती है। इसका उत्तम उदाहरण जंगली लोगों में राजयक्ष्मा का है। इनका संघ या वृन्द क्षय के लिए ग्रहणशील होने के कारण इनमें जब क्षय का प्रवेश होता है तब वह शीघ्रता से उनमें फैल कर उनका नाश किया करता है। औपसर्गिक रोगों के मरक के प्रसार में व्यक्तिगत क्षमता की अपेक्षा वृन्द क्षमता विशेष महत्व की है।

स्थानिक क्षमता (Local immunity)—बेसरेड्का (Besredka) नामक

विज्ञानवेत्ता का कथन है कि क्षमता केवल सार्वदैहिक क्षमताजनक प्रतियोगियों और भक्षकायाणुओं (Phagocytes) के ऊपर निर्भर न होकर स्थानिक धातु कोशाओं पर ही निर्भर होती है। यदि त्वचा तथा श्लेष्मलावरण के रोगाणु-प्रवेश-स्थान क्षम हों या अग्रहणशील (Non susceptible) बनाए जायँ तो शरीर क्षम न होने पर भी मनुष्य या प्राणि क्षम व्यक्ति के समान उपसर्ग से पीड़ित नहीं हो सकता। इस कल्पना के आधार पर शरीर को उपसर्ग से बचाने के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। इसके लिए जो द्रव्य प्रयुक्त होता है वह प्रतिविषाणु (Anti-virus) कहलाता है। यह द्रव्य जीवाणुओं का मारितसंवर्ध (Killed culture) या उसका निस्यन्द (Filtrate) होता है। इसमें विषाणुओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें भिगोये हुए जाली वगैरा पूयजनक गोलाणुओं के उपसर्गों में प्रयुक्त किये जाते हैं।

तृणाणु भक्ष (Bacterio phage)—इसके स्वरूप के सबंध में मतभेद है। इसका अन्वेषक डी हेरेला का मत है कि यह सूक्ष्मदर्शकातीत परोपजीवी है जो अपने पोषण के लिए तृणाणुओं पर निर्भर रहता है और उनका नाश करता है। इसलिए उसने उसका नाम तृणाणुमक्ष रक्खा। दूसरे लोगों का मत है कि तृणाणुओं के शरीर से निकला हुआ यह एक अन्तःकिण्व (Enzyme) है जो उन्हीं को गलाता है। इसकी मोटाई ८–७५ सिणु (Millimicron णु का सहस्रांश भाग) २०–३० णुणु (णुणुम्यू (णु) का एक सहस्रांश होती है।) इसका मुख्य गुण तृणाण्वशन (Bacteriolysis) है। इसका कार्य विशिष्ट होता है। अर्थात् विसूचिका-भक्ष विसूचिका वक्राणुओं को, आन्त्रिकभक्ष आंत्रिक दण्डाणुओं को, अतीसार-भक्ष अतीसार दण्डाणुओं को नष्ट किया करता है। विशिष्ट तृणाणुओं के अतिरिक्त संबन्धित तृणाणुओं को भी भक्ष नष्ट कर सकता है। इसका उपयोग आन्त्रिक, विसूचिका, अतीसार तथा अन्य पचन संस्थान के रोगों में प्रतिबन्धन तथा चिकित्सा के लिए किया जाता है।

मरक और तृणाणुमक्ष—तृणाणुभक्ष के पक्षपातियों का कथन है कि विसूचिका, आन्त्रिक अतीसार इत्यादि रोगों से पीडितों के आन्त्र मे जब भक्ष पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होता है तब वे बच जाते हैं और जब भक्ष उचित मात्रा में नहीं बनता तब वे मर जाते हैं। इन लोगों का यह भी कथन है कि इन रोगों के मरक के प्रारम्भ में भक्ष की कमी के कारण रोग तीव्र होता है। परन्तु आगे चलकर जब रोगियों के आन्त्र में उत्पन्न हुआ भक्ष अनेक मार्गों से जलाशयों तक पहुँच जाता है तब मरक का जोर कम होता है और उसीसे मरक बन्द हो जाता है। इस कथन में बहुत कुछ तथ्य है क्योंकि विसूचिका मरक के उत्तरार्ध में नैसर्गिक

जलाशयों के पानी में भत्त बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। संक्षेप में मरक बन्द होने का भत्त एक नैसर्गिक साधन है और उसका उपयोग कृत्रिम तौर पर उपसर्ग प्रतिबन्धन के लिए कर सकते हैं।

मरक विज्ञान (Epidemiology)

शीतोष्णवातवर्षाणि खलु विपरीतान्योषधीर्व्यापादयन्त्यश्च। तासामुपयोगाद्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको व भवति ॥ सुश्रुत ॥

व्याख्या और प्रकार—जो रोग विकारी जीवाणुओं के उपसर्ग से उत्पन्न होते हैं तथा रोगपीडित या रोगवाहक प्राणियों और मनुष्यों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं वे उपसर्गज,[1] औपसर्गिक या संक्रामक (Infectious) कहलाते हैं। जो प्रत्यक्ष सम्बन्ध से होते हैं वे सांसर्गिक (Contagious) भी कहे जाते हैं। कुष्ठ, त्वचा के रोग, मैथुनी रोग (फिरंग, सोजाक) सांसर्गिक के उदाहरण हैं। औपसर्गिक रोगों में रुग्णों से स्वस्थों पर संक्रान्त होने की प्रवृत्ति होने के कारण वे बराबर उपसृष्टों से अनुपसृष्टों पर संक्रान्त होते रहते हैं। परन्तु प्रत्येक औपसर्गिक रोग के संक्रमण का वेग और प्रकार भिन्न होता है और इसके अनुसार औपसर्गिक रोगों के लिए निम्न परिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं—

(१) ऐकपदिक (Sporadic)—इसमें रोग क्वचित् कदाचित् एकाध व्यक्ति में हुआ करता है। आन्त्रिक ज्वर इस प्रकार का उत्तम उदाहरण है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, एन्फ्लुएन्जा, रोहिणी, कुकुर खाँसी इत्यादि रोग प्रायः इस प्रकार के होते हैं।

(२) स्थानपदिक (Endemic) – जब किसी स्थान या जनपद में कोई उपसर्ग सदा के लिए पैर जमा करके उस स्थान के लिए विशेष (Peculiar) बन करके उपस्थित रहता है तब स्थानपदिक कहलाता है। पीतज्वर, माल्टाज्वर, विषमज्वर, कालाजार इत्यादि इस प्रकार के उत्तम उदाहरण हैं।

(३) अभ्यागतिक (Exotic)—जब किसी स्थान या जनपद में कदापि न होनेवाला रोग बाहर से आकर शुरू होता है तब उसको अभ्यागत कहते हैं। १८९६ में बम्बई में शुरू हुआ प्लेग हांगकांग से आया हुआ अभ्यागत था।

---

१. उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीडितजनसम्पर्काद्भवन्ति ॥ डल्हण ॥
मसूरिकाश्च रोमान्त्यो ग्रन्थिवीसर्प एव च।
उपदंशश्चकण्डूवाधा औपसर्गिकसंज्ञकाः ॥ पृष्ठ ३४५ देखो।

(४) जानपदिक[1] (Epidemic)—**जब रोग किसी स्थान में अकस्मात् उत्पन्न होकर थोडे समय में असंख्य मनुष्यों पर संक्रान्त होता है और कुछ काल के पश्चात् आप से आप बन्द होता है और इस प्रकार एक जनपद के अनेक स्थानों पर आक्रमण करता है तब वह जानपदिक कहलाता है। प्राणियों में फैलनेवाले इस प्रकार के रोग को** प्राणिपदिक (Epizootic) **कहते हैं। प्लेग दोनों का उत्तम उदाहरण है।** प्लेग, विसूचिका, मसूरिका, रोमान्तिका, कनफेर ये प्रायः जानपदिक होते हैं। **स्थानपदिक रोग कभी-कभी जानपदिक स्वरूप धारण करते हैं।**

---

१. जो रोग एक जाति, वंश या प्रदेश के सब लोगों (जनपद) को एक समय में पीडित करके उनका उद्ध्वंस किया करता है वह जानपदिक रोग कहलाता है। इस प्रकार के रोग जब से मनुष्य छोटे-मोटे समूह में इकट्ठे रहने लगे तब से ही इस भूमण्डल पर शुरू हुए हैं। भारतवर्ष में भी इस प्रकार के जानपदिक रोग समय-समय पर प्राचीन काल में आया करते थे। इसलिए इनका स्वतन्त्र विचार चरकसंहिता के विमान स्थान में 'जनपदोद्ध्वंसनीयविमान' अध्याय में किया गया है। सुश्रुत के सूत्रस्थान के ऋतुचर्याध्याय में भी इसी विषय का प्रतिपादन मिलता है। ये रोग बाह्यकारण से उत्पन्न होते हैं यह आधुनिक सिद्धान्त आयुर्वेद ने भी माना है और उसके अनुसार आयुर्वेद में रोगों के दो विभाग किये हैं—निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः। वाग्भट। निज का अर्थ अपथ्य आहार विहार जनित और आगन्तु का अर्थ बाह्य कारण जनित। अनौपसर्गिक रोग निज में और औपसर्गिक रोग आगन्तु में आते हैं। दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो एक ही अनौपसर्गिक रोग से पीडित अनेक व्यक्तियों में अनेक अभ्यन्तरीय कारण हुआ करते हैं, परन्तु एक औपसर्गिक रोग (यथा, विसूचिका, मसूरिका) से पीडित अनेक व्यक्तियों में एक ही बाह्य कारण हुआ करता है। इस सम्प्राप्ति के आधार पर रोगों के असाधारण और साधारण करके दो विभाग किये गये हैं। इसके अनुसार निज रोग असाधारण में और आगन्तु (औपसर्गिक) रोग साधारण में आते हैं—द्विविधो हेतुर्व्याधिजनकः प्राणिना भवति साधारणोऽसाधारणश्च। तत्रासाधारणं प्रतिपुरुषनियत वातादिजनकमाहारादि, वहुजनसाधारणं वातजलदेशकालरूपं साधारणरोगकारणमभिधातु जनपदोद्ध्वसनीयोऽभिधीयते। चक्रपाणिदत्त॥ इसका तात्पर्य यह है कि मरकोत्पत्ति में मरक पीडित प्रदेश निवासियों के दोष की अपेक्षा बाह्य दोष बलवान् हुआ करता है जिसके कारण विभिन्न आकृति, प्रकृति, आयु सत्व, सात्म्य इत्यादि के लोग एक ही रोग से एक समय में पीडित होते हैं—अपितु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिनायुगपदसमानप्रकृत्याहारदेहवलसात्म्यसत्ववयसा मनुष्याणा कस्माद्भवति॥ चरक॥

जानपदिक रोग 'मुहूर्तं ज्वलितं' के समान और स्थानपदिक 'चिरं धूमायितं' के समान होते हैं। जानपदिक के लिए ही व्यवहार में मरक, महामारी या प्रमारक कहते हैं।

(४) सार्वपदिक (Pandemic)—जब रोग बहुत अधिक विस्तृत प्रदेश में या सर्व संसार भर में फैलता है तब उसको सार्वपदिक कहते हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण एन्फ्लुएञ्जा है। १८९० और १९१९ में इसका स्वरूप सार्वपदिक था। इसका दूसरा उदाहरण प्लेग है जो पहले इस प्रकार का था।

जब कोई औपसर्गिक रोग जानपदिक रूप धारण करता है तब उसको महामारी, प्रमारक या मरक कहते हैं। अनेक औपसर्गिक रोग मरक के स्वरूप में हमेशा फैलते हैं और आन्त्रिक ज्वर, विषम ज्वर, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, रोहिणी इत्यादि ऐकपदिक और स्थानपदिक रोग भी अनेक बार जानपदिक या मरक स्वरूप धारण करते हैं। मरक विज्ञान में इसलिए इन सब औपसर्गिक रोगों की उत्पत्ति और प्रसार का विचार उनके प्रतिबन्धन की दृष्टि से किया जाता है। औपसर्गिक रोग अनेक श्रेणी के रोगाणुओं से उत्पन्न होते हैं, जिनकी उग्रता और जीवनक्षमता (Viability) भिन्न भिन्न हुआ करती है तथा जिनका संक्रमण भी भिन्न भिन्न प्रकारों से हुआ करता है। इसलिए औपसर्गिक रोगों के मरकों की उत्पत्ति के कारणों में बहुत विविधता रहती है जिससे उनके प्रतिबन्धन के साधनों में भी विविधता आ जाती है। फिर भी मरकोत्पत्ति में कुछ सामान्य बातें होती हैं और उनका यहाँ पर संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। परन्तु इन बातों का स्वतन्त्र विवरण करने से पहले एक मोटी बात यहाँ पर बताना आवश्यक है जिसमें और सब बातों का समावेश होता है। वह बात यह है कि उपसर्ग एक प्रकार का द्वन्द्व या संग्राम है जिसमें रोगाणु समाज एक ओर रहता है और मनुष्य (या प्राणि) समाज दूसरी ओर होता है। जब रोगाणुओं का बल बढ़ता है तब मरक उत्पन्न होता है और जब फिर मनुष्य समाज का बल बढ़ता है तब मरक समाप्त हो जाता है। संक्षेप में रोगाणुओं का बल बढ़ानेवाली तथा मनुष्यों का बल घटानेवाली जो जो बातें होती हैं वे मरकोत्पत्ति में तथा उसको जारी रखने में सहायता करती हैं और रोगाणुओं का बल घटाने वाली और मनुष्यों का बल बढ़ानेवाली जो जो बातें होती हैं वे मरक की अनुत्पत्ति में और उत्पन्न हुए मरक को रोकने में सहायता करती हैं। अब संक्षेप में मरकोत्पत्ति के कुछ कारणों का विचार किया जाता है।

(१) रोगाणु प्रमात्रा (Quantum of the infective agent)—संख्या,

उग्रता, आक्रमण-शीलता, विषोत्पादन-क्षमता, जीवन क्षमता इत्यादि अनेक ज्ञात और अज्ञात बातों के संयुक्त प्रभाव से रोगाणुओं की प्रमात्रा बनती है। इसका रोगोत्पादक प्रभाव प्रत्येक स्थान के ग्रहणशील व्यक्तियों की संख्या के अनुसार प्रवीजन, प्रकाश (पृष्ठ १४) स्थली (पृष्ठ २४२), वातावरण का ताप, आक्लेद (पृष्ठ ३३०) वर्षा, ऋतु इत्यादि उनके पनपने तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक साधनों की प्रतिकूलता या अनुकूलता के अनुसार न्यूनाधिक हुआ करती है। उग्रता, आक्रमणशीलता, विषोत्पादनक्षमता, जीवनक्षमता इत्यादि बातें प्रत्येक रोगाणु की अपनी स्वतन्त्र या विशेष होती हैं। फिर भी यदि रोगाणुओं को ग्रहणशील व्यक्ति बार बार मिलते जायँ तो उनकी उग्रता तथा आक्रमणशीलता उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। और यदि अग्रहणशील (Nonsusceptible) व्यक्ति बार बार मिलते जायँ तो उनकी उग्रता तथा आक्रमणशीलता उत्तरोत्तर घटती जायगी।

(२) मनुष्य बल—मनुष्यों का बल उनकी सहज या जन्मोत्तर क्षमता (पृष्ठ ३६८) आयु, आहार (पृष्ठ ७६) आरोग्य, आघात, परिस्थिति, इत्यादि अनेक ज्ञात और अज्ञात बातों के संयुक्त प्रभाव से बनता है। सहज या जन्मोत्तर क्षमता सब मनुष्यों में, सर्वावस्था में और सब रोगाणुओं के लिए एक सी और प्रबल नहीं होती। इसलिए मनुष्य समाज में अनेक लोग अपनी अवस्था या दुर्बलता के कारण सदैव उपसर्ग के लिए ग्रहणशील रहा करते हैं। जैसे अवस्था विशेष के कारण सब लोग बचपन में मसूरिका, रोमान्तिका, कुकुर खांसी, रोहिणी इत्यादि उपसर्ग से पीड़ित हो सकते हैं। दुष्प्रकाशित, दुष्प्रव्यजित (Ill-ventilated) गन्दे, गुञ्जान मकानों और महल्लों में रहनेवाले मनुष्यों का बल (पृष्ठ १२) घट जाता है। अत्यधिक उष्ण या शीत का परिणाम बल घटाने में होता है। शीत या उष्ण का परिणाम आघात के समान होता है। संतुलित आहार न मिलने से भी जीवशक्ति दुर्बल होती है। जब स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, शरीर मधुमेह, वातरक्त अतिपानता (Alcoholism), वृक्कशोथ तथा अन्य रोगों से पीड़ित रहता है तब शरीर दुर्बल होने के कारण दूसरे रोग भी उत्पन्न हुआ करते हैं। बच्चों में रोमान्तिका के पश्चात् प्रायः कुकुर खाँसी का मरक उत्पन्न होता है।

अब नीचे मरक सहायक कुछ और कारणों का विवरण दिया जाता है।

(३) वय—अनेक औपसर्गिक रोगों का वय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मसूरिका, लघुमसूरिका, रोमान्तिका, रोहिणी, कुकुरखाँसी, शैशवीय अङ्गघात इत्यादि रोग बचपन में और आन्त्रिक ज्वर, विसूचिका, प्लेग, मस्तिष्क-

सुषुम्ना ज्वर इत्यादि कुछ रोग जवानी में अधिक हुआ करते हैं। बहुधा ग्रहण-शीलता का यह परिणाम होता है।

(४) स्थली वर्षा और आक्लेद—अनेक रोगों के मरक से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इनसे श्लीपद, विषम-ज्वर, विसूचिका और अंकुशकृमि रोग विशेष महत्त्व के हैं। जहाँ पर अधिक पानी बरसता है, स्थली समतल रहती है वहाँ पर स्थान-स्थान पर पानी इकट्ठा होकर मच्छरों की वृद्धि होती है। मच्छर विषम-ज्वर और श्लीपद-ज्वर के सवाहक और उनके कीटाणुओं के संवर्धक हैं। वैसे ही गीली जमीन में अंकुशकृमि के अण्डे अधिक काल तक जीवन क्षम रहकर इल्लियों (Larve) में परिवर्तित हो सकते हैं। विसूचिका वक्राणु की वृद्धि के लिए ३०°–४०° से० की उष्णता, आर्द्रता, मलमूत्रादि अन्य सेन्द्रिय द्रव्यों से दूपित स्थली तथा पानी इत्यादि की आवश्यकता होती है। वर्षा ऋतु में पानी न बरसना और जाड़े में बरसना ये दोनों विसूचिकामरक उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। ये सब आवश्यकताएँ वर्षा और गर्मी के दिनों में पूरी होने के कारण इन दिनों में विसूचिका के मरक उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में इनकी अनुकूलता रोगाणुप्रमात्रा बढ़ाने में सहायता करती है।

(५) ऋतु—अनेक औपसर्गिक रोगों के मरक ऋतुज (Seasonal) होते हैं। जैसे प्लेग के वसन्त में, मसूरिका-रोमान्तिका के वसन्त-ग्रीष्म में, विषम-ज्वर के शरद में, विसूचिका के वर्षा और प्रावृट् में, रोहिणी के शिशिर में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इन ऋतुओं में रोगाणु तथा उनके वाहक कीटकों की वृद्धि के लिए अनुकूल ताप और आक्लेद वातावरण में तथा स्थली में विद्यमान रहते हैं। संक्षेप में ऋतु की अनुकूलता रोगाणु मात्रा बढ़ाने में सहायता करनेवाला कारण है।

(६) प्रवास और आवागमन—आप्तेष्ट भेंट, विदेश दर्शन, यात्रा, व्यापार, राजकर्म इत्यादि अनेक कामों के निमित्त मनुष्य सदैव एक स्थान से दूसरे स्थान में और एक देश से दूसरे देश में घूमा करते हैं। आजकल अग्निपोत, आगगाड़ी, मोटर, विमान इत्यादि सुखकर और समय की बचत करनेवाले वाहनों के कारण लोगों की प्रवास करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ गयी है। प्रवास दो प्रकार का होता है। जब किसी स्थान से लोग बाहर चले जाते हैं तब उसको उत्प्रवास (Emigration) और उन लोगों को उत्प्रवासी (Emigrants) तथा जब बाहर से लोग किसी स्थान में आते हैं तब उसको आप्रवास (Immigra-

tion) और उन लोगों को आप्रवासी (Immigrant) कहते है। उपसर्ग पर दोनों का परिणाम भिन्न होता है।

उत्प्रवास का परिणाम—बाहर जानेवालों में रोगी, उपसृष्ट और वाहक मनुष्य तथा उनके साथ पिस्सू, मच्छर, चूहे इत्यादि प्राणी तथा कीडे हो सकते हैं। इससे उपसृष्ट स्थान का उपसर्ग दूसरे स्वस्थ स्थान को पहुँच कर वहाँ पर मरक उत्पन्न हो सकते है।

कोलम्बस के नाविक अमेरिका से फिरंग (Syphilis) का उपसर्ग यूरोप में ले आए जिससे यूरोप के देशों में उसके मरक प्रारम्भ हुए। फिर जब पोर्तुगीज (फिरंग देश[1]) भारत में आए तब वे इसको अपने साथ ले आए जिससे भारत में इसका प्रसार हुआ। प्लेग चीन के हांगकांग में था। वहाँ से व्यापारी जहाजों द्वारा वह भारत के बम्बई बन्दरगाह में पहुँचा और उसके पश्चात् बम्बई से लेकर तमाम भारतवर्ष भर में उसके अनेक मरक उत्पन्न हुए और अब भी उसका दौर दौरा जारी है। १९१८ और १९२८ में एन्फ्लुएन्जा के जो सार्वपदिक मरक उत्पन्न हुए वे भी प्रवास के कारण ही हुए हैं। मेले के स्थान में उत्पन्न हुई विसूचिका मेला टूटने पर वापिस जानेवाले लोगों के साथ अन्य स्थानों में फैलती है। भारतवर्ष में विषम-ज्वर का उपसर्ग पहले सब स्थानों में नहीं था, यद्यपि जलवायु उसके लिए अनुकूल थी। अब प्रवासियों के साथ वह अन्य स्थानों में फैल गया है। पीत-ज्वर (Yellow fever), जो इस समय अफ्रिका के कुछ प्रदेशों में स्थानपदिक है वैमानिक आवागमन के कारण भारत में आने का और उसके पश्चात् मरक के रूप में फैलने का डर है, क्योंकि यहाँ का जलवायु उसके लिए अनुकूल है। उसके प्रसारक मच्छरों की यहाँ कमी नहीं है। वैमानिक प्रवास को काल बहुत ही कम लगने के कारण वहाँ से उपसृष्ट मच्छर तथा उपसृष्ट परन्तु रोगी न हुए मनुष्य अर्थात् जिनको संचयकालिक (Incubatory) वाहक कह सकते हैं, ऐसे मनुष्य यहाँ आ सकते हैं।

आप्रवास का परिणाम—जब किसी स्थान में मरक जारी रहता है तब कुछ काल के पश्चात् वह आप से आप बन्द हो जाता है (पृष्ठ पर मरक विराम देखो), परन्तु यदि उस स्थान में बाहर से लोग बराबर आते रहेंगे तो वह भी उचित समय पर विराम न होकर धूमायित के समान अधिक काल तक जारी

---

१. फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यो भवेत्। तस्मात् फिरंग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः॥ भावप्रकाश॥

रहेगा। संक्षेप में लोगों के आवागमन से किसी स्थान में नए मरक का प्रादुर्भाव होता है, पुराने मरक की पुनरुत्पत्ति हुआ करती है और उत्पन्न हुआ मरक अधिक काल तक जारी रहता है तथा उसकी प्रत्यावृत्ति भी हो सकती है।

(७) आर्थिक दुःस्थिति—(Economic conditions)—मनुष्यों का स्वास्थ्य सन्तुलित आहार का सेवन (पृष्ठ ७६); सुन्दर, सुप्रकाशित, सुप्रन्यजित, प्रशस्त पक्के मकानों (पृष्ठ २४५ और) और महल्लों में रहना, शरीर और कपड़ों की सफाई, शुद्ध जल सेवन (पृष्ठ ३८) मकानों के आसपास के कूड़े इत्यादि का नाश, खराव पानी और मैले के लिए मोरी परनालों का प्रवन्ध इत्यादि अनेक वातों पर निर्भर होता है। परन्तु ये सव काम वहुत धन खर्च किए विना नहीं हो सकते हैं। दरिद्री देश, सरकार या समाज जनता की स्वास्थ्य रक्षा के लिए इनका उपयोग नहीं कर सकते, जिसका परिणाम आम जनता की जीवशक्ति (Vitality) या प्रतीकारकता (Resisting power) कम होने में होता है। ऐसे समाज या देश में जव कोई उपसर्ग कहीं से पहुँच जाता है तव उसके पैर जमने में देर नहीं परन्तु उखड़ने में वहुत देर लगती है। किसी देश की दरिद्रता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के प्रमाण दिए जा सकते हैं। वैद्यकीय दृष्टया औपसर्गिक रोगों के मरकों का प्रमाण दिया जा सकता है। जिस देश में प्रतिवर्ष अनेक औपसर्गिक रोगों के अनेक मरक उत्पन्न होते हैं वह देश दरिद्री और जो उनसे अपीड़ित या अल्प पीड़ित हो उसे धनी समझना चाहिए। दरिद्रता निदर्शक औपसर्गिक रोगों में राजयक्ष्मा सर्वश्रेष्ठ है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष राजयक्ष्मा, विसूचिका, विषमज्वर, प्लेग इत्यादि रोगों से लक्षावधि मनुष्यों का संहार होता है। इसका एक कारण दारिद्र्य है। आर्थिक दुःस्थिति के साथ अकाल, और अकाल उत्पन्न करने वाली आपत्तियों[1] (ईतियों) को रख सकते हैं।

(८) युद्ध—इन आपत्तियों में युद्ध एक है। युद्ध के समय जनता को अन्न की कमी होती है और युध्यमान् सैनिकों को अतिजनाकीर्णता, गन्दगी, अन्न की कमी, अशुद्ध जलवायु इनका सामना करना पड़ता है। सव का परिणाम मरकोत्पत्ति के लिए अनुकूल होता है। तन्द्रिक ज्वर प्रायः युद्ध के समय हुआ करता है। प्रथम महायुद्ध में इससे १५०००० के करीव सैनिक मर गये थे।

---

१. इनको ईति कहते हैं—अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभाः खगाः।
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥

उपर्युक्त कारणों[1] में आर्थिक स्थिति, युद्ध और वय, मुख्यतया मनुष्यों का बल घटानेवाले और गौणतया रोगाणुओं का बल बढ़ानेवाले कारण हैं। शेष कारण मुख्यतया रोगाणुओं का बल बढ़ानेवाले और गौणतया मनुष्यों का बल घटानेवाले होते हैं।

'१. आयुर्वेद में वायु, काल, देश, वर्षा, ऋतु इनका विपर्यय मरकोत्पत्ति का बाह्य कारण माना गया है—ते तु खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति; तद्यथा—वायुरुदकं देशः काल इति। तत्र यथर्तुविषमतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमसात्म्यगन्धवाष्पसिकतापांशुधूमोपहतं वातमनारोग्यकर विद्यात् ॥

उदक तु खल्वत्यर्थविकृतगन्धवर्णरसस्पर्शं क्लेदबहुलमपगतगुण विद्यात्।

देश पुन· प्रकृतिविकृतिवर्णगन्धरसस्पर्शं क्लेदबहुल सरीसृपव्यालमशकशलभमक्षिकामूषकादिभिरुपसृष्टमहितं विद्यात् ॥

काल तु यथर्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्गमतिलिङ्गहीनलिङ्ग चाहितं व्यवस्येत्।

ऋतवो व्यापद्यन्ते, तेन नापो यथाकाल वर्षति, न वा वर्षति विकृत वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभाव परिहाय विकृतिमापद्यन्ते, तत उद्ध्वसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात् ॥ चरक ॥

ये सब कारण आधुनिक उपर्युक्त कारणों के साथ बहुत कुछ मिलते हैं। राजर्स ने विसूचिका मरकों का अभ्यास करके यह सिद्ध किया है कि अवृष्टि या अल्पवृष्टि का विसूचिका मरकोत्पत्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसका यह अनुभव है कि जिस साल वृष्टि कम होती है उसके पश्चात् दूसरे साल में विसूचिका मरक जोर करता है।

अतिवृष्टि अनावृष्टि क्यों होती है? वातावरण का ताप या आक्लेद क्यों बढता है? इसका उत्तर देना आज भी बहुत कठिन है। इनके ऊपर मनुष्यों का अधिकार नहीं। ऐसी अवस्था में जनपदोद्ध्वसक रोगों को कैसे रोका जाय इसका चरकाचार्यजी ने जो उत्तर दिया है और जो सिद्धान्त बताया है वह आज भी सम्मत होने योग्य है। चरकाचार्य लिखते हैं—वाय्वादीना यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृत, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव।

यहाँ पर अधर्म का अर्थ स्वर्गप्राप्त्यर्थ पूजा-पाठ नहीं है। इसमें राजा का या नगराध्यक्ष का प्रजारक्षा का कर्तव्य न करना, प्रजा का अपने प्रति तथा अपने भाइयों के प्रति सहायता न करना इत्यादि व्यवहारोपयोगी कर्तव्यों का समावेश होता है—यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधानाधर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजा वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिता पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति ततः सोऽधर्मः ॥ चरक ॥

इस अधर्म का मूल प्रज्ञापराध बताया है। इससे भी अधर्म का यही व्यवहारोपयोगी

रोगाणु और मनुष्य बलाबल विचार—मनुष्य शरीर में रोगाणुओं का नाश करने की शक्ति होती है। जब रोगाणुप्रमात्रा अधिक और मनुष्य बल अल्प होता है तब रोग उत्पन्न होता है। इसमें प्रत्येक के बलाबल के अनुसार निम्न अवस्थाएँ पाई जाती हैं।

(१) यदि रोगाणुप्रमात्रा से मनुष्य का रोगाणुनाशक बल बहुत अधिक हो तो उनके शरीरप्रवेश से न रोग उत्पन्न हो सकता है, न शरीर में प्रतिक्रिया होकर सक्रिय क्षमता उत्पन्न हो सकती है।

(२) यदि रोगाणुप्रमात्रा से मनुष्य का रोगाणुनाशक बल थोड़ा सा अधिक हो तो शरीर में प्रवेश होने पर रोग नहीं उत्पन्न होता, परन्तु प्रतिक्रिया होकर उसके फलस्वरूप उस रोगाणु के लिए कुछ सक्रिय क्षमता उत्पन्न हो सकती है।

अर्थ होता है। प्रज्ञापराध का अर्थ चरक संहिता में निम्न प्रकार से दिया है—बुद्धया विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्। प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसोऽगोचरं हि तत्॥ धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्।

ऊपर मरकोत्पत्ति और मरक विराम की जो उत्पत्ति बतायी है उसका निष्कर्ष इतना ही है कि मनुष्य बल की अपेक्षा रोगाणु बल बढने पर मरक उत्पन्न होता है और मनुष्य-बल की अपेक्षा रोगाणु बल घटने पर मरक विराम होता है। अर्थात् मरक की उत्पत्ति और उत्पन्न हुए मरक की विरति रोगाणुओं के बलक्षय और मनुष्यों की बलवृद्धि पर निर्भर होती है और यही कार्य प्रतिबन्धन के विविध उपायों द्वारा और ऊपर आर्थिक स्थिति में बतायी हुई विविध बातों द्वारा किया जाता है। आयुर्वेद में भी दूषित स्थानपरित्याग, प्रशस्त स्थान सेवन उत्तम, आहारौषधि रसायन सेवन, स्वस्थवृत्त में बताये हुए नियमों का पालन इत्यादि मनुष्य बल बढानेवाले ही उपाय बताये गये हैं—चतुर्ष्वपि तु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः। भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा॥ रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते। हितंजनपदानां च शिवानामुपसेवनम्॥ चरक॥ त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः। देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥ वाग्भट॥

चरक भगवान् ने ऊपर 'यद्वावै' में जो अधर्म बताया है उसका उत्तम उदाहरण आधुनिक खाद्य द्रव्यों की अव्यवस्था और चोरबाजार का दिया जा सकता है। जनता के खाने-पीने का उचित प्रबन्ध न होने के कारण उनका स्वास्थ्य और बल कितना गिरता जा रहा है तथा उससे मरकोत्पत्ति के लिए कितनी सहायता हो रही है इसका वास्तविक आगणन (Estimation) करना मनुष्यों के लिए असम्भव है, काल भगवान् ही इसकी यथार्थ कल्पना दे सकता है।

(३) यदि रोगाणुप्रमात्रा से मनुष्य का रोगाणुनाशक बल समान हो तो शरीर में प्रवेश होने पर सक्रिय क्षमता उत्पन्न होती है, परन्तु रोगाणुओं का पूर्ण नाश नहीं हो सकता और वाहकावस्था उत्पन्न होती है।

(४) यदि रोगाणुप्रमात्रा से मनुष्य का रोगाणुनाशक बल कुछ ही कम हो तो रोग उत्पन्न होता है, परन्तु लक्षण यथारूप (Typical) नहीं होते जिससे उसको पहचानना कठिन होता है।

(५) यदि रोगाणुप्रमात्रा से मनुष्य का रोगाणुनाशक बल बहुत कम हो तो ठीक यथारूप रोग उत्पन्न होता है, परन्तु रोगी बच जाता है।

(६) यदि रोगाणुप्रमात्रा के सामने मनुष्य का रोगाणुनाशक बल कुछ भी न हो तो तीव्र स्वरूप का रोग उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाता है।

मरकोत्पत्ति और मरक विराम (Rise and fall)—ऊपर मरकोत्पत्ति के सबंध में बहुत कुछ बताया गया है। परन्तु प्रत्यक्ष मरक कैसे उत्पन्न हुआ करते हैं तथा कैसे विरत होते हैं इसका ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि रोगाणुओं की आक्रमणशीलता और मनुष्यों की ग्रहणशीलता (अक्षमता) मरकोत्पत्ति के लिए एवं रोगाणुओं की आक्रमणहीनता और मनुष्यों की अग्रहणशीलता (क्षमता) मरक विराम के लिए मुख्यतया कारणभूत होती है। परन्तु मनुष्यों और रोगाणुओं में ये परिवर्तन कैसे होते हैं, एकतरफा होते हैं या दोतरफा होते हैं इसका ठीक विवरण करना कठिन है। साधारणतया मरकोत्पत्ति और विराम निम्न प्रकार से हुआ करते है।

मरकोत्पत्ति हेतु—प्रत्येक समाज में कुछ मनुष्य अपनी आयु या परिस्थिति के कारण किसी न किसी उपसर्ग के लिए ग्रहणशील रहते हैं। ऐसे समाज में जब बाहर से रोगाणु पहुँच जाते है तब वे प्रथम ग्रहणशीलों पर आक्रमण करके उनका नाश शुरू करते हैं। इससे उनकी आक्रमण शक्ति बढ़ जाती (पृष्ठ ३७७) है जिससे मरक तीव्र स्वरूप धारण करता है। यही कारण है कि मरक के पूर्वार्ध में रोग तीव्र रहता है, मरनेवालों की प्रतिशतिकता अधिक रहती है और रोग के लक्षण ठीक जैसे बताए जाते हैं वैसे यथारूप (Typical) रहते हैं।

मरक विराम हेतु—इस अवधि में संयोगवश जिन लोगों पर रोगाणुओं का आक्रमण अधिक दलबल सहित न हुआ वे उपर्युक्त दो और तीन में बताए हुए नियम के अनुसार कुछ रोगक्षम बन जाते हैं। इसके साथ साथ कुछ लोग चार और पाँच में बताए हुए नियम के अनुसार पूर्ण रोगक्षम हो जाते हैं। इस प्रकार

मरक के उत्तरार्ध में ग्रहणशीलों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जाती है और रोगक्षमों की बढ़ती जाती है, जिसके कारण उत्तरार्ध में मरनेवालों की संख्या कम होती है, रोग सौम्य होता है, उसके लक्षण यथारूप नहीं होते और वह धीरे-धीरे विराम करता है। उत्तर काल में रोगाणुओं का संबन्ध अधिकतर रोगक्षमों या अग्रहणशीलों के साथ होने से धीरे धीरे उनकी उग्रता और आक्रमणशीलता घटती जाती है। मरक विराम होने के पश्चात् जो लोग बचते हैं वे उस रोग के लिए पूर्णतया क्षम हो जाते हैं चाहे वे उससे पीड़ित हुए हों या न हों। इसको मरक क्षमताजनन (Epidemic immunisation) कहते हैं। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि बचा हुआ प्रत्येक मनुष्य वास्तव में रोगक्षम हो चुका है। अधिकसंख्य लोग रोगक्षम हो जाने के कारण कुछ अक्षम लोग भी बच जाते (पृष्ठ ३७२ पर वृन्द-क्षमता देखो) हैं।

(२) यह कारण विशेषतया विसूचिकादि आन्त्रिक औपसर्गिक रोगों के सबन्ध में दिखाई देता है। इन रोगों से पीड़ितों के आंत्र में भक्ष बनता है जो जलाशयों तक पहुँच कर उनमें होनेवाले रोगाणुओं को नष्ट करता है तथा पानी के साथ लोगों के शरीर में (पृष्ठ ३७३ पर भक्ष देखो) पहुँचता है।

प्रत्यावृत्ति हेतु—विराम के सम्बन्ध में जो क्रम बताया गया है उसके अनुसार प्रत्येक रोग का मरक जनसख्या के अनुसार न्यूनाधिक फर्क से अपने नियत समय पर बन्द हो जाना चाहिए तथा प्रायः बन्द हो जाता है, क्योंकि विराम के समय बचे हुए अधिकसंख्य स्थानिक लोग रोगक्षम बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में ग्रहणशील मनुष्य न होने के कारण रोगाणु कोई प्रत्यक्ष कार्य नहीं कर सकते। परन्तु यदि बाहर से उनको ग्रहणशील मनुष्य बराबर मिलते रहें तो वे उनका नाश करते रहेंगे और मरक बन्द न होकर अधिक काल तक धूमायित के समान जारी रहेगा। यदि इस प्रकार अधिक मनुष्य मरक स्थान में आते रहे तो ग्रहणशील मनुष्यों के शरीर में बढ़ने का मौका मिलने के कारण वे फिर से उग्र होकर मरक जोर करेंगे। इस प्रकार मरक की प्रत्यावृत्ति (Recrudescence) होने पर कई बार पहले समय में बचे हुए लोगों पर आपत्ति आ जाती है और वे मर जाते हैं। इस प्रकार की स्थिति कई बार बड़े बड़े नगरों में दिखाई देती है जहाँ पर प्रतिदिन सैकड़ों या हजारों लोग बाहर से आया करते हैं।

जब कोई उपसर्ग अत्यन्त ग्रहणशील लोगों में पहले पहल प्रवेश करता है तब बहुत उग्र रूप धारण करता है और अल्पकाल में असख्य लोगों का संहार कर सकता है। जङ्गली, पहाड़ी लोग जो नागरिक सभ्यता से कोसों दूर रहें,

राजयक्ष्मा के लिए अत्यन्त ग्रहणशील होते हैं। जब इनमें राजयक्ष्मा का उपसर्ग पहुँच जाता है तब भयानक स्वरूप धारण करता है। रोमन साम्राज्य का नाश रोम के विदेशी व्यापारियों के साथ बाहर से पहले पहल पहुँचे हुये विषमज्वर ने भयानक मरक का स्वरूप धारण करने के कारण हुआ ऐसा कहा जाता है। १८९६ में जब प्लेग प्रथम भारत में आया तब इसी कारण से उसका स्वरूप भयानक था। वैसे ही जब किसी स्थान के अधिकसंख्य लोग अग्रहणशील होते हैं तब उपसर्ग वहाँ पर कुछ विशेष नहीं कर सकता। यही कारण है कि विषमज्वर अपने क्षेत्र में लोगों की सहिष्णुता के कारण कुछ नहीं कर सकता परन्तु अन्य स्थानों मे पहुँचने पर मरक का स्वरूप धारण कर सकता है।

औपसर्गिक रोगों का अनुसन्धान

(Investigation)

जातमात्र न यः शत्रुं व्याधि च प्रशमं नयेत्।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धि प्राप्य स हन्यते।

जहाँ पर औपसर्गिक रोग का प्रारम्भ हुआ है वहीं पर उसको स्थान-बद्ध करके निःशेष करना और इधर-उधर फैलने से रोकना अनुसन्धान का मुख्य उद्देश्य होता है। इसकी सिद्धि के लिए पहले पहल जो व्यक्ति (या प्राणी जैसे प्लेग में चूहा) पीडित हो जाता है उसका पता स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों को (पृष्ठ ३५० पर अधिसूचना देखो) लगाना चाहिए। पता लगने पर उसका ठीक निदान करना आवश्यक होता है। औपसर्गिक रोगों के निदान में प्रायोगिक कसौटियाँ (Tests) बहुत सहायता करती हैं। इसलिए अनुसन्धान मे प्रयोग-शाला की सुविधाएँ (Laboratory facilities) प्राप्त होनी या करनी चाहिएँ। कई बार निदान न होने के कारण, प्रायः लापरवाही के कारण और अनेक बार सोच समझ कर के दबाने की इच्छा से प्रथम रोगी का पता नहीं लगता। यदि निदान नहीं हुआ तो कोई उपाय नहीं, परन्तु निदान होने पर रोग की सूचना विशेष करके मसूरिका, विसूचिका, प्लेग जैसे भयानक और फैलनेवाले रोगों की सूचना, स्वास्थ्याधिकारियों को जरूर देनी चाहिए। इस प्रकार पता लगने पर रोगी और परिवार का अनुसन्धान निम्न प्रकार की पूछ-ताछ करके करना चाहिए—

(१) रोगी—नाम, स्थान (पता), अवस्था, लिङ्ग, आक्रमण की तिथि, यदि शरीर पर विस्फोट हुए हों तो उनके निकलने की तिथि, किसी उपसृष्ट से सम्बन्ध रखने का पूर्ववृत्त, और रोगी के मन से सम्भवनीय उपसर्ग स्थान।

(२) परिवार—सब लोगों के नाम, अवस्था, लिंग, पूर्व रोगों का इतिहास तथा उनके आक्रमण की तिथि, व्यवसाय और उसके स्थान।

(३) निवास स्थान में होनेवाले काम का विवरण।

(४) दूध और पीने के पानी का निकास।

(५) पीडित के घर की तथा आसपास की स्थिति का आरोग्यदृष्ट्या विवरण।

(६) घर में, आसपास महल्ले में, पाठशाला या विद्यालय में और व्यवसाय के स्थान में इसके पहले इस रोग से कोई पीडित हुआ हो तो उसकी पूछ ताछ।

प्रत्येक औपसर्गिक रोग के मरक की उत्पत्ति तथा संक्रमण की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होने के कारण अनुसन्धान के समय उस दृष्टि से पूछ-ताछ करनी चाहिए और उसके अनुसार प्रतिबन्ध के उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। सबके लिए सामान्य नियम नहीं बताये जा सकते। फिर भी नीचे कुछ मार्ग-दर्शन किया जाता है।

रोगी का पता लग जाने पर गृहान्तर्गत या रुग्णालयान्तर्गत (पृष्ठ ३५१) उसका अलग्नकरण करना चाहिए और जो पहले से तथा पश्चात् उनके संपर्क में रहे उनके ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि रोग जल द्वारा हो गया है ऐसा मालूम हो जाय तो जिस कूएँ का पानी रोगी पीता है उसका परीक्षण (पृष्ठ ३६) करके उसके उपसर्ग नाशन का तुरन्त प्रबन्ध करना चाहिए तथा रोगी को या तो उसका पानी पीना मना करना चाहिए या उबालकर पीने के लिए कहना चाहिए। यदि दूध से रोगोत्पत्ति मालूम हो जाय तो दूध उबाल कर पीने के लिए कहना चाहिए तथा जिस ग्वाले के यहाँ से या दुग्धागार से दूध लिया जाता है उसके घर की, परिवार की, दुग्धागार की, दुग्धपात्रों की जाँच करनी चाहिए। जो रोग वाहकों के द्वारा फैलते हैं और जिनमें वाहक द्वारा फैलने की आशंका होती है उसमें, परिवार में तथा आस-पास के स्थानों में कोई वाहक है या नहीं इस दृष्टि से मनुष्यों की जाँच करके वाहक ढूँढ निकालने की कोशिश करनी चाहिए। मसूरिका के प्रतिबन्धन में मसूरीकरण (Vaccination) सबसे महत्व का और एक मात्र उपाय है। इसलिए यदि रोगी मसूरिका से पीडित है तो परिवार में मसूरी टीका कब लगा था, कितनी बार लगा था, उनकी तिथियाँ इनकी जाँच होनी चाहिए।

यदि प्लेग का सन्देह हो तो चूहों के सम्बन्ध में विशेषतया मृत चूहों के सम्बन्ध में विचारणा होनी चाहिए। कभी-कभी एक रोग दो विभिन्न मार्गों द्वारा

हो सकता है। ऐसी अवस्था में वह किस मार्ग से हुआ है इसका निर्णय करना बहुत आवश्यक होता है, अन्यथा उसका प्रतिबन्धन नहीं हो सकता। जैसे, रोहिणी वाहक या रोगी संपर्क से या दूध के द्वारा हो सकता है। यदि उसका ठीक पता न लगाया जाय तो उसको रोकना कठिन होता है।

इस प्रकार प्रथम पीड़ित की सूचना मिलने पर रोग के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध में विचारणा करके पश्चात् उसके अनुसार सार्वजनिक उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। यदि रोग खाद्यपेय संवाहित हो तो पानी का उपसर्ग नाशन, खाद्यपेय द्रव्यों की विशेषतया दूध की देख-भाल, कूड़े-कर्कट को हटाने का प्रबन्ध करके मक्खियों को कम करना इत्यादि का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि प्लेग हो तो चूहों के नाश का प्रबन्ध करना चाहिए। मसूरिका, प्लेग तथा टीका से रोके जानेवाले रोगों में सार्वजनिक टीका लगाने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिस रोग का प्रकोप होने की आशंका हो उसके स्वरूप, उद्भव, प्रसार और प्रतिबन्धन का विविध साधनों (पृष्ठ ३५०) द्वारा जनता में ज्ञान फैलाना चाहिए और उनसे सहयोग की प्रार्थना करनी चाहिए। केवल यही नहीं, जहाँ-जहाँ पर लोग पीड़ित या मृत हुए हैं वहाँ पर जाकर लोगों को सान्त्वना देनी चाहिए जिससे जनता में आतंक न फैलने पावे।

—∞∞—

एकादश अध्याय

प्रतिबन्धनक्षम रोग

(Preventable diseases)

जिन रोगों का उत्पादन मनुष्य में और प्रादुर्भाव समाज में रोका जा सकता है उनको प्रतिबन्धन क्षम रोग कहते है। वैसे देखा जाय तो स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करने से मनुष्य और सामाजिक स्वास्थ्यरक्षा की बातों पर ध्यान देने से समाज मनुष्यों में होनेवाले प्रत्येक रोग से बच सकता है, अर्थात् मनुष्यों में होनेवाला प्रत्येक रोग प्रतिबन्धनक्षम है। परन्तु यहाँ पर मनुष्यों में होनेवाले प्रत्येक रोग का विचार कर्तव्य नहीं है। यहाँ पर केवल उन रोगों का विचार कर्तव्य है जो अनेक मनुष्यों में फैलते हैं, अनेकों को निर्बल, पंगु या विकल बनाते हैं, अनेकों की कार्यक्षमता को घटाते हैं तथा अनेकों के जीवन का अकाल में नाश करते हैं। ऐसे रोगों के केवल दो ही वर्ग होते हैं।

(१) औपसर्गिक—इसमें तृणाणु, कीटाणु, विषाणु, कृमिकीटक इनसे होनेवाले और फैलनेवाले रोग आते है। इसके फिर निम्न विभाग कर सकते हैं।

(अ) कीटकदंश जन्य—विषमज्वर, कालाजार, श्लीपद, दण्डक, पीतज्वर, प्लेग, परिवर्तितज्वर, तन्द्रिक, निद्रारोग, वालुमक्षिकाज्वर।

(आ) खाद्यपेय सवाहित—आन्त्रिकज्वर, उपान्त्रिकज्वर, अतीसार, विसूचिका-माल्टाज्वर, औपसर्गिक कामला, कृमिरोग।

(इ) विन्दूत्क्षेप सवाहित—राजयक्ष्मा, रोहिणी, मसूरिका, लघुमसूरिका, रोमान्तिका, कनफेर, शैशवीय अंगघात, मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर, कुकुरखाँसी, एन्फ्लुएन्जा।

(ई) प्राणिजन्य—जलसंत्रास, अंगारक्षत, खुरमुखपाक।

(उ) सांसर्गिक—कुष्ठ, मैथुनीरोग।

(२) अन्नजन्य (Dietetic)—इन रोगों का विस्तृत विवरण पीछे (पृष्ठ ८९) सविस्तर किया गया है। इनमें केवल निम्न चार रोगों का इस विभाग में विचार किया जायगा—वातबलासक, मरकशोफ, शैशवीय यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis), कलायखञ्जता।

विषमज्वर[1]

पर्याय—शीतज्वर, जूड़ीबुखार, हिमज्वर Malaria Ague

हेतु—विषमज्वर का प्रधान कारण रक्तामरूपी (Haemamoeba) या हिमज्वरी (Plasmodium) प्रजातिका कीटाणु है। मनुष्यों में इसकी निम्न चार जातियों के हिमज्वरी विषमज्वर उत्पन्न करते हैं—

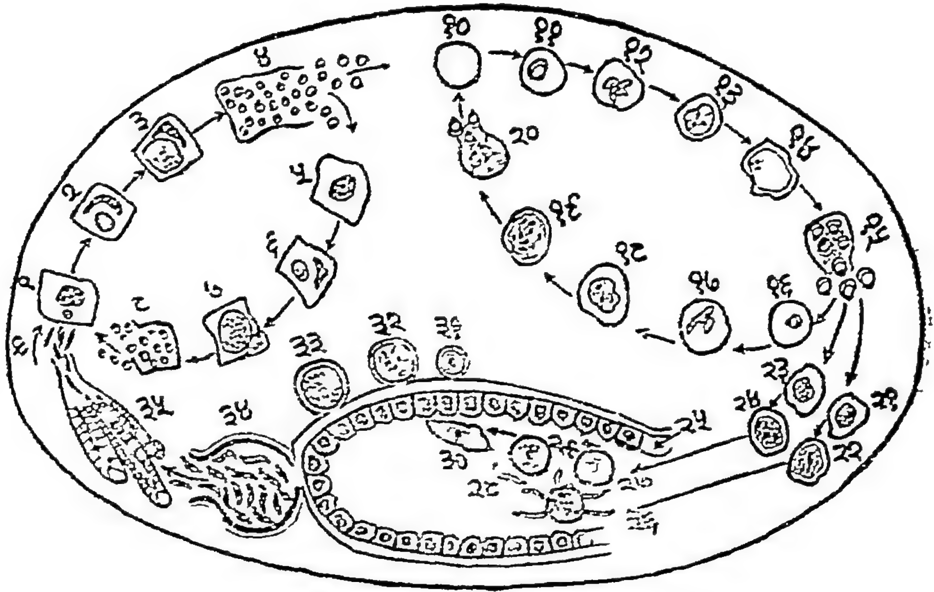
(१) तृतीयक हिमज्वरी	Plasmodium	vivax
(२) चतुर्थक " "	"	Malariae
(३) दात्राकृत्रिक " "	"	falciparum
(४) अंडाकृतिक " "	"	ovale

इनमें प्रथम ३ जातियाँ पुरानी और प्रसिद्ध हैं। चौथी जाति का पता स्टीफन्स ने १९२२ में लगाया। वानरों में रोग उत्पन्न करनेवाला यह कीटाणु है जो अधिकतर अफ्रिका में पाया जाता है। परन्तु कीटाणु विज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि आजकल यह कीटाणु अफ्रिका के बाहर भी अनेक देशों में कहीं कहीं मिलने लगा है। परन्तु भारत में अभी तक यह नहीं मिला है। इससे उपसृष्ट लालकणों की आकृति अण्डे के समान दीर्घ वृत्त होने से इसका अण्डाकृतिक नाम रक्खा गया है।

---

१. मलेरिया इटालियन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ खराब (Mal) हवा (aria) है। अत्यन्त प्राचीनकाल से यूरोप के लोगों की यह कल्पना थी कि विषमज्वर खराब हवा, विशेषतया जंगल, दलदल के स्थान की खराबी से होता है। इसलिये विषम ज्वर के लिये Jungle fever, marsh fever, Paludism इत्यादि शब्द अंग्रेजी में प्रचलित है। अन्तिम शब्द से ही उसकी औषधि का नाम पालुड्रीन बनाया गया है।

विषमज्वर कीटाणु जीवनी की तीन अवस्थाएँ



चित्र न० २४

(अ) १–९—रुधिरकायाणुवाह्य (यकृत् गत जीवन की) अवस्था।

(आ) १०–२४—रुधिरकायाणुगत (रक्तगत जीवन की) अवस्था।

२१–२२—पुरुष व्यवायकायाणु (Gametocyte)

२३–२४—स्त्री ,, ।

२५—मच्छर के उदर की प्राचीर।

(इ) २६–३५—मच्छर शरीरगत जीवन की अवस्था।

२६—उत्तन्तु पिच्छी पुरुष व्यवायक।

२७—छिद्र युक्त स्त्री व्यवायक।

२८—पुरुष व्यवायक स्त्री व्यवायक के पीछे।

२९—मिथुन (Zygote)

३०—गतिकाण्ट (Ookinete)

३१—अण्डकोष्ठ (Oocyst)

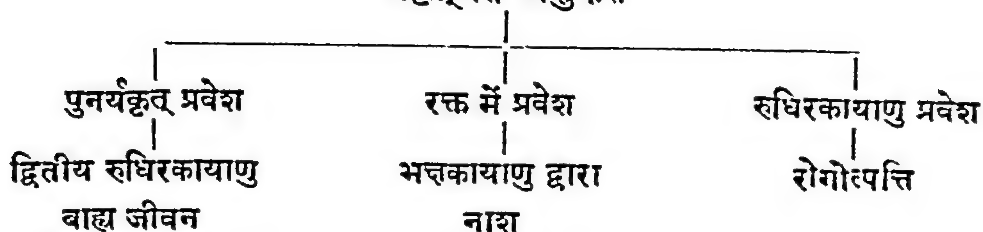
३२ ३३—अंशुलकेतों की ओर अण्टकोष्ठ का विकास।

३४—पूर्ण विकसित अण्डकोष्ठ विदीर्ण होकर अंशुकेतों का बाहर निर्गमन।

३५—मच्छर की लाला ग्रंथियों में प्रवेश।

जीवनचक्र—उपर्युक्त चारों जातियों के कीटाणुओं की जीवनी एक सी होती है। इनकी जीवनी के दो चक्र होते हैं। अमैथुनी चक्र (A sexual cycle) मनुष्य शरीर में जिसको विभक्तजीवनी या खण्डजीवनी (Schizogony) और मैथुनी (Sexual) चक्र मच्छर शरीर में जिसको क्षुल्लजीवनी (Sporogony) कहते हैं। अमैथुनी जीवनी के फिर दो विभाग होते हैं—एक लालकणों के बाहर यकृतादि अंगों में जिसको रुधिरकायाणु बाह्य (Exoerythrocytic) और दूसरा लालकणों के भीतर जिसको रुधिरकायाणुगत (Erythrocytic) कहते है। इस प्रकार विषमज्वर कीटाणु की जीवनी तीन चक्रों में विभक्त होती है।

(१) रुधिरकायाणु बाह्य (Extra-erythrocytic)—मच्छरी के दंश से शरीर में प्रविष्ट हुए क्षुल्लकेत (Sporozoites) रक्त में अधिक से अधिक आधे घण्टे तक रह कर रक्त के द्वारा प्रथम यकृत् की कोशाओं में चले जाते हैं। पृष्ठ ३९० पर चित्र में १–९ क्रमांक देखिये। वहाँ पर अमैथुनी पद्धति के २–४ चक्र काटकर या २–४ पीढियों को (Generations) उत्पन्न करके प्रत्येक क्षुल्लकेत अनेक अंशुकेतों (Merozoites) में परिवर्तित होता है। इसके लिए ६–१२ दिन लग जाते हैं। इस प्रकार अंशुकेतों से खचाखच भरी हुई यकृत् की कोशाएँ विदीर्ण होकर वे स्वतन्त्र हो जाते है। इनमें कुछ लालकणों के भीतर जाकर रुधिरकायाणुगत (Erythrocytic) अमैथुनी जीवन प्रारम्भ करते हैं, कुछ भक्षकायाणुओं द्वारा नष्ट किये जाते हैं, और कुछ फिर यकृत् कोशाओं में प्रविष्ट होकर पूर्ववत् अपना चक्र जारी करते हैं।



इस प्रकार रुधिरकायाणु बाह्य जीवन की दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था रुधिरकायाणुओं के भीतर पहुँचने के पहले की। इसको प्राथमिक (Primary) या पूर्व (Early) कहते हैं। दूसरी रुधिरकायाणुओं के भीतर अमैथुनी चक्र जारी रहने के साथ-साथ की या उसका नाश होने के पश्चात् की। इसको द्वितीयक (Secondary) या उत्तर (Late) कहते हैं। यह आवश्यक नहीं

है कि द्वितीयक अवस्था सब जातियों के कीटाणुओं में जारी रहे। तृतीयक चतुर्थक में वह जरूर हुआ करती है। परन्तु दात्राकृतिक या मारक में या तो यह अवस्था होती ही नहीं या होने पर अधिक काल तक चलती नहीं जिससे इस अवस्था का महत्व उसमें नगण्य होता है।

शरीर में शीतज्वरादि लक्षण रुधिरकायाणुगत कीटाणु के जीवन से उत्पन्न होते हैं; औषधियों का और क्षमता का नाशक परिणाम इसी जीवन के कीटाणुओं पर मुख्यतया होता है। रुधिरकायाणुबाह्य जीवन से न दूसरों को उपसर्ग पहुँच सकता है क्योंकि उसमें व्यवायकायाणु नहीं बनते न रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं, न उसके कीटाणुओं पर औषधियों का और क्षमता का जल्दी परिणाम होता है। इसलिए चिकित्सा से या क्षमता से रोगनिवृत्ति होने पर भी अर्थात् रुधिरकायाण्विक कीटाणुओं का नाश होने पर भी रुधिरकायाणुबाह्य कीटाणु ज्यों के त्यों रहकर, आगे शरीर दुर्बल होने पर या क्षमता टूटने पर, पहले की तरह लालकणों में फिर से प्रवेश करके रोग का पुनरावर्तन[1] (Relapse) उत्पन्न कर सकते हैं। संक्षेप में रुधिरकायाणु बाह्य जीवन शरीरगत उपसर्ग का मूल, प्रारम्भिक, अप्रकट, अविकारी, लक्षणहीन, अहानिकर, असंक्रमणशील, आवर्तन का मूल और औषधियों तथा क्षमता के लिए अधिक प्रतिकारक होता है।

(२) रुधिरकायाण्विक—यह अमैथुनी जीवन है और रुधिर कायाणुबाह्य प्राथमिक अमैथुनी जीवन के पश्चात् प्रारम्भ होता है। पृष्ठ २९० के चित्र में १०-२४ क्रमांक देखिये। इसका प्रारम्भ रुधिरकायाणुबाह्य जीवन चक्रान्तर्गत गुप्तांशुकेत (Cryptomerozoites) से होता है। ये लालकणों में घुसते हैं। साधारणतया एक कण में एक प्रवेश करता है। मारात्मक प्रकार में एक कण में अनेक भी प्रवेश

---

१. विषम ज्वर की पुनरावर्तनशीलता बहुत प्रसिद्ध है। ये पुनरावर्तन क्यों होते हैं इनका ठीक पता १९४८ तक नहीं लगा था। आयुर्वेद ने इसका कारण सहस्रावधिवर्ष पहले कल्पनागम्य किया था जो विज्ञान की सहायता से अब दृष्टिगम्य हो गया है। आयुर्वेद में स्पष्ट लिखा है कि विषमज्वर निवृत्ति होने पर भी शरीर को छोडता नहीं। वह आभ्यन्तरीय धातुओं के सूक्ष्मतर रक्तादि मार्गों में छिपा हुआ रहता है—स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति। वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते। धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते। सुश्रुत। सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च। दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पश्चिरेण यत्। यानि देहं च नाशेषं भूयिष्ठं भेषजेऽपि च। क्रमोऽयं तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरः॥ अष्टाङ्गसंग्रह॥

करते हैं। इसको प्रभूत (Multiple) उपसर्ग कहते हैं। कणों के भीतर की इस अवस्था को पुष्टकेत (Trophozoit) कहते हैं। ये कीटाणु तद्‌गत शोणवर्तुलि नामक रागक भक्षण से अपना निर्वाह करके वृद्धि करते हैं। पूर्ण वृद्धि करने पर जब वह विभक्त होने की दशा में परिणत होता है तब उस प्रगल्भ कीटाणु का नाम विभक्तक (सायजोन्ट) होता है। यह विभक्तक फिर कण के भीतर कई भागों में विभक्त होता है। इनका नाम अंशुकेत (Merozoite) है। थोड़े काल तक ये अंशुकेत कण के भीतर रहकर पश्चात् कण का नाश करके रक्तरस में आते हैं और फिर कणों के भीतर प्रवेश करते हैं। इस प्रकार कई वार मनुष्य शरीरगत रक्तकणों में इनका जीवनचक्र जारी रहता है। थोड़े काल के पश्चात् इस प्रकार से विभजन द्वारा वंश विस्तार करने की इनकी शक्ति धीरे-धीरे घटने लगती है और उनमें से कुछ जीवाणु दूसरे जीवनचक्र में भाग लेने के लिए मैथुनधर्मी बन जाते हैं। इनका नाम व्यवायकायाणु (Gametocytes) है। ये स्त्री और पुरुष करके दो प्रकार के होते हैं। मनुष्य शरीर में इनकी वृद्धि नहीं होती है। यदि इनको मच्छरी के शरीर में पहुँचने का मौका न मिले तो ये न्यूनाधिक काल तक शरीर में जिन्दे रह सकते हैं, परन्तु अन्त में इनका नाश हो जाता है।

(२) मैथुनी—यह जीवन चक्र मच्छरी के शरीर मे होता है। जब व्यवायकायाणु दंश के समय मच्छरी के आमाशय में प्रवेश करते है तब उनके ऊपर का आवरण आमाशयिक रस से गल जाता है और ये स्वतन्त्र हो जाते हैं। पश्चात् उनके स्त्री या पुरुष के अनुसार निम्न परिवर्तन शुरू होते है। इनको व्यवायक (Gamete) कहते है। पृष्ठ ३९० के चित्र में २६-३५ देखिए। स्त्री व्यवायक के शरीर से न्यष्टि का उत्सर्ग होकर वह पुरुष व्यवायक के साथ मिलने योग्य बन जाती है। पुरुष व्यवायक की न्यष्टि के पाँच-सात भाग होकर वे ततु बन जाते हैं और उसके आवरण पर लगे रहते हैं। पश्चात् उनमें गति उत्पन्न होकर वे स्वतन्त्र होते है। स्त्री व्यवायक के शरीर पर एक उन्नत सूक्ष्मछिद्र बनता है जिसमें से होकर पुरुष व्यवायक से उत्पन्न हुए तंतुओं में से एक ततु भीतर प्रवेश करता है। इसको मैथुन (Zygosis) कहते है और सयुक्त कीटाणु को मिथुन (Zygote) कहते हैं। यह मिथुन गतियुक्त होने पर गतिकाण्ड (ookinet) कहलाता है। प्रारम्भ में यह गोल होता है, परन्तु धीरे-धीरे यह नोकीला बन जाता है। यह अपनी नोक से आमाशय की त्वचा को भेद करके भीतर श्लेष्मल-कला और पेशियों के बीच में स्थिर होता है। वहाँ पूर्ववत् गोल बनकर बढ़ने लगता है। पूर्ण प्रगल्भ होने पर यह अण्डकोष्ठ (oocyst) कहलाता है। इस

प्रकार के कई अण्डकोष्ठ आमाशय की प्राचीर में होते हैं। ये भीतर कई सूक्ष्म भागों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक भाग चुल्लकेत (Sporozoite) कहलाता है। इनकी पूर्णवृद्धि होने के पश्चात् ऊपर का आवरण नष्ट होकर सारे चुल्लकेत मच्छरी के शरीर में फैलते हैं। इनमें से अधिकसंख्य मच्छरी की लाला ग्रंथियों में पहुँचकर जब मच्छरी किसी स्वस्थ मनुष्य को काटती है तब उसके दंश के समय ये मनुष्य शरीर से प्रवेश करके अपना अमैथुनी चक्र प्रारम्भ करते हैं। अमैथुनी चक्र का प्रारम्भ चुल्लकेतों से और उसका अन्त व्यवायकायाणुओं से होता है। मैथुनी-चक्र का प्रारम्भ व्यवायकायाणुओं से होता है और उसका अन्त चुल्लकेतों में होता है। दोनों में भेद यह है कि अमैथुनी जीवन में अनेक चक्र होते हैं और मैथुनी जीवन में केवल एक चक्र (cycle) होता है। मच्छर शरीरगत जीवन केवल जाति रक्षण के लिए आवश्यक होता है।

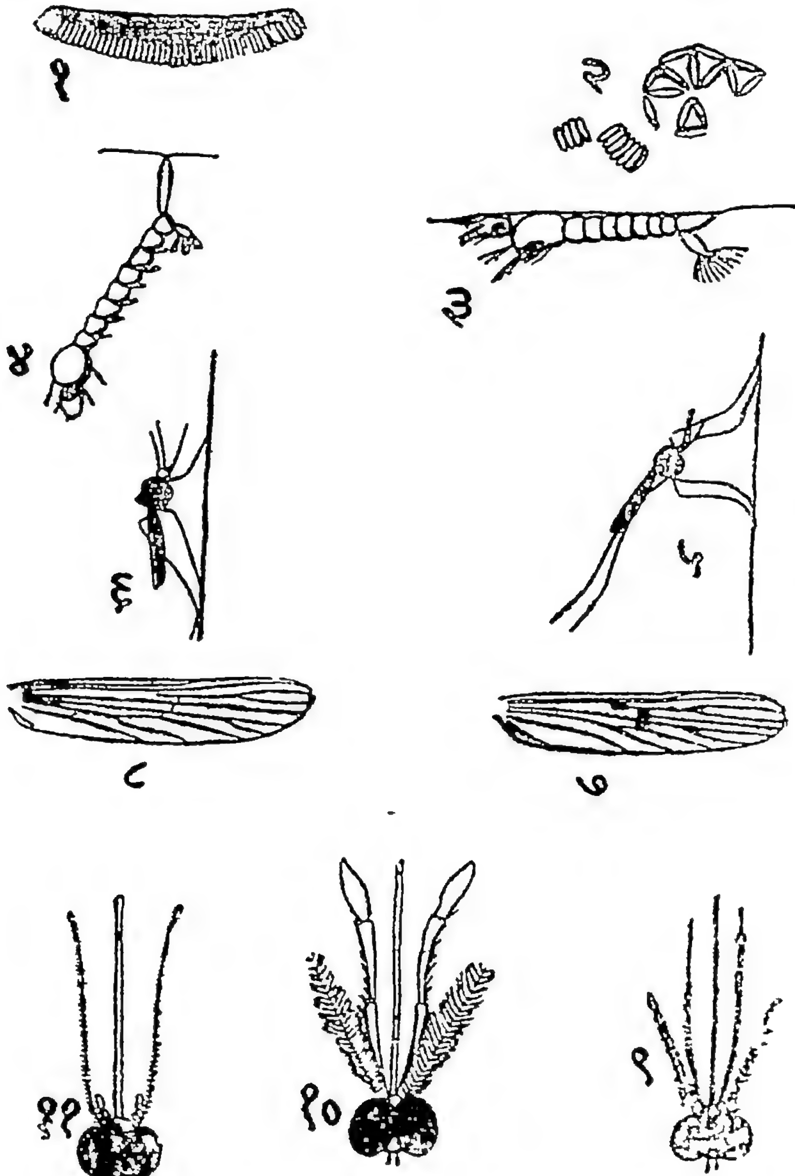
मैथुनी चक्र की अवधि बाह्य ताप, आक्लेद और कीटाणु उपजाति के अनुसार ९–२१ दिन की होती है।

विषम ज्वर के संचयाधार—मशकशरीरान्तर्गत मैथुनी चक्र के लिए व्यवायकायाणुओं की आवश्यकता होती है। जिनके शरीर में विषम कीटाणुओं के व्यवायकायाणु होते हैं वे ही इसके संचयाधार (Reservoirs) होते हैं और उन्हीं से उपसृष्ट होकर मच्छर रोग का प्रसार करते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त चमगादड, गिलहरी, हिरण, भैंस, वानर इनमें मानवी विषमज्वरकीटाणु के समान कीटाणु पाये जाते हैं। इसलिए क्वचित् ये प्राणी भी रोग सचयाधार हो सकते हैं ऐसी कुछ शास्त्रज्ञों की राय है और इसकी पुष्टि मनुष्य वस्ती से दूरवर्ति प्रदेशों में उत्पन्न हुए विषमज्वर के वृत्तान्तों से होती है। परन्तु मुख्य सचयाधार मनुष्य है।

मनुष्य शरीर में कीटाणुओं का प्रवेश होते ही व्यवायकायाणु उत्पन्न नहीं होते। प्रथम रुधिरकायाणुबाह्य जीवनचक्र हुआ करता है (पृष्ठ ३९१) जिसमें व्यवायकायाणु बनते ही नहीं। इसलिए मनुष्य शरीर में जब तक केवल यही जीवनचक्र चलता है तब तक मनुष्य उपसर्गी या संक्रमणशील (Infective) हो नहीं सकता। मच्छरी के काटने के पश्चात् दात्राकृतिक में यह काल ५-६ दिन का और तृतीयक चतुर्थक में ८-९ दिन का होता है। रुधिरकायाण्विक जीवन प्रारम्भ होने पर व्यवायकायाणु उत्पन्न होने के लिए कुछ चक्र व्यतीत होने की आवश्यकता होती है जिसके लिए भी कुछ दिन लग जाते हैं। इसलिए पहले पहल विषमज्वर उत्पन्न होने से पूर्व तथा ज्वर उत्पन्न होने पर कुछ दिनों तक विषमज्वरी विषम-ज्वर का संचयाधार नहीं होता। उसके पश्चात् जब तक उसके रक्त में व्यवाय-

कायाणु विद्यमान रहेंगे तब तक वह सचयाधार बना रहेगा। विषमज्वर पीडित समाज में मुख्य सचयाधार बालक होते हैं।

क्यूलेक्स चित्र न० २५ अनोफेलिस



१-२ अण्डे, ३-४ इल्ली, ५-६ मच्छर.
७-८ पक्ष, ९-१० मच्छरीमुख, ११ मच्छर-मुख।

संक्रमण—विषमज्वर का संक्रमण मुख्यतया उपसृष्ट एनोफेलीन मच्छरी के दंश से होता है।

मच्छरी के द्वारा विषम ज्वर का जो संक्रमण होता है उसके सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान देने योग्य होती हैं—

(१) मच्छरी कुप्पे के बाहर आते ही मच्छर के साथ संभोग करती हैं और जब निषिक्त (Fertilised) होती है तब उसी के बल पर जीवन भर अण्डे देती रहती है।

(२) मच्छर पुष्पफल शाक तथा अन्य वनस्पतियों के रसों पर निर्वाह करते हैं। मच्छरियाँ इन चीजों पर निर्वाह करती हैं। परन्तु अण्डे देने के समय उनको उच्च प्रोभूजिनों की आवश्यकता होती है जो वे मनुष्यों या अन्य प्राणियों को दंश करके उनके रक्त से प्राप्त किया करती हैं। इसलिए रोग का संक्रमण केवल मच्छरियों से होता है, मच्छरों से नहीं।

(३) अण्डे देने के निमित्त जब किसी विषमज्वरपीडित रोगी को मच्छरी काटती है तब उसके पेट में विषम कीटाणुओं के व्यवायकायाणु प्रविष्ट होते हैं और उनका मैथुनी जीवन चक्र जारी होता है।

(४) इस चक्र की पूर्ति के लिए कुछ दिनों की आवश्यकता होती (पृष्ठ ३९४) है। जब यह चक्र पूर्ण होकर मच्छरी की लालाग्रन्थियों में चुल्लकेत (Sporozoites) पहुच जाते हैं तब मच्छरी उपसर्गी (Infective) होती है, उसके पहले नहीं। इसलिए यदि इसके पहले मच्छरी स्वस्थ मनुष्यों को काटे तो वह रोग का संक्रमण नहीं कर सकती।

(५) उपसृष्ट हुई मच्छरी एक बार दंश करके विषमज्वर का संक्रमण कर सकती हैं। परन्तु तज्ज्ञों की यह राय है कि संक्रमण के लिए कम से कम दो बार दंश होना जरूरी है। सुप्रकाशित और सुप्रव्यजित घरों में दिन में मच्छर बाहर भाग जाते हैं और फिर उसी में रात के समय उनके वापिस आने की संभावना बहुत घट जाती है जिससे अनेक बार दंश की और उसके साथ रोग के संक्रमण की संभावना घटती है। इसके विपरीत अँधेरे और दुष्प्रव्यजित घरों में मच्छर दिन में छिपे रहते हैं। इसलिए अनेक बार दंश की और उसके साथ रोग का संक्रमण होने की संभावना ऐसे मकानों में बढ़ती है।

(६) मच्छरी अपने जीवन में अनेक बार अण्डे देती हैं, एक बार उपसृष्ट होने पर जीवन भर उपसृष्ट रहती है और २-३ मास तक रोग का संक्रमण करने

योग्य होती है। इसलिए उपसृष्ट मच्छरी के द्वारा अनेक व्यक्तियों पर विषमज्वर का संक्रमण हो सकता है।

(७) एनोफेलीन की असंख्य जातियाँ होती हैं। रोग का संक्रमण सब जातियाँ नहीं करतीं और संक्रमण करनेवाली जातियाँ भी सब स्थानों में यह काम नहीं किया करतीं। भारतवर्ष में निम्न जातियाँ विषमज्वर सक्रमण की दृष्टि से महत्त्व की हैं—

जाति के नाम	प्रदेश
(१) ए क्युलिसीफेसिस (A. Culicifacies)	भारतवर्ष भर, बंगाल आसाम छोड़कर।
(२) ए. स्टीफेन्सी (A. Stephensi)	कलकत्ता, बम्बई, वायव्य भारत, दिल्ली, मद्रास, बंगलोर इत्यादि नगर
(३) ए. तर्खंडी (A Turkhndi)	कलकत्ता, बम्बई, वायव्य भारत, दिल्ली, मद्रास, बंगलोर इत्यादि नगर
(४) ए. मिनीमस (A. Minimus)	आसाम, उत्तर बंगाल, तराई उत्तर प्रदेश
(५) ए. फ्लूवियाटिलिस (A. Fuviatilis)	तराई, मद्रास, मध्यप्रदेश, छोटा नागपूर
(६) ए म्याकुलेटस (A Maculatus)	आसाम
(७) ए. फिलीपेनेन्सिस (A Phillipenensis)	बंगाल, आसाम
(८) ए. सुन्दइकस (A Sundaicus)	उड़ीसा, बंगाल
(९) ए. वरुण (A. Varuna)	बंगाल, उड़ीसा, मध्यभारत

मच्छरी के दंश के अतिरिक्त विषमज्वरी का रक्त दूसरे को देने से, उस रक्त से दूषित सुई का प्रयोग दूसरे पर करने से तथा माता से गर्भ में रोग का संक्रमण हो सकता है। परन्तु ये सब मार्ग अत्यन्त गौण है। रोग का प्रसार मुख्यतया मच्छरी के दंश से ही होता है।

(८) विषमज्वर मुख्यतया ग्रामीण (Rural) रोग है। इसका कारण यह है कि उसको फैलानेवाली एजोफेलीन की जातियाँ शहरों में मिलनेवाले जल संचयों में बच्चे देने का काम नहीं कर सकतीं। इसके लिए ए. स्टीफेन्सी अपवाद है जो शहर में मिलने वाले कुँए, कुण्ड, टंकियाँ, पुराने डिब्बे या मिट्टी के वर्तन इनके जल में अण्डे दे सकती है। इसलिए भारतवर्ष के नगरों में इसी के द्वारा विषमज्वर का संक्रमण होता है।

भौगोलिक प्रविभाग और मरकविज्ञान—विषमज्वर अनुष्ण तथा उष्ण कटिबन्धज रोगों में सबसे अधिक व्यापक और भयानक होने से सबसे अधिक महत्व का है। परन्तु यह समशीतोष्ण (Temparate) कटिबन्ध में भी

होता है। इससे प्रतिवर्ष असंख्य लोगों का मृत्यु होता है और उससे कई गुना अधिक लोग निर्बल होकर श्लेष्मक, फुफ्फुसपाक, अतीसार इत्यादि रोगों के शिकार बनकर मर जाते हैं। यह रोग अमेरिका, अफ्रिका, यूरोप, एशिया इत्यादि संसार के सभी भूखण्डों में पाया जाता है। यूरोप में दक्षिण इटली, ग्रीस, आफ्रिका में सहारा रेगिस्तान छोड़कर बाकी सब भाग, मारिशस, उत्तर अमेरिका में युक्त संस्थानों का दक्षिण भाग, दक्षिण अमेरिका, एशिया में भारतवर्ष, सिंहलद्वीप, ब्रह्मदेश, इण्डोचीन, दक्षिणचीन, जापान इत्यादि प्रदेशों में यह अधिक होता है।

भारतवर्ष में काश्मीर और हिमालय के ७००० फुट से अधिक ऊँचे प्रदेशों को छोड़कर यह रोग सर्वत्र मिलता है, परन्तु हिमालय की तराई, आसाम, बंगाल, मध्यप्रान्त का जंगली भाग, कोचीन, त्रावणकोर तथा पश्चिम घाट की तराई (मलबार, कोंकण) पंजाब इनमें अधिक होता है।

विषुववृत्त (Equator) समीपवर्ती प्रदेशों में वर्षा और उष्णता में अधिक घट बढ़ न होने के कारण विषमज्वर साल भर एक-सा जारी रहता है, परन्तु दूरवर्ती प्रदेशों में उसका स्वरूप मौसमी (Seasonal) होता है याने कुछ महीनों में वह अधिक होता है। भारतवर्ष में इसका मौसम वर्षा और शरद ऋतु में (आगस्ट-दिसेम्बर तक) होता है। अर्थात् वर्षा समाप्त होने पर जब गरमी शुरू होती है तब यह रोग अधिक होता है। विषमज्वर अधिकतर स्थानपदिक स्वरूप का (Endemic) रोग है जो सालभर न्यूनाधिक होता है, परन्तु कभी-कभी वह मरक स्वरूप (Epidemic) भी धारण करता है। भारतवर्ष में ऐसे मरक विशेषतया पञ्जाब और त्रावणकोर में उत्पन्न होते हैं। सन १९३४ में लंका में भी इसका बड़ा भयानक मरक उत्पन्न हुआ था जिससे सात आठ महीनों के भीतर एक लाख से अधिक लोगों का मृत्यु हो गया। एक सांख्यिक ने यह अनुमान किया है कि प्रतिवर्ष केवल भारतवर्ष में इससे १० करोड़ लोग पीड़ित होते हैं और २० लाख के लगभग मरते हैं। मरक अधिकतर मारक विषमज्वर के होते हैं। इसका कारण यह है कि और प्रकारों की अपेक्षा मनुष्य शरीर में उससे व्यवायकायाणु अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं। तृतीयक भी कभी-कभी जानपदिक स्वरूप धारण कर सकता है और प्रायः मारात्मक तृतीयक के मरक में सहायता करता है। चतुर्थक के मरक नहीं उत्पन्न होते। मरक उत्पन्न होने के लिए कीटाणु के अतिरिक्त जलवायु और लोगों का साधारण अस्वास्थ्य भी अनुकूल होना चाहिए। यह देखा गया है कि अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अकाल इत्यादि कारण

जब अनुकूल होते हैं तब मरक उत्पन्न होते हैं और उस समय मारक विषमज्वर के कीटाणु के अतिरिक्त अन्य सौम्य जीवाणु (जैसे प्लै, वैवाक्स) भी मारक होकर जनसंहार में सहायता करते हैं। मारक विषमज्वर विषुववृत्त के समीपवर्ति उष्णकटिबन्ध (Tropics) में अधिक होता है और स्थान जितना विषुववृत्त के पास होता है उतनी उसकी अधिकता बढ़ती है। तृतीयक ज्वर का क्षेत्र अधिक व्यापक है जो अनुष्णबन्ध (Sub-tropics) और समशीतोष्ण बन्ध (Temperate) में फैला हुआ है। चतुर्थक ज्वर कहीं भी अधिक नहीं होता। यह विषमज्वर के सब प्रदेशों में इतस्ततः बिखरा हुआ मिलता है।

सहायक कारण—मच्छरों की उत्पत्ति, वृद्धि और प्रसार में तथा मनुष्यों को दुर्बल बनाने में जो जो सहायता करते हैं वे सब सहायक कारण होते हैं।

(१) जलसंचय—विषमज्वर के सहायक कारणों में मच्छरों की संख्या सबसे महत्व का सहायक कारण है। जहाँ वाहक मच्छर नहीं है वहाँ विषमज्वर नहीं होता और जहाँ पर वाहक मच्छर अधिक हैं वहाँ पर ही विषमज्वर अधिक हो सकता है। मच्छर पानी में उत्पन्न होते हैं। मच्छरी को अण्डे देने के लिए ऐसे पानी की आवश्यकता होती है जहाँ पर वह स्वयं जाकर अण्डे दे सके। अतः जलसंचय कहीं भी हो मच्छरी उसका ठीक ढूंढ निकालती है। इसलिए सहायक कारणों में जलसंचय का महत्व सबसे अधिक होता है।

जलसंचय नैसर्गिक और मनुष्यकृत दोनों प्रकार के होते हैं। नैसर्गिक में ऊँची नीची सतह की भूमि, वर्षा, मन्दवह नदियाँ, तालाब, जंगल इत्यादि का समावेश होता है। इनके प्रदेश निश्चित होते हैं और इनसे विषमज्वर का प्रसार बहुत नहीं होता।

मनुष्यकृत जलसंचय अगणित होकर छोटे से लेकर बड़े में बड़े होते हैं—जैसे, धान्य, गन्ना इत्यादि की खेती, कूएँ, हौज, टंकी, फुव्वारा, मोरी-परनाले का पानी, बगीचे में बनाए हुए छोटे-मोटे गढे, खपरेलों की अवरुद्ध नालियाँ, पानी से भरे हुए छोटे-मोटे टूटे हुए बर्तन, पात्र, क्यानिस्टर, मकानों, भट्टों, सड़कों, लोहमार्गों (Railway) के निर्माण के समय आसपास बनाये हुए छोटे मोटे गढे, जलबन्ध (Dams) और उससे निकाली हुई नहर तथा तद् द्वारा की हुई अत्यधिक सिंचाई, शहरों में मोरी-परनाले का अभाव या ठीक प्रबन्ध न होना, सड़कों और लोहमार्गों के निर्माण में अधिक पुल न बनवाने के कारण जल के नैसर्गिक प्रवाह में उत्पन्न हुई बाधा से बने हुए जलसंचय इत्यादि। विषमज्वर प्रसार में निसर्ग की अपेक्षा

मनुष्य अधिक पापी है। यह पाप कुछ अज्ञानवश, कुछ स्वार्थवश और कुछ सामाजिक स्वास्थ्य की लापरवाही के कारण होता है। संक्षेप में विषमज्वर का आधुनिक काल में जो इतना प्रसार हुआ है वह सब मनुष्य कृत है; नैसर्गिक नहीं है।

(२) वर्षा, ताप और आक्लेद—जहाँ पर वर्षा बहुत कम होती है वहाँ पर (जैसे राजस्थान) विषमज्वर बहुत कम होता है। जहाँ पर मध्यम वर्षा होती है वहाँ पर विषमज्वर होता है। जहाँ पर थोड़े काल में अधिक वर्षा होती है वहाँ पर अधिक वर्षा से विषमज्वर के बढ़ने का डर नहीं होता क्योंकि उससे मच्छरों के उत्पत्ति स्थान बह जाते हैं। आर्द्रता और उष्णता के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ६०° फै० से कम उष्णता और ६३% से कम आक्लेद होने से मच्छरों की पैदाइश तथा उनके शरीर में कीटाणुओं की वृद्धि रुक जाती है। वैसे ही १००° फै० से अधिक उष्णता पर भी इनकी पैदाइश कम होती है। वायुमण्डल में चिरकालीन आक्लेद की (Humidity) अधिकता (८०%), ६८° फै० से अधिक उष्णता, भूमिगत जल की समीपता (High subsoil water level) ये मच्छरों तथा तद्गत कीटाणुओं की वृद्धि में पोषक होने से विषमज्वर प्रसार में सहायक होते हैं। इन सब कारणों में वातावरण के आक्लेद की अनुकूलता सबसे महत्व की है। इसमें मच्छरियाँ अधिक फुरतीली रहती हैं, अधिक खाऊ होती हैं और अधिक दिनों तक बचती हैं जिससे तद्गत कीटाणुओं की पूरी वृद्धि होकर वे रोग प्रसार अधिक काल तक कर सकती हैं।

(३) दारिद्र्य—जनता का दारिद्र्य भी एक महत्व का सहायक कारण है। गरीबी के कारण लोग अच्छे मकानों में नहीं रह सकते, उचित मात्रा में पौष्टिक आहार नहीं ले सकते, मच्छरों से रक्षा करने के लिए मशहरी या मोटे कपड़ों का उपयोग नहीं कर सकते, क्वीनीन का सेवन नहीं कर सकते और शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर सकते। भारतवर्ष साधारणतया दरिद्री होने पर भी उसके शहराती लोग देहाती लोगों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि के कई दर्जे अधिक अच्छे होने के कारण विषमज्वर से कम पीडित होते हैं। शहरों में लोगों की आर्थिक स्थिति के सिवाय सफाई की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, रोग-निदान और चिकित्सा का उचित तथा सस्ता प्रबन्ध होता है और मच्छरों की उत्पत्ति के स्थान बन्द किये जाते हैं। आखिरी कारण के सम्बन्ध में एल. रॉजर्स का यह मत है कि शहरों में बन्द परनाले का प्रबन्ध विषमज्वर कम होने का एक प्रधान कारण है। यूरोप में उत्तरोत्तर विषमज्वर कम हो रहा है क्योंकि यहाँ के लोगों की आर्थिक

स्थिति उत्तरोत्तर उन्नत हो रही है, शिक्षा का काफी प्रचार हुआ है, लोगों की रहन-सहन शहराती हो रही है और सरकारी तथा गैरसरकारी संस्थाओं से विषमज्वर प्रतिबन्धक औषधियों का तथा अन्य साधनों का उचित प्रबन्ध हो रहा है। भारतवर्ष में इन्हीं कारणों का पूरा अभाव होने के कारण तथा यूरोप की अपेक्षा जलवायु अधिक अनुकूल होने के कारण कुछ इने-गिने शहरों को छोड़कर बाकी स्थानों में विषमज्वर का प्रसार हो रहा है।

(४) गोधन नाश — मच्छर मनुष्यों को जैसे काटते हैं वैसे पशुओं को भी काटते हैं। कुछ मच्छर केवल पशुओं को काटते हैं। उनको पशुप्रिय (Zoophilic) और उनकी आदत को पशुप्रियता (Zoophilism) कहते हैं। कुछ मच्छर पशुओं को तथा मनुष्यों को भी काटते हैं। उनको मानवप्रिय (Anthropophilic) और उस आदत को मानवप्रियता (Anthropophilism) कहते हैं। अधिक संख्य विषमज्वरवाहक मच्छर इसी प्रकार के होते हैं। केवल मानवप्रिय मच्छर नगण्य हैं। कुछ शास्त्रज्ञों की राय में ए० मिनिमस और ए० प्लुविएटिलिस केवल मानवप्रिय हो सकते हैं।

एक तज्ज्ञ ने यहाँ तक बताया है कि पशु मनुष्यों की अपेक्षा मच्छरों के लिए तैंतीसगुना अधिक आकर्षक होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मकान के पास पशुओं की उपस्थिति मच्छरों को मनुष्यों से आकर्षित करने का अर्थात् मच्छरों से रक्षा करने का एक साधन है। इसके विपरीत कुछ लोगों का यह कथन है कि पशुओं के कारण मच्छर मकान के पास अधिक आकर्षित होकर मनुष्यों को काटने की संभावना बढ़ती है। इसमें भी कुछ तथ्य जरूर है क्योंकि वाहक मच्छर मानवप्रिय होते हैं।

डेन्मार्क, हालैण्ड, इङ्गलैंड इत्यादि यूरोप के अनेक देशों में विषमज्वर बिलकुल नष्ट हो गया है। इसके नाश के जो अनेक कारण बताये जाते हैं उनमें पशुओं की संख्यावृद्धि एक कारण बताया जाता है। इस दृष्टि से यदि भारतवर्ष की ओर देखा जाय तो यों कहना पड़ेगा कि यहाँ प्रतिवर्ष लाखों पशुओं का संहार होने के कारण वर्ष-प्रति-वर्ष जो उनकी संख्या कम हो रही है वह विषमज्वर बढ़ने के कारणों में से एक है। पशु न केवल मच्छरों से देशवासियों की रक्षा करते हैं वरन् खेती में उनकी सहायता करके तथा दूध घी इत्यादि पौष्टिक पदार्थ देकर उनको पुष्ट और स्वस्थ भी बनाते हैं। अतः अप्रत्यक्षतया वे सर्व प्रकार के रोगों से रक्षा करते हैं। गोधनवृद्धि देश के धन और स्वास्थ्य की वृद्धि की निदर्शक होती है और गोधननाश देश के दारिद्र्य और अस्वास्थ्य का निदर्शक होता है।

(५) स्थानान्तर—रेल, मोटरें इत्यादि द्रुतगति वाहनों के कारण आज-कल मनुष्य तथा मच्छर अधिक दूर तक स्थानांतर करते हैं। इसी के कारण दूषित स्थान के उपसृष्ट लोग तथा मच्छर अन्य स्वस्थ स्थानों में पहुंच जाते हैं। भारतवर्ष की जलवायु विषमज्वरोत्पत्ति के लिए अनुकूल होने के कारण और एनोफेलीज मच्छर प्रायः सर्वव्यापी होने के कारण किसी स्थान में रोग बीज पहुँचते ही रोग का प्रसार होता है। इसी कारण से मारिशस, बार्बाडास इत्यादि जो टापू विषमज्वर से कुछ काल पहले अनुपसृष्ट रहे, उपसृष्ट हो गये हैं और समोआ, फीजी, हवाई इत्यादि टापू जो अभी तक अनुपसृष्ट हैं भविष्य में उपसृष्ट हो सकते हैं।

(६) ऊँचाई—विषमज्वर भारतवर्ष में ७००० फूट से अधिक ऊँचे स्थानों में नहीं पाया जाता है। यूरोप में यह ऊँचाई ९००० फूट की होती है।

(७) आयु—विषमज्वर सब अवस्थाओं में हुआ करता है। परन्तु उसका उपसर्ग बचपन में अधिक होता है और उसकी निम्न विशेषतायें होती हैं—रोग के लक्षण प्रायः शास्त्रोक्त होते हैं जिससे उनमें प्लीहाभिवृद्धि समाजगत विषमज्वरोपसर्ग की सूचक देशना (Index) मानी जा सकती है। लक्षण प्रायः तीव्र होते हैं और वे सदैव विषमज्वररोगबीज के सञ्चयाधार होते हैं। बाल्यावस्था में रोग का उपसर्ग होने से जो क्षमता उत्पन्न होती है उससे उत्तरावस्था में रोग से रक्षा होती है। यही कारण है कि विषमज्वर पीड़ित प्रदेशों में रहनेवाले लोग बाहर से आये हुए लोगों की अपेक्षा विषमज्वर से कम पीड़ित होते हैं।

(८) वैयक्तिक कारण—अकाल, दारिद्रय इत्यादि से या अंकुश कृमि, अतिसार, शस्त्रकर्म, प्रसूति, पानी में भीगना, सर्दी लगना, अत्यधिक परिश्रम इत्यादि से शरीर दुर्बल होने पर विषमज्वर उत्पन्न होने में सहायता होती है।

वैसे ही मच्छरोत्पत्ति स्थान के पास दुष्प्रकाशित तथा दुष्प्रव्यजित (Illventilated) मकान में नीचले खण्ड पर रहना, वस्त्र, पंखा, मशहरी, प्रत्यापसारक (Repellants) द्रव्य इनका उपयोग न करना मच्छर काटने में अतएव विषमज्वरोत्पत्ति में सहायक कारण होते हैं।

(९) ग्रहणशील मनुष्यों का आगमन—विषमज्वर पीडित प्रदेशों के लोगों में अभिक्षमता (पृष्ठ ३६७) के कारण विषमज्वर प्रकट नहीं होता। परन्तु जब वहाँपर बाहर से बहुतेरे ग्रहणशील या अक्षम लोग—जैसे मजदूर या सैनिक—आ जाते हैं तब वह उनमें तेजी से फैलता है और पश्चात् स्थानिक लोगों को भी नहीं छोड़ता। विषमज्वर प्रसार के इस कारण को कभी-कभी अक्षम आप्रवासनकारक (Factor of Nonimmune immigration) कहते हैं।

विषमज्वर प्रसारक मच्छर 'एनोफेलीन'

जीवनी—अण्डा, इल्ली, कुप्पक इन तीन अवस्थाओं में से होकर अन्त में डिम्भक या पूर्णांक नामक पूर्ण प्रगल्भ अवस्था को मच्छर प्राप्त होता है। प्रथम तीन अवस्थाएँ पानी में व्यतीत होती हैं। एनोफेलीन की अधिकसंख्य जातियाँ स्वच्छ और ताजा पानी अण्डे देने के लिए पसन्द करती हैं। इसलिए ये नदी, नद, स्रोत, नहर, तालाब इनके किनारे पर या किनारे के पास इकट्ठा हुए जल में अण्डे देती हैं। पानी के अतिरिक्त पानी पर तैरनेवाली गीली वस्तु पर तथा पानी के पास की गीली मिट्टी पर भी मच्छरी अण्डे देती है। ए. स्टीफन्सी इसके लिए अपवाद है। पृष्ठ ३९७ देखिए।

(१) अंडा—प्रत्येक समय अण्डों की संख्या १००–२५० तक होती है। ये अण्डे प्रथम सफेद और पश्चात् कुछ भूरे हो जाते हैं। ये आकार में नाव के समान, दो तिहाई से एक मिलीमीटर लम्बे, एक दूसरे से अलग-अलग, परन्तु प्रायः समूह में वायुकोषों (Aircells) की सहायता से पानी पर तैरते रहते हैं। धूलि-कण के समान सूक्ष्म होने के कारण ये आसानी से नहीं दिखाई देते।

(२) इल्ली (Larva)—बाह्य ताप के अनुसार १–३ दिन में अण्डे से इल्ली बनकर बाहर निकल आती है। इसमें चपटा सिर, गोल उर और १० टुकड़ों का बना हुआ लम्बा उदर रहता है। उदर पृष्ठ पर पखे के समान रोयें होते हैं जिनको पाणिवत् लोम (Palmate hair) कहते हैं। श्वसन की नलिकाएँ उदर के ८–९वें टुकडों पर खुलती हैं। इन लोमों के कारण तथा श्वसन नलिकाओं के अलग-अलग खुलने के कारण ये इल्लियाँ जल में पृष्ठ भाग से समानान्तर रहती हैं और बहुत फुरती के साथ पानी में इधर उधर तैरती हुई दिखाई देती हैं।

(३) कुप्पक (Pupa)—आठ दस रोज तक इनमे परिवर्तन होने के पश्चात् इनसे कुप्पक बनता है। इसको शिशुक (Nymph) भी कहते हैं। यह अल्प-विराम के आकार (,) का टेढ़ा होता है और पानी से हलका होने के कारण ऊपर तैरता है। इसका एक टोंक गोल मोटा होता है जिसमें सिर और उर रहता है और दूसरा टोंक पतला होता है जिसमें उसकी पूँछ रहती है। एक दो दिन में कुप्पे का आवरण (Case) फटकर उसमें से डिम्भक निकलता है। इसके कुछ ही पहले कुप्पक सीधा होकर पानी पर तैरता रहता है और मच्छर के पंख सूखने के समय तक यह आवरण उसको नाव की तरह पानी में सहारा देता है।

(४) डिम्भक (Imago)—मच्छर का सिर गोल होता है। इसके बीच में भेदन करने के लिए एक सूंड़ (Proboscis) होती है। जो शरीर की सीध में रहती है। इसी में इसका मुख (अर्थात् ऊपर और नीचे के जवड़े, होंठ, ग्रसनिका इत्यादि) होता है। इससे मच्छरी प्राणियों का रक्त चूसने का काम करती है। चूसने से पहले वह प्राणियों के भीतर दंश स्थान में अपनी लाला का अन्तःक्षेप (Injection) किया करती है। इसी लाला से स्थानिक कण्डू, प्रकोप तथा प्रशोथ हुआ करता है। इससे रक्त पतला रहकर चूसने में तथा चूसने के पश्चात् उसका पचन करने में आसानी होती है। पेट भर रक्त चूसने के लिए मच्छरी को एक कला लगती है। आँखों के सामने दोनों तरफ दो लम्बे भाग होते हैं जिनको संवेदिनी (Feelers, Antennae) कहते हैं। इसके ऊपर बाल होते हैं। मच्छर में ये वाल बहुत और लम्बे-लम्बे होते है। मच्छरी में वालों के स्थान में केवल रोआँ सा होता है। सूँड़ के दोनों ओर दो स्पर्शनियाँ (Palpi) होती हैं। मच्छर में इनका अन्तिमभाग फूला हुआ कन्दाकार (Bulbus) होता है परन्तु मच्छरी में नहीं होता।

उसके उर के तीन भाग होते हैं—पूर्वोरस्, मध्योरस् और पश्चोरस्। उरोभाग के पृष्ठ पर पीछे की ओर एक दण्डाकार (Barshaped) ऊँचा भाग होता है। इसको वरूथिका (Scutellum) कहते हैं। मध्योरस सब से वड़ा रहता है। उर से टाँगों के तीन जोड़े और परों का एक जोड़ा निकलता है। पर दो ही होने के कारण यह कीड़ा द्विपत्र (Diptera) श्रेणी में रक्खा गया है। इसके परों पर चित्तियाँ या धब्बे (Spotted) होते हैं। उर के पीछे उदर होता है जिसमें ग्यारह टुकड़े या पर्व होते है, परन्तु सात या आठ आसानी से दिखाई देते हैं।

इसकी सूँड, सिर, उर और उदर सब एक रेखा में होता है। दीवाल पर या भूमि पर यह सिर के बल बैठता है या खड़ा रहता है और इसका पिछला भाग ऊपर की ओर उठा हुआ रहता है और इसके पिछले दो पैर प्रायः भूमि या दीवाल पर रहते हैं। इसलिए दीवाल या जमीन पर बैठते समय इसका शरीर दीवाल या फर्श के साथ ४५° अंश का कोण बनाता है। पृष्ठ ३९५ पर चित्र न० २५ देखिए।

विषमज्वर प्रतिवन्धन के सिद्धान्त

(अ) मनुष्यशरीरगत कीटाणुओं का निर्वंश करना जिससे कि आगे व्यवायकायाणु उत्पन्न ही न होने पावे और यदि उत्पन्न हुए हों तो उनका भी नाश करना। इससे रोग का निर्मूलन होता है।

(आ) प्रसारक मच्छरों का नाश करना जिससे मनुष्य उपसृष्ट रहने पर भी उनका उपसर्ग औरों पर संक्रान्त न होने पावे। इससे रोग का प्रसार नहीं हो पाता।

(इ) मच्छरों से शरीर की रक्षा करना। इससे उपसर्ग मनुष्यों पर संक्रान्त नहीं हो पाता। ये सिद्धान्त निम्न साधनों से कार्यान्वित किये जाते है।

(१) मच्छरों से शरीर की रक्षा (अ) जाला का उपयोग—इसमें मकानों के चारों ओर जाली लगवायी जाती है, या दरवाजों, खिड़कियों के ऊपर जालीदार किवाड़ लगाए जाते हैं, तथा मकान का प्रत्येक झरोखा जाली से वन्द किया जाता है, जिससे मकान के भीतर मच्छर न आने पावे। इसके लिए किवाड़ एक दूसरे के साथ भलीभांति लग जाने चाहिएँ। दरवाजों पर दोहरे किवाड़ भी फायदेमन्द होते हैं।

(आ) अदश्य प्रावरण—इसमें शरीर पर मोटे वस्त्र, पैरों के लिए बूट, हाथ पैरों के मोजे और मुख के लिए मुखाच्छादक (Veils) इनका उपयोग किया जाता है जिनके ऊपर से मच्छर काट नहीं सकते। इनका उपयोग मच्छरपीड़ित प्रदेश में सन्ध्या के तथा रात के समय घूमने फिरने के लिए किया जाता है।

(इ) मशहरी—निजी उपयोग के लिए मच्छरदानी वहुत उपयोगी चीज है। इसका उपयोग नित्य करना चाहिए। मशहरी में न कोई छिद्र होना चाहिए न दरवाजा रखना चाहिए। सोने से पूर्व मशहरी का निचला भाग विस्तरे के नीचे चारों ओर से दवाना चाहिए जिससे हवा के द्वारा मच्छरों को भीतर घुसने का मौका न मिल सके।

(ई) प्रत्यापसारक (Repellents)—ये प्रायः उग्रगन्ध तैल या अन्य द्रव्य होते है। इनका उपयोग शरीर पर मलने के लिए किया जाता है। इनकी उग्रगध के कारण मच्छर दूर भाग जाते हैं। ये तेल उड़नशील होने के कारण थोड़ी देर में इनका प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसका उपयोग मुखहस्तादि शरीर के अनावृत भागों पर मलने के लिए किया जाता है। निम्न मरहम इसके लिए वहुत उपयोगी है। निम्बुकी (सिट्रोनेला) तैल १।) तोला, प्रासव कर्पूर (स्पिरिट कैम्फर) ½ तोला, देवदारु तैल ½ तोला और सफेद मृद्वमा ५ तोला।

मलने के लिए तैल—निम्बुकी तैल १½ भाग, तरल मृद्वसा १ भाग, गरी का तेल २ भाग, प्रांगविक अम्ल १%। सरसों के तेल का भी उपयोग कर सकते हैं। आजकल डायमेथिल थ्यालेट (Dimethyl phthalate) का उपयोग द्रव या मलाई (Cream) के रूप में इसी काम के लिए किया जाता है।

(उ) हाथ पंखे या विजली के पखे—इनसे भी मच्छरों का परिहार होता है।

(२) मच्छरनाशक उपाय—इसके लिए जालीदार पंजे (Swatters), पिंजरे, कीटक नाशक द्रवों के फुहारे (Sprays), धूपन इत्यादि का उपयोग किया जाता है। फुहारों में मुख्य द्रव्य मिट्टी का तेल होता है । इसमें द्वि. द्वि. त्रि (D D T.), पायरेथ्रम या इपडीन्य (Gammexane) मिलाया जाता है। इसके फुहारे सप्ताह में दो या तीन वार और विषमज्वर के मौसिम में प्रतिदिन करने चाहिएँ। इन द्रव्यों में द्वि. द्वि. त्रि. सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है क्योंकि इसका नाशककार्य केवल फुहारे के समय के लिए मर्यादित नहीं होता अपि तु फुहारा करने के पश्चात् अनेक दिनों या सप्ताहों तक होता रहता है। इसे अवशिष्ट प्रभाव (Residual effect) कहते हैं। इसका प्रयोग सैनिकों की रक्षा के लिए विमानों से भी किया जाता है। परन्तु यह पद्धति बहुत ही अपव्ययी होने के कारण नागरिक प्रयोग के लिए अनुपयुक्त है। फुहारों का प्रयोग केवल मकानों तक मर्यादित न करके मकानों के आसपास आधे मील के क्षेत्र में भी करना चाहिए। फुहारों का उद्देश्य मशक दंश से मनुष्यों को वचाने का नहीं होता किन्तु मच्छर उपसर्गी होने से पहले उनको नष्ट करने का और तद्द्वारा उपसृष्ट मच्छरों के दंश से मनुष्यों को वचाने का होता है।

धूपन से भी मच्छर नाशन का कार्य किया जाता है। धूपन के लिए गन्धक (पृष्ठ ३६१) या क्रावपव (१००० घन फूट स्थान के लिए १०-१२ तोले) बहुत अच्छे हैं। इसके अतिरिक्त वस्ती के पास होनेवाले जगल को तोड़ने से भी मच्छरों का उपद्रव कम होता है, क्योंकि कुछ अनोफेलीन मच्छर दिन में जंगलों में, घनी झाड़ी में जाकर आराम करते हैं। (पृष्ठ २४७)

(३) इल्लीनाशक उपाय—(अ) स्थायी—इसमें मुख्यतया मच्छरों के उत्पत्ति स्थानों का नाश किया जाता है। जैसे, छोटे वड़े गढ़े, अस्वच्छ तालाव, हौज, नावदान इत्यादि गन्दे पानी के संचयों को तथा गीली भूमि को भीतरी या वाहरी खुली (Subsoil or open) नालियों द्वारा सुखाना और यदि हो सके तो उनको मिट्टी डालकर पटवा देना; तालाव और नदियों के किनारों को ठीक करना जिससे उनके पास छोटे वडे गढों में पानी न भरा रहे, जंगलों को तोडना इत्यादि। मच्छर अपने उत्पत्ति स्थान से साधारणतया एक मील तक दूर जाकर मनुष्यों को काट सकते हैं। जंगलों मे पानी का सञ्चय होने से मच्छर पैदा होते हैं और वहाँ से मनुष्यवस्ती में जाकर उनको काटते हैं। जंगल काटने से पानी सूख जाता है तथा उनको आश्रय भी नहीं मिलता। नहरों को या लोह-मार्गों को

बनाते समय नैसर्गिक जलमार्गों को अक्षुण्ण रखना या यदि ये अवरुद्ध हो गये हों तो उनको फिर से बनाना चाहिए। (पृष्ठ २४१)

(आ) अस्थायी—जब उपर्युक्त स्थायी उपायों का अवलम्बन करना असम्भव होता है या जब अल्पकालिक काम रहता है तब पानी में इल्ली नाशक द्रव्यों का उपयोग किया जाता है—

(१) तेल—इसमें मुख्यतया मिट्टी का तेल या इन्धन तैल (Fuel oil) होता है। आजकल विषमज्वरैल (Malariol) करके एक बना बनाया तैल भी मिल जाता है। खराब पानी में यह तेल फुहारे से या तेल में भिगोये हुए रद्दी कपड़े या बोरे पानी में डालने से फैलाया जाता है। इससे पानी के ऊपर तेल की पतली तह बन जाती है जो इल्लियों को प्राणोपरोध करके नष्ट करती है। अच्छी टिकाऊ तह बनने के लिए तेल में क्रविपव (Cresol) मिलाया जाता है। इससे जलगत मछलियाँ मर जाती हैं और पानी घरेलू कामों के योग्य नहीं रहता। इसलिए इसका उपयोग केवल खराब पानी के लिए ही हो सकता है। इससे अनोफेलीन और क्यूलेक्स दोनों की इल्लियाँ मर जाती है। जब पानी के ऊपर घास हरियाली झाड़ी इत्यादि रहती है तब तह अच्छी नहीं बनती अतः इसकी कार्यक्षमता बढाने के लिए पानी का पृष्ठ भाग घास फूस विरहित करना चाहिए।

(२) पैरीस ग्रीन (Paris green)—ताँबे और संखिया का यह (Copper aceto-arsenite) संयोग है। एनोफेलीन इल्लियों के लिए यह अत्यन्त विषैला है, पानी को खराब नहीं करता, मछलियों का नाश नहीं करता और पानी में घास फूस होने पर भी बेकार नहीं होता। पानी के ऊपर छिड़कने का काम बहुत आसानी से किया जा सकता है। यह बहुत सस्ता भी है। इसमें दोष यह है कि यह क्यूलेक्स इल्लियों का नाश नहीं कर सकता तथा एनोफेलीस की इल्ली की अवस्था छोडकर अन्य अवस्थाओं पर कार्य नहीं कर सकता। उपयोग करने से पहले यह द्रव्य सडक की धूलि, लकड़ी का बुरादा, खराब आटा, फ्रेंच चाक, चीनी मिट्टी इत्यादि अत्यन्त महीन द्रव्यों के साथ भलीभाँति मिलना चाहिए। यह मिलाने का कार्य एक विशेष साधित्र (Apparatus) के द्वारा करने की आवश्यकता होती है। मिलाने का अनुपात १–५% तक होता है। जब बहुत ऊँचाई से विमानों द्वारा बहुत विस्तृत जलाशयों पर इसका उपयोग किया जाता है तब इसका प्रमाण ५% तक रक्खा जाता है। पानी के ऊपर छिडकने का काम हाथों से या भ्रान्तिमद्ध्मात्र (Rotary blowers) से किया जाता है।

(३) द्वि० द्वि० त्रि० (D. D T.)—यह द्रव्य जैसे कीटघ्न है वैसे इल्ली

नाशक भी है। इसका उपयोग तैल में घोल बना करके उपर्युक्त तैल के समान या धूलि के साथ मिला करके प्यारिस ग्रीन के समान किया जाता है। इसमें दोष इतना ही है कि मात्रा जरा सी अधिक होने पर मछलियाँ भी मर जाती हैं।

(४) इल्लीनाशक (Larvicidal) मछलियाँ—कोई या खजूरा (Anabas scandens), पीकू (Haplochilus lineatus) तथा अन्य मछलियाँ मच्छरों की इल्लियों पर अपना निर्वाह किया करती हैं। इनका उपयोग इल्ली नाशन के लिए कहीं-कहीं किया जाता है। इनके अतिरिक्त आज कल अमेरिका की मशकान्तक प्रजाति (Gambusia) की मछलियों का इसके लिए विशेष उपयोग किया जा रहा है, क्योंकि यह मछली छोटी, शीघ्र बढ़ने वाली और जलवायु की चरम सीमाओं के लिए सात्म्य होने वाली (अनुवर्तनक्षम) है। परन्तु मछलियों का उपयोग करने में निम्न कठिनाइयाँ होने के कारण इनका प्रयोग बड़े पैमाने पर नहीं किया जा सकता।

१. काफी संख्या में होने पर ही ये इल्ली नाशन का काम कर सकती है।

२. जलाशय में घासफूस तथा पानी पर तैरने वाले अन्य खाद्य द्रव्य न होने पर ही ये इल्लियों को खाने का काम भलीभाँति कर सकती हैं।

३. अन्य बड़ी मछलियाँ जलाशय में होने पर वे इनको खा जाती हैं।

४. खाद्यपदार्थ पर्याप्त न होने पर ये अपनी ही प्रजा को खाया करती हैं। इसलिए बीच-बीच में नयी मछलियाँ जलाशय में छोड़नी पड़ती हैं।

५. इनके ऊपर देख-रेख करने के लिए, जलाशयगत वनस्पतियों को निकालने के लिए कुछ विशेष जानकारी रखनेवाले नौकरों को रखना पड़ता है।

(४) कीटाणु नाशक औषधियाँ—इनका उपयोग मनुष्य शरीर गत कीटाणुओं तथा उनके व्यवायकायाणुओं का नाश करने के लिए किया जाता है। विषमज्वरी विशेषतः बालक विषमज्वर कीटाणुओं के भण्डार होते हैं। उनके नाशन के लिए निम्न औषधियाँ प्रयुक्त होती है।

(१) विज्वरी (Quinine)—घातक विषमज्वर कीटाणुओं के व्यवायकायाणुओं को छोड़कर शेष सब कीटाणुओं का तथा उनके व्यवायकायाणुओं का यह औषधि नाशन करती है। चिकित्सा के लिए ५ रत्ती की मात्रा दिन में तीन बार दस दिन लगातार देना चाहिए। प्रतिबन्धन के लिए ५ रत्ती प्रतिदिन या ८ रत्ती सप्ताह में दो बार। नीम्बू के रस के साथ घोल बनाकर इसको लेना चाहिए।

(२) अटेब्रिन (Atebrin)—इसका कार्य विज्वरी के समान है। मात्रा ३/४ रत्ती दिन में तीन बार ५–७ दिन लगातार चिकित्सा के लिए।

(३) पालुड्रिन या प्रोग्वानिल—क्षुल्लकेत (Sporozoit) और व्यवायकायाणु इनको छोडकर यह औषधि विषमज्वर कीटाणुओं की सब अवस्थाओं की नाशक होती है। उसमें भी प्राथमिक और द्वितीयक रुधिरकायाणुवाह्य अवस्थाओं (पृष्ठ ३९१) पर इसका नाशक प्रभाव और अवस्थाओं से भी अधिक हुआ करता है। इस कार्य में यह औषधि अनन्य साधारण है। अतः रोगनिर्मूलन में सर्वश्रेष्ठ है। व्यवायकायाणुओं का यद्यपि नाश नहीं होता तथापि उनमें ऐसा परिवर्तन होता है कि वे मच्छरी के शरीर में मैथुनी चक्र जारी करने में असमर्थ हो जाते हैं।

३ गोलियाँ एक दिन चिकित्सा के लिए।

१ गोली प्रतिदिन या ३ गोलियाँ सप्ताह में एक बार रोगप्रतिबन्धन के लिए।

(४) प्लाज्मोचिन (Plasmochin)—यह औषधि मारात्मक विषमकीटाणु व्यवायकायाणु नाशक होने से अद्वितीय है। इसका उपयोग विज्वरी के साथ किया जाता है। प्रतिदिन रात को एक गोली (इसमें $\frac{1}{6}$ ग्रेनप्ला, ४$\frac{1}{2}$ विज्वरी) सेवन की जाती है। विज्वरी या अटेब्रिन द्वारा रोग मुक्त होने के पश्चात् पाँच दिन तक प्लाज्मोचिन लेने से शरीर व्यवायकायाणुरहित हो जाता है।

(५) आर्थिक स्थिति मे सुधार—दारिद्र्य रोगवृद्धि का एक प्रधान कारण है (पृष्ठ ४००), इसलिए खेती और उद्योग दोनों में उन्नति करके लोगों की क्रयशक्ति बढ़ानी चाहिए जिससे वे उचित आहार को सेवन कर सकें, प्रशस्त मकानों में रह सके या उनको बनवा सके। लोगों की आर्थिक स्थिति सुधरने से वे नगरपालिका तथा राजसंस्था को अधिक कर दे सकते है जिसके आधार पर ये संस्थाएँ तथा राज्य अधिक द्रव्य खर्च करके नगरों में मोरी परनालों का प्रबन्ध कर सकते है, स्थायी उपायों में बताए हुए कामों को कर सकते है, लोह मार्गों के बनाते समय नैसर्गिक जल मार्गों को ज्यों का त्यों रख सकते हैं, गरीबों के लिए अच्छे और सस्ते मकान बनवा सकते है तथा उनकी चिकित्सा का उचित प्रबन्ध कर सकते है। सिंचाई का उचित प्रबध, नहरों की देखरेख, नगरों और कस्बों के पास अधिक पानी लगने वाली फसलों की पैदाइश न करना इत्यादि बातें इसी में आती है।

विषमज्वर गवेषण (Survey)

विषमज्वर नियन्त्रण के लिए वर्णित उपर्युक्त उपायों को काम में लाने से पहले जिस स्थान में उनका उपयोग करना हो उस स्थान में विषमज्वर क्यों होता है, कितना है, इसका ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि सब उपाय सब स्थानों में समानरूपेण उपयोगी नहीं हो सकते। यदि इस प्रकार पहले विषमज्वर

गवेपणा न की जाय तो व्यय होने पर उससे सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकलेगा। अतः नीचे बताए हुए तरीके से गवेपणा करनी चाहिए—

(१) विपमज्वर मापन (Measurement)—इसके लिए उसी स्थान में जन्मे और पनपे हुए दस साल से कम अवस्था के अधिक से अधिक वालकों की जाँच प्लीहाभिवृद्धि के लिए और रक्तगत कीटाणु के लिए की जाती है। वालकों की प्लीहावृद्धि की प्रतिशतिकता को प्लैहिकदेशना (Splenic index), और रक्त में कीटाणु मिलने की प्रतिशतिकता को कीटाणु या परोपजीवी देशना (Parasite index) या स्थानपदिकदेशना (Endemic index) कहते हैं। इनके अतिरिक्त औपधालयों, चिकित्सालयों, सैनिक शिविरों, वन्दीगृहों से विपमज्वर से मृत लोगों की संख्या की भी जानकारी प्राप्त की जाती है। इससे विपमज्वर ऐकपदिक, स्थानपदिक या जानपदिक इनमें से किस स्वरूप का है तथा उससे मृत्यु कितने होते हैं इसका ज्ञान हो जाता है।

(२) विपमज्वरोत्पादक अंगों का अन्वेषण—इसमें संक्रमण करनेवाले एनोफेलीन की जाति का पता लगाया जाता है तथा लाला ग्रन्थियों में स्पोरोजाइट की उपस्थिति से उपसृष्टों का प्रतिशतिकता देखी जाती है। इसको क्षुद्रबीज (स्पोरोजाइट) देशना कहते हैं। इसके वाद अण्डे देने के, छिपने के तथा रहने के स्थान, वातावरणगत मध्यम ताप, आक्लेद इत्यादि जलवायु की वातें, सिचाई, नहरें, आस पास की फसलें तथा लोगों की आर्थिक स्थिति, ग्रहणशील आप्रवासियों की उपस्थिति इत्यादि के सम्बन्ध में जाँच और विचारणा की जाती है।

(३) प्रतिवन्धन की आयोजना—उपर्युक्त पद्धति से विपमज्वरोत्पादक विविध अंगों की गवेपणा करने के पश्चात् उसके प्रतिवन्धन के लिए आवश्यक उपायों की आयोजना पेश करनी चाहिए। इसके पहले विपमज्वर के कारण होनेवाली हानि का भी अंदाजा सामने रखना चाहिए और तदनुसार खर्च करने की आयोजना पेश करनी चाहिए।

श्लीपद (Filaria)

व्याख्या—श्लीपद कृमि के उपसर्ग से होनेवाला यह ज्वर है जिसमें कृमियों के अवस्थान से हाथ, पैर वृषण इत्यादि अंग लसिका सचित होने के कारण मोटे पड़ते हैं।

हेतु—इस रोग का कारण फायरेलिया वङ्क्रोफ्टाई (Filaria bancrofti) नामक कृमि हैं। ये कृमि श्वेत वर्ण के सूत के तागे के समान होकर लसग्रंथियों में, लसवाहिनियों में अवस्थान करके लसप्रवाह में वाधा उत्पन्न करते हैं। इनके

बच्चे सूक्ष्मश्लीपदी (Microfilaria) रात में रक्त में परिभ्रमण करते हैं और दिन मे गंभीर अङ्गों में निवास करते है। इसलिए ये केवल रात में रोगी के त्वचागत रक्त में मिलते है। अतः निदान के लिए रात को १२ बजे रक्त लेना चाहिए।

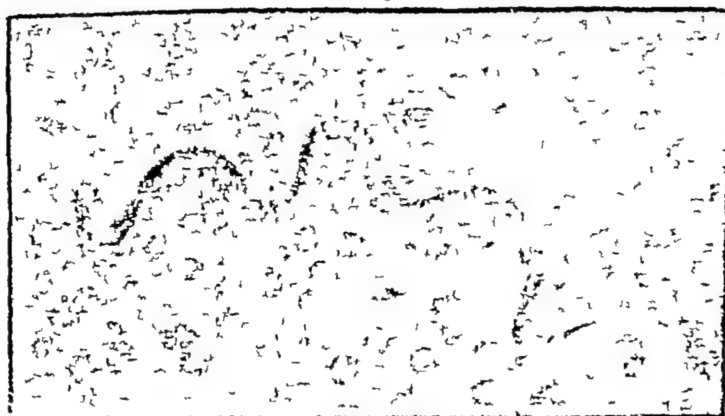
संक्रमण—इसका सक्रमण क्यूलेक्स फैटीजिन्स (Culex fatigans) जाति की मच्छरी के दंश से होता है। मच्छरी मकान के पास मोरी, नाला, मट्टी के पात्र नावदान इत्यादि छोटे छोटे गंदे पानी के संचयों में अण्डे देती है।

ये मच्छर भी एनोफेलीन के समान अण्डा, इल्ली, कुप्पा की चोलियाँ बदलकर बनते हैं। परन्तु इनमें निम्न फर्क होते है—

अण्डा—इनकी संख्या २००–५०० तक होती है और ये जीरे के (Caraway-seeds) आकार के होकर सैकडों की संख्या में एक दूसरे के साथ चिपटे हुए उडुपाकार (Raft) बनकर रहते है जिसके कारण वे आसानी से दीख पड़ते है।

इल्ली—इस अवस्था में इनके श्वसनछिद्र अलग अलग न होकर पूँछ के पास एक लम्बी पतली नलिका में इकट्ठा होते है जिसको श्वसनशृङ्ग (Breathing trumpet) या श्वसन निनालिका (Syphon tube) कहते है। इस कारण से इसकी

रक्तस्थित सूक्ष्मश्लीपदी



चित्र न० २६

इल्लियाँ पूँछ, जिसमे श्वसन निनालिका होती है, पानी के पृष्ठ भाग की ओर ऊपर को करके और सिर नीचा करके लटकती है।

इसका उरोभाग उदर से कोन बना करके रहता है। इसलिए इसका शरीर कुबडा सा होता है। उरोभाग की वरूथिका (पृष्ठ ४०४) दण्डाकार न होकर त्रिखण्ड (Trilobed) होती है। उदर पर शल्क (Scales) होते है जो खपडेल

के समान एक दूसरे के ऊपर खूब चढ़े हुए (Closely unbricated) रहते हैं। टाँगें लम्बी और पतली होती हैं, इसके पंख पर चित्तियाँ (Spotted) नहीं होतीं, दीवार पर बैठते समय इसका शरीर दीवार से समानान्तर रहता है, सूंड शरीर के साथ सीधी न रह कर कोन बनाती हैं, और पिछली टाँगें प्रायः शरीर से ऊपर की ओर उठी हुई रहती हैं। पीछे पृष्ठ ३९५ पर चित्र नं० २५ देखिए

एनोफेलीन और क्यूलेक्स चित्र नं

अवस्था	एनोफेलीन	क्यूलेक्स
अण्डा	१ नावाकार	१ जीरकाकार
	२ अलग अलग	२ एकत्र उडुपाकार
	३ १००–२५० तक	३ २००–५०० तक
	४ प्रायः स्वच्छ जल में	४ प्रायः गन्दे पानी में
२ इल्ली	१ श्वसन निनालिका रहित	१ श्वसननिनालिका युक्त
	२ तालपत्रसम लोम	२ तालपत्रसम लोम रहित
	पानी की सतह से समान्तर	३ पानी की सतह से नीचे लटकी हुई
३ मच्छर	१ जिस पर बैठता है उससे कोन करके शरीर रहता है	१ जिस पर बैठता है उससे समान्तर शरीर रहता है
	२ सिर उर और उदर एक रेखा में	२ उर उदर से कोन बना करके रहता है
	३ सूंड शरीर की सीध में	३ सूँड शरीर की सीध में नहीं
	४ वरूथिका दण्डाकार	४ वरूथिका त्रिखण्ड
	५ उदर प्रायः शल्क विरहित और यदि उपस्थित हों तो बहुत दूर दूर	५ उदर पर सदैव शल्क होते हैं जो खपड़ेल के समान एक-दूसरे पर खूब चढ़े हुए रहते हैं
	६ पंख चित्तीदार	६ पंख चित्ती रहित
	७ मच्छर में स्पर्शनी सूँड के समान लम्बी और अन्त में फदाकार	७ मच्छर में स्पर्शनी सूँड से अधिक लम्बी और फूलदार
	८ मच्छरी में स्पर्शनी सूँड के समान लम्बी और एक सी पतली	८ मच्छरी में स्पर्शनी बहुत ही छोटी

श्लीपद-पीडित व्यक्ति को जब यह मच्छरी काटती है तब रक्त के साथ उसके आमाशय में कुछ सूक्ष्म श्लीपदी (चित्र नं० २६) प्रविष्ट होते हैं। वहाँ पर उनमें कुछ परिवर्तन होकर पंद्रह बीस दिन में वे फिर से मनुष्य शरीर में प्रवेश करने योग्य हो जाते हैं। मच्छर की सूँड के पास आकर मनुष्य शरीर में प्रवेश करने की प्रतीक्षा में रहते हैं। जब ऐसी मच्छरी स्वस्थ मनुष्य को काटती है तब ये दंश के समय उसके शरीर में प्रवेश करके कुछ महीनों के बाद लसवाहिनियों में परिवर्धित होकर रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते है। यह मच्छरी रात मे काटती है। मच्छर दंश के अतिरिक्त सूक्ष्मश्लीपदी दूषित पानी के पीने से या ऐसे पानी में स्नान करते समय उनकी त्वचा में प्रवेश करने से भी यह रोग संक्रान्त होता है।

प्रतिषेध—विषमज्वर के समान मच्छरों का, उनके उत्पत्तिस्थानों का तथा इल्लियों का नाश और मच्छरों से शरीर की रक्षा करना ये इससे बचने के सामान्य उपाय होते हैं। रोगी के शरीरगत सूक्ष्म श्लीपदियों का नाश हेट्राझन, एंथिओमलाइन, सोडियम फ्लोराइड इत्यादि से करना चाहिए।

दण्डक ज्वर (Dengue fever)

व्याख्या—इसमें ज्वर, त्वचा पर छोटे-छोटे गुलाबी दाने और हड्डियों, जोड़ों में तीव्र पीड़ा ये लक्षण होते हैं। हड्डियों की पीडा इतनी तीव्र होती है कि हड्डियाँ टूट रही हैं ऐसा मालूम होता है। इस कारण से यह रोग 'हड्डीतोड बुखार' भी कहलाता है।

हेतु और संक्रमण—इस रोग का कारण कोई विषाणु है। रोग का प्रसार स्टेगोमिया फेशिएटा या ईडीज इजिप्टी (Stegomyia fasciata or Aedes aegypti) नामक मच्छर से होता है। यही मच्छर आफ्रिका के पीतज्वर (Yellow fever) का भी संवहन करता है। यह घरेलू मच्छर है जो मकानों से तथा मनुष्यवस्ती से बहुत दूर नहीं मिलता। मकानों के आसपास छोटे-छोटे पीपों में, टंकियों में, मिट्टी के बर्तनों में, डिब्बों में इकट्ठा हुए जल में तथा अन्य कृत्रिम जलाशयों मे मच्छरी अण्डे देती है। प्रत्येक समय २०–७५ अण्डे देती है जो सीगार (बीड़ी) के समान लम्बे और बहुत छोटे होते हैं। ये अण्डे पृथक्-पृथक् पानी के पृष्ठ भाग पर तैरते है। इसकी इल्लियाँ क्यूलेक्स के समान श्वसननिनालिका या श्वसनशृंग (पृष्ठ ४११) युक्त होने से पानी की तह से सिर नीचा करके लटकती रहती है। मच्छर के सिर, वक्षथिका और उदर पर चपटे और चौडे एक के ऊपर एक चढ़े हुए शल्क (Scales) रहते है जो देखने में साटन (Satin एक प्रकार

का रेशमी वस्त्र) के समान चमकीले होते हैं। इसके सिवा शरीर पर श्वेत और काले धब्बे होते हैं जिसके कारण यह शेर मच्छर (Tiger mosquito) भी कहलाता है। परन्तु इसकी पीठ पर उरोभाग के पीछे जो सफेद रेखाओं का वीणाकार (Lyreshaped) चिह्न होता है वह इसकी विशेषता है जिसके बल पर इसको अन्य मच्छरों से पृथक् करके पहचानना आसान हो जाता है। दण्डक ज्वर पीड़ित मनुष्य के रक्त में प्रारंभिक तीन दिन तथा उसके पूर्व १० घंटा रोग का विष रहता है। इस अवधि में स्टेगोमीया मच्छरी के काटने से उसके शरीर में रोग का विष प्रविष्ट होता है। वहाँ पर १०–१२ दिन तक उसमें कुछ परिवर्तन होता है। उसके पश्चात् मच्छरी जीवन भर रोग का संक्रमण अपने दंश से कर सकती है। यह मच्छरी दिन में काटती है।

प्रतिबन्धन—श्लीपद और विषमज्वर के समान मच्छरों से रक्षा।

पीत ज्वर (Yellow fever)

व्याख्या—स्टेगोमाया मच्छरी के दंश से फैलनेवाला यह एक तीव्र विषाणु जन्य घातक औपसर्गिक रोग है जिसमें ज्वर, वमन, शुक्लि मेह, कामला, रक्तस्राव की प्रवृत्ति, नाड़ी की मन्दता इत्यादि लक्षण होते हैं।

हेतु—इसका कारण एक विषाणु ही है। ग्रामों और जंगलों में मुख्यतया प्राणियों में होने वाला और क्वचित् मनुष्यों पर संक्रान्त होने वाला जंगली पीतज्वर भी उसी विषाणु से होता है। पीतज्वर मूलतः प्राणियों का रोग है जो उनमें बराबर हुआ करता है।

इसका विषाणु रोगी के रक्त में रोगाक्रमण के पूर्व कुछ घण्टों से प्रारम्भिक ३-४ दिन तक उपस्थित रहता है। उसके पश्चात् नष्ट होता है।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग इस समय मेक्सिको, मध्य अमेरिका, दक्षिण अमेरिका का पूर्व किनारा और अफ्रिका का पश्चिम किनारा इन स्थानों में सीमित है, तथा स्थानपदिक स्वरूप का होता है। परन्तु द्रुतगतिवाहनों के कारण इसका प्रसार अब अन्य स्थानों में होने की सम्भावना भी हो रही है। भारतवर्ष तथा पूर्व के अन्य देशों में इस समय यह रोग बिलकुल नहीं है, परन्तु विमानों के द्वारा प्रवास अल्पकाल में होने के कारण भविष्य में इसका प्रवेश होने का बड़ा भारी डर है।

संक्रमण—रोग का संक्रमण मुख्यतया इडीज इजिप्टी (Aedes aegypti) जाति की मच्छरियों से (पृष्ठ ४१४) होता है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ सम्बन्धित जातियाँ (Aedes leucocelaenus, aedes simpsoni) इसका संक्रमण किया करती हैं। यह रोग पश्चिम आफ्रिका, दक्षिण अमेरिका और दोनों के बीच में होने वाले कुछ टापुओं में होता है। इन प्रदेशों में यह रोग मुख्यतया प्राणियों में विशेषतया वन्दरों में होता है। इनमें पीतज्वर वहुधा अप्रकटरूपेण रहता है और आपस में जगली मच्छरों से (जैसे Haemogogus capricorni) फैलता है। इस प्रकार इसका प्राथमिक सञ्चयाधार आतिथेय (Reservoir host) जंगली वन्दर होते हैं। इनको काटकर एडीज मच्छरी उपसृष्ट होकर मनुष्यों में उपसर्ग को फैलाती है और इस प्रकार मनुष्य इसका दूसरा सञ्चयाधार वनता है। परन्तु मनुष्य केवल रुग्ण काल के प्रारम्भिक ३-४ दिन उपसर्गी होता है। यदि इस काल में मच्छरी रोगी मनुष्य को काटे तो वह उससे उपसर्ग को ग्रहण करती है। दंश के साथ शरीर में विषाणु जाने के पश्चात् १२ दिन तक मच्छरी उपसर्गी नहीं होती। इस काल में विषाणु में क्या परिवर्तन होता है इसका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसको वाह्यसंचयकाल Extrinsic inqubation period) कहते हैं। यह काल बाह्य ताप के अनुसार न्यूनाधिक होता है। जैसे ३७° सै. पर ४ दिन और २१° सै. पर १८ दिन। इसके पश्चात् मच्छरी जीवन भर उपसर्गी रहती है। यह विषाणु अक्षत त्वचा में से भी शरीर में प्रवेश कर सकता है और इस मार्ग से प्रयोगशालीन कर्मचारियों में पीतज्वर का उपसर्ग होता है ऐसा कुछ लोगों का अनुभव है। यह रोग रोगी के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ससर्ग से नहीं फैलता। रोग का संचयकाल ३-५ रोज का, क्वचित् १० या उससे अधिक भी होता है। पहले जब प्रवासी केवल स्थलमार्ग और जलमार्ग से भारतवर्ष में आते थे तब पीतज्वरदूषित स्थानों से भारतवर्ष में आने का काल रोग के संचयकाल से या मच्छर के जीवन काल से अधिक होने के कारण कोई उपसृष्ट मच्छर या मनुष्य भारतवर्ष में नहीं आ सकता था। वायुमार्ग प्रारम्भ होने पर पीतज्वरोपसृष्ट आफ्रिका के स्थानों से मनुष्य २-३ दिन में कराची में पहुँच जाता है। संचयकाल से तथा मच्छर जीवन काल से यह अवधि कम होने के कारण आफ्रिका में उपसृष्ट हुआ मनुष्य या मच्छर कराची में मजे में आ सकता है। भारतवर्ष में पीतज्वर वाहक मच्छरों की कमी नहीं है। यदि कहीं भूल से कोई उपसृष्ट मच्छरी या मनुष्य पहुँच जाय तो पीत ज्वर भारत के जनपदों का उद्ध्वस कर देगा क्योंकि यह रोग अत्यन्त औपसर्गिक और शीघ्र घातक है तथा भारत की जलवायु उसके लिए अत्यन्त अनुकूल है।

क्षमता—एक वार पीतज्वर से पीडित होकर बचने के पश्चात् शरीर में आजीवन क्षमता बनी रहती है जिसके कारण वह व्यक्ति दूसरी वार पीतज्वर से पीडित नहीं हो सकता। एक वार पीडित हुए व्यक्ति के रक्त में ७५ वर्ष तक प्रतियोगी (Antibodies) पाये गये हैं। पीतज्वर के स्थानपदिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों में सौम्य स्वरूप की क्षमता होती है।

प्रतिबन्धन—(१) वैमानिक—पीतज्वर प्रदेश में विमान द्वारा आनेवाले व्यक्ति को, यदि पहले पीतज्वर न हुआ हो, तो उसको अपीतज्वर प्रदेश में ६ दिवस रहना और रहने का प्रमाण-पत्र लेना जरूरी है।

जब कोई व्यक्ति पीतज्वर प्रदेश से भारत या पाकिस्तान में आने के लिए चलता है तब उसकी सूचना कराची को दी जाती है जिससे वहाँ के अधिकारी उसके बारे में उचित सावधानी ले सके।

पीतज्वर प्रदेश से कोई विमान सीधा कराची में नहीं आने दिया जाता है। उसको रास्ते में खार्टूम या कैरों में उतरना पड़ता है जहाँ पर पीतज्वर विषनाशक (Antiamaryl) उपायों से विमान का संशोधन किया जाता है।

कराची में आने पर ऐसे विमान भी आरोही उतर जाने पर सामान के साथ उपसर्ग नाशक फुहारे से फिर से संशोधित किये जाते हैं।

यदि प्रवासियों के पास पीतज्वरपीडित प्रदेश छोड़े हुए नौ दिन होने का प्रमाण-पत्र न हो तो उसको मच्छरविरहित वाहन में ले जाकर मच्छरविरहित विभाग में कुछ दिन निरोधन में रक्खा जाता है। पीतज्वर प्रदेश से आनेवाले मनुष्य भारत या पाकिस्तान में केवल कराची के विमान अड्डे पर उतर कर ही आ सकते हैं क्योंकि वहाँ पर प्रतिबन्धन के उपर्युक्त साधन सुसज्ज रहते हैं।

(२) मच्छरनाशन—स्टेगोमाया घरेलू मच्छर हैं। इसलिए घर के आसपास के उसके अभिजनन के छोटे मोटे जलसंचय नष्ट कर देने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त मच्छरों का नाश और उनसे रक्षा के उपाय भी काम में लाने चाहिएँ। पीतज्वर पीडित बंदरगाह से जहाज को १२०० फूट दूरी पर ही लंगर डालना चाहिए और उसके भीतर के मच्छरों का नाश करना चाहिए। पीतज्वर पीडित प्रदेशों से निकलने के पहले विमान या जहाज के भीतरी मच्छरों का नाश उदश्यामिक अम्ल (पृष्ठ ३६१) या अन्य धूपन द्रव्यों से करना चाहिए।

(३) मसूरक टीका—पीतज्वर से बचने के लिए विशिष्ट पद्धति से बनाया हुआ टीका द्रव्य उपलब्ध हो गया है। इसकी ५०० मा. मा. ५० (L. D. 50)

की हुई त्वचा के नीचे दी जाती है। इससे १० दिन में अधिक से अधिक १४ दिन में शरीर में क्षमता उत्पन्न होती है जो ४ माह तक शरीर मे टिकती है। उसके पश्चात् यदि आवश्यक हो तो दूसरी बार टीका लगाना पड़ता है।

(४) निरोधन—पीतज्वर पीडित प्रदेश से आनेवाले प्रवासी जब पीतज्वर से मुक्त प्रदेश में विमान, जहाज या आगगाड़ी से आते हैं यदि उनके पास पहले पीतज्वर पीडित होने का या टीका लगने का प्रमाण पत्र न हो तो ६ दिन निरोधन में रखने की अन्तर्राष्ट्रीय सिफारिश है। भारत सरकार ने यह काल ६ दिन के बदले सुरक्षा की दृष्टि से ९ दिन रक्खा है।

काला अजार (Kala azar)

व्याख्या—यह एक चिरकालीन स्वरूप का रोग है जिसमें ज्वर, प्लीहा और यकृत् की अभिवृद्धि, रक्तक्षय, कृशता, शरीर का कालापन इत्यादि लक्षण होते हैं।

कारण—इस रोग का कारण लीशमन-डोनोवन पिण्ड नामक कीटाणु (L. D Body) है। इसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक रोगी के शरीर में और दूसरी प्रसारक कीडे के शरीर में। (पृष्ठ ४१९ पर चित्र नं० २७)

सहायक कारण—कालाजार स्त्री पुरुषों में तथा सब अवस्थाओं में दिखाई देता है। परन्तु एक वर्ष तक के बच्चों में तथा ५० वर्ष के पश्चात् बूढ़ों मे बहुत कम होता है। वर्धमान तथा युवावस्था में ५-२५ वर्ष तक (६५ प्रतिशत) अधिक होता है। भूमध्यसमीपवर्ति प्रदेशों में यह रोग बच्चों में (५ वर्ष तक ९२ प्रतिशत) अधिक होता है, इसलिए उसको शैशवीय (Infantile) नाम दिया गया है। नगरों की अपेक्षा गाँवों में और पठारों की अपेक्षा नीची सतह की कछार (Alluvial) भूमि में यह रोग अधिक होता है। २००० फुट से अधिक ऊँचाई के तथा क्रिट वर्ग की स्थली में होनेवाले कुछ (पृष्ठ २३७) प्रदेशों में यह बहुत कम दिखाई देता है। जिस प्रदेश में वर्षा अधिक होती है, वातावरण में आक्लेद (Humidity) अधिक रहता है, जहाँ का ताप ५०° फै० से कम और १००° फै० से अधिक नहीं होता ऐसे प्रदेशों में यह रोग होता है। श्लेष्मक, विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, अंकुशकृमि रोग तथा अन्य शरीरदौर्बल्यकर औपसर्गिक रोगों से पीडित होने पर इसके होने में सहायता होती है। इनमें आन्त्रिक ज्वर इसकी उत्पत्ति में विशेषतया सहायता करता है ऐसा अनेक शास्त्रज्ञों का अनुभव है। अकाल और आर्थिक दुरवस्था भी इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं। यह रोग अँधेरे और गन्दे मकानों तथा

झोपड़ियों में, विशेष करके जिसकी फर्श और आसपास की भूमि मुर्गी, भेड़-बकरी तथा अन्य प्राणियों के मल-मूत्र से खराब रहती है, रहने वालों में हुआ करता है। उसमें भी ऊपर के खण्डों पर रहने वालों की अपेक्षा नीचे के खण्डों में रहनेवालों में अधिक होता है। जब एक बार किसी घर में या स्थान में यह रोग प्रवेश करता है तब उस घर के सब स्थायी निवासी और परिवार के लोग एक के बाद एक करके धीरे-धीरे इससे पीड़ित हो जाते हैं। यहाँ तक देखा गया है कि यदि उपसृष्ट स्थान की झोपड़ियाँ जलाकर वहीं पर नयी झोपड़ियाँ बनायी जायँ तो भी उनके निवासियों में फिर से रोग हुआ करता है। संक्षेप में कालाजार स्थान, गृह और परिवार का उपसर्ग (Site, house and family infection) होता है। रोग उच्चवर्णीय, धनसम्पन्न, अच्छे स्वच्छ पक्के मकानों के निवासियों में तथा नगर के नागरिकों में कम हुआ करता है।

मरक विज्ञान—कालाजार पीड़ित अधिकसंख्य प्रदेशों में उसका स्वरूप ऐकपदिक (Sporadic) होता है। परन्तु बंगाल, आसाम, बिहार जैसे कुछ प्रदेशों में वह स्थानपदिक (Endemic) रहता है और १५–२० वर्ष के पश्चात् वह मरक का स्वरूप भी धारण करता है जो २–३ वर्ष रहकर फिर कम होता है परन्तु पूर्णतया निःशेष नहीं होता। अंजन के योगों से इसकी चिकित्सा प्रारम्भ होने के पश्चात् अब इसके मरक उत्पन्न होने की सभावना बहुत कुछ घट गयी है। शरद् ऋतु के पश्चात् इसका बढ़ना प्रारम्भ होकर जाड़ों में यह सबसे अधिक हुआ करता है।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग यूरुप और अफ्रिका के भूमध्य समुद्र-समीपवर्ति फ्रान्स, इटली, पोर्तुगाल, ग्रीस, तुर्कस्थान, माल्टा, सूडान, अबीसीनिया, मोरक्को इत्यादि देशों में, बल्गेरिया, हंगेरी, युगोस्लाविया, कास्पिअन समुद्र समीपवर्ति रशिया इत्यादि देशों में, दक्षिण अमेरिका में, चीन और मंचुरिया में और भारतवर्ष में होता है।

भारतवर्ष में यह रोग आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर-प्रदेश का पूर्वभाग (अधिक से अधिक लखनऊ तक), मद्रास प्रान्त का पूर्वीतट, विशेष करके मद्रास शहर, तुतीकोरिन, तिनेवल्ली इत्यादि प्रान्तों में पाया जाता है। पञ्जाब, बम्बई, राजपुताना, मध्यप्रदेश (पृष्ठ २२७) मलाबार इत्यादि पश्चिमी प्रान्तों में यह नहीं पाया जाता। यह रोग गंगा और ब्रह्मपुत्रा नदी के मुख से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे पश्चिम की ओर फैलता गया। इसकी गति बहुत मन्द (प्रति वर्ष १०–११ मील) रही है।

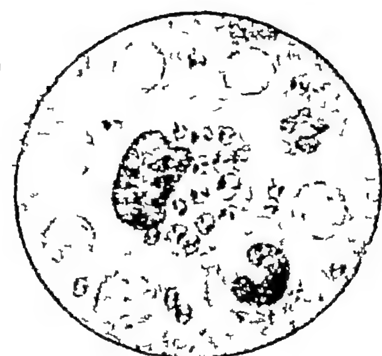
संक्रमण—(१) कीटक दंश—इस रोग का संक्रमण फ्लेबोटोमस जाति के एक भुनगे के दंश से होता है। जहाँ पर कालाजार होता है वहाँ पर यह भुनगा पाया जाता है, या यों कह सकते है कि दोनों का भौगोलिक प्रविभाग एक है। इस भुनगे की अनेक उपजातियाँ होती हैं और प्रत्येक प्रदेश में रोग प्रसारक उपजाति भिन्न होती है। जैसे, पूर्व भूमध्य समुद्र में फ्ले. मेजर; पश्चिम भूमध्य समुद्र में फ्ले. पनिसिओसस; ऊत्तर अफ्रिका में भी यही है; चीन में फ्ले. चायनेन्सिस तथा सारजेन्ट; सूदन में फ्ले. त्यागरोनी; दक्षिण अमेरिका में फ्ले. इन्टरमीडिअस; भारतवर्ष में फ्ले. अर्जेन्टपिस।

(२) दूषित खाद्य पेय—रोगी के अन्त्र की लसाभ धातु में कीटाणु निवास करते हैं और उत्तर काल में व्रण उत्पन्न होकर पतले दस्त होने लगते हैं। उस अवस्था में ये कीटाणु रोगी के मल से उत्सर्गित होते हैं। कुछ रोगियों के मूत्र में भी जीवनक्षम कीटाणु पाये गये हैं। इसलिए रोगी के मलमूत्र से उपसृष्ट खाद्यपेय पदार्थों के द्वारा भी इसका संक्रमण हो सकता है।

(३) विन्दूत्क्षेप—कुछ रोगियों के नासास्राव में कालाजार के कीटाणु उपस्थित रहते हैं। इसलिए इसका प्रसार बिन्दूत्क्षेपों के द्वारा भी हो सकता है।

लीशमन-डोनोवनपिण्ड के संचयाधार भारतवर्ष में मनुष्य ही होते हैं। ये पिण्ड रक्त में एककायाणुओं के भीतर (चित्र २७ में देखिए) या यकृत प्लीहादि अंगों की अन्तश्छदीय (Endothelial) कोशाओं के भीतर रहते हैं। त्वचागत विकृति में ये त्वचा में पाये जाते हैं और चिकित्सा पूर्ण होने के पश्चात् ये त्वचा में सुप्त स्थिति में होते हैं। संक्षेप में उपसृष्ट मनुष्य से भुनगे के द्वारा स्वस्थ मनुष्यों पर रोग का संक्रमण हुआ करता है।

लीशमन डोनोवन पिण्ड



चित्र न० २७

कालज्वरवाहक भुनगा—यह फ्लेबोटोमस जाति का कीड़ा है। (पृष्ठ ३४७ पर चित्र में २–३ देखिये) इसका रंग भूरा होता है। शरीर बीच में मुड़ा रहता है। संपूर्ण शरीर पर तथा परों पर छोटे-छोटे रोयें होते हैं। यह रक्तशोषी कीड़ा है, नर और मादा दोनों रक्त चूसते हैं। ये अन्धकारप्रिय होने से रात को बाहर निकल कर काटते हैं और दिन में अंधेरे स्थान में आश्रय लेते है। ये न बहुत ऊँचे उड़ सकते हैं न बहुत दूर जा सकते हैं। इनके हवा में

उड़ने को फुदकना ही कहना अच्छा है। इसलिए ये अपने जन्मस्थान से १००-१५० फूट से अधिक दूर नहीं जाते। यही कारण है कि कालाजार स्थानबद्ध या गृहबद्ध रहता है और बहुत ही मन्द गति से फैलता है। मादा फर्श के दरारों में अंडे देती है जहाँ फर्श मुर्गी, भेड़-बकरी के मलमूत्र से गन्दा रहता है। अण्डे देने के लिए आर्द्रता की आवश्यकता होती है। अण्डे रंग में काले और बहुत छोटे (·३८५×·१२ सहस्रिमान) होते हैं। ६-९ दिन में अण्डे इल्लियों में परिववर्तित होते हैं। इल्ली की अवस्था ४ सप्ताह तक होती है। इसके पश्चात् कुप्पा (Pupa) की अवस्था आती है जो लगभग ९ दिन तक होती है। उसके पश्चात् बड़े तड़के, जब कि वातावरण में काफी आक्लेद होता है, कुप्पों से डिम्भ निकलते हैं। प्रौढ़ कीड़े की लम्बाई डेढ से ढाई सहस्रिमान (m. m.) होती है।

भारतवर्ष में रोग प्रसार करने वाला यह भुनगा केवल मनुष्यों पर अपना निर्वाह करता है। इसलिए भूमध्यसमुद्रतटवर्ती प्रदेशों के समान भारत में रोगाणुओं के सचयाधार की दृष्टि से कुत्तों को कोई स्थान नहीं है।

कीटक शरीरगत वृद्धि—जो मनुष्य कालाजार से पीड़ित रहता है उसके अधिचर्म के नीचे के स्तरों में स्वेदपिण्ड और धमनिकाओं के आस-पास कीटाणु से भरी हुई असख्य कोशाएँ रहती हैं। जब ऐसे व्यक्ति को यह भुनका काटता है तब कोशाओं के भीतरी कीटाणु उसके आन्त्र में चले जाते हैं। वहाँ पर वे कृत्रिम संवर्ध के समान तन्तुपिच्छी रूप में परिवर्तित होकर संख्यावृद्धि करते हैं। उसके पश्चात् ये ग्रसनिका और मुख में भी आते हैं जिसके लिए ७-१२ दिन लगते हैं। इस प्रकार मुख में आये हुए कीटाणु काटते समय प्रभेदिनी में से स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करते हैं।

प्रतिषेध—काला अजार पीड़ित मनुष्य की योग्य चिकित्सा करना। इसके लिए अंजन के अनेक योग (Urea-stibamine तथा अन्य) बहुत सफल हुए हैं। इससे रोगी के शरीरगत उपसर्ग का नाश हो जाता है। इसके अतिरिक्त जिस मकान या बस्ती में काला अजार होता है उस मकान या बस्ती का परित्याग करना और अन्य मकान या स्थान में निवास करना, मकान के अँधेरे और सील स्थान में फर्श और दीवारों की दरारों पर अधिक ध्यान देकर फार्मेलिन द्वि· द्वि· त्रि, पायरेथ्रम या गन्धक के द्वारा मक्खियों का नाश करना, सोने के लिए दूसरा मजिल, जहाँ पर दिन में काफी प्रकाश आता हो, का उपयोग करना; अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र की (मलमल की) मशहरी का उपयोग करना, मकानों के आसपास

के कूड़े-कर्कट का नाश जल्दी करना, जिससे मक्खियों की उत्पत्ति न होने पावे; जमीन पर न सोना इत्यादि उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

प्लेग, ताउन (Plague)

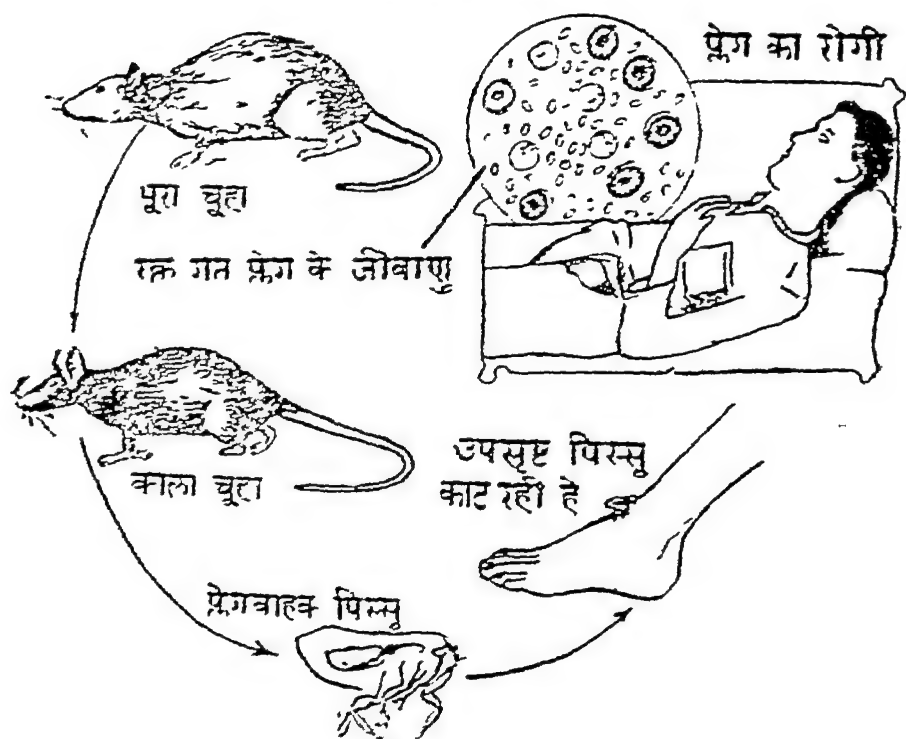
व्याख्या—यह एक अत्यन्त घातक रोग है जिसमें तीव्रज्वर, वङ्क्षणादि स्थानों की लस ग्रन्थियों में सूजन, नेत्र की सुर्खी, मूत्र में रक्त, हृदयावसाद, प्रलाप इत्यादि लक्षण होकर थोड़े दिनों में मृत्यु होती है।

हेतु और प्रकार—इस रोग का कारण बै० पेस्टिस (B. pestis) नामक दण्डाणु है। यह दण्डाणु रोगी के रक्त, प्लीहा, लसिका, ग्रन्थियाँ, आन्त्र, वृक्क इत्यादि अंगों में पाया जाता है। फुफ्फुस गत प्रकार में रोगी के थूक में ये मिलते हैं। प्रसार की दृष्टि से रोग के मुख्य दो प्रकार किये जाते हैं—ग्रन्थिक और फौफ्फुसिक। ग्रन्थिक में शरीर की लस ग्रन्थियाँ फूलती हैं और फुफ्फुसगत में विकार फुफ्फुस में होता है और छाती में पीड़ा, श्वासकृच्छ्र, रक्तष्ठीवन इत्यादि लक्षण होते हैं। दोनों ही प्रकार घातक होते हैं, परन्तु फौफ्फुसिक अत्यन्त घातक होता है, जिससे प्रायः दो तीन दिनों में मृत्यु होता है। फौफ्फुसिक प्रकार शीत प्रदेशों में होता है और ग्रन्थिक प्रकार भारतवर्ष में अकसर हुआ करता है।

रोग का प्रसार और मरकविज्ञान—प्लेग अधिकतर उष्ण प्रदेशों का रोग है। यह जनवरी से मई तक प्रायः होता है। इसका कारण यह है कि ८०° फै० से अधिक ताप और कम आक्लेद (Humidity) पर पिस्सू बढ़ नहीं सकते। इसके अतिरिक्त गरमियों में चूहे घरों को छोड़कर खेतों में चले जाते हैं जिससे मनुष्यों के साथ उनका सम्बन्ध कम होता है। प्लेग मुख्यतया चूहे, गिलहरी इत्यादि रदनिनों (Rodents) का रोग है। उनमें यह रोग सदैव कालिक और अप्रकट रूप में रहता है। इसके जो वाहकप्राणी होते हैं वे वैसे स्वस्थ रहते हैं, परन्तु उनकी प्लीहा और यकृत् में छोटी मोटी विद्रधियाँ होती हैं जिनमें जीवाणु रहते हैं। जब जलवायु तथा परिस्थिति अनुकूल होती है तब शरीरस्थ उपसर्ग प्रबल होकर वाहक उससे पीडित होने लगते हैं। उनमें यह रोग मुख्यतया दोषमय (Septicaemic) होता है। इसलिए उन पर रहनेवाले पिस्सू (Flea) उपसृष्ट होकर उनके मरने पर औरों पर आक्रमण करते हैं। इसके अतिरिक्त चूहे आपस में भी झगड़ा करते हैं और इस प्रकार उपसृष्ट चूहा अपने दंश से दूसरे चूहों को उपसृष्ट कर सकता है। इस प्रकार चूहों में प्लेग की

महामारी फैलती है। उसके पश्चात् उपसृष्ट पिस्सुओं के काटने से मनुष्यों में रोग फैलता है।

प्लेग का उपसर्ग



चित्र नं० २८

संक्रमण—भारतवर्ष में मोरी-परनाले तथा, गोदाम में रहने वाला चूहा या मूषा (Rattus norvegicus) इसका मुख्य संचयाधार होता है। मूषा या भूरा चूहा (चित्र नं० २८) काफी बड़ा, छोटे कान का, भूरे रंग का, मोटी और छोटी पूँछ वाला होता है। इसमें प्रथम प्लेग की महामारी प्रारम्भ होती है। इसके १०-१५ दिन के पश्चात् प्लेग घरेलू चूहियों या मूषकों (Rattus rattus) में प्रारम्भ होता है। मूषक या काला चूहा काले रंग का, छोटा, लम्बे पतले कान का, लम्बी तथा पतली पूंछ वाला होता है। इनमें महामारी प्रारम्भ होने के १०-१५ दिन के पश्चात् मनुष्यों में प्लेग प्रारम्भ होता है। इनके शरीर पर पिस्सू रहते हैं। जब चूहा या मूषक मर जाता है तब पिस्सू उसको छोड़ कर दूसरे चूहे या मूषक की ओर चले जाते हैं। पिस्सू रक्तशोषण करके निर्वाह करते हैं। उपसृष्ट चूहे के रक्त में जीवाणु

रहते हैं जो रक्त के साथ पिस्सू के शरीर में प्रवेश करके उसको भी उपसृष्ट करते हैं। ऐसा उपसृष्ट पिस्सू जब दूसरे स्वस्थ चूहे या मूषक को काटता है तब वह भी उपसृष्ट हो जाता है। इस प्रकार उपसृष्ट पिस्सू से प्लेग का प्रसार होता है। मूषा के शरीर पर जो पिस्सू होते हैं उनमें उपसृष्ट पिस्सुओं का प्रमाण मूपक के शरीर पर होने वाले पिस्सुओं की अपेक्षा बहुत अधिक रहता है। परन्तु मूषा की अपेक्षा मूषक का मनुष्यों से अधिक निकट सम्बन्ध होने के कारण मनुष्यों मे रोग प्रसार की दृष्टि से मूषक अधिक भयावह रहता है। जब पिस्सुओं को चूहा या चूहिया या काला चूहा नहीं मिलते तब ये मनुष्यों को काटते है और इस प्रकार मनुष्यों में रोग का प्रादुर्भाव होता है। सक्षेप में मूषाओं से मूपकों पर और मूपकों से मनुष्यों पर पिस्सुओं द्वारा प्लेग का सक्रमण होता है। मूषाओं में महामारी प्रारम्भ होने के १ मास के पश्चात् मनुष्यों में इसकी महामारी प्रारम्भ होती है।

पिस्सू (पृष्ठ ३४७ पर नं. २७ में नं. ४ देखिए)—यह एक काले या भूरे रंग का २-३ सहस्रिमान लम्बा चपटा, पंख रहित काटने वाला कीड़ा है। इसके शरीर मे शीर्ष, वक्ष और उदर तीन अग होते हैं। सिर में मुख, प्रभेदिनी और शलाकाएँ होती है। इनकी सहायता से पिस्सू काटने का और रक्त चूसने का कार्य करता है। शरीर के दोनों ओर तीन-तीन टाँगों की दो जोड़ियाँ होती हैं। पख न होने से यह हवा में तैर कर स्थानान्तर नहीं कर सकता, बल्कि फुदक-फुदक कर करता है। भूमि से छः इञ्च से ऊँचा यह कूद नहीं सकता। पिस्सू गन्दे, अँधेरे सील स्थानों को पसन्द करता है। पिस्सू की अनेक प्रजातियाँ होती है। भारतवर्ष में प्लेग संवहन में क्षेनप्सिला शोपिस (Xenopsylla cheopis) नामक चूहों पर रहने वाली जाति के पिस्सू अग्रसर होते है। दूसरे क्रमांक में क्षेनोप्सिला अस्टिया (X astia) जाति के पिस्सू आते हैं।

पिस्सू से प्रसार कैसे होता है—पिस्सू सदैव चूहों के शरीरों पर चिपटे रहते हैं और रक्त चूस कर अपना निर्वाह किया करते हैं। प्लेग पीड़ित चूहों को काटने पर जीवाणु उनके आमाशय में चले जाते है और उनके आन्त्र मे वृद्धि करते हैं। ये आन्त्र में कितने दिन जीवनक्षम रहते हैं और उनके कारण पिस्सू कितने दिन उपसर्गी होता है यह ठीक नहीं कहा जा सकता। साधारणतया महामारी के समय पर १५ दिन और अन्य समय पर ८ दिन जीवाणु रह जाते हैं ऐसा लोगों का कहना है। आन्त्रगत जीवाणु मल के साथ भी उपसृष्ट होते हैं। उपसृष्ट पिस्सू से स्वस्थ मनुष्य निम्न प्रकार से उपसृष्ट होते हैं। पिस्सू से चूसा हुआ रक्त आमाशय तथा अन्ननलिका में जाकर जम जाता है। उसमें जीवाणु वृद्धि करते

हैं। इस जमे हुए रक्त से अन्नमार्ग अवरुद्ध होता है। यह पिस्सू जब मनुष्य को काटता है तब काटते समय पहले के जमे हुए रक्त का कुछ हिस्सा दंश के समय मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर वह उपसृष्ट होता है। दूसरा मार्ग पिस्सू के मल के द्वारा होता है। तीसरा मार्ग दंशस्थान पर पिस्सू के कुचल जाने से तद्गत जीवाणुओं के प्रवेश का होता है। इनमें उद्गीर्ण (Regurgitation) रक्त का मार्ग प्रधान है। यदि पिस्सू न हो तो प्लेग पीड़ित या प्लेगमृत चूहे के प्रत्यक्ष संसर्ग से स्वस्थ मनुष्य प्लेग से उपसृष्ट नहीं हो सकता।

वायुमंडल की स्थिति के अनुसार पिस्सू के शरीर में जीवाणु न्यूनाधिक कालतक रहते हैं। जब वायुमंडल का ताप ५५° फै. और आक्लेद अधिक होता है तब पिस्सुओं की तथा उनके शरीरगत जीवाणुओं की वृद्धि होकर प्लेग बढ़ता है। जब वायुमंडल में आक्लेद बहुत कम होकर ताप ८५° फै. से अधिक होता है तब पिस्सू विशेष करके रुद्धान्नमार्ग पिस्सू जल्दी (३-४ दिन में) मर जाते हैं और उससे प्लेग का प्रसार बन्द होता है। प्लेग का मरक आरम्भ होने पर बहुतेरे चूहे मर जाते हैं और बहुतेरे भाग जाते हैं। यह अवस्था प्लेग का मरक प्रारम्भ होने के १०-१५ दिन के पश्चात् उत्पन्न होती है।

उस समय निर्वाह के लिए दूसरा चूहा न मिलने के कारण पिस्सू मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार चूहों का रोग पिस्सुओं द्वारा मनुष्यों में होने लगता है। पिस्सू फुदकने वाला कीड़ा होने के कारण वह मनुष्यों के पैरों पर प्रायः काटता है। संक्षेप में प्लेग चूहों का रोग होने के कारण तथा वही उसका संचयाधार होने के कारण सदैव गल्ले के स्थानों, गोदामों, खत्तियों, दुकानों में प्रारम्भ होकर पश्चात् आस-पास के तथा दूरवर्ति स्थानों में फैलता है।

दूर स्थानों में प्रसार—चूहा और पिस्सू दोनों ऐसे जीव हैं कि जो स्वयं बहुत दूर के स्थानों में नहीं जा सकते। अतः स्वयं इनके द्वारा दूर स्थानों में रोग का प्रसार नहीं हो सकता। परन्तु मनुष्य प्रायः प्लेग पीड़ित स्थान को छोड़ कर अन्य दूर स्थानों में द्रुतगतिवाहनों से जाते हैं। जाते समय कभी-कभी इनके वाढविस्तरे में उपसृष्ट पिस्सू भी उनके साथ स्थानान्तर करते हैं और वहाँ के चूहों को प्रथम और पश्चात् मनुष्यों को काट कर रोग का प्रसार करते हैं। संक्षेप में प्लेग का प्रसार चूहों से चूहों पर तथा चूहों से मनुष्यों पर पिस्सुओं द्वारा होता है।' प्लेग पीडित मनुष्य किसी स्वस्थ स्थान में चला जाने पर प्लेग का प्रारम्भ नहीं कर सकता, क्योंकि प्लेगवाहक पिस्सू मनुष्यों का नैसर्गिक शरीराश्रयी जीव नहीं है। मनुष्यों में उपसर्ग फैलने से पहले मूषकादि प्राणी तथा पिस्सू

उपसृष्ट होने चाहिएँ। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यों से पिस्सू और पिस्सुओं से चूहे इस प्रकार प्लेग संक्रमण की विपरीत अवस्था कदापि नहीं हो सकती।

वायु द्वारा प्रसार—प्लेग के क्षुद्र (P minor), ग्रन्थिक (Bubonic), दोषमय (Septicaemic) और फौफ्फुसिक करके ४ प्रकार होते हैं। इनमें प्रथम तीनों का संक्रमण पिस्सू द्वारा होता है। चौथे के संक्रमण के लिए पिस्सू की आवश्यकता नहीं होती। उसमें फुफ्फुसपाक उत्पन्न होता है और थूक में असंख्य जीवाणु उपस्थित रहते हैं। ये बिन्दूत्क्षेपों के द्वारा स्वस्थ मनुष्यों के पास पहुँच कर उनको उपसृष्ट करते हैं। संक्षेप में फौफ्फुसिक प्रकार का संक्रमण रोगी से स्वस्थ मनुष्य पर बिन्दूत्क्षेपों द्वारा होता है।

प्रतिषेध—प्लेग प्रतिषेध के मुख्य चार उपाय हैं—स्थान परित्याग, टीका, पिस्सूनाशन और मूषक निराकरण। इसमें प्रथम दो अस्थायी उपाय हैं जो महामारी के समय काम में आते है, और शेष स्थायी उपाय हैं जिनको काम में लाने से प्लेग उत्पन्न होने की संभावना कम होती है।

(१) स्थान-परित्याग[1]—मनुष्यों में प्लेग प्रारम्भ होने में १०-१५ दिन पहले चूहों में प्लेग प्रारम्भ होता है। इसलिए चूहे मरने का प्रारम्भ होते ही मकान या मुहल्ले को छोड़कर तीन चार मील दूरी पर झोपड़ियाँ बनाकर उसमें रहना उचित है। जाते समय केवल आवश्यक चीजों को ले जाना चाहिए। विशेष करके मोटे मोटे कपड़ों को धूप में उलट पुलट करके फैलाकर ले जाना चाहिए, अन्यथा उनके साथ पिस्सू आने का और प्लेग झोपड़ियों में या अन्य स्थानों में फैलने का डर रहता है। तीन चार महीनों के बाद या महामारी समाप्त होने के बाद प्रथम मकान का विशोधन करके पश्चात् उसमें प्रवेश करना चाहिए। शहरों में स्थान परित्याग करने में बहुत कठिनाई होती है, परन्तु देहातों में यह उपाय आसानी से काम में लाया जा सकता है।

(२) संरक्षक टीका—इसके लिए हाफकीन द्वारा प्रस्तुत और सोखी द्वारा आपरिवर्तित (Modified) मृत दण्डाणुओं की मसूरी प्रयुक्त होती है। इसकी एक घ. शि. मा. (सी. सी.) मात्रा त्वचा के नीचे प्रथम और एक सप्ताह

---

१. आयुर्वेद में जनपदो ध्वंसक रोगों से बचने के लिए जो उपाय बताए हैं (पृष्ठ ३७२) की टिप्पणी) उनमें दूषित स्थान परित्याग और स्वास्थ्यकर स्थान सेवन दोनों का निर्देश है-तत्र स्थानपरित्याग इत्यादि॥ सुश्रुत॥

के पश्चात् उतनी ही दूसरी मात्रा दी जाती है। यदि समय और कर्मचारियों की कमी हो तो एक वार २ घ. शि. मा. की मात्रा दे सकते हैं। इससे १० दिन के वाद क्षमता उत्पन्न होती है जो ६–८ मास तक टिकती है। आज कल अनुग्र जीवित (Avirulent living) दण्डाणुओं से मसूरी वनाकर उसका प्रयोग जावा, माडागास्कर इत्यादि अन्य स्थानों में हो रहा है। यह अधिक अच्छी है ऐसा [वहाँ का अनुभव वताया जाता है। वैयक्तिक संरक्षण के लिए टीका वहुत अच्छा साधन है। इससे यद्यपि पूर्ण रक्षा नहीं होती तथापि इससे रक्षित होने पर आक्रमण होने के प्रसंग वहुत कम होते हैं और यदि आक्रान्त हो जाय तो वचने की अधिक आशा होती है।

(३) मूषक निराकरण (Rat-elimination)—प्लेग का स्थायी प्रतिषेध करने की दृष्टि से यह उपाय वहुत महत्व का है। प्लेग चूहों का ही रोग है। इसलिए यदि चूहों का पूर्णतया अभाव हो या चूहों का और मनुष्यों का सम्वन्ध न हो तो प्लेग मनुष्यों में नहीं हो सकता। मूषक निराकरण में निम्न वातों पर ध्यान देना चाहिए।

(अ) धान्य रक्षण—चूहे मनुष्यों के समान धान्याहारी हैं जो घर में या गोदाम में जहाँ पर धान्य खुला होता है वहाँ पर अधिक पाए जाते है। वहुधा प्लेग शहर के उस मुहल्ले में प्रथम प्रारम्भ होता है जहाँ पर गल्ले की मंडी होती है या गोदाम होते हैं। अत. अनाज का प्रवन्ध निम्न प्रकार से करना चाहिए। गल्ले के गोदाम शहर की वस्ती से दूर हों। गोदाम में या उनके पास मनुष्य वस्ती न हो। चूहों को पानी की या हरी ताजी सब्जी की आवश्यकता होती है, इसलिए गोदामों में या उनके आस पास मूषकों को प्राप्त हो सके ऐसे स्थान में पानी या साग सब्जी न होनी चाहिए। गोदाम ईंटों के और सीमेन्ट के तीन फुट ऊँचाई के चवूतरे पर वनाए जायँ और उनके चारो ओर चवूतरे से वाहर को निकला हुआ एक फूट का सीमेन्ट कांक्रीट का मचान (Platform) हो। इससे चूहे भीतर जाने में असमर्थ होते हैं। घर में भी अनाज तथा अन्य खाद्य पदार्थ चादर के हौजों में या अलमारियों में इस प्रकार रखने चाहिएँ कि चूहों को खाने के लिए कुछ भी न मिल सके।

(२) अभेद्य और अप्रवेश्य मकान—मकान पक्की ईंटों, सीमेन्ट, चूना इत्यादि से वनवाने चाहिएँ जिसमें चूहे उनमें विल न वना सकें। यदि कहीं एकाध विल दिखाई दे तो उसमें काँच, चीनीमिट्टी, पत्थर के टुकड़े भर कर सीमेन्ट से

वन्द कर देना चाहिए। मकान की मोरियों के द्वारों पर जाली लगवाना चाहिए तथा दरवाजों पर भी दिन में कुछ ऐसा प्रवन्ध करना चाहिए जिससे दरवाजा खुला रहने पर भी चूहे भीतर न आने पावे। केवल मकान पक्का होने से वह निर्मूषक नहीं हो सकता, यदि प्रथम बताये हुए नियम के अनुसार गल्ले का तथा खाद्य द्रव्यों का उसमे प्रबन्ध न हो। कई पक्के मकानों में अनाज का प्रवन्ध ठीक न होने से असंख्य चूहे पाये जाते है।

(३) चूहों को मारना—(अ) विष प्रयोग—संखिया, कुचला, भास्वर इत्यादि अनेक विष चूहों को मारने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। परन्तु ये मनुष्यो के लिए विषैले होने से वहुत कम प्रयुक्त होने लगे है। हर्यातु प्रांगारीय (बेरिअम कार्वोनेट) उत्तम विष है। मनुष्य और पशुओं के लिए यह विपैला नहीं है। एक चूहे के लिए डेढ़ ग्रेन पर्याप्त होता है। आटे के साथ इसकी गोलियाँ वनायी जाती हैं जिसमें ३ ग्रेन प्रांगारीय रहता है। आधा सेर प्रांगारीय के साथ डेढ सेर आटा पानी के साथ मिलाकर उसकी २४०० गोलियाँ वनायी जाती है। रात्रि के समय ये गोलियाँ ऐसे स्थानों पर रक्खे कि जहाँ पर चूहों के आने की अधिक सम्भावना हो। इसके साथ साथ मकान के भीतरी धान्य तथा खाद्य-द्रव्य पूर्ण सुरक्षित रक्खें जिससे उनको खाने के लिए सिवा गोलियों के और कुछ भी न मिलने पावे।

(आ) पिंजरों का प्रयोग—इनका प्रयोग रात में किया जाता है और सुबह के पकड़े हुए चूहे पानी में या मिट्टी के तेल में डुवोकर मारे जाते हैं, पश्चात् वे जलाए जाते हैं। यदि इनका उपयोग लगातार किया जाय तो चूहों की संख्या कम करने मे इनका वडा भारी उपयोग होता है। इनका प्रयोग नगरपालिका या वोर्ड की ओर से होता है। साधारणतया जनसंख्या के ३% प्रमाण मे पिजरों की संख्या होनी चाहिए।

(इ) धूपन—विलो के भीतर रहनेवाले चूहों का नाश करने के लिए यह उत्तम उपाय है। इसके लिए गन्धकवायु (पृष्ठ ३६१) या श्यामजन वायु (पृष्ठ ३६१) सर्वोत्तम होता है। वायु के अतिरिक्त श्यामजन के सिमाग (Cymag) और क्यालसिड ब्रिकेटी (Calcid brickette) करके दो ठोस योग मिलते हैं जिनकी बुकनी वनाकर वह चूहों के विलों में, सुरगों में या सुराखों में फूंकी जाती है। इनसे धीरे-धीरे श्यामजन (HCN) वायु निकलकर चूहों का नाश करता है।

(ई) इतर उपाय—विल्ली को या कुत्ते को पालना, गोली या लाठी से चूहों को मारना इनसे भी मूषक निराकरण में सहायता होती है।

(४) पिस्सू नाशन—इसके लिए द्वि. द्वि. त्रि. (पृष्ठ २६४) इपडीन्य (पृष्ट ४७६) ये सर्वोत्तम हैं। फर्श पर १०% द्वि. द्वि. त्रि. चूर्ण बुरका जाय और दीवालों पर मिट्टी के तेल में बनाये हुए उसके ५% घोल का फुहारा छोड़ा जाय। छोटे-मोटे सुराखों और दरारों में इपडीन्य का धूँआ छोड़ा जाय। यह धूँआ १०–१५ दिन तक काम करता रहता है।

मकान का विशोधन—रोगी का मृत्यु या रोग-निर्मुक्ति होने के पश्चात्, स्थान त्याग करने के पश्चात् मकान में लौटने के पूर्व उसका विशोधन करना बहुत आवश्यक है। विशोधन में पिस्सू के नाश पर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इसके लिए मिट्टी के तेल का इमल्शन (३% साबुन, १५% पानी और ८२% तेल) या पेस्टेरीन, मिट्टी के तेल में पायरेथ्रम (१ : २०) द्वि. द्वि. त्रि. या इपडीन्य सर्वोत्तम होते हैं। मकान के फर्श तथा तीन फूट ऊँचाई तक की दीवारों पर और उसके दरारों पर तथा कहीं बिल हो तो उनमें काफी द्रव छोड़ना चाहिए। विशोधन का काम करनेवाले लोग मकान के भीतर जाने से पूर्व अपने पैरों पर इमल्शन लगाकर और घुटने तक मोजे बूट पहन कर पीछे भीतर प्रवेश करें। विशोधन के पूर्व मकान खाली किया जाय और दूषित वस्त्र शय्या इत्यादि जला दिये जायँ या भाप से निर्जीवाणुक किये जायँ।

समुद्रतीरस्थ निरोधन (Maritime quarantine)—जहाजों द्वारा प्लेग का प्रसार एक देश से दूसरे देश में होता है। भारतवर्ष में इसी प्रकार हांगकांग से प्लेग आ गया था। अतः प्लेग प्रतिबन्धन में बंदरगाहों पर आनेवाले जहाजों को किनारों से दूर रोकथाम करना एक आवश्यक अंग होता है। इसमें मुख्य ध्यान मूषकों के ऊपर दिया जाता है और इस दृष्टि से नियमों का पालन किया जाता है। परदेश के बंदरगाहों से आनेवाले अनुपसृष्ट जहाजों के पास निर्मूषीकरण (Deratisation) का प्रमाणपत्र छः मास के भीतर का होना जरूरी है। यदि इस प्रकार का प्रमाणपत्र न हो तो उनका निरीक्षण करके यदि वे मूषकोपजुष्ट (Infested) मालूम हुए तो धूपन के द्वारा मूषकों का नाश किया जाता है और उनको प्रमाणपत्र दिया जाता है।

यदि प्लेग पीड़ित स्थान से कोई जहाज आता है तो आने पर उसका निर्मूषीकरण किया जाता है। बंदरगाहों पर जब जहाज लंगर डालते हैं तब उनमें चूहे प्रवेश करते हैं। उनका प्रवेश रोकने के लिए निम्न प्रबन्ध करना चाहिए। जहाज बंदरगाहों के घाटों (quay) से दूर रोके जायँ और घाटों से जहाजों पर जाने के

लिए कोई रास्ता न हो। जिन रस्सों से (Hawser) जहाज बांध दिया जाता है उन पर से चूहे जहाजों में न जा सकें इसलिए उन पर मूषररक्षक (Rat guard) लगाये जायँ। ये बिजली की बत्ती के छादक (Shade) के या शंकु के आकार के, ३ फूट व्यास के और बहुत मजबूत धातु के बने रहते हैं और इनमें से होकर रस्सा चला जाता है। इनका नोकीला भाग ऊपर और चौडा भाग नीचे घाट की ओर रुख करके होता है और ये रस्से में इस प्रकार मजबूती से लगे रहते हैं कि इनका किनारा रस्से से समान्तर रहा करता है। इनके कारण चूहे इनको लांघकर ऊपर नहीं जा सकते।

धूपन—इसके लिए अनेक द्रव्य प्रयुक्त (पृष्ठ ३६५) होने पर भी गन्धक और उदश्यामिक अम्ल पसंद किये जाते हैं। परन्तु गंधक में भी कुछ दोष होने के कारण आजकल उदश्यादिक अम्ल अधिक व्यवहृत होता है। १००० घन फूट स्थान के लिए २ औंस उदश्यामिक अम्ल पर्याप्त होता है। धूपन के पूर्व जहाज के सब कमरे और अलमारियाँ खोलकर तथा दराज (Drawer) खींचकर रखना चाहिए और सुराख बंद करने चाहिएँ।

फौफ्फुसिक प्लेग प्रतिबन्धन—यह रोग विन्दूत्क्षेपों से वायु द्वारा फैलता है। अतः परिचारक तथा रोगी के पास जानेवाले अपने मुख पर अवगुंठन (Mask) का उपयोग करें और प्रत्येक समय बाहर आने के बाद उस अवगुंठन को जला कर नष्ट करें। रोगी के कमरे का विशोधन फार्मेलिन के धुएँ से करें। रोगी के थूक को तथा थूक से दूषित कपड़ों को जलावें और बर्तनों को उबलते पानी से विशोधित करें।

पुनरावर्तक ज्वर

पर्याय नाम—हेर फेर का ज्वर (Relapsing fever).

हेतु—इस रोग का कारण स्पायरोकीटा ड्युटोनी और स्पा. रिकरटिस नामक चक्रकीटाणु है। पृष्ठ ३२९ चित्र २१ देखिए।

सहायक कारण—यह रोग शीतकाल में प्रारम्भ होकर, वसन्त में अधिक रहकर गर्मियों में बन्द हो जाता है। सब अवस्थाओं के स्त्री-पुरुषों में यह होता है। परन्तु जवान पुरुष इससे अधिक पीडित होते हैं। जूँओं से फैलने वाला रोग होने के कारण पुराने मलीन कपड़ों से सम्बन्ध रखने वालों में जैसे धोबियों में, रोगियों के नौकरों तथा परिचारकों में अधिक होता है। वैसे ही दारिद्र्य, अस्वच्छता, अत्यधिक जनसंमर्द इत्यादि से युक्त लोगों में, मुहल्लों में तथा

जातियों में यह अधिक होता है। इसी कारण से धरणीकंप, अकाल, युद्ध के समय सैनिकों तथा शरणार्थियों में यह रोग महामारी का रूप धारण करता है। जहाँ पर तन्द्रिक ज्वर भी होता है वहाँ पर इसके साथ उसकी भी महामारी प्रायः हुआ करती है क्योंकि दोनों का संक्रमण एक ही कीटक से होता है।

संक्रमण—इस रोग का संक्रमण जूँ और किलनी (Ornithodorus moubata) द्वारा होता है और इनके अनुसार इस रोग के यूकावह (Louse borne) और किलनीवह (Tick borne) दो विभाग किये गये हैं। भारतवर्ष, उत्तर अफ्रीका, अमेरिका तथा योरप में यूका द्वारा और मध्य अफ्रिका, मध्य अमेरिका, ईरान, स्पेन तथा पाकिस्तान में किलनी द्वारा रोग का प्रसार होता है।

यूकागत जीवनी—जूँ जब ज्वर पीडित रोगी को काटती है तब चक्रकीटाणु उसके आमाशय में प्रविष्ट होकर २४ घण्टे के बाद वे वहाँ से शरीर के भीतर पहुंचते हैं। एक सप्ताह तक उनमें विशेष प्रकार का परिवर्तन होता है जिसके पश्चात् ये अन्य मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने में समर्थ हाते हैं। एक सप्ताह के बाद इस प्रकार के परिवर्तित हुए जीवाणु जूँ के समस्त शरीरद्रवों में फैलते हैं। ऐसी उपसृष्ट जूं कभी-कभी खुजाते समय कुचल जाती है और उसके रक्तगत जीवाणु दंश स्थान से या खरोंचों से त्वचा में प्रवेश करते हैं। संक्षेप में दंशक्षत या खरोंच जूं के रक्त से दूषित होने पर ही उपसर्ग होता है, जूं के दंश से या मल से नहीं। एक बार उपसृष्ट हुई जूं जिन्दगी भर रोग का प्रसार कर सकती है, परन्तु यह उपसर्ग उसकी प्रजा में नहीं संक्रान्त होता। पुनरावर्तक ज्वर के अतिरिक्त यूका से तन्द्रिक (Typhus) और खंदक (Trench) ज्वर का भी संक्रमण होता है।

किलनीगत जीवनी—दंश के समय इसके शरीर में भी जूं की भाँति रोगी से जीवाणु प्रवेश करके वर्धित होते हैं और पश्चात् काटते समय खुजाने से मलगत जीवाणु दंशस्थान मे प्रविष्ट होते हैं। इसके सिवाय किलनी दंश के समय स्वयं दंशस्थान को अपनी लाला से दूषित कर सकती है क्योंकि ये जीवाणु उसकी लालाग्रन्थियों में भी उपस्थित रहते हैं। प्रौढ़ किलनी के समान उसकी इल्लियाँ भी इस प्रकार रोग का संक्रमण कर सकती हैं। परन्तु किलनी के कुचल जाने से रोग का नैसर्गिक सक्रमण नहीं होता क्योंकि जूं के समान किलनी आसानी से कुचल जाने योग्य मृदु नहीं होती। उपसृष्ट किलनी केवल अपने जीवन भर ही नहीं (जो ५ साल का लम्बा हो सकता है) अपनी संतान द्वारा भी रोग का संक्रमण किया करती है।

किलनीवह रोग के जीवाणुओं का संचयाधार चूहे, मूषा, कुत्ता, लोमड़ी

इत्यादि जानवर भी होते है। इसलिए किलनीवह रोग का उपसर्ग स्वस्थ मनुष्यों पर रोगियों के अतिरिक्त इन प्राणियों से भी संक्रान्त होता है। यह ज्वर भारतवर्ष में केवल पजाब और वायव्य सीमाप्रान्त में पाया जाता है। यह रोग महामारी का स्वरूप धारण नहीं करता, परन्तु स्थानाश्रित या गृहाश्रित रहता है। किलनी गरमियों में अधिक सक्रिय रहने के कारण उष्णप्रदेशों में यह रोग एकैकशः सालभर होता रहता है। परन्तु शीत प्रदेश में यह रोग वसन्त और ग्रीष्म में होता है। किलनी जमीन में रहने के कारण और बच्चे जमीन पर खेलने के कारण उनमें यह रोग अधिक होता है।

यूका—सस्तन प्राणियों के रक्त पर निर्वाह करनेवाले बिना पख के ये कीडे हैं। मनुष्यों पर इसकी तीन उपजातियाँ मिलती हैं—(१) शीर्षयूका (Pediculus capitis)—यह जुआँ सिर के वालों में रहता है। (२) मानवी शरीर यूका (P humanus corporis)—यह जुआँ मनुष्यों के शरीर तथा कपडों पर रहता है। (३) गुह्यांग यूका (Phthirus pubis)—इसको कर्कट यूका (Crab louse) भी कहते हैं। यह जुआँ जननेन्द्रियों के वालों में रहता है। जुआँ अपने पैरों द्वारा, जिनमें बारीख नख होते हैं शरीर में या वालों में चिपट जाते हैं। यह आवश्यकता नहीं है कि एक प्रकार का जुआँ एक ही स्थान में रहे, अक्सर कपड़ेवाले सिर में, सिरवाला कपड़ों में और गुह्यांग का और स्थानों में चला जाता है। मादा जुआँ प्रतिदिन दस के हिसाब से अपनी जिन्दगी भर कोई ३०० अण्डे दे सकती है, जो वालों या कपडों में होते हैं। ये अण्डे लिक्षा (लीख) कहलाते हैं। अण्डे से प्रौढ़ जुआँ बनने के लिए तीन बार चोलियाँ बदली जाती हैं जिसके लिए १२-१५ दिनों की अवधि आवश्यक होती है। दो दिन पीछे मादा जुआँ अण्डा देना प्रारम्भ करती है। नर की आयु ३ हप्ते की और मादा की आयु ४ हप्ते की होती है। जुएँ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रत्यक्ष संसर्ग से जाते हैं और जब उस व्यक्ति में कपडों की और शरीर की सफाई नहीं होती तब बढ़ते हैं। अक्सर जुएँ नौकरों से बच्चों में या पाठशालाओं में एक बच्चे के दूसरे में चले जाते हैं। प्रत्यक्ष ससर्ग के सिवा गन्दे कपड़ों से, कंघी से या टोपी से भी चले जाते हैं। कभी-कभी जब सिर के वालों में लीखें बहुत होती हैं तब हवा के झोंके से भी ये पास के व्यक्ति में जा सकते हैं। इसके सिवा कुत्तों के द्वारा भी इनका स्थानान्तर हो सकता है। एक ही व्यक्ति पर तीनों प्रकार के जुएँ मिल सकते हैं, परन्तु साधारणतया स्त्रियों में सिर के जुएँ और पुरुषों में बाकी दोनों प्रकार के जुएँ अधिक मिलते हैं। पृष्ठ २४७ चित्र न० ६ देखिए।

यूका नाशन—जिन लोगों में जुएँ हों उनका सम्पर्क बन्द करो। प्रतिदिन शरीर की और कपड़ों की तथा विस्तरे की सफाई रक्खो। त्वचा निकटवर्ती कपड़ों (जैसे, वनयान, गंजी इत्यादि) को प्रतिदिन उवलते पानी से साफ करो। ऊनी कपडे, रूई की वन्डी वगैरह जो इस प्रकार साफ नहीं किये जा सकते उनको प्रतिदिन धूप में रक्खो और उनकी सीवनों को गोर से देखो कि उनमें जुएँ तो नहीं है। सिर के वालों को प्रतिदिन कंघी से साफ करो। यदि जुएँ बहुत हों तो पुरुषों में हजामत और स्त्रियों में बालों को कटवाना ही प्रशस्त है। वैसे ही वगल के और गुह्यांग के वालों को कैंची से काटना या अस्तुरे से मूँड़ना ही उचित है। इसके सिवा गरम पानी और साबुन से उसको साफ रखना भी चाहिए। सिर के जुएँ के लिए मिट्टी का तेल, कड़ुवा तेल, पेट्रोल, तैलपर्ण तेल इत्यादि तेल वालों पर लगाये जाते हैं। इसके सिवा पारद का मरहम (Ammoniated mercury ointment 5. P C.) भी लगाया जाता है। तेलों का प्रयोग न बहुत देर तक करना चाहिए, न प्रयोग के समय आग या बत्ती के पास बैठना चाहिए। आजकल २% द्वि० द्वि० त्रि० का घोल या १०% बुकनी जुओं के नाशन के लिए प्रयुक्त होती है। इनका उपयोग सिर पर तथा वालों पर लगाने के लिए तथा कपड़ों पर छिड़कने के लिये किया जाता है। जुएँ १३१° फै० ताप पर मर जाते है। अतः यूकोपजुष्ट कपड़े वाष्प, गरम पानी इनसे भी निर्यूक किये जा सकते हैं।

रोग प्रतिषेध—प्रतिषेध के लिए रोग का निदान एक आवश्यक बात है। निदान होते ही १०% द्वि० द्वि० त्रि० से रोगी तथा उसके घर के लोग और कपड़े निर्यूक करने चाहिएँ।

किलनी—उष्ण प्रदेशों में बहुत मिलनेवाला यह एक साधारण कीड़ा है जो गाय, वैल, कुत्ते, घोड़े के ऊपर अकसर पाया जाता है और इनके संपर्क से मनुष्यों पर चिपट जाता है। खटमलों के समान किलनी निशाचर है जो फर्श दीवालों की दरारों में, बिलों में, घास फूस की छतों, खपड़ेलों, दीवालों और झोपड़ियों में रहती है। किलनी एक समय में ५००० के लगभग अंडे देती है, जिसके पश्चात् वह मर जाती है। ये अंडे पीले रंग के होते हैं। दो तीन हफ्ते में इनसे इल्लियाँ बनती हैं जो प्रौढ़ चिंचली के समान शक्ल में होती हैं, परन्तु उसके छः पैर होते हैं। इल्लियाँ कई चोली बदलकर आठ टाँगों की प्रौढ़ चिंचली बन जाती हैं। प्रत्येक चोली बदलने के समय इसको रक्त की आवश्यकता होती है। अर्थात् जब तक कोई प्राणी न मिले तब तक इसकी वृद्धि नहीं होती। इसलिए

किलनी में महीनों या वरसों तक (डॉ० मेनसन के अनुसार ४ वर्ष) विना आहार के जिन्दे रहने की शक्ति होती है। किलनी त्वचा में खूब कसके चिपटती है और खून चूसती है। इसको छुड़ाना आसान नहीं होता। पृष्ठ ३४७ पर नं० ७ देखिए।

पुनराआवर्तक ज्वर के सिवा किलनी से तंद्रिक ज्वर का भी संवहन होता है।

किलनीवह रोग प्रतिषेध—किलनी का नाश करना आसान काम नहीं है। मिट्टी की जमीन और घास-फूस-वाँस इनकी झोपड़ियों से किलनी का नाश करना असंभव है। प्रवास में झोपडी में न सोना चाहिए तथा विस्तरा जमीन पर न रखकर ट्रंक में रखना चाहिए, जिससे ये उसमें न जाने पावें। जमीन पर न सोना चाहिए। मशहरी का उपयोग करना चाहिए। किलनी प्रकाश से दूर भागती है, इसलिए दिन में सुप्रकाशित स्थान में कोई डर नहीं होता तथा रात को वत्ती जलाने से भी उनकी तकलीफ कम हो जाती है। जिस मकान में ये अधिक हों वह अगर पक्का हो तो उदश्यामिक वायु से उसका विशोधन (पृष्ठ ३६१) करना जरूरी है। जमीन पर तथा दरारों में द्वि० द्वि० त्रि० या इपडीन्य का छिड़काव करने से इनका नाश हो सकता है।

वालुमक्षिका ज्वर

पर्याय नाम—त्रिदिन ज्वर, चित्रल ज्वर (Sand fly fever. Papataci fever, Phlebotomus fever

व्याख्या—निस्यन्दशील विषाणुजन्य यह एक तीन दिन का ज्वर है जो वालुमक्षिका के दंश से रोगी से स्वस्थ मनुष्य पर फैलता है।

हेतु—इस रोग का कारण एक निस्यन्दनशील विषाणु है। ये रोगी के रक्त में रोग के प्रारम्भिक २४ घण्टे तक होते हैं। उसके पश्चात् उनका नाश होता है। भारतवर्ष में यह रोग वायव्य सरहद प्रान्त, सिन्ध, पञ्जाव, देहली, उत्तरप्रदेश का पश्चिम भाग, नागपुर इत्यादि उष्ण प्रदेशों में होता है। चित्रल पञ्जाव में एक स्थान है। उसी स्थान में होने के कारण यह चित्रल ज्वर भी कहलाता है। यह स्थानपदिक स्वरूप का रोग है जो प्रायः गर्मियों में तथा शरद् ऋतु में अधिक होता है। कभी कभी यह जानपदिक रूप में भी फैलता है और उस समय अधिकसंख्य (९० प्रतिशत) लोग इससे पीड़ित हो जाते हैं। एक वार इससे पीड़ित होने पर शरीर में कुछ स्थायी स्वरूप की क्षमता उत्पन्न होती

है, परन्तु कभी कभी दो तीन बार भी इससे रोगी पीड़ित हो जाता है। रोगनिवृत्ति होने पर रक्त में विषनाशक धर्म बहुत होता है।

संक्रमण—इस रोग का संक्रमण फ्लेबोटोमस पपाटसी (Phlebotomus papataci) वालुमक्षिकाओं द्वारा होता है। ये मक्खियाँ तर और अँधेरे स्थान में रहती हैं और घर के आसपास के कूड़े करकट में टूटी फूटी दीवारों में, ईंटे-रोड़े-पत्थर के ढेर में, वृक्षों की छाल के नीचे अंडे देती हैं। साफ सुथरे उजले मकान में ये प्रायः नहीं रहतीं। मच्छरों से ये छोटी होती हैं। केवल मादा मक्षिकाएँ दंश करती हैं। सायंकाल और छायादार स्थान में दिन में भी ये काटती हैं। आँखें, कान, नाक, टखने ये इसके काटने के स्थान हैं। इस रोग से पीड़ित रोगी को प्रथम दिन जब यह मक्षिका काटती है तब उसके शरीर में रोग का विष प्रवेश करता है। वहाँ पर ७–८ दिन तक वह विष वर्धित होता है। उस काल के पश्चात् यदि वह मक्षिका किसी दूसरे स्वस्थ व्यक्ति को काटे तो उसको रोग हो जाता है। एक बार उपसृष्ट मक्षिका जिन्दगी भर उपसृष्ट रहती है और मौका मिलने पर स्वस्थ मनुष्यों पर रोग का संक्रमण करती रहती है। कुछ तज्ञों की यह राय है कि उपसृष्ट मक्षिका की प्रजा में भी उपसर्ग फैलता है।

प्रतिषेध—गंधक के धुएँ से फार्मेलिन या द्वि० द्वि० त्रि० के फुहारे से मक्खियों का नाश करना चाहिए। शरीर के अनावृत भागों पर उड़नशील उग्र गंध तेल की मालिश (पृष्ठ ४०५) करने से मक्खियाँ दूर हो जाती हैं। पक्की दिवालें, पक्की फर्श, रङ्ग सफेदी, दरवाजों और खिड़कियों पर रङ्ग वार्निश इत्यादि से भी इनका उपद्रव कम होता है। काला अजार के प्रतिषेध अनुसार स्थानादि का प्रबन्ध (पृष्ठ ४२०) करना चाहिए। निजी उपयोग के लिए मलमल की मशहरी का उपयोग करना जरूरी है, क्योंकि मक्खी बहुत छोटी होने के कारण मामूली मशहरी के छिद्रों से भीतर जा सकती है।

रिकेट्सीय रोग या तान्द्रिकज्वर

(Rickettsia diseases, Typhus fevers)

व्याख्या—रिकेट्सिया रोग औपसर्गिक ज्वर होते हैं जिनमें २-३ सप्ताह तक रहने वाला सन्तत या अर्ध विसर्गी स्वरूप का संताप रहता है, (किं ज्वर वर्ग को छोड़कर) त्वचा पर विस्फोट निकलते हैं, जिनमें महत्त्व के मानसिक

और नाडी संस्थान के लक्षण होते हैं तथा जिनमें रोगी के रक्त में नानारूप (Proteus) जीवाणुओं के प्रति प्रसमूहिक द्रव्य उत्पन्न हुआ करते हैं।

हैतुकी—इन रोगों के प्रधान हेतु रिकेट्सिया वर्ग के अनेक जीवाणु हैं। यह नामकरण रिकेट्स (Ricketts) के सम्मानार्थ किया गया है जिसने १९०९ में शैलपर्वतजज्वरी के रक्त में तथा उसके संवाहक किलनी (Tick) में सर्व प्रथम इनका पता लगाया। रिकेट्सिया की एक प्रजाति (Genera) बनायी गयी है जिसमें तृणाणु और विषाणु के बीच में जितने जीवाणु होते हैं (पृष्ठ ३४०) वे सब समाविष्ट किये गये हैं। ये बहुलाकारी (Pleomorphic), ग्रामत्यागी, दण्डाणुसम जीवाणु हैं। किं ज्वर के रिकेट्सिया को छोड़कर अन्य निस्यन्दनशील नहीं हैं। इनकी मोटाई ·३–·५ णु होती है। इसलिए ये सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देते हैं। जीम्सा से इनका रंजन अच्छा होता है। विषाणुओं के समान ये कोशान्तर्य (Intracellular) जीव होने के कारण जीवित प्राणिज धातु की उपस्थिति के बिना केवल कृत्रिम वर्धनक में इनका संवर्धन नहीं किया जा सकता है।

प्रसार और प्रकार—रिकेट्सिया कोशान्तर्य जीव होने के कारण प्राणियों के शरीरों के बाहर या धातु कोशाओं के बाहर नहीं मिलते। कुत्ता, खरगोश, मूषक, चूहा इत्यादि रदनिन (Rodents) वर्ग के प्राणी इनके सचयाधार (Reservoir) होते हैं जिनमें मनुष्य भी होता है। इन रदनिन जीवों से तथा मनुष्यों से अन्य मनुष्यों पर इनका सक्रमण कुटकी, किलनी, मक्ड़ी इत्यादि अष्टपाद (Arachnids) तथा षट्पाद (कीटक Hexapods) वर्ग के जीवों से हुआ करता है। और जिनके द्वारा सक्रमण होता है उनके अनुसार इनके निम्न प्रकार किये गये है। किं ज्वर इसके लिए अपवाद है अर्थात् उसका सवहन कीड़ों के द्वारा नहीं होता।

(१) यूकावह (Louse borne)—इस प्रकार के रोगों का संक्रमण जूँ के काटने से या जूँ के मल से हुआ करता है। इसमें युरुपियन तन्द्रिक या मरक तन्द्रिक और खातज्वर या खन्दक ज्वर (Trench fever) ये रोग समाविष्ट होते हैं।

(२) पिस्सूवह (Flea borne)—इसका सवहन पिस्सुओं से होता है इसमें केवल स्थानपदिक (Endemic) तन्द्रिक या मूषा (murine) तन्द्रिक आता है।

(३) किलनीवह (Tick borne)—इस प्रकार में क्लिनी के काटने से रोग का संवहन होता है। इस प्रकार का सवहन अमेरिका के कर्बुर ज्वर (Spotted

fever) में, किञ्वर में, दक्षिण आफ्रिका के तन्द्रिक में, मार्सैलीजज्वर में, ब्राझील के सावपोलो तन्द्रिक में, केनिया के किलनी दंशज ज्वरों में हुआ करता है।

(४) कुटकीवह (Mite borne)—कुटकी की इल्ली (Larva) के काटने से इसका संवहन होता है। इस प्रकार का संवहन त्सुत्सुगामूशी रोग में होता है।

जानपदिक और प्राणिपदिक में भेद—इनमें यूकावह जानपदिक स्वरूप का और शेष प्राणिपदिक स्वरूप के (पृष्ठ ३७५) होते हैं। रोग प्रसार की दृष्टि से दोनों का भेद महत्व का है। जानपदिक रोग केवल मनुष्यों में होते हैं और रुग्ण मनुष्यों से स्वस्थों पर फैल सकते हैं। प्राणिपदिक रोग मुख्यतया प्राणियों में होते हैं और प्राणियों से प्राणियों पर फैलते हैं। ये प्राणियों से मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं, रोगियों से मनुष्यों पर बहुत कम। इसलिए जानपदिक रोगों का प्रतिबन्धन तथा नियन्त्रण रोगियों के अलग्नकरण से तथा प्रसारक कीड़ों का रोगियों के साथ संबन्धविच्छेद करने से किया जा सकता है परन्तु प्राणिपदिक रोगों में नहीं हो सकता, क्योंकि उनके संचयाधार प्राणी होते हैं जिनमें जाने से मनुष्यों में वे रोग हो सकते हैं।

मरक तन्द्रिक

पर्याय—Epidemic typhus, विस्फोट तन्द्रिक, Typhus exanthematicus, शिविर या कारावास ज्वर Camp or jail fever, यूकावह तन्द्रिक Louse-borne typhus, युरूपियन तन्द्रिक, अकालज्वर Famine fever.

व्याख्या—यह एक तीव्र तथा घातक रिकेट्सिया का उपसर्ग है जिसमें सन्तत ज्वर, त्वचा पर विस्फोट, नाड़ीसंस्थान का प्रक्षोभ और अत्यधिक अवसन्नता होती है। ठीक होनेवाले रोगियों में १४ वें दिन यकायक ज्वरमोक्ष होता है।

हैतुकी—इस रोग का कारणभूत जीवाणु रिकेट्सिया प्रोवाझेकी (R. prowazeki) है।

(१) भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग संसार के सभी भूखंडों (Continants) में पाया जाता है। यूरूप में अधिक और विशेषतया होने के कारण इसको यूरूपियन तन्द्रिक भी कहते हैं। भारतवर्ष भर में यह न्यूनाधिक पाया जाता है। परन्तु सीमाप्रान्त, हिमालय के शिमला, गढ़वाल पहाड़ों पर, बम्बई, पूना, मद्रास, मैसूर इत्यादि प्रान्तों में पाया जाता है।

(२) जलवायु—शीत और समशीतोष्ण प्रदेशों का यह रोग है। वैसे ही

हेमन्त, शिशिर और वसन्त काल का है। इसलिए नवम्बर से मार्च तक यह रोग अधिक हुआ करता है।

(३) परिस्थिति—शिबिर, बन्दीगृह, अस्वच्छ अनारोग्यकर स्थान, मकान, महल्ले इत्यादि में रहनेवालों में दरिद्रियों में, अकाल में यह रोग अधिक हुआ करता है। इसलिए इसको उनके आधार पर विविध नाम (ऊपर पर्याय देखो) दिये गये हैं। आधुनिक सभ्य देशों में यह बहुत कम होता है। परन्तु युद्ध के समय निवासस्थानों तथा कपड़ों-लत्तों की स्वच्छता रखना असम्भव होने से यह रोग सैनिकों में अधिक हुआ करता है। अतीव जनसंबाधता (Over crowding), अत्यधिक परिश्रम, मद्य सेवन, डर ये भी सहायक कारण होते है जिनके युद्ध के समय उपस्थित रहने से रोगोत्पत्ति में सहायता होती है।

(४) अवस्था—यह रोग सब अवस्थाओं के स्त्री-पुरुषों में समानरूपेण होता है। केवल भेद इतना ही है कि बचपन में सौम्य और साध्य तथा बुढ़ापे में तीव्र और असाध्य होता है।

प्रसार और मरकविज्ञान—रिकेट्सिया जन्य रोगों के कारणभूत जीवाणुओं का संचयाधार मनुष्येतर प्राणी होते हैं। यह रोग इसके लिए अपवाद है। इसका सचयाधार मनुष्य होते है अर्थात् प्रकट रोगी तथा सौम्य रोग से पीडित मनुष्य होते है। स्वस्थ इसके वाहक हो सकते हैं या नहीं इसके सम्बन्ध में ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है।

रोगी या सौम्य रोगपीडित मनुष्यों से स्वस्थ मनुष्यों पर इसका संक्रमण शरीर पर रहनेवाली जूॅ के द्वारा होता है। यह जूॅ वस्तुतः शरीर पर न रह कर शरीर से सम्बन्ध रहनेवाले कपड़ों में रहा करती है। इसलिए इसको वस्त्रयूका (P. vestimenti) भी कहते हैं। इस रोग का प्रसार मुख्यतया वस्त्रयूका से होता है। शिरोयूका भी क्वचित् संवहन का कार्य कर सकती है। इसके अतिरिक्त चूहे के पिस्सू भी कभी-कभी रोग का सवहन करते हैं। परन्तु मुख्य संक्रमण यूका ही के द्वारा होने के कारण इसको यूकावह तन्द्रिक कहते हैं। जो मनुष्य वाहक होते हैं उनके बालों में तथा वस्त्रों में बहुत जूंएं होती है और ऐसे मनुष्यों और वस्त्रों के द्वारा सुदूर स्थानों में रोग का प्रसार हुआ करता है।

यह देखा गया है कि तन्द्रिक से पीडित मनुष्य को काटने पर सब जूंएँ उपसृष्ट नहीं होतीं, केवल आधी या उससे कुछ अधिक उपसृष्ट होती हैं। इसके लिए ५-७ दिन लग जाते हैं और उसके पश्चात् वे जीवन भर उपसृष्ट ही रहती हैं।

यद्यपि उसके अण्डे में रिकेट्सिया उपस्थित रहते हैं तथापि सन्तान में उपसर्ग नहीं होता।

जब किसी तन्द्रिक ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को जूँ काटती है तब रिकेट्सिया उसके मध्यान्त्र में जाकर वहाँ परिवर्धित होते हैं। वहाँ से वे मध्यान्त्र की अधिच्छदीय कोशाओं में प्रवेश करके वहाँ पर भी वृद्धि करते हैं। इसके लिए ५-७ दिन लग जाते हैं। इसके पश्चात् कोशाएँ विदीर्ण होकर उनके तथा आन्त्र के जीवाणु बहुत अधिक संख्या में उसके मल के साथ उत्सर्गित होने लगते हैं। इस प्रकार जूँ के मल में उत्सर्गित हुए जीवाणु त्वचा के व्रणों, खरोंचों में से या कभी-कभी आँख की कला में से शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। जूं के मल स्थित जीवाणु महीनों तक उपसर्गकारी रह सकते हैं और ऐसे मल के सूक्ष्म कण हवा के द्वारा फैलकर रोग का प्रसार कर सकते हैं। एक उपसृष्ट जूं के मल से दूसरी अनुपसृष्ट जूं बाहर से उपसृष्ट होकर रोग का प्रसार कर सकती है। जो जूं रक्त पीकर उपसृष्ट होती है वह साधारणतया १० दिन में मर जाती है।

यह रोग प्रायः महामारी या जानपदिक रूप धारण करता है। इसलिए इसको मरक तन्द्रिक नाम दिया गया है। संसार में इसके आज तक सौ से अधिक मरक उत्पन्न हो चुके हैं। ये मरक अधिकतर युद्ध के समय आया करते हैं। १९१९ के महायुद्ध के समय अकेले पोलैण्ड में इससे दो लक्ष के करीब और रशिया में ढाई करोड़ के करीब लोग पीड़ित हुए थे।

पिस्सू तन्द्रिक

पर्याय—Flea typhus, मूसा तन्द्रिक Murine typhus, स्थानपदिक तन्द्रिक Endemic typhus.

व्याख्या—यह एक संसारव्यापी सौम्य तन्द्रिकसम ज्वर है जो महामारी के रूप में नहीं होता। इसका संचयाधार चूहे तथा अन्य रदनिन जीव (Rodents) होते हैं और उनसे मनुष्यों पर इसका संक्रमण पिस्सुओं से होता है।

हेतु—इस रोग का हेतु मरक तन्द्रिक के रि० प्रोवाजेकी के समान रि० मुसेरी (R. mooseri) है।

प्रसार—रोग का संक्रमण जिस पिस्सू (पृष्ठ ४२२) से होता है उसी से इस ज्वर का भी संक्रमण होता है। इसके शरीर में भी जूं के समान

जीवाणुओं की विवृद्धि होती है। परन्तु यूकावह प्रकार के समान यह रोग मरक का रूप नहीं धारण करता। (१) इसका मुख्य कारण यह है कि जूं के शरीर में जीवाणुओं की जितनी अधिक वृद्धि होती है उतनी अधिक वृद्धि पिस्सू के शरीर मे नहीं होती। इसलिए उसकी विष्ठा उतनी उपसर्गकारी नहीं रहती। (२) दूसरा कारण यह है कि जूं के समान पिस्सू न मनुष्यों के शरीर पर रहता है न शरीर के पास आता है क्योंकि प्लेग से पीड़ित चूहे के समान तन्द्रिक से पीड़ित चूहा नहीं मरता जिससे उसको छोड़ने की आवश्यकता पिस्सू को नहीं मालूम होती। (३) तीसरा कारण यह है कि यह रोग ग्रीष्म ऋतु में होता है, शीत काल में नहीं होता। गर्मियों में मनुष्य एक दूसरे से दूर दूर रहा करते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग, अमेरिका, मेक्सिको, मलाया, टूलोन, मास्को, कांगो इत्यादि स्थानों में पाया जाता है। भारतवर्ष में इसका प्रविभाग ठीक मालूम नहीं परन्तु प्लेग प्रसारक पिस्सू इसका भी प्रसारक होने के कारण प्लेग के अनुसार इसका भी प्रविभाग हो सकता है।

किलनी तन्द्रिक (Tick Typhus)

पर्य्याय—Rocky mountain spotted fever, शैलपर्वत कर्बुरित ज्वर।

व्याख्या—यह एक महामारी के स्वरूप में न फैलनेवाला तीव्र और तन्द्रिकसम ज्वर है जिसमें संचयाधार रदनिन जीव होते हैं, रोग का संक्रमण उनकी विविध जातियों की किलनी से होता है।

हेतु—इस रोग का कारण रिकेट्सिया रिकेट्सी नामक जीवाणु है।

प्रसार—यह रोग मुख्यतया जंगली रदनिन जीवों का है और उनमें किलनी की इल्लियों से एक दूसरों पर फैलता है। मनुष्यों पर इसका संवहन उपसृष्ट प्राणी से प्रौढ़ किलनी द्वारा हुआ करता है, इल्ली (Larva) द्वारा नहीं। उपसर्ग उत्पन्न होने के लिए किलनी का मनुष्य शरीर पर आधे से कई घण्टों तक चिपककर रहना आवश्यक होता है और रोग की तीव्रता किलनी चिपकने की कालावधि पर निर्भर होती है।

किलनी—इसके भी शरीर में जीवाणुओं की वृद्धि होती है; परन्तु वह बहुत ही विस्तृत होती है यहाँ तक कि शरीर के सभी धातुओं में, उनकी बीज ग्रन्थियों (Ovary) में भी वे प्रविष्ट होते हैं। इसलिए केवल रक्त चूसनेवाली किलनी उपसृष्ट नहीं होती उसकी प्रजा भी उपसृष्ट रहती है। दूसरी विशेषता यह होती

है कि जीवाणु लालाग्रन्थियों में पहुँच जाने के कारण उनके दंश से भी रोग का संक्रमण होता है। पिस्सू के समान किलनी भी उपसृष्ट होने पर नहीं मरती।

कुटकी तन्द्रिक (Mite typhus)

पर्याय—Tsutsugamushi disease, त्सुत्सुगामूशी रोग, खरक तन्द्रिक, Scrub typhus, खरक उष्णकटिबन्धज Scrub tropical, तन्द्रिक, कूट-तन्द्रिक Pseudo-typhus

व्याख्या—रिकेट्सिया से उत्पन्न होनेवाला यह एक तीव्र रोग है जिसमें २-३ सप्ताह का ज्वर, स्थानिक प्राथमिक व्रण तथा तत्स्थान सम्बन्धित लसग्रंथि शोथ, सार्वदैहिक विस्फोट तथा लसग्रन्थिशोथ, कर्णबाधिर्य और फुफ्फुस में अधस्तल रक्ताधिक्य इत्यादि लक्षण होते हैं।

हेतु—यह रोग चीन, जापान, मलाया, सुमात्रा, भारत इत्यादि पूर्वीय देशों में अधिक होने के कारण इसके कारणभूत रिकेट्सिया को पूर्वीय (Orientalis) नाम दिया है। उष्ण कटिबन्ध में होने से इसको उष्णकटिबन्धज तन्द्रिक (ऊपर पर्याय देखो) भी कहते हैं। भारतवर्ष में यह रोग मद्रास, बम्बई, शिमला पहाड़, आसाम, पंजाब, बंगाल इत्यादि स्थानों में पाया जाता है। इस रोग का कोई विशेष काल नहीं होता। फिर भी नम और तर प्रदेशों में, नदियों के समीपवर्ती स्थानों में जब भूमि पर घास-फूस तथा उद्भिज्जजात (Vegetations) अधिक रहता है तब अधिक होता है।

प्रसार—इस रोग का प्रसार कुटकी (Trombicula deliensis) की इल्लियों (Larva) द्वारा होता है। कुटकियाँ अण्डा, इल्ली, शिशुक और प्रौढ (Adult) करके (पृष्ठ ४०३) मच्छरों के समान चार अवस्थाओं में रूपान्तरित होती हैं। शिशुक और प्रौढ वानस्पतिक रसों पर अपना निर्वाह करते हैं। अतः इनके द्वारा रोग का प्रसार नहीं होता। इल्लियों को शिशुक की स्थिति (Nymph) में रूपान्तरित होने के लिए प्राणीधातुरस की आवश्यकता होती है जिसके लिए इल्लियाँ, चूहा, मूषा, गिलहरी इत्यादि रदनिन् (Rodents) गण के प्राणियों को विशेषतया चूहों को काटती हैं। संक्षेप में ये इल्लियाँ चूहों की पराश्रयी होती हैं। परन्तु ये कभी-कभी संयोगवश मनुष्यों को भी काट लिया करती हैं। अतः इल्लियों द्वारा मनुष्यों पर रोग का संक्रमण होता है। चूहा और मूषा इस रोग के रिकेट्सिया के संचयाधार होते हैं। कुटकियों की इल्लियाँ इनके कान के भीतर

पायी जाती हैं। इस प्रकार धातुरस प्राप्त होने पर इल्लियाँ चूहों को छोड़कर जमीन पर गिरती हैं और समयानुसार बच्चे और प्रौढ़ कुटकियों में परिवर्तित होती हैं। प्रौढ़ कुटकी जमीन के भीतर कुछ इंच की गहराई में रहकर अण्डे देती है। ये अण्डे इल्लियों में परिवर्तित होते है जिन्हें प्राणिज रसों की आवश्यकता होती है। अतः ये इल्लियाँ घास फूस पर, जमीन पर, लकडी के लट्ठों (Logs) पर मनुष्यों या प्राणियों के ताक पर रहती हैं। यदि मनुष्य ऐसे स्थान में चला जाय, लेटे या लट्ठों पर बैठे तो ये इल्लियाँ उस पर चिपक जाती है। कुटकियों में इस रोग का उपसर्ग सन्तानवाही (Inherited) होता है। अतः संचयाधार प्राणियों से उपसृष्ट इल्लियों के या उन इल्लियों से रूपान्तरित हुए प्रौढ़ों से उत्पन्न हुई इल्लियों के काटने से मनुष्यों पर रोग का सक्रमण होता है। इस प्रकार उपसृष्ट कीडे से उत्पन्न होनेवाले अण्डों में जब उपसर्ग संक्रान्त होता है तब उसको पाराण्ड सक्रमण (Trans ovarian transmission) कहते हैं।

प्रतिबन्धन—यूका तन्द्रिक का प्रतिबन्धन यूकावह परिवर्तित ज्वर के समान करना चाहिये। किलनी तन्द्रिक के प्रतिबन्धन के लिए किलनी उपजुष्ट स्थानों का त्याग, यदि ऐसे स्थानों में रहने का या निवास करने का अवसर आ जाय तो शरीर पर कहीं किलनी चिपटी तो नहीं है इसको बार-बार देखना और यदि चिपट गयी हो तो उसको मिट्टी के तेल से छुड़ाना, शरीर पर डायमेथिल-थ्यालेट (पृष्ठ ४०५) से निषिक्त (Impregnated) मजबूत वस्त्रों को पहनना, कुत्ता या अन्य प्राणियों के शरीर से हाथों द्वारा किलनियों को न निकालना, घरों में उनका नाश करना (पृष्ठ ४२३) इत्यादि उपायों का अवलंबन करना चाहिए।

पिस्सू तन्द्रिक का प्रतिबन्धन प्लेग के समान करना चाहिए। कुटकी तन्द्रिक का प्रतिबन्धन किलनी तन्द्रिक के समान होता है। ये कीड़े घास, फूस, झाडी इनसे युक्त स्थानों में होते है। अतः ऐसे स्थानों का घास फूस काट कर और उस स्थान पर ज्वलनशील तेल डालकर जला देना चाहिए।

निद्रारोग, सुषुप्तिरोग

(Sleeping Sickness)

व्याख्या—यह एक दीर्घकालानुबन्धी विकार है जिसमें ज्वर, दुर्बलता, क्षीणता, निद्रालस्य इत्यादि लक्षण होते हैं।

हेतु—इसका कारण तर्कांकार कीटाणु (तर्कुटीतनु Trypanosoma) हैं जो

रोगी के रक्त में, लसग्रन्थियों में और अन्त में मस्तिष्क सुषुम्ना जल में पाया जाता है। इस कारण से इसको तर्कुटीतनुरुग्णता (Trypanosomiasis) भी कहते हैं।

संक्रमण—इस रोग का सक्रमण अफ्रिका में पायी जानेवाली कालमक्षिका (Tse Tse fly) या कर्तरी मक्षिका (Glossina) की अनेक जातियों (G. Palpalis, G. Tachinoides, G Morsitans, G. swynnertoni) से होता है। जब यह मक्खी बैठती है तब उसके पख कैंची के समान पीठ पर एक दूसरे के ऊपर चढ़े हुए और उदर मर्यादा से अधिक नीचे की ओर फैले हुए रहते हैं।

यह मक्खी अन्य मक्खियों के समान अण्डे नहीं देती परन्तु इसके अण्डाशय में अण्डे इल्लियों में रूपान्तरित हो जाते है। मक्खी इन इल्लियों को छोटे-मोटे पेड़ों की जड़ों के पास सड़नेवाले घासफूस में छोड़ती है जो मक्खी में रूपान्तरित होते है।

ये मक्खियाँ उष्ण कटिबन्ध (Tropical) अफ्रिका में नदी-नद-जलाशयों के समीपवर्ति प्रदेशों में और पहाड़ों के नीचे तथा अरब समुद्र के किनारों पर मर्यादित हैं और जहाँ पर ये होती हैं वहाँ पर निद्रारोग भी मर्यादित है।

यह मक्खी भयानक रक्तशोपक है जो मनुष्य तथा बैल, बकरी, भेड़, हरिन, सूअर इत्यादि पालतू तथा वन्य प्राणियों को काटती है। इसका दंश बहुत दुःखकर होता है। यह केवल दिन में काटती है और नर तथा मादा दोनों रक्तशोपक होते है।

इस रोग के कीटाणुओं के संचयाधार रोगी तथा अन्य प्राणि होते हैं। इनको काटने पर मक्खी उपसृष्ट होकर स्वस्थ मनुष्यों पर रोग का सक्रमण जीवन भर कर सकती है। यह सक्रमण दो प्रकार से हो सकता है—

(१) रूपान्तरण के पश्चात—रोगी को काटने के पश्चात् कीटाणु मक्खी के आन्त्र में जाकर रूपान्तरित होकर संख्यावृद्धि करते हैं और लालाग्रन्थियों में आकर रहते हैं। इसके लिए २०-३० दिन की अवधि लगती है। उसके पश्चात् जब यह मक्षिका किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटती है तो अपने दंश से उसको उपसृष्ट करती है उसके पहले नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि रोगी को काटने के २०-३० दिन के बीच में मक्खी उपसृष्ट होती है, उसके पहले वह रोग का सक्रमण नहीं कर सकती।

(२) सीधा संक्रमण—कुछ अन्वेषकों का यह कहना है कि यह मक्खी रोगी को काट कर सीधे दूसरे व्यक्ति पर रोग का सक्रमण कर सकती है।

संक्रमण चाहे जिस प्रकार से हो नर और मादा दोनों रोग का प्रसार करते है।

प्रतिबन्धन—(१) स्थानत्याग—मक्षिकोपजुष्ट प्रदेशों से बस्तियों को हटाना।

(२) निरोधन—मक्षिकोपजुष्ट प्रदेशों से बाहर जानेवालों के ऊपर निरोधन लगाना।

(३) कीटाणुनाशन—रोगियों को अलग करके उनके शरीरगत जीवाणुओं का नाश सुरामिन, ट्रिपार्सामिड इत्यादि औषधियों द्वारा करना।

(४) मक्खियों से रक्षा—ये मक्खियाँ दिन में काटती हैं तथा काले कपड़े पसंद करती हैं। इसलिए मक्षिकोपजुष्ट प्रदेश में रात में प्रवास करना और सफेद कपडे पहनना चाहिए।

(५) क्षमता वृद्धि—कुछ लोगों ने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया है कि २० ग्रेन सुरामिन (Suramin) सेवन करने से तीन मास से अधिक काल तक शरीर निद्रारोग के उपसर्ग के लिए क्षम हो जाते है।

पशुजन्य रोग

जलसंत्रास

पर्याय नाम—जलत्रास[1], अलर्क विष रोग, कुत्ते की हडक (Hydrofobia Rabies)

---

१. जल सत्रास और हैड्रोफोबिया दोनों का योगार्थ एक है। रेबीज शब्द यद्यपि हैड्रोफोबिया का पर्याय करके प्रयुक्त होता है तथापि वास्तव में यह पर्याय नहीं है। रेबीज का मतलब कुत्तों का उन्माद है। इसको संस्कृत में अलर्क रोग कहते हैं। कुत्ते मे इस रोग से उन्माद अधिक होता है और पेशियों के आक्षेप कम होते हैं। मनुष्यों में उसी रोग से उन्माद कम और आक्षेप अधिक होते हैं। इन आक्षेपों का परिणाम जलसत्रास में होता है। अर्थात जलसत्रास का लक्षण कुत्तों में नही होता, इसलिये कुत्तों के रोग के लिए जलसन्त्रास शब्द प्रयुक्त न करना चाहिये। जलसन्त्रास जिससे मनुष्यों में उत्पन्न होता है उसको 'अलर्कविष या आलर्कविष' कहते हैं—एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाका-दालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसृतम्॥ उत्तररामचरितम्॥

व्याख्या—कुत्ता तथा तज्जातीय पशुओं का यह एक तीव्र औपसर्गिक रोग है जो उसी से पीड़ित पशुओं के काटने से मनुष्यों में संक्रान्त होता है।

हेतु—इस रोग का कारण कोई सूक्ष्मदर्शकातीत विषाणु है। यह विषाणु रोगी के मस्तिष्क में और लालाग्रंथियों में होता है। अतएव इसका उत्सर्ग लाला में होता है। यह रोग अधिकतर कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, लोमड़ी, बिल्ली, सियार, बकरी, सूअर इत्यादि प्राणियों में होता है। इससे मृत प्राणियों के मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार के पिण्ड मिलते हैं जो नेगरी पिण्ड (Negri body) कहलाते हैं। ये गोल या दीर्घवृत्त आकार के, २–१० णु मोटाई के अन्तर्पिण्ड होते हैं जो मस्तिष्क के उपधानिका (हिपोक्यांपस मेजर) की बृहत कोषाओं में तथा लघुमस्तिष्क की पर्किंजी कोषाओं की न्यष्टियों के या अक्ष तन्तुमूल (Root of the axis cylinders)[१] के पास मिलते हैं।

संक्रमण—यह रोग पागल कुत्ता[१], गीदड़, भेड़िया विशेषतया कुत्ते के काटने से मनुष्य को होता है। इनके अतिरिक्त शेर, चीता, लकड़बग्घा, बंदर, न्योला, बिल्ली, ऊँट, घोड़ा, खच्चर, गाय, बैल इनके काटने से भी हो सकता है। पागल कुत्ते के काटने की अपेक्षा पागल गीदड़ या भेड़िये के काटने से इसके होने का प्रमाण दुगुना अधिक होता है। जब कुत्ता पागल बनता है तब वह बिना कारण भौंकता है, दूसरे कुत्तों पर या मनुष्यों पर हमला करता है, बहुत दूर तक इधर उधर दौड़ता है और घास, लकड़ी, कोयला पत्थर इत्यादि अनाहार्य चीजों को भी खाता है। रोग के प्रारम्भ से १० दिन में उसका मृत्यु होता है। पागल कुत्ते के मुँह से लार अधिक टपकती है। इस लार में रोग का विष होता है। काटने पर मुख की लाला दंश के छेदों में गिरती है। यदि किसी स्थान की त्वचा छिल गयी हो तो ऐसे स्थान में पागल कुत्ते के चाटने से भी रोग हो सकता है। जलसंत्रास पीड़ित मनुष्य के लाला में रोग का विष कुत्ते की लाला के प्रमाण में अत्यल्प होता है, तथापि क्वचित् ऐसे मनुष्य के काटने से मनुष्य को रोग हो

त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वापि वा जलम् ।
जलत्रासं तु तं विद्यात् ॥ सुश्रुत ॥

१. शृगालकुक्कुरवृकव्याघ्रादीनां यदानिलः ।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान् ।
अत्यर्थं बधिरोऽन्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥ सुश्रुत ॥

सकता है। इस तरह पागल कुत्ते के काटने से, सव्रण स्थान को पागल कुत्ते के चाटने से और जलसंत्रास पीड़ित मनुष्य के काटने से यह रोग मनुष्यों को होता है। इन तीन मार्गों में प्रथम मार्ग मुख्य और आम है और शेष मार्ग गौण हैं।

संचयकाल—पागल जानवर के काटने पर साधारणतया एक-दो मास में रोग प्रादुर्भूत होता है। यह काल दंशों की संख्या, दंश का स्थान और गहराई, दंशस्थान पर वस्त्र का होना या न होना इत्यादि अनेक बातों पर न्यूनाधिक (पन्द्रह दिन से तीन वर्ष तक) हुआ करता है।

पागल कुत्ते में रोग निदान—रोग प्रतिषेध की दृष्टि से कुत्ते में रोग निदान करना बहुत आवश्यक है। यह निदान निम्न चार मार्गों से किया जाता है। इसलिए यदि कोई जानवर काटे तो उसको पकड़ कर बाँध रक्खो, जान से मत मारो।

(१) कुत्ते को ऐसे स्थान में बाँधकर रक्खो कि वह और किसी को न काटने पावे। यदि वह वास्तविक पागल हुआ होगा तो उसके लक्षणों से पता चल जायगा तथा आम तौर से दस दिन के अन्दर अवश्य मर जायगा। यदि इस समय में वह नहीं मरा तो वह पागल नहीं है।

(२) पागल कुत्ते मरने पर उसके आमाशय में घास, लकड़ी के कोयला, पत्थर इत्यादि अनाहार्य पदार्थ मिलते हैं।

(३) मृत के मस्तिष्क में नेगरी पिण्डों की उपस्थिति। जो कुत्ता आपसे आप पागलपन से मरता है उसके मस्तिष्क में ये पिंड भली-भाँति दिखाई देते हैं। अतः काटने पर कुत्ते को मारना उचित नहीं है क्वचित् इन पिंडों की अनुपस्थिति भी होती है। अनुपस्थिति निदाननिषेधक नहीं होती, परन्तु उपस्थिति निदानकर होती है।

(४) पागल कुत्ते के मस्तिष्क का नमक जल में बनाया हुआ घोल खरगोश के मस्तिष्क में प्रवेश करने पर उसमें २-३ सप्ताह में रोग उत्पन्न होता है। इस विधि में निदान के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। इसलिए चिकित्सा के पूर्व निदान के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

प्रतिषेध—रोग का कोई इलाज[1] नहीं, परन्तु कुत्ते के या जानवर के काटने पर निम्न इलाज करने से रोग का प्रतिषेध होता है।

---

१. कुप्येत् स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः ॥ सुश्रुत ॥

(१) स्थानिक चिकित्सा—[1]दंश स्थान से रक्त निकलवाकर पश्चात् साबुन के पानी से या रसकर्पूर के (१: १०००) घोल से दंशस्थान को साफ धो डालो और अन्त में भूयिक (नैट्रिक) या प्रांगविक (कार्बोलिक) अम्ल से या तप्त लोहे से जलवाओ। दंश के पश्चात् पाँच मिनट के भीतर यह चिकित्सा करने से विष प्रायः नष्ट होकर रोग नहीं होता; आधे घंटे के भीतर करने से कुछ लोगों में रोग नहीं होता और इससे अधिक देरी करने से केवल रोग का संचयकाल बढ़ता है, रोग की उत्पत्ति नहीं रुक सकती। परन्तु संचयकाल बढ़ना भी कम उपकारक नहीं है। इसलिए कुत्ता पागल हो या न हो स्थानिक चिकित्सा तुरन्त करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके काटनेवाले कुत्ते को पकड़वाकर बाँधकर रखना चाहिए और उसको देखते रहना चाहिए। पागल कुत्ता आमतौर से दस दिन में मर जाता है। यदि इस अवधि में मर गया हो तो उसको पागल समझ कर प्रतिषेधक टीका लगवाना चाहिए। यदि इस अवधि में नहीं मरा तो प्रत्यालर्क टीका लगवाने की आवश्यकता नहीं।

प्रत्यालर्क मसूरी (Antirabic Vaccine)—विशेष पद्धति से बनायी हुई मसूरी की १४–२१ सुई प्रतिदिन एक के हिसाब से त्वचा में दी जाती है। इस टीका से उत्पन्न हुई क्षमता वर्ष सवा वर्ष तक टिकती है। प्रारम्भ में इसका टीका हिमालय में कसौली पर और नीलगिरि में कुनूर पर में लगाया जाता था। आज भी गहरे जखम के तथा मस्तिष्क समीपवर्ति जखम के लिए वहाँ पर जाना ही अच्छा है। वहाँ की आबहवा अच्छी होने के कारण अधिक फायदा होता है। हलकी जखम के लिए तथा शाखाओं की जखम के लिए आजकल बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ इत्यादि बड़े शहरों के सरकारी अस्पतालों में टीका का प्रबन्ध सरकार की ओर से किया गया है। गरीबों को वहाँ तक जाने के लिए सरकार आगगाड़ी का किराया देती है और नौकरों को छुट्टी का प्रबन्ध होता है।

टीका लगवाने के दिनों में तथा उसके पश्चात् दस दिन तक मद्य सेवन, अधिक व्यायाम, खेल-कूद इत्यादि थकावट उत्पन्न करनेवाले व्यवसाय न करने चाहिएँ।

परम क्षम लसिका (Hyper immune serum)—अत्यधिक पागल श्वा-शृगाल-दष्ट व्यक्तियों में रोग प्रतिबन्धन में स्थानिक चिकित्सा और टीका से भी अनेक

---

१. विस्राव्य दंशं संदष्टे सर्पिषा परिदाहितम् ॥ सुश्रुत ॥

विस्राव्य निष्पीडनेन स्रावयित्वा दंशजभूतस्य विषस्य नाशनार्थं, सर्पिषा दाहस्तु स्फोटनाशनार्थम् ॥ डल्हण ॥

बार सफलता नहीं मिलती। उनमें उनके साथ-साथ परमक्षमलसिका का भी प्रयोग किया जाने लगा है। इससे रोग प्रतिबन्धन में ही अधिक सफलता नहीं, टीका का औषधिक्रम काल भी छोटा कर सकते हैं।

(२) कुत्तों का नियन्त्रण—यह कार्य निम्न उपायों से होता है (अ) लावारिस कुत्तों को पकड़वाकर उनका नाश करना (आ) जो व्यक्ति कुत्ता पाले उनके ऊपर कर लगाना तथा पालतू कुत्तों के गले में नम्बर का पट्टा और मुख पर जालीदार बन्धन (Muzzling) लगाने के लिए उसको बाध्य करना। (इ) पालतू कुत्तों को समय-समय पर प्रत्यालर्क मसूरी का टीका लगाकर अलर्कक्षम बनाना। (ई) पालतू कुत्तों में रोग उत्पन्न होने पर उसकी सूचना देने के लिए तथा उसके काटने से होनेवाले नुकसान के लिए कुत्तों के मालिकों को जिम्मेदार रखना।

(उ) बाहर से आनेवाले कुत्तों को छः महीनों तक निरोधन में रखना।

अंगारक्षत

(Anthrax)

पर्याय—ऊर्णाव्यवसायी रोग, प्राणियों का प्लैहिक ज्वर।

हेतु और विकारकारिता—यह रोग प्लीहज्वर दण्डाणु (B. Anthrasis) का उपसर्ग होता है। वास्तव में यह तृणाहारी प्राणियों का रोग है जो गौ, बैल, बकरी, भेड़ इत्यादि प्राणियों में अधिक हुआ करता है। पक्षी, कुत्ते, बिल्ली, मांसाहारी तथा शीतरक्त के प्राणी इसके लिए क्षम या अग्रहणशील होते हैं। इससे पीड़ित प्राणियों की प्लीहा, रक्त, नासास्राव इत्यादि में इसके दण्डाणु रहते हैं। ये क्षुल्लकोद्वह (Sporebearing) दण्डाणु हैं। परन्तु प्राणियों के शरीर में क्षुल्लक नहीं बनते, शरीर के बाहर आते ही क्षुल्लकोत्पत्ति प्रारम्भ होती है। ये क्षुल्लक साटोपित (Encapsulated) होते हैं और ताप, उपसर्गनाशक इत्यादि से जल्दी नष्ट नहीं होते। इनके लिए फार्मेलिन उत्तम उपसर्ग नाशक है।

संक्रमण और प्रवेश मार्ग—जो प्राणि इससे मरते हैं उनके ऊन, बाल, खाल इत्यादि में इसके दण्डाणु या क्षुल्लक उपस्थित रहते हैं। इसलिए ऊन, बाल, खाल इत्यादि के व्यवसाय में काम करनेवालों में या इनसे सम्बन्ध रखनेवालों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संसर्ग से यह रोग होता है। शरीर में प्रवेश करने के मार्गों के अनुसार इसके तीन प्रकार होते हैं।

(१) मारात्मक फोड़ा—(Malignant pustule)—इसमें त्वचा के व्रण, क्षत, खरोंच, दरार इत्यादि के द्वारा दण्डाणु शरीर में प्रवेश करते हैं और प्रवेश स्थान में २४ घण्टे में भयानक फोड़ा उत्पन्न होकर ५-६ दिन में मृत्यु हो जाता है। यह प्रकार अधिकतर कसाइयों में, चमड़ा कमानेवालों में, पशु चिकित्सकों में और गड़रियों में दिखाई देता है। भद्र लोगों में हजामत के और दाँतों के ब्रुश से यह रोग क्वचित् उत्पन्न होता है।

(२) ऊर्णाव्यावसायिक रोग—(Wool-sorter's disease)—इसको फौफ्फुसिक अंगारक्षत कहते हैं। ऊन और बालों के व्यवसाय में काम करनेवालों में यह प्रकार होता है। इसमें ऊन और बालों में उपस्थित होनेवाले दण्डाणु या उनके क्षुल्लक हवा द्वारा फुफ्फुस में पहुँच कर एकाध दिन में फुफ्फुसपाक के लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाता है।

(३) आन्त्रिक अंगारक्षत—रोगग्रस्त पशुओं का मांस या दूध (पृष्ठ १०२) दण्डाणुओं से या क्षुल्लकों से दूषित रहता है और उनके सेवन से यह प्रकार हो सकता है। पशुओं में रोग उत्पन्न होने का यही मार्ग है, मनुष्यों में उतना महत्त्व का नहीं है क्योंकि आमाशयिक अम्ल से दण्डाणु प्रायः मर जाते हैं। परन्तु यदि क्षुल्लकोद्गह दण्डाणु हों तो आन्त्रिक प्रकार होता है।

प्रतिबन्धन—जो प्राणि इससे मर गये हों उनके अधोर्ध्व द्वार उपसर्ग नाशक घोल में भिगोये हुए कपड़े से बन्द करके भूमि में ६ फूट से अधिक गहराई में चारों ओर चूना डालकर गाड़ना चाहिए। गाड़ने की भूमि निवासस्थान से, कूप जलाशय से तथा जानवरों के चरने के स्थान से दूर होनी चाहिए। उसका चमड़ा न निकालना चाहिए। यदि काफी इन्धन हो तो उसको जला देना ही उचित है। प्राणियों में प्रतिबन्ध के लिए टीका का उपयोग किया जा सकता है जिससे उनमें एक वर्ष तक क्षमता रहती है।

चमड़े के और ऊन के कामगारों में रोग प्रतिबन्धन की दृष्टि से निम्न उपायों को काम में लाना चाहिए।

(१) चमड़े के या ऊन के व्यवसाय में काम करने वालों को काम के समय अंगरखों का उपयोग शरीर पर करना चाहिए। हाथों में यदि व्रण हो तो काम न करना चाहिए और काम के समय हाथमोजों का उपयोग करना चाहिए तथा काम समाप्त होने पर उनका विशोधन करना चाहिए। चमड़ों को कन्धों पर न उठाना चाहिए।

(२) सब चमड़े गोनियों में भरकर प्रथम अधितप्त वाष्प से विशोधित करने के पश्चात् १%वन्त्रिक (Formic) अम्ल और $\frac{६}{१०}$%रसकपूर के घोल में २४ घण्टे डुबोकर रखने चाहिएँ। इसके पश्चात् उनको काम के लिए बाहर निकालना चाहिए। सूखे चमड़े की अपेक्षा गीला चमड़ा काम के लिए व्यवहार में लाना हितकर होता है।

(३) चमड़े का काम जहाँ पर होता है वह स्थान पक्की फर्श का हो तथा प्रतिदिन काम समाप्त होने पर उपसर्गनाशक घोल से उसको अच्छी तरह धोया जाय। इसके अतिरिक्त काम के समय भूमि में शून्यक प्रवीजन (Exhaust fans) पंखे लगाये जायँ जिससे चमड़ों से निकली हुई धूलि तथा तद्गत रोगाणु हवा में न आकर वहीं के वहीं एक संघनक पात्र (Condenser) में इकट्ठे हो जायँ और प्रतिदिन जलाये जायँ।

(४) हजामत के कूर्च (ब्रुस) ११५° फै० ताप पर १०%फार्मेलिन के घोल में ४ घण्टे रखने से और अच्छी तरह हिलाने से विशोधित होते हैं। कूर्च सदैव विश्वसनीय कम्पनी का ही खरीदना चाहिए।

खुरपका

(Foot and Mouth disease)

पर्याय— प्राणिपदिक प्रसेक (Epizootic Catarrh) मरक मुखपाक (Epidemic Stomatitis)

व्याख्या—यह एक विषाणुजन्य सांसर्गिक रोग है जिसमें मन्द ज्वर, जिह्वा मुखपाक और कचित् हाथों पर फुन्सियाँ इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

हेतु और संक्रमण—गौ; बैल, भेड़, सूअर इत्यादि प्राणियों का यह रोग है। इसमें उनमें मुखपाक और खुरों के पास तथा थनों पर व्रण उत्पन्न होते हैं। रोग का कारण विषाणु है जो जानवरों के मुख और व्रणस्राव में रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे जानवरों के दूध में भी (पृष्ठ १०३) निकलते हैं।

मनुष्यों में यह रोग उपसृष्ट गो के दूध को बिना उबाले सेवन करने से या व्रणों में विषाणुओं का प्रत्यक्ष प्रवेश जानवरों का मुखस्राव या थनों के व्रणों का स्राव लगने से हुआ करता है। यह रोग इसलिए अधिकतर बच्चों में, दूध दोहने वालों में, ग्वालों में दिखाई देता है। यह रोग ऐकपदिक स्वरूप का होता है। कभी-

कभी यह रोग गौ मसूरिका के साथ भी रहता है। इसलिए मसूरीकरण लस (Vaccination lymph) में इसका उपसर्ग उपस्थित रहता है।

प्रतिबन्धन—खुरपका रोग से पीड़ित पशुओं को अलग रखना तथा जो इससे मर जाते हैं उनको अंगारक्षत से मरे हुए पशुओं के समान (पृष्ठ ४४८) गाड़ना या जलाना।

दूध सदैव उबाल कर पीना या पिलाना।

सरा या कनार
(Glanders)

हेतु और संक्रमण—बै. मलाई (B mallei) के उपसर्ग से होने वाला यह रोग है जिसमें प्रायः नासा में फोड़े उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी त्वचा में भी गाँठें और व्रण उत्पन्न होते हैं और विषमयता से मृत्यु होता है। यह रोग मुख्यतया घोड़ा, खच्चर, गधा तथा अन्य शृंगहीन प्राणियों का रोग है। सींग के प्राणी इसके लिए अग्रहणशील होते हैं, परन्तु कभी-कभी बकरी में यह रोग दिखाई देता है। मनुष्यों में यह रोग क्वचित् दिखाई देता है और वह भी साईस, अश्वपाल, घोड़ागाड़ी चलानेवाले, गधों को रखने वाले इनमें प्रायः हुआ करता है। उपसर्ग प्रायः त्वचा के व्रणों में दूषित स्राव के द्वारा प्रविष्ट हुए रोगाणुओं से होता है। मनुष्यों में इसका प्रारम्भ हाथों में गाँठों की उत्पत्ति से होता है।

प्रतिबन्धन—सरा से पीड़ित प्राणियों का नाश करके उनको जला देना चाहिए या गाड़ देना चाहिए। उनके साथ रहनेवाले प्राणियों को अलग करके रखना चाहिए और तीन सप्ताह के पश्चात् मालीन कसौटी से उनकी परीक्षा करनी चाहिए। यदि अनुपस्थिटी मालूम हो तो उनको रखना चाहिए। जिस अस्तबल में घोड़े बीमार हो गये हैं उसको उपसर्गनाशक घोल से साफ करना चाहिए। इससे पीड़ित घोड़ों या जानवरों के साथ व्यवहार करने में हाथों में रबड़ के मोजे पहनना चाहिए और काम समाप्त होने पर उनको तथा हाथों को उपसर्गनाशक घोल से साफ करना चाहिए। नासा स्राव दूषित चीजों को जलावें।

माल्टाज्वर या लहरीज्वर
(Malta fever)

व्याख्या—अनेक दण्डाणुओं के उपसर्ग से होनेवाला यह औपसर्गिक रोग है जिसमें लहरीज्वर, प्लीहावृद्धि रक्तक्षय, संधिशोथ, नाडीशूल इत्यादि लक्षण होते हैं।

हेतु—यह रोग अजाज्वर द० (B. melitensis), अपरअजाज्वर दण्डाणु (बै० पैरा-मेलिटेन्सिस) और गर्भपाती द० (बै० एबोर्टस) के उपसर्ग से होता है। इसमें प्रथम दो बकरी के शरीर में रहते हैं और उसके दूध में निकलते हैं। तीसरा गौ और सूअर में रहता है और उसके दूध में निकलता (पृष्ठ १०३) है।

भौ० प्रविभाग—अजाज्वर दण्डाणु से होनेवाला रोग भू-मध्य समुद्र के आस-पास स्थानपदिक होता है, विशेषतया माल्टाद्वीप में। अतः उसको भू-मध्य-समुद्र-ज्वर या माल्टा-ज्वर कहते हैं। इसका अस्तित्व इटली, स्पेन, फ्रांस इत्यादि यूरोप के अनेक देशों में, अफ्रिका, अमेरिका, चीन, डच इस्ट इंडीज इत्यादि देशों में सिद्ध हुआ है। गर्भपात दण्डाणु से होनेवाला रोग अजाज्वर दण्डाणु से होनेवाले रोग की अपेक्षा अधिक व्यापक है। भारतवर्ष में यह रोग पंजाब, आसाम, बम्बई, काठियावाड़ इत्यादि अनेक स्थानों में एकैकशः पाया जाता है।

उपसर्ग स्थान और संक्रमण—ब्रुसेल्लागण के दण्डाणुओं का संचयाधार मनुष्य नहीं; बकरी, भैंस, गाय इत्यादि प्राणी हैं। इनका नैसर्गिक आकर्षण इन प्राणियों की स्त्री जननेन्द्रियों की ओर होता है। वहाँ पर ये शोथ के द्वारा गर्भस्राव या गर्भपात उत्पन्न करते हैं। जब उनमें नैसर्गिक या अर्जित क्षमता उत्पन्न होती है तब ये थनों की ओर चल देते हैं, उनमें शोथ उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये प्राणियों के मल-मूत्र और दूध में पाये जाते हैं।

अजाज्वर दण्डाणु मनुष्यों के लिए दूसरे की अपेक्षा अधिक उपसर्गजनक है। यह माल्टा द्वीप की भेड़ों और बकरियों में अधिक पाया जाता है। परन्तु सैकड़ों वर्षों के उपसर्ग में उनमें न गर्भपात होता है न कोई खास रोग दिखाई देता है। वे उनके दूध में बराबर उत्सर्गित होते रहते हैं। माल्टा में ५०% से अधिक बकरियाँ इनसे उपसृष्ट हैं। एक बकरी से दूसरी बकरी में जीवाणुओं का संक्रमण कैसे होता है इसका अभी तक ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हुआ। जो बकरी एक बार उपसृष्ट होती है जीवनभर उसके दूध में जीवाणु बहुत अधिक संख्या में उत्सर्गित होते रहते हैं। जिस दूध में जीवाणु होते हैं उस दूध में न भौतिक परिवर्तन होता है न रासायनिक, अर्थात् वह दूध देखने में या रुचि में अविकृत रहता है। बकरी के मल-मूत्र में भी जीवाणु उपस्थित होते हैं। इसलिए बकरी के दूध के सेवन से, दूध से बनाए हुए मट्ठा, दही, मक्खन इत्यादि पदार्थों के सेवन से यह रोग मनुष्यों में फैलता है। दूध और दूध के पदार्थों के अतिरिक्त दूध, मल-मूत्रादि से दूषित खाद्यपेय पदार्थों के द्वारा भी यह रोग स्वस्थ मनुष्यों पर

फैल सकता है। खाद्यपेय पदार्थों की दुष्टि दूषित हाथों से, मक्खियों से, धूलि से भी हो सकती है।

मुखमार्ग के अतिरिक्त उपसृष्ट बकरी के, उसके दूध-मल-मूत्र के, उसके मृत-शरीर के घनिष्ठ सम्बन्ध से त्वचा के सूक्ष्म क्षतों, विदारों या व्रणों से जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश हो सकता है। मच्छर या अन्य रक्तचूषक कीटकों के दंश से भी इसका प्रसार हो सकता है। इनमें दूषित दुग्ध या तज्जन्य पदार्थ सेवन ही इस रोग के प्रसार का प्रधान मार्ग है। ग्वाले, किसान, पशुवैद्य, कसाव इनमें घनिष्ट सम्बन्ध के कारण यह रोग अधिक हुआ करता है। रोगी से यह रोग स्वस्थ मनुष्यों पर सङ्क्रान्त नहीं होता। परन्तु यह बताया जाता है कि रोगी के मुख में रक्खा हुआ तापमापक (Thermometer) यदि दूसरा स्वस्थ मनुष्य अपने मुख में बिना विशोधित किये रक्खे तो उसमें यह रोग हो सकता है।

गव्य गर्भपाती दण्डाणु गायों में गर्भपात उत्पन्न करता है और जो गौ उपसृष्ट होती है उसके दूध में, मलमूत्र में पाया जाता है। इसका भी उपसर्ग दूध से, दूध के बने हुए पदार्थों से, मलमूत्रादि से दूषित खाद्यपेय पदार्थों से होता है। परन्तु इसकी औपसर्गिकता अजाज्वर द० से बहुत कम होने के कारण इससे बहुत कम लोग पीडित होते हैं। केवल पशुवैद्य और पशुशाला के लोग औरों की अपेक्षा इससे अधिक पीडित होते हैं। शूकरीय गर्भपात द० सूअरों में गर्भपात उत्पन्न करता है। यह उनके मलमूत्र दूध में उपस्थित रहता है और उनके दूषित पदार्थों के सेवन से मनुष्यों पर सङ्क्रान्त होता है। गव्य प्रकार की अपेक्षा यह अधिक उग्र है। पशुवैद्य, पशुशाला के नौकर, कसाव इत्यादि में इसका उपसर्ग अधिक हुआ करता है।

इस प्रकार यद्यपि ब्रुसेल्ला गण के त्रिविध दण्डाणुओं के तीन स्वतन्त्र संचयाधार (Re er oir) होते हैं तथापि प्रत्येक दण्डाणु इतर प्राणियों में उपसर्ग उत्पन्न कर सकता है। परिणाम यह होता है कि गौ में अजाज्वरी और बकरी में गर्भपाती दण्डाणु मिल सकता है। ये तीनों जीवाणु लगभग एक ही स्वरूप का रोग उत्पन्न करने के कारण, संक्षेप में यह कह सकते हैं कि उपसृष्ट गौ और भेड़ बकरी के दूध से यह रोग होता है।

प्रतिबन्धन—दूध सदैव उबालकर सेवन करना दुग्धदोषोत्पन्न रोगों से बचने का राजमार्ग (पृष्ठ १०२) है। कच्चे दूध से बनाए हुए खाद्य द्रव्यों का सेवन न करना चाहिए। प्रतिबन्धन टीका का उपयोग भी किया जाता है। रोग [illegible] की दृष्टि से उपसृष्ट बकरी, भेड़ इत्यादि का नाश करना ही उचित है।

खाद्यपेय जन्य रोग

आन्त्रिक-ज्वर वर्ग

पर्याय—मन्थरक-ज्वर, मधुरक-ज्वर, मोतीझरा।

हेतु—इस वर्ग के ज्वर उत्पन्न करनेवाले तृणाणु साल्मोनेल्ला प्रजाति (Salmonella genus) के हैं और इनके नाम तन्द्राभ द० (B typhosus) अपर-तन्द्राभ द० ए० बी० सी० (B. Paratyphosus A, B., C,) हैं।

व्याख्या—इनसे जीर्ण-ज्वर उत्पन्न होते है जिनकी अवधि २-६ सप्ताह की होती है और जिनमें संतत-ज्वर, प्लीहावृद्धि, आन्त्र में व्रण, प्रवाहिका इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

संक्रमण—यह संसारव्यापी रोग है परन्तु उष्ण कटिबन्ध और मन्दोष्ण कटिबन्ध में शीत कटिबन्ध की अपेक्षा अधिक होता है। इसके प्रसार के साथ मलमूत्रादि की स्वच्छता तथा दूरीकरण का प्रबन्ध और पानीय जल की रक्षा इन दो बातों का बड़ा भारी सम्बन्ध होता है। जहाँ पर दोनों का ठीक प्रबन्ध नहीं होता वहाँ पर यह रोग खूब फैलता है और जानपदिक स्वरूप ग्रहण करता है। यद्यपि यह रोग वर्ष भर हो सकता है तथापि वर्षाकाल में इससे अधिक लोग पीड़ित होते हैं। यह रोग विवर्धमान और जवान मनुष्यों में अधिक होता है। तन्द्राभ ज्वर अपर तन्द्राभ ज्वरों की अपेक्षा अधिक चिन्ताजनक, अधिक उपद्रवी, अधिक काल रहने वाला तथा अधिक घातक होता है। अपर तन्द्राभ ३ प्रकार के दण्डाणुओं से होता है और उनके क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते है। अपर ए भारतवर्ष में अधिक और अपर बी यूरूप में अधिक होता है। अपर सी का क्षेत्र बहुत ही मर्यादित है। भारतवर्ष में इससे प्रतिवर्ष एक लाख के करीब लोग पीड़ित होते हैं और तिहाई मरते हैं।

रोगी और वाहक उपसर्ग के स्थान होते हैं। रोगियों की अपेक्षा वाहकों के द्वारा ही रोग का अधिक प्रसार होता है। रोगी और वाहक दोनों के मल में क्वचित् मूत्र में जीवाणु उपस्थित रहते हैं। मलमूत्रस्थित ये जीवाणु रोग उत्पन्न होने के लिए स्वस्थ व्यक्तियों के आंत्र में पहुँच जाने चाहिएँ। यह कार्य केवल उपसृष्ट खाद्यपेयों के सेवन से और मुख द्वारा ही हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि रोग का प्रादुर्भाव होने से पहले खाद्यपेय द्रव्य उपसृष्ट हो जाने चाहिएँ। खाद्यपेय द्रव्यों में जल सबसे महत्व का है। विसूचिका के समान आंत्रिक भी

प्रधान जलवाह्य रोग है। जहाँ पर मोरी परनाले का उचित प्रबन्ध नहीं होता वहाँ पर उन्हीं के खराब पानी से पीने का पानी दूषित होता है और पानी दूषित होने का यही सबसे प्रधान मार्ग है। यद्यपि आंत्रिक ज्वर के दण्डाणु शरीर के बाहर अधिक काल तक जीवनक्षम नहीं रहते तथापि ये स्वच्छ पानी में उपसर्ग फैलने की दृष्टि से काफी देर तक जीवनक्षम रह सकते हैं। जल दूषण से जब यह रोग फैलता है तब वह अधिक व्यापक और महानुमाप (Large scale) होता है। दूध, बरफ और मलाई रोग प्रसार के दूसरे क्रमांक के खाद्य द्रव्य हैं। सीप या शङ्खजीव (Shellfish), घोंघा (Oyster) मूली, गाजर, पालक इत्यादि तथा शाक इस रोग के प्रसार के तीसरे क्रमांक के खाद्यपेय द्रव्य हैं। ये मोरी परनाले के पानी में रहते हैं या लगाये जाते हैं और अनेक बार कच्चे सेवन किये जाते हैं। इन खाद्यपेयों का संदूषण वाहकों के या रोगियों के परिचारकों के हाथों से या मक्खियों द्वारा होता है। मक्खियाँ अपने मुँह से, पैरों से तथा बीट (Excreta) से खाद्यपेयों को दूषित कर सकती हैं। इसका कारण यह है कि मल सेवन करने वाली मक्खियों के आंत्र में जीवाणु चले जाते हैं और विष्ठा के साथ उत्सर्गित होते हैं।

वाहक—रोग प्रसार की दृष्टि से वाहकों का स्थान बहुत ऊँचा होता है। ये जहाँ पर रहते हैं तथा जहाँ पर जाते हैं वहाँ पर रोग को फैलाते हैं। ये ३ प्रकार के होते हैं (१) मनिवृत्तवाहक—साधारणतया यह देखा गया है कि रोगनिवृत्त होने के पश्चात् ८–१२ सप्ताह तक रोगनिवृत्तों के मल के रोगाणु उत्सर्गित होते रहते हैं। उसके पश्चात् उनका उत्सर्ग बन्द होता है। अर्थात् इस काल में इनसे रोग का प्रसार हो सकता है। (२) कालिक या स्थायी वाहक—रोगनिवृत्तों में २–३% ऐसे लोग होते हैं कि जो महीनों तक या कभी-कभी जीवन भर रोगाणुओं का उत्सर्ग करते रहते हैं। (३) सम्पर्क या स्वस्थवाहक—इनमें वैद्य, डाक्टर, परिचारक, परिचारिका, आतुरालय के नौकर इत्यादि आते हैं। स्वस्थ और रोगवाहक इस प्रकार का आपस में विरोध दिखाई देने के कारण इस प्रकार के वाहकों को विरोधाभासजनक या विरोधाभासी (Paradoxical) वाहक भी कहते हैं।

वाहकों के प्रकार—विकृति के अनुसार वाहकों के तीन प्रकार होते हैं। (१) आन्त्रीय (Intestinal)—क्वचित् आन्त्र में विकृति बनी रहने से मल के साथ जीवाणु उत्सर्गित होते हैं। (२) पैत्तिक (Biliary)—जिनमें पित्ताशय में विकृति होती है उनमें जीवाणु पित्ताशय में बराबर वर्धित होते हैं और पित्त के साथ आन्त्र में आकर मल के साथ शरीर के बाहर उत्सर्गित होते हैं। इस प्रकार के वाहक बहुत अधिक

(८०%) होते हैं और वे मुख्यतया स्त्रियों में पाये जाते हैं। इनमें पित्ताश्मरी भी बहुत उत्पन्न होती है। (२) मूत्रीय (Urinary)—मूत्राशय या वृक्कालिन्द (Pelvis of the kidney) में विकृति होने से जीवाणु वहाँ पर बढ़ते हैं और मूत्र के साथ उत्सर्गित होते हैं। इनका प्रमाण बहुत कम (२० प्रतिशत) होता है और इनमें स्त्री तथा पुरुष सम-समान रहते हैं। ये वाहक अतिसार वाहकों के समान अस्वस्थ न रह कर प्रायः स्वस्थ होते हैं। कभी-कभी दोनों के मिश्रवाहक भी होते हैं। ये दोनों प्रकार के वाहक रोग प्रसार की दृष्टि से उतने ही भयावह होते हैं।

वाहकावस्था की सम्प्राप्ति से यह स्पष्ट होगा कि आन्त्रिक के स्वस्थ या सम्पर्क-वाहक बहुत कम हो सकते हैं। संन्निवृत्त वाहक दुर्बल रहने के कारण अधिक रोग प्रसार नहीं कर सकते। इसलिए रोग प्रसार का कार्य मुख्यतया कालिक वाहकों के द्वारा ही होता है, जब वे रसोइया (Cook) या परोसिया (Waiter) का काम किया करते हैं। आन्त्रीय और पित्तीय वाहकों के मल में जीवाणुओं का उत्सर्ग बराबर होता रहता है, परन्तु मूत्रीय वाहकों के मूत्र में उनका उत्सर्ग निरन्तर नहीं होता, कभी होता है कभी नहीं।

प्रतिषेध—रोगी को अलग कर उसके मलमूत्र का नाश करना चाहिए। सेवा करनेवालों को अपने हाथों की सफाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। रोगी के कपड़ों को प्रथम प्रांगविक (कार्बोलिक) घोल में भिंगोकर पश्चात उबालना चाहिए। रोगी के कमरे में मक्खीनिवारण का प्रबन्ध उत्तम प्रकार से करना चाहिए। घर में सब खाने की चीजें मक्खियों से और धूलि से सुरक्षित आलमारियों में रखना चाहिए। दूध और पानी उबालकर और अन्न ताजा और गरम सेवन करना चाहिए। रोगनिर्मुक्त होने के पश्चात् उपसर्ग काल के अन्त तक उसका सम्बन्ध घर में न रखना चाहिए।

टीका—इसका उपयोग प्रथम ½ घ० शि० मा० में और १० दिन में पश्चात् १ घ० शि० मा० में सूचिकाभरण द्वारा किया जाता है। इससे ६-१२ मास तक शरीर में क्षमता रहती है। इस टीका द्रव्य में तन्द्राभ, अपरतन्द्राभ ए० बी० ये तीनों प्रकार के दण्डाणु (T A B. Vaccine) रहते हैं।

प्रतिषेधक मसूरी सेवन—स्थानिक क्षमतोत्पत्ति के आधार पर (पृष्ठ ३७१) आन्त्रिक में मुख द्वारा सेवन करने के लिए भी मसूरी की गोलियाँ (Eli Lili and Co) बनायी गयी हैं जो एक-एक करके तीन दिन प्रातः पानी के साथ सेवन की जाती हैं।

आन्त्रिक के समान उपान्त्रिक ज्वर भी जारी रहने के कारण दोनों में मिश्र मसूरी काम में लायी जाती है।

सार्वजनिक उपाय—नगरों में मोरी परनालों का मक्षिकानाशन और विशुद्ध दूध एवं जल का उचित प्रबन्ध किये बिना यह रोग बन्द नहीं हो सकता। इसके साथ रोग निदान तथा वाहकों की जाँच करके उनकी चिकित्सा और पृथक्करण (कम से कम रसोई या खाद्यपेय पदार्थों से) ये महत्त्व के उपाय होते हैं। यदि रोग अधिक फैल रहा हो तो सार्वजनिक टीका का प्रयोग करना चाहिए।

अतिसार

(Dysentery)

व्याख्या—यह एक आन्त्र का विकार है जिसमें पेट में पीड़ा, मरोड, कुंथन, आँव और खून के साथ पतले दस्त होते हैं।

हेतु—इसके दो प्रकार होते हैं—दण्डाण्वीय और आमरूपीय (बैसीलरी और अमीबिक)। दण्डाण्वीय का कारण शिगा और फ्लेक्सनर के दण्डाणु (B dysentery shiga and flexner) है और आमरूपीय के कारण आन्त्राम-रूपी धातुनाशी (Entamoeba hystolytica) नामक कीटाणु है। कभी-कभी ये दोनों उपसर्ग मिश्र भी होते हैं। रोगी के मल में ये जीवाणु उपस्थित रहते हैं।

प्रसार—रोग का प्रसार आन्त्रिक के समान मल दूषित खाद्यपेय पदार्थों से तथा वाहकों से होता है। आमातिसार में रोग का प्रसार आमरूपीयों से न होकर उनके कोष्ठों (cysts) के द्वारा होता है। ये कोष्ठ आमरूपीयों के साथ मल में उत्सर्गित होते हैं। खाद्यपेयों की दुष्टि मलदूषित हाथों से, मक्खियों से, धूलि से और वाहकों से होती है। आमातीसार के वाहक प्रायः स्वस्थ होते हैं जो मल के साथ कोष्ठों का उत्सर्ग करते हैं, परन्तु दण्डाण्वीय के प्रायः व्याधित होते हैं। इस में भी फ्लेक्सनर के वाहक अधिक होते हैं। इतस्ततः मल त्यागने से तथा रोगी का मल इतस्ततः फेंकने से रोग प्रसार में सहायता होती है। मलस्थित आमरूपी शीघ्र मर जाता है, परन्तु उसके कोष्ठ नहीं मरते जो आमाशय अम्ल का प्रतीकार करके आन्त्र पहुँचने पर आमरूपी में परिवर्तित होते हैं।

अतीसार के प्रकारों में आमातिसार की अपेक्षा दण्डाण्वीय अधिक होता है। और उसमें भी शिगाजनित की अपेक्षा फ्लेक्सनरजनित अधिक होता है। दण्डाण्वीय अतीसार प्रायः तीव्र स्वरूप का और आमातीसार कालिक स्वरूप का होता है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ३ लाख लोग अतीसार से मरते हैं ऐसा अनुमान है।

प्रतिषेध—आंत्रिकज्वर के समाज रोगी के मल का नाश करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। रोग निवृत्त होने के पश्चात् जब तक मल में कोष्ठ या दण्डाणु मिलते हैं तब तक रोगियों का सम्बन्ध खाद्यपेयों से न रखना चाहिए। दण्डाण्वीय अतिसार के लिए टीका तथा मुख द्वारा सेवन करने की पित्त मसूरी (Bilivaccine) भी प्रयुक्त होती है। आमातिसारी वाहकों की चिकित्सा एमेटीन-बिस्मथ-आयोडाइड, कुर्ची-बिस्मथ-आयोडाइड, कार्बार्सोन, डायआयडोक्वीन इत्यादि के द्वारा करनी चाहिए।

विसूचिका

हैजा (Cholera)

व्याख्या—कौक के वक्राणु के उपसर्ग से होनेवाला यह एक शीघ्र घातकी रोग है, जिसमें वमन, चावल के धोवन के समान पतले दस्त, हाथ पैर में ऐंठन मूत्राघात इत्यादि लक्षण होते हैं।

हेतु—इस रोग का कारण कौक का दण्डाणु (Koch's bacillus) है। आकार में यह किंचित् वक्र स्वल्पविराम (कौमा,) के समान होता है, इसलिए वक्राणु या स्वल्पविरामदण्डाणु (कौमा बैसीलस) कहलाता है। यह अत्यन्त चंचल है, अम्ल द्रव्य से यह जल्दी नष्ट होता है। बरफ, ताजे दूध, पानी में यह कई दिनों तक सजीव रह सकता है। क्षारीय द्रव्यों में इसकी अधिक वृद्धि होती है।

सहायक कारण—सर्दी लगना, पचन संस्थान की खराबी, आमाशयगत अम्ल की कमी, अनशन, मद्यातिसेवन, तीव्र विरेचन, मानसिक थकावट इत्यादि से रोग उत्पन्न होने में सहायता होती है। हैजा गर्मियों के अन्त में और वर्षा के प्रारम्भ मे तथा बंगाल, बिहार, आसाम इत्यादि नीची सतह की भूमि में अधिक हुआ करता है। इसका सम्बन्ध आक्लेद (पृष्ठ ३१७) और अनावृष्टि के साथ (पृष्ठ ३७८) बहुत होता है।

संक्रमण—रोगों के मल और वमन में असंख्य वक्राणु होते हैं। अतः मलदूषित खाद्यपेय पदार्थों से रोग का संक्रमण होता है। खाद्यपेय पदार्थों की दुष्टि मल और वमन दूषित वस्त्र पात्रादि से, परिचारक या वाहकों के हाथों से,

और मक्खियों से होता है। अन्य रोगों के समान इसके भी स्वस्थ और व्याधित (पृष्ठ ३४८) वाहक होते हैं। इनके अलावा विसूचिका के संचयकालिक (Incubatory) वाहक भी होते हैं। इसका मतलब यह है कि रोग के संचयकाल में भी उपसृष्ट मनुष्यों के मल के साथ वक्राणु निकलते हैं। अर्थात् संचयकालिक वाहक रोग प्रसार की दृष्टि से अधिक महत्त्व का होता है। एक स्थान में विसूचिका प्रसार दूषित खाद्यपेय पदार्थों द्वारा होता है और उसका स्थानान्तर इन वाहकों से होता है। भारतवर्ष में जब असंख्य लोग अस्वास्थ्यजनक यात्रा स्थानों में इकट्ठा होते हैं तब वहाँ पर प्रायः हैजा उत्पन्न होता है, और जब वहाँ से लोग लौटते हैं तब उनमें कुछ संचयकालिक वाहक रहते हैं जो स्थान-स्थान पर रोग का प्रसार करते जाते (पृष्ठ३७९) हैं। हैजे के स्थानान्तर में नदियाँ भी सहायता करती हैं। किसी नदी के किनारे पर बसे हुए शहर में हैजा होने पर सहज ही में उस नदी का पानी मल-वमन से दूषित होता है और नीचे की ओर उस नदी के किनारे पर बसे हुए अन्य गाँव या नगर में उसका पानी पीने से हैजा उत्पन्न होता है। यह तो बात प्रवाह की दिशा में बसे हुए गाँवों के बारे में हुई। जो गाँव प्रवाह के विरुद्ध दिशा में याने ऊपर की ओर होते हैं वहाँ पर रोग का प्रसार नाविकों और मल्लाहों द्वारा हो जाता है।

व्यक्तिगत प्रतिषेध—(१) रोग के दिनों में अजीर्ण, अग्नि की मन्दता तथा अन्य पचन संस्थान के विकारों को शीघ्र ठीक कर लेना चाहिए, क्योंकि विसूचिका वक्राणुनाशक आमाशयिक रस इन विकारों से कम हो जाता है। इसके सिवा इन विकारों से रोग की उत्पत्ति में भी सहायता (सहायक कारण देखो) होती है। (२) यदि पतले दस्त होते हों तो तुरन्त उनको ग्राही औषधि के सेवन से रोकना चाहिए, क्योंकि पतले दस्त में आन्त्र की गति तेज होती है जिससे सेवन की हुई चीज आमाशय से जल्दी नीचे उतरती है और आमाशयिक अम्लरस का उस पर उचित काल तक कार्य नहीं होता, जो विसूचिका वक्राणु नाशन के लिए आवश्यक है। (३) रोग के दिनों में जमालगोटा, ग्लागसल्फ या अन्य तीव्र विवेचन का उपयोग न करे। इसमें भी उपर्युक्त दोष होता है। (४) रोग के दिनों में दुष्पाच्य पदार्थ, अपक्व या अतिपक्व फल, साग सब्जी, बासी अन्न, सड़ी-गली मांस-मछली इनका सेवन वर्ज्य करे। (५) हमेशा आमाशय को न्यूनाधिक मात्रा में अन्न सेवन करके कार्य-प्रवण रक्खो। आमाशय में अम्ल की सदैव उपस्थिति रोग प्रतिषेधक होती है। (६) साग सब्जी फल तथा अन्य पदार्थ जो कच्चे खाए जाते हैं उनको पोटास परमैंगनेट के घोल में

कुछ देरतक रखकर पश्चात् सेवन करो। (७) पीने के लिए तथा भोजन के पात्र साफ करने के लिए उबाला हुआ पानी काम में लाओ। (८) दूध भली भाँति उबालकर पीना चाहिए। चाय, नीबू का (पृष्ठ १४६) शर्बत, दही, मट्ठा, नारिकेल (पृष्ठ १५०) जल इनका उपयोग पीने के लिए कर सकते हैं। (९) प्रवास में पानी या खाद्य द्रव्य वर्ज्य करना चाहिए। तीन चार दिन से अधिक पुराना वातेरित जल (पृष्ठ १६४) तथा नं० ८ में बताए हुए पेय भी प्रवास में पी सकते हैं। (१०) टीका—इसकी प्रथम मात्रा आधा सी. सी. और एक हफ्ते के बाद दूसरी मात्रा १ सी सी. दी जाती है। मेले के समय एक सी सी. की एक ही मात्रा एक बार दी जा सकती है। इससे ५ रोज के बाद क्षमता उत्पन्न होती है और छः महीनों तक रहती है। (११) पित्तमसूरी—जहाँ पर टीका का प्रयोग नहीं हो सकता या जो टीका नहीं चाहते, उनके लिए मुख द्वारा पित्तमसूरी का (Bilivaccine) उपयोग किया जा सकता है। इसमें तीन दिन तक लगातार सुबह खाली पेट पर इसकी एक गोली सेवन की जाती है। (१२) विसूचिका प्रतिषेधक मिश्रण—स्पिरिट ईथर ३० बूँद, लौंग का तेल, कायपुटी का तेल, ज्यूनिपर का तेल प्रत्येक ५ बूँद, एसिड सल्फ्यूरिक एरोमेटिक १५ बूँद और पानी आधा औंस। इसको टूम्ब (Tomb) का मिश्रण कहते हैं। इसकी एक खोराक दिन में एक या दो बार सेवन करना चाहिए।

(१३) विसूचिका भक्ष—(पृष्ठ ३७२)—सप्ताह में दो दिन लगातार इसकी २ घ. शि. मा. (सी. सी.) की मात्रा ५–१० तोला पानी के साथ सेवन की जाती है। जठराम्ल से इसका गुण नष्ट होता है। इसलिए प्रातः खाली पेट पर उसको सेवन करना चाहिए तथा उसके पश्चात् १ घंटा भर कुछ न सेवन करना चाहिए।

सार्वजनिक उपाय—अधिसूचना, शिक्षा, रोगी का अलगकरण, मल और वमन का नाश इत्यादि उपायों के अतिरिक्त निम्न उपायों का उपयोग करना चाहिए। (१) जल की रक्षा और विशोधन—हैजा अधिकतर जलवाह्य रोग है, इसलिए बस्ती के आस-पास के कुएँ, तालाब, जलाशय इनकी रक्षा और शुद्धि करनी चाहिए। जिनका पानी खराब हो गया है उनका पानी पीने से लोगों को रोकना चाहिए। जिस घर में हैजा हुआ है, उस घर के लोगों को कुएँ या तालाव पर पानी भरना मना करना चाहिए। प्रत्येक जलाशय पर लोगों को पानी भरना मना करना चाहिए। प्रत्येक जलाशय पर लोगों को पानी देने के लिए तथा पानी को दूषित करने से रोकने के लिए एक मनुष्य तैनात करना चाहिए। जलाशय के पास यदि बड़े-बड़े वृक्ष हों तो उनको कटवा देना चाहिए, ताकि सूर्य की किरणें जल में पड़ सकें। विसूचिका के वक्राणु बहुत कमजोर होते हैं। केवल सूर्य-प्रकाश

से तालाव के जल के वक्राणु आठ रोज के भीतर मर जाते हैं। परन्तु इस प्रकार की स्वाभाविक शुद्धि कुएँ के जल की नहीं हो सकती। अतः दूषित कुएँ के जल का विशोधन करना आवश्यक है। जल विशोधन के लिए, नीरजी (पृष्ठ ४५) विरञ्जन चूर्ण, दहातु अतिलोहकित (पृष्ठ ४४) इनका और विसूचिकाभक्ष का उपयोग करना चाहिए। कुएँ के पानी में द० अतिलोहकित मिलाने का उत्तम तरीका यह है कि एक बाल्टी में उसका घोल बनाकर वह बाल्टी कुएँ के पानी में (पृष्ठ ४४) कई बार ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर को खींची जाय। विसूचिकाभक्ष को ५०० सेर पानी के पीछे १ घ शि. मा. की मात्रा में कुएँ में छोड़ना चाहिए। घर में संग्रहित नदी तालाव के पानी में भी इसी मात्रा में भक्ष को छोड़ना चाहिए। (२) मकानों की तथा शहर की मोरियों और स्थानों की सफाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रतिदिन एक बार फेनाल या अन्य जीवाणुनाशक घोल से उनको धुलवाना चाहिए। (३) यह रोग मक्खियों से फैलता है, इसलिए कूड़ा करकट, मल गोबर, इनके दूरी-करण का शीघ्र और उत्तम प्रबन्ध करना चाहिए तथा मक्खियों के उत्पत्तिस्थानों पर कीटकनाशक पदार्थ (आगे मक्खी देखो) छोड़ने चाहिएँ (४) टीका का उपयोग। (५) रोगी मरने के या रोग निवृत्त होने के पश्चात् मकान का विशोधन करना चाहिए। विशोधन में मकान के फर्श, पाखाने, मोरियों के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए। रोगी जब तक घर में होता है तब तक मल, वमन, पात्र इत्यादि का अनुषंगी विशोधन (पृष्ठ २६५) भी बहुत आवश्यक है। (६) जनता में विसूचिका रोग की उत्पत्ति, संक्रमण इत्यादि के सम्बन्ध में ज्ञान फैलाना।

वील का रोग

(Weil's Disease)

पर्याय—औपसर्गिक कामला (Infectious jaundice) चक्रकीटाणुजन्य (Spirochaetal) कामला।

हेतु—इसका कारण कामलास्रावी अतिकुन्तलाणु (Lepto spiroicterohamorrhagica) नामक चक्रकीटाणु है।

वासस्थान—इसका मुख्य संचयाधार जंगली चूहे होते हैं। इनके मूत्र से ये उत्सर्गित होकर भूमि और जल को दूषित करते हैं। पानी में ये दीर्घकाल तक रह सकते हैं। रक्तस्रावी कामला पीड़ितों में ये रक्त, यकृत्, वृक्कों में पाये जाते हैं और उनके मूत्र में उत्तर काल में उत्सर्गित होते हैं। यह रोग जापान के

बहुत होता है। भारतवर्ष के पास यह अन्दमान द्वीप में बहुत है और कलकत्ते में भी कभी-कभी मिलता है। यह एक व्यावसायिक रोग है जो आर्द्र खानें, नहरें, मोरीपरनाला, धान और ईख के खेत, तालाब इनमें काम करने वालों में खन्दकों के सैनिकों में, नाविकों में, मछली पकडने वालों में अधिक हुआ करता है, जब ये स्थान इन जीवाणुओं से सन्दूषित रहते हैं।

संक्रमण—मनुष्यों में इनका उपसर्ग मुख्यतया त्वचा के द्वारा होता है, ये शरीर में त्वचा के व्रणों, क्षतों, विदारों के द्वारा तथा त्वचा अक्षुण्ण होने पर भी प्रवेश कर सकते हैं। जलसंपृक्त (Water sodden) त्वचा इसके लिए अनुकूल होती है। इसलिए तालाब में, धान के खेतों में, गीली भूमि में काम करने वाले इससे उपसृष्ट होते हैं। सन्दूषित पानी के तालाब में स्नान करने से भी मनुष्य उपसृष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त चूहे के मूत्र से दूषित खाद्यपेय पदार्थों के सेवन से भी इसका संक्रमण हो सकता है। कुछ लोगों के मत से इसके प्रसार में कोई दंशक कीटक भी सहायता करता है। रोगी से स्वस्थ मनुष्य पर इसका संक्रमण प्रायः नहीं हो सकता।

प्रतिबन्ध—रोगी के मलमूत्र का अच्छी तरह नाश किया जाय। चूहों का नाश किया जाय। खाद्य-पेय चूहों से सुरक्षित रक्खे जायँ। जहाँ पर यह रोग होता है वहाँ पर खानों में, खेतों में खाना खाने से पहले हाथ खूब अच्छी तरह धोये जाँय। पानी उबाल करके पिया जाय। नंगे पैर न चला जाय। पैरों पर कहीं खरोंचे, व्रण, घाव इत्यादि हों तो उनका संरक्षण पट्टीबन्धन इत्यादि से किया जाय। हाथ पैर धोने के लिए जमीनपर इकट्ठा हुए पानी का उपयोग न किया जाय। ऐसे पानी में स्नान भी न किया जाय क्योंकि उसके उपसृष्ट रहने की संभावना होती है। क्षमतावर्धन के लिए मृत चक्रकीटाणुओं से बनायी हुई मसूरी प्रयुक्त कर सकते हैं।

उपसर्गी यकृच्छोथ

(Infective hepatitis)

हेतु—इसका कारण कोई विषाणु है और इसमें मुख्य विकृति यकृत् के शोथ की होती है। इसलिए इसको विषाण्वीय यकृच्छोथ (Viral hepatitis) भी कहते हैं। यह रोग जानपदिक रूप धारण करता है। इसलिए इसमें कामला भी उत्पन्न होती है। इसलिए इसको जानपदिक यकृच्छोथ या कामला भी (Epidemic jaundice) कहते हैं। इसमें उत्पन्न होनेवाला शोथ प्रसेकी (Catarrhal) स्वरूप का होने से इसको प्रसेकी कामला भी कहते हैं।

इसका उपसर्ग मनुष्येतर प्राणियों में नहीं होता। जो मनुष्य इससे पीड़ित होते हैं उनके रक्त और मल में विषाणु होते हैं। अतः रोगी के मल, दूषित जल, दूध तथा अन्य खाद्यपेय पदार्थों के सेवन से रोग का प्रसार होता है। पीछे पृष्ठ ५४ भी देखिए।

प्रतिबन्धन—रोगियों को अलग रक्खा जाय। मलनाशन पर ध्यान दिया जाय। जो रोग से निवृत्त हुए हैं उनको कुछ काल तक खाद्यपेयादि से दूर रक्खा जाय। विसूचिका अतीसार के समान अन्य उपायों को काम में लाया जाय।

स्फीतकृमि रोग

(Taeniasis)

व्याख्या—विविध प्रकार से स्फीतकृमियों के आन्त्र में निवास करने से या उनके कोष्ठों के पेशियों में या अन्य अंग में निवास करने से यह विकार होता है। प्रथम प्रकार आन्त्रगत (Intestinal) और दूसरा शरीरगत (Somatic) कहलाता है।

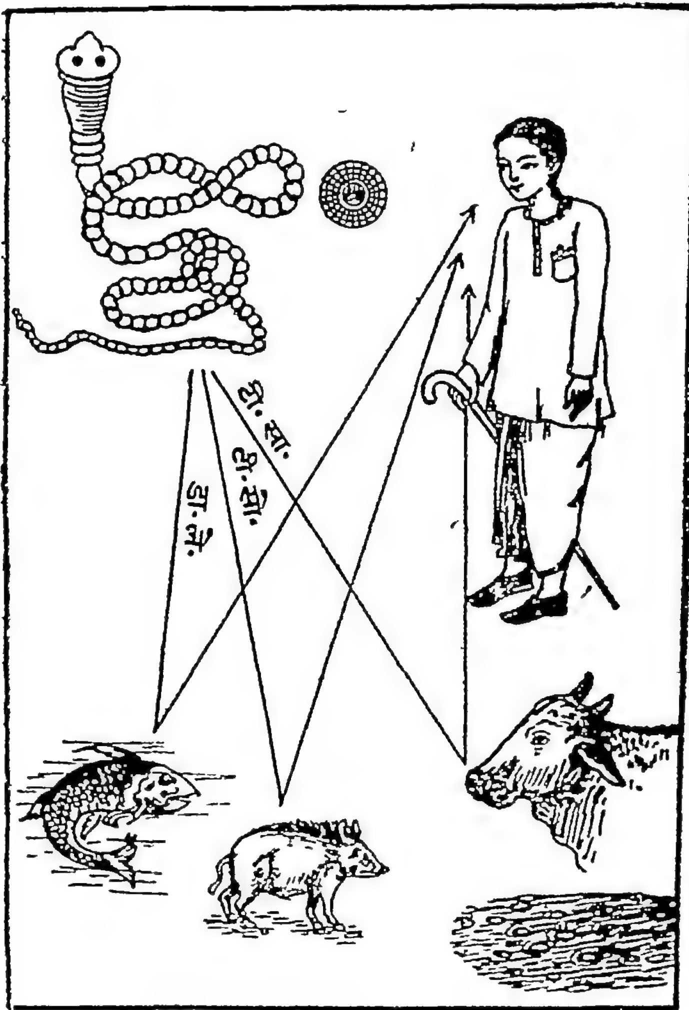
आन्त्रगतकृमि वर्णन—इसका कारण कई स्फीत कृमि होते हैं। ये चपटे, लम्बे और पर्वयुक्त होते हैं। इनमें मुख और पचन संस्थान नहीं होता। सिर में चूषक (Suckers) होते हैं जिनके द्वारा ये आन्त्र में अपने स्थान पर चिपटे रहते हैं। सिर और शरीर के बीच में पतली ग्रीवा होती है। शरीर कई पर्वों (Proglottides) का बना रहता है। प्रत्येक पर्व में स्त्री और पुरुष-जननेन्द्रिय होते हैं। चपटे कृमि कई प्रकार के होते हैं। स्फीत कृमियों में निम्न कृमि अधिकतर पाये जाते हैं।

सौकरस्फीतकृमि (Taenia Solium)—युवा कृमि की लम्बाई ८–१२ फुट तक होती है। सिर की मोटाई आलपीन के सिर के बराबर होती है। उसका आकार गोल और ऊपर चलकर कुछ चौकोर रहता है। उस पर छत्र सदृश तुण्डक (Rostellum) नामक एक अंग होता है जिस पर दो पंक्तियों में २६–२८ अंकुश होते हैं। उसके नीचे ४ चूषक होते हैं। सिर के बाद पतली ग्रीवा होती है। उसके बाद पर्वयुक्त शरीर होता है। पर्वों की कुल संख्या ८०० के लगभग होती है। अन्तिम ८०–१०० पर्व पक्व होते हैं। प्रत्येक पक्व पर्व में अण्डे उत्पन्न होते हैं। इस कृमि का निवास लघु आन्त्र में होता है और उसका पुच्छ

लघ्वन्त्र के अन्त तक आ जाता है। पक्व पर्व कृमि के शरीर से स्वतन्त्र होकर मल के साथ बाहर निकलते हैं तथा उनके अण्डे भी निकलते हैं। ये अण्डे भूमि, घास, तरकारी इत्यादि में रहते हैं। ये आकार में गोल, मोटाई में ३०-४० णु०,

चित्र न० २९

स्फीतकृमि उपसर्ग



टी. सा. गव्यकृमि, टी. सो सौकर कृमि, डा ले. मछली का द्विनालशिरस्क कृमि।

मध्य में अधिक काले और स्थूल कोषयुक्त होते हैं। कोष की मोटाई में चक्र के आरे के समान रेखाएँ होती हैं तथा मध्य में छः अंकुश दिखाई देते हैं।

द्विनालशिरस्क स्फीतकृमि (Dibothriocephalus latus)—यह कृमि मनुष्यों के क्षुद्रान्त्र में रहता है। मनुष्यों के अतिरिक्त कुत्ता, बिल्ली, भालू, लोमड़ी, नेवला, सूअर इनमें भी यह पाया जाता है। इसका उपसर्ग नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड, साइबेरिया, चीन, जापान, मादागास्कर इत्यादि देशों में पाया जाता है। भारत में यह कृमि नहीं मिलता।

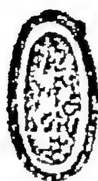
इसकी लम्बाई २०–२५ फूट तक हो सकती है। इसके सिर पर न तुण्डक होता है न अंकुश (Hooklets) रहते हैं, केवल दो खात के समान चूषक होते हैं। पर्वों की संख्या ३०००–४००० तक रहती है। अन्य स्फीतकृमियों के समान इसके पक्वपर्व मल में उत्सर्गित नहीं होते। केवल अण्डे निकलते हैं जो संख्या में इतने अधिक होते हैं कि मल का तिहाई भाग उन्हीं का रहता है।

जीवनचक्र—मनुष्यों के मल के साथ निकले हुए अण्डे पानी में जाने पर उनके ऊपर का पिधान खुलकर उनसे जो षडंकुशक गोलाकार जीव बाहर निकलता है

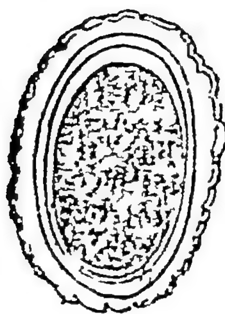
चित्र न० ३०

कृमियों के अण्डे

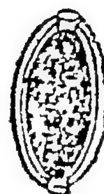
मूत्रकृमि

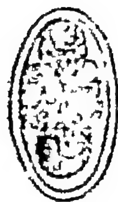


गण्डूपदकृमि



प्रतोदकृमि

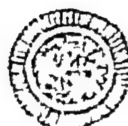




अंकुशकृमि



न. स्फीतकृमि



गो. स्फीतकृमि

उसको चक्राक्ष (Cyclops) जैसे शंखजीव खा जाते हैं। यह इनका प्रथम मध्यस्थ है। इसके आमाशय में इसका परिवर्तन पूर्वडिम्भाभ (Procercoid) में होता है।

एक चक्राद में अधिक से अधिक इस प्रकार की दो इल्लियाँ हो सकती हैं। इस चक्राद को फिर एक मछली खा जाती है जो इसका दूसरा मध्यस्थ होता है। इसके शरीर में पूर्व डिम्भाभ पूर्णडिम्भाभ (Plerocercoid) में परिवर्तित होता है।

उपसर्ग—इस प्रकार की उपसृष्ट मछली कच्ची या अधपकी, जिसमें पूर्णडिम्भाभ जीवित रहा है, सेवन करने पर वह मनुष्यों के आन्त्र में कृमि में परिवर्तित होता है। इसके लिए ५-६ सप्ताह लग जाते हैं। प्रत्येक पूर्ण डिम्भाभ से एक कृमि बनता है। यह कृमि आन्त्र में ५-१३ वर्ष तक रह सकता है।

गव्य स्फीतकमि (Taenia saginata)—यह कृमि सौकर के समान होता है। परन्तु उसमें निम्न भेद होते हैं। इसकी लम्बाई अधिक (२४ फुट तक) होती है। सिर छोटा, चौकोर तथा तुण्डक और अंकुशविरहित होता है, केवल चार चूषक रहते हैं। शरीर में पर्वों की संख्या १०००-२००० तक होकर अन्तिम २०० के लगभग पर्व पक्व होते हैं। ये लम्बाई में सौकर के पक्व पर्वों से अधिक लम्बे ($\frac{3}{4}$ इञ्च) होते हैं। ये मल के साथ या स्वयं गुद के बाहर आया करते हैं। इनके अण्डे सौकर के समान परन्तु कुछ मोटे और लम्बे होते हैं। ये मल के साथ भूमि, घास, तरकारी इत्यादि पर अनुकूल परिस्थिति में कुछ दिनों तक रहते हैं।

जीवन चक्र—गव्य और सौकर कृमियों को अपने जीवन के लिए दो भिन्न जातियों के प्राणियों की जरूरत होती है। मनुष्य दोनों के लिये साधारण है। सौकर के लिए सूअर और गव्य के लिए गौ या बैल की जरूरत होती है। मल के अण्डे मल दूषित घास फूस के सेवन से सूअर या गौ के आमाशय में जाने के बाद जठर रस से उनका बाह्यावरण घुल जाकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। तत्पश्चात् ये आन्त्र की दीवाल में घुसकर रक्त-वाहिनी से या अन्य मार्ग से शरीर के विविध अंगों मे अवस्थित होते हैं। वहाँ पर इनकी वृद्धि होकर सिर और ग्रीवा बनती है, परन्तु इससे अधिक वृद्धि नहीं बनती। इसको कोष्ठडिम्भ (Cysticercus) कहते हैं। सौकर की अवस्था को सूकर को. (C. Cellulosoe) और गव्य की अवस्था को गव्य को. (C. bovis) कहते हैं। इस अवस्था में ये उनके शरीर में महीनों तक रह सकते हैं। साल भर के बाद ये मर जाते हैं तब उनके ऊपर स्फटिकाभरण (Calcification) हो जाता है।

उपसर्ग का मार्ग—सूअर, गौ, बैल इनका मांस मनुष्यों का आहार्य द्रव्य है। यदि इन स्फीत कृमियों का जीवित कोष्ठडिम्भों से दूषित मांस अच्छी तरह न पकाकर सेवन किया जाय तो मांस के साथ ये मनुष्य के आमाशय में प्रविष्ट होते हैं। वहाँ से ये आन्त्र में जाते हैं। इस स्थानांतर में पाचक रसों से उनका कोष गल जाकर वे स्वतन्त्र होते हैं और अपने अंकुशों से आन्त्र की श्लेष्मल कला पर चिपट जाते हैं। इसके बाद इनकी ग्रीवा से पर्व बनने लगते हैं और आठ सप्ताह की अवधि में पूर्ण कृमि बनकर मनुष्य के गुद से मल के साथ पक्व पर्व और अण्डे निकलने लगते हैं। ग्रीवा से जो सबसे दूर होते हैं वे पर्व सबसे अधिक पक्व होते हैं और परिपक्व होने पर अलग होकर मल के साथ या स्वयं गुद के बाहर आते हैं। इस तरह नष्ट हुए पर्वों की पूर्ति ग्रीवा से नये नये पर्व उत्पन्न करके की जाती है। संक्षेप में मनुष्यों को स्फीत कृमियों का उपसर्ग कोष्ठडिम्भ दूषित सूअर, गौ, बैल के मांस सेवन करने से होता है।

नन्हास्फीत कृमि (Hymenolepsis nana)—यह छोटा स्फीतकृमि है जो १/२-१ इञ्च लम्बा और १/२५ इञ्च या इससे कुछ कम चौड़ा होता है। इसके सिर के तुण्डक पर २०-३० काँटों का एक वलय होता है। ग्रीवा पतली और लम्बी होती है। पर्व लम्बाई की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक होते हैं। प्रत्येक पर्व में ८०-३० अण्डे होते हैं जो आन्त्र में स्वतंत्र होते हैं और मल से साथ बाहर आते हैं। इनको मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। कुछ अण्डे आन्त्र में ही फिर से परिवर्धित होकर कृमि बन जाते हैं। इसलिए थोड़ी संख्या में प्रारम्भिक उपसर्ग होने पर भी कुछ काल के पश्चात् ये संख्या में सैकड़ों या हजारों हो जाते हैं। इनसे पेट में पीड़ा, ऐंठन, प्रवाहिका, सिर दर्द, आक्षेप इत्यादि लक्षण होते हैं।

मनुष्यों के अतिरिक्त यह कृमि चूहों और मूषकों में पाया जाता है।

स्फीतकृमि प्रतिषेध—कोष्ठडिम्भयुक्त मांस का सेवन रोग का कारण है, इसलिये प्राणियों के मांस का निरीक्षण वधस्थान में करना चाहिए। प्राणियों में उपसर्ग न हो इस दृष्टि से गाय, बैल, सूअर इनको मनुष्यों के विष्ठा पर या विष्ठादूषित घास पर न चरने देना चाहिए। कच्चे या अधपके मांस को न सेवन करे, परन्तु, हमेशा अच्छी तरह पकाकर सेवन करे। रोगी की चिकित्सा करे। इतस्ततः मल त्याग न करें। मल के नाश का उचित प्रबन्ध करे। मक्खियों से अन्न सुरक्षित रखें। नन्हे स्फीत कृमि का उपसर्ग चूहों के मल से दूषित

अन्न या खाद्य द्रव्य के सेवन करने से होता है। इसलिए अन्न तथा खाद्य द्रव्यों को चूहों से सुरक्षित रखना चाहिए।

गण्डूपद कृमि रोग

(Ascariasis)

इस रोग का कारण बरसाती केंचवे की तरह[1] का मटमैले श्वेत रंग का एक कृमि होता है। इसलिए यह कृमि भी केंचुआ (Round worm. Ascaris lumbricoides) कहलाता है। पुरुष कृमि लम्बाई में १० इञ्च होता है। उसका पिछला सिरा नोकीला और मुड़ा रहता है। स्त्री कृमि लम्बाई में १२–१६ इञ्च होकर उसका पिछला सिरा सीधा और नोकीला होता है। अगला सिरा नोकीला परन्तु कुछ थोथा होता है। उस पर तीन गण्ड या ओष्ठ होते हैं और भीतर दाँत होते हैं। पुरुष कृमि बहुत कम देखने में आता है। स्त्री कृमि से प्रतिदिन असंख्य अण्डे उत्पन्न होते हैं और मल के साथ बाहर निकलते हैं। पक्व अण्डे, जो पाखाने में मिलते हैं, आकार में कुछ दीर्घ वृत्त, रग में कुछ भूरे और पीले होते हैं। इनकी लम्बाई ७० म्यू और चौड़ाई ५० म्यू होती है। इनका कवच मोटा और गाँठदार होता है। चित्र नं० ३० पृष्ठ ४६४ ।

संक्रमण—रोग का संक्रमण पाखाने में निकले हुए अण्डों के द्वारा होता है। ये अण्डे दूध, मिठाई, फल तरकारियाँ, जल इनके साथ पेट में पहुँचते हैं। मल के साथ बाहर आने पर चार हफ्ते के भीतर कवच में ही अण्डे की छोटी सी इल्ली बनती है। साग सब्जी इत्यादि के साथ सेवन करने पर यह सकोश इल्ली पचन-संस्थान में पाचक रसों के कार्य से कोश से स्वतन्त्र होती है। फिर आंत्र से यकृत् में, यकृत् से हृदय में, हृदय से फुफ्फुस में, फुफ्फुस से श्वासनलिका स्वरयन्त्र और अन्ननलिका में से होकर आन्त्र में पहुँचती है और पूर्ण कृमि में वर्धित होती है। ये कृमि क्षुद्रान्त्र में निवास करते हैं। वहाँ पर पुरुष और स्त्री कृमि मैथुन करते हैं और स्त्री कृमि अण्डे देती है जो मल के साथ बाहर आते हैं। इस कृमि के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। अण्डे के ऊपर स्थूल कवच होने से शरीरबाह्य अवधि में उष्णता और शुष्कता से अण्डे का रक्षण हो जाता है। मक्खियों के द्वारा भी खाद्यपेय पदार्थों की दुष्टि हो सकती है। खाद्य-

---

१ केचिद् वृत्तपरिणाहा गण्डूपदाकृतयः श्वेतास्ताम्रावभासाश्च ।॥ चरक॥

पेय पदार्थों के अतिरिक्त अंकुश कृमि के समान त्वचा से और हवा के साथ वातावरण में लटकते हुए श्वास से भी ये अण्डे मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करते हैं ऐसा हाल में मालूम हुआ है। शरीर में प्रवेश होने के दो ढाई महीनों के पश्चात् मल में अण्डे मिलने लगते हैं।

केंचुएँ अधिकतर बालक, पागल तथा शुद्धता का जिनमें विचार और आचार न हो ऐसी गन्दी आदतवाले व्यक्तियों में होते है।

प्रतोद कृमि रोग

(Trichuriasis)

पर्याय—प्रतोद कृमि (Whip worm, Trichuris Trichiura, Trichocephalus dispar) है।

वर्णन—यह धूसर वर्ण का कृमि है। सिर की ओर का दो तिहाई हिस्सा बहुत पतला तन्तु के समान होता है और पुच्छ की तरफ[1] का एक तिहाई भाग कुछ मोटा होता है। अतः इसका शरीर चाबुक या कोड़े की भाँति दिखाई देता है स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न-भिन्न होते हैं। पुरुष कृमि की अपेक्षा स्त्री कृमि की संख्या बहुत अधिक होती है। पुरुष कृमि स्त्री की अपेक्षा लम्बाई में कम होता है। लम्बाई डेढ़ से दो इञ्च होती है। स्त्री कृमि से असंख्य अण्डे उत्पन्न होते हैं जो मल के साथ बाहर निकलते हैं। ये लम्बाई में ५० णु और चौड़ाई में २५ णु याने दीर्घवृत्त होकर उनके दोनों सिरे टोपीदार (चित्र नं० ३०) होते हैं। क्षुद्रान्त्र का अन्तिम भाग, स्थूलांत्र और आंत्रपुच्छ की श्लेष्मल कला में तन्तु सदृश अपने अगले भाग से चिपटे रहते हैं।

संक्रमण—मल के साथ उत्सर्गित हुए अण्डे शरीर के बाहर कुछ काल तक रहते हैं! यहाँ पर उनके भीतर परिवर्तन होता है। ये अण्डे फिर खाद्यपेय पदार्थों के साथ मुख द्वारा महास्रोत में प्रवेश करते हैं और उण्डुक में आने पर आवरण से मुक्त होकर वहाँ की श्लेष्मल त्वचा में चिपटते हैं। खाद्यपेय पदार्थों की दुष्टि मक्खियों द्वारा भी होती है। बालक इनसे अधिक उपसृष्ट होते हैं।

१. स्पर्शोपघातैः पुरुषैः पृथक्च भवन्ति हि ॥ सुश्रुत ॥
२. केचित्तत्रो दीर्घांगमगाहृतयः श्वेता. ॥ चरक ॥

प्रतिषेध—रोगियों की चिकित्सा करना। मल को इतस्ततः न फेंकना चाहिए। उसका उचित नाश करना चाहिए। मक्खियों से सुरक्षित खाद्यद्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

तन्तु कृमि रोग

(Enterobiasis)

पर्याय—(Threadworm, Enterobius vermicularis, Oxyuris vermicularis) है।

वर्णन—सूत के तागे के समान श्वेतवर्ण यह कृमि होता है इसलिए सूत्र कृमि भी कहलाता है। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न-भिन्न होते हैं। स्त्री कृमि आधा इञ्च लम्बा और पुरुष कृमि उससे आधा होता है। स्त्री कृमि की पूँछ पतली और नोकदार, पुरुष कृमि की थोथी गोल और कण्टकयुक्त होती है। स्त्री कृमि से असंख्य अण्डे उत्पन्न होते हैं। ये अण्डे दीर्घवृत्त (५० णु × २० णु), वर्णहीन, तश्तरी के समान एक पार्श्व में चपटे और दूसरे में उन्नत होते है। इनमें ऊपर का कवच पतला होता है और भीतर मुड़ी हुई इल्ली रहती है। इनमें कृमि की उत्पत्ति बहुत जल्दी याने २-३ सप्ताह में होती है। तन्तु कृमि के अण्डे मल में बहुत कम मिलते हैं, परन्तु गुद के आसपास त्वचा पर लगे रहते हैं। ये कृमि अधिकतर स्थूलांत्र के प्रारम्भिक विभाग में होते हैं। स्त्री कृमि गर्भवती होने पर आंत्र कुण्डलिका और मलाशय में चली जाती है। इन स्थानों के सिवाय क्षुद्रांत्र के मध्यभाग (Jejunum) में भी कृमि होते हैं। इन स्थानों में ये कृमि अगणित संख्या में होते हैं। तन्तुकृमि का उपसर्ग प्रायः बच्चों में होता है।

संक्रमण—मक्खियों द्वारा अण्डों से दूषित खाद्यपेय पदार्थों के सेवन से अंडे स्वस्थ व्यक्तियों के महास्रोत में प्रविष्ट होकर विकार उत्पन्न करते हैं। जो बालक तंतुकृमि के उपसर्ग से पीड़ित रहता है उसके हाथ गुदकण्डु के कारण हमेशा दूषित रहते हैं। उन हाथों से हाथ रूमाल, पेंसिल, तौलिया, खिलौने तथा खाने के पदार्थ दूषित होकर उनके द्वारा भी रोग का प्रसार होता है। इसके सिवा यह भी होता है कि रोगी स्वयं अपने दूषित हाथों से अण्डों का स्थानांतर गुद से मुख में करता है। इसका कारण यह है कि इन कृमियों से गुद, नासा तथा मुख के पास कण्डू उत्पन्न होती है और रोगी एक हाथ से इन स्थानों को खुजाता है। इस प्रकार के उपसर्ग को आत्मोपसर्ग (Auto-infection) कहते हैं।

इस तरह अपने हाथों से या दूषित खाद्यपेय पदार्थों से आमाशय में प्रविष्ट हुए अण्डे धीरे धीरे नीचे की ओर चले जाते हैं और इस प्रवास में उनके भीतर का गर्भ काफी परिवर्धित होता है। क्षुद्रांत्र के अंत तक वा स्थूलांत्र के प्रारम्भ में वह पूर्ण वर्धित होकर कवच से बाहर निकल कर आंत्र की कला में चिपट जाता है। स्त्री कृमि गर्भ धारण करने पर वहाँ से नीचे आंत्र कुण्डलिका या मलाशय में चले जाते हैं और गुदद्वार से बाहर भी निकलते हैं।

प्रतिषेध—रोगी को स्वतंत्र बिस्तरे में रखना चाहिए। उसके नाखून कटवाने चाहिएँ। हाथों के लिए हाथ मोजे और पैरों के लिए नीचे की ओर बंद किया हुआ पाजामा रात को सोते वक्त पहनाने चाहिएँ। इससे कृमि और उनके अण्डे बिस्तरे पर नहीं गिरते, आत्मोपसर्ग टल जाता है और खुजलाने पर भी गुद के आसपास की त्वचा नहीं छिलती। भोजन के पूर्व तथा आबदस्त लेने के बाद हाथों की विशेषतया नाखूनों की सफाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। रात में सोते वक्त गुद के ऊपर टंकण या पारद का मलहम लगावे। कृमियों का नाश करने के लिए सॅंटोनीन और क्यालोमल तीन दिन एक एक दिन बीच में छोड़कर देना चाहिए और दूसरे दिन म्याग सल्फ से विरेचन करना चाहिए, तथा क्वासिया, क्यालंबा जेंशन इत्यादि कड़वी[1] औषधियों की बस्ति देना चाहिए। उपसर्ग काल तक बच्चों को पृथक् कमरे में पृथक् बिस्तरे पर सुलाना चाहिए।

अंकुशमुखकृमि रोग

(Ancylostomiasis, Hookworm disease)

व्याख्या—अंकुशमुखकृमि के उपसर्ग से होनेवाला यह एक रोग है जिसमें रक्तक्षय, त्वचा का पीलापन, पचनसंस्थान के विकार इत्यादि अनेक लक्षण होते हैं।

वर्णन—इस रोग का कारण अंकुशमुख कृमि है। यह कृमि गोल, लम्बा, श्वेत, धूसर या पिंगल वर्ण का होता है। पुरुष कृमि की लम्बाई ८–११ मिलीमीटर और स्त्री कृमि की लम्बाई १०–१३ मिलीमीटर होती है। मुख का सिरा कुछ नोकीला होता है। मुख में चार अंकुश और दांत होते हैं जिनके द्वारा कृमि

---

1. प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः ॥ चरक ॥

श्लेष्मल त्वचा में चिपटा रहता है। सिर में दो ग्रन्थियाँ भी होती है जिनसे विषैला पदार्थ दंशस्थान पर स्रवता है। दोनों का पिछला सिरा मोटा और थोथा होता है। पुरुष कृमि में पिछला सिरा छत्र सदृश चौड़ा होता है।

ये कृमि क्षुद्रांत्र के मध्यभाग की श्लेष्मल त्वचा में चिपटे हुए रहते है और रक्त चूसकर अपना निर्वाह करते हैं। एक स्थान से जब रक्त पर्याप्त नहीं मिलता तब दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। स्त्री कृमि से असंख्य अण्डे उत्पन्न होकर प्रतिदिन मल के साथ उत्सर्गित होते हैं। ये आकार में दीर्घवृत्त ६० म्यू लम्बे और ४० म्यू चौड़े होते है। इनके (चित्र नं० ३०) ऊपर चिकना, पारदर्शक पतला एकहरा कवच होता है जिसके भीतर २-८ कोशाएँ दिखाई देती है। आंत्र में इनकी वृद्धि नहीं होती।

शरीर के बाहर उष्णता, आर्द्रता और वायु की अनुकूल परिस्थिति में उत्सर्गित अण्डे एक दो दिन में इल्लियों (छोटे बच्चों) में परिवर्तित होते हैं। तीसरे दिन उनकी लम्बाई ३०० णु होती हैं। इसके बाद उनमें दो बार परिवर्तन हो जाता है और उनके ऊपर एक कठिन आवरण (Sheath) बन जाता है जिसके कारण आर्द्रता और छाया में यह इल्ली महीनों तक सजीव रह सकती है। इस अवस्था मे इसकी लम्बाई ५५० णु होती है। यदि इस अवस्था में इसको मनुष्य शरीर में प्रवेश करने का मौका मिल जाय तो वह प्रवेश करके अपने इच्छित स्थान तक पहुँच सकती है।

कृमियों के प्रकार—अंकुश मुख कृमि की दो जातियाँ महत्व की हैं। (१) अं. ग्रहणीस्थ (A duodenale) (२) अं. अमेरिकन (Necator americanus)—प्रथम प्रकार का कृमि दूसरे से अधिक लम्बा और मोटा होता है। दूसरे के अण्डे दीर्घवृत्त होने पर भी पहले की अपेक्षा अधिक लम्बे और पतले होते है। भारतवर्ष में ये दोनों प्रकार मिलते हैं और प्रायः दोनों का मिश्र उपसर्ग होता हैं। तथापि उत्तर भारत में प्रथम प्रकार और दक्षिण भारत में दूसरा प्रकार अधिक होता है।

भौगोलिक प्रविभाग—जहाँ पर वायुमण्डल में आर्द्रता (पृष्ठ २७८) और उष्णता अधिक होती है ऐसे स्थानों में यह रोग अधिक होता है। अंकुश कृमि का उपसर्ग स्थानपदिक (Endemic) होकर वह उत्तर में ३५° अक्षांश और दक्षिण में ३०° अक्षांश के बीच में (Latitude) मर्यादित है। इसको अंकुश

कृमिकटिबंध (Hookworm belt) कहते हैं। इस कटिबंध के बाहर यूरूप में उसका उपसर्ग कोयले की खानों में और बोगदों या सुरंगों में (Tunnel) पाया जाता है। इसलिए इसको यूरूप में खनिक रक्तक्षय (Miner's anaemia) या सुरंग रोग कहते हैं। यह उपसर्ग आफ्रिका, चीन, ब्रह्मदेश, लंका, जावा, सुमात्रा और भारतवर्ष में है। भारतवर्ष में दार्जीलिंग, आसामदरी (Valley) आसाम, दुआरा (Dooars), मलाबार, मद्रास का पूर्व और दक्षिण किनारा इनके चाय और काफी के बगीचे में बहुत अधिक; पंजाब, सिंध, काठियावाड़ में अल्प और शेष प्रांतों में मध्यम है। जहाँ पर वर्षा अधिक और अधिक काल तक होती है वहाँ पर पाखाने के साथ जहाँ तहाँ फैले हुए अण्डों के लिए जमीन और जलवायु की स्थिति अनुकूल होने के कारण उनकी परवरिश ठीक होकर रोग अधिक होता है। जहाँ पर वर्षा कम और अल्प काल तक होने के कारण जमीन जल्दी सूख जाती है वहां पर अण्डों की परवरिश ठीक न होने से या उनका नाश होने से रोग अधिक नहीं हो सकता।

संक्रमण और शरीर-प्रवेश—इस रोग का संक्रमण रोगी के मल के साथ बाहर निकले हुए अण्डों के द्वारा होता है। ये अण्डे अनुकूल परिस्थिति में इल्ली में परिवर्तित होकर जमीन पर ही रहते हैं। शरीर में इनका प्रवेश दो मार्गों से होता है। (१) मुख—साग सब्जी तरकारी फल जल इत्यादि खाद्यपेय पदार्थों

अंकुशकृमि उपसर्ग का मुख्य मार्ग



चित्र नं० ३१

के साथ। यद्यपि इस मार्ग से इल्लियाँ शरीर में प्रवेश करके बढ़ सकती हैं तथापि यह साधारण मार्ग नहीं है। (२) त्वचा—यह मुख्य मार्ग है। इसमें जमीन पर इतस्ततः बिखरी हुई इल्लियाँ मौका मिलने पर त्वचा में से शरीर में प्रवेश करके रसायनी या रक्तवाहिनी द्वारा हृदय के दक्षिण विभाग में से फुफ्फुस में पहुँचती

हैं। वहाँ से श्वासनलिका और स्वरयंत्र में से अन्ननलिका द्वारा आमाशय में जाती हैं और फिर क्षुद्रांत्र के मध्यम भाग की श्लेष्मलत्वचा में चिपट कर वर्धित होती हैं। आंत्र में इस तरह पहुँचने के बाद पूर्ण प्रगल्भ कृमि बनने के लिए चार सप्ताह की अवधि आवश्यक होती है। साधारणतया प्रवेश पैरों की त्वचा से (चित्र ३१) होता है, क्योंकि अण्डों से दूषित भूमि पर नङ्गे पैर चलने से उनको त्वचा में घुसने के लिए अवसर मिल जाता है। कभी-कभी हाथों की, बाहुओं की और टखनों की त्वचा से भी ये प्रवेश करती हैं। जहाँ पर ये प्रवेश करती है वहाँ पर अपना आवरण छोड़ देती है जिससे चर्मशोथ होकर फुन्सी या घाव (Ground-itch sore) बनता है।

इल्लियों का शरीर में प्रवेश होने के दो महीनों के बाद उपसृष्ट मनुष्य के मल में अण्डे मिलने लगते हैं। साल डेढ़ साल तक अण्डों का उत्सर्ग उत्तरोत्तर अधिकाधिक होता है। इसके बाद छः महीनों में वह आधा हो जाता है और चार साल तक थोड़ा-थोड़ा होकर फिर बंद होता है। इसका तात्पर्य यह कि एक बार उपसृष्ट हुआ मनुष्य यदि फिर से उपसृष्ट न हो तो छः साल तक उपसृष्ट रहता है, याने यदि उसकी चिकित्सा न की जाय तो छः साल तक रोग का वाहक होता है। अंकुश कृमि के उपसर्ग से लक्षण उत्पन्न होने के लिए ५०–१२५ कृमियों का होना जरूरी होता है। अत्यधिक उपसृष्ट व्यक्तियों में ४००० तक कृमि पाये गये हैं। ऐसे व्यक्ति के मल में प्रतिदिन ४० लाख तक अण्डे उत्सर्गित हो सकते हैं।

प्रतिषेध—(१) कृमियों का नाश—जो मनुष्य कृमियों से उपसृष्ट हैं उनकी चिकित्सा का पूर्ण प्रबंध करना आवश्यक है। कृमियों का निदान सूक्ष्मदर्शक से मल की जाँच किए बगैर नहीं होता। अतः जिन स्थानों में यह रोग स्थायी है वहाँ के सब लोगों के मल की जाँच करके जो लोग उपसृष्ट मालूम हों उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

(२) स्थली को अदूषित रखना—उपसृष्ट मनुष्यों के इतस्ततः मल त्याग करने से भूमि अण्डों से दूषित हो जाती है। इसलिए मकानों के आस-पास, खेतों में, नदी या तालाब के किनारे मलत्याग करने से लोगों को रोका जाय, तथा उनके लिए उत्तम प्रकार के शौचस्थान बनाए जायँ जहाँ पर मक्खियाँ और जानवर न पहुँचने पावें। ये शौच स्थान दूषक टंकी (पृष्ठ २९८) के या गहरे गर्त के (Bored hole) स्वरूप के समीप होने चाहिएँ जिससे लोगों को वहाँ जाने में असुविधा न हो।

(३) पादत्राण से पैरों की रक्षा करना—कृमियों के बच्चे पैरों की त्वचा से प्रायः शरीर में प्रवेश करते हैं। अतः मकान के बाहर जाते समय जूता, बूट, चप्पल, खड़ाऊँ या अन्य पादत्राण का उपयोग करना चाहिए जिससे भूमिगत इल्लियों को शरीर में प्रवेश करने का मौका न मिले।

(४) शुद्ध आहार—खराब पानी, कच्ची साग-सब्जी, तरकारी, फल इनका सेवन वर्ज्य करना चाहिए। पानी हमेशा उबालकर और कच्चे फल इत्यादि अच्छी तरह धोकर सेवन करना चाहिए।

(५) रोग की उत्पत्ति, प्रसार, प्रतिबन्धन इत्यादि के सम्बन्ध में जनता में जानकारी उत्पन्न करना चाहिए।

अंकुशोपसर्ग का परिणाम—कृमियों के उपसर्ग में अंकुशोपसर्ग सबसे खराब है क्योंकि जहाँ पर यह होता है वहाँ पर इसका उपसर्ग अत्यन्त व्यापक रहता है। बंगाल के कोयले की खानों में काम करने वालों में ७०% मजदूर इससे उपसृष्ट रहते हैं। इसके अतिरिक्त इससे भयानक स्वरूप का रक्तक्षय उत्पन्न होता है जिससे मजदूरों की कार्यक्षमता घटती है, अन्य उपसर्गों के साथ प्रतिकार करने की शक्ति नष्ट होकर वे अन्यान्य उपसर्गों के शिकार बनते हैं, बच्चों में उपसर्ग होने से उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास रुक जाता है और स्त्रियों में गर्भपात, वन्ध्यता, स्तन्याभाव ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इससे वैयक्तिक जो अस्वास्थ्य होता है उसकी अपेक्षा मजदूरों की कार्यक्षमता घटने के कारण होनेवाला नुकसान राष्ट्रीय दृष्ट्या बहुत महत्व का है।

कचकृमिरुग्णता

(Trichinosis)

यह रोग उष्णकटिबन्ध की अपेक्षा उसके बाहर अमेरिका, यूरूप, चीन, अफ्रिका इत्यादि देशों में अधिक पाया जाता है जहाँ पर सूअर के मांस का सेवन होता है। भारतवर्ष में यह क्वचित् दिखाई देता है। इसका कारण कुण्डलाकार कचकृमि (Trichinella spiralis) है। यह कृमि मनुष्य तथा बिल्ली, कुत्ता, रीछ, चूहा, सूअर इत्यादि अनेक मनुष्येतर प्राणियों में पाया जाता है।

जीवनी—स्फीत कृमियों के समान इसकी भी दो अवस्थाएँ (पृष्ठ ४६२) होती हैं। परन्तु विशेषता यह है कि एक ही प्राणी में इसकी आन्त्रगत और शारीरिक या धातुगत दोनों अवस्थाएँ होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इसकी दो अवस्थाओं के लिए दो स्वतन्त्र प्राणियों की आवश्यकता नहीं होती, एक ही प्राणी मुख्य तथा मध्यस्थ आतिथेय (Host) का काम करता है।

मांस में अन्तःकोष्ठित (Encysted) इल्लियों के रूप में यह कृमि आन्त्र में पहुँचता है। वहाँ इल्लियाँ स्वतन्त्र होकर शेषान्त्र की श्लेष्मकला पर चिपकती हैं और २४-४८ घंटे में प्रौढ कृमि में परिवर्तित होती हैं। इसके बाद नर मादा को निषिक्त करके मर जाता है और अपने जीवन भर, जिसकी कालावधि ३०-३५ दिन की होती है, आन्त्र की लसवाहिनियों में इल्लियों को उत्पन्न करके छोड़ती रहती है। एक मादा से १५०० के करीब इल्लियाँ उत्पन्न होती हैं। ये इल्लियाँ रक्त में परिभ्रमण करके शरीर के सम्पूर्ण अंगों और धातुओं में पहुंचती हैं। परन्तु पेशियों को छोड़ कर अन्य धातुओं मे पहुँची हुई इल्लियाँ नष्ट होकर शोषित हो जाती हैं। पेशियों में पहुंची हुई इल्लियाँ ५ सप्ताह में अपनी पूर्ण वृद्धि करके वहाँ पर अन्तः-कोष्ठित हो जाती हैं। पूर्ण विकसित इल्लियाँ १ मिलीमीटर लम्बी होती हैं और गेंडुली मारकर रहती हैं। एक कोष्ठ में कभी-कभी ४ तक इल्लियाँ मिल सकती हैं। इनमें से कुछ इल्लियाँ मरने पर उन पर चूना सचित होता है परन्तु अधिकसख्य इल्लियाँ अपने कोष्ठों में बरसों तक (२५-३१ वर्ष) निद्राण (Dormant) स्थिति में रहकर मौका मिलने पर दूसरों को उपसृष्ट कर सकती हैं।

संक्रमण—मनुष्यों पर इस कृमि का उपसर्ग कच्ची अवस्था में सूअर का उपसृष्ट मास खाने से होता है। सूअर उपसृष्ट चूहों को खाने से या अन्य प्राणियो के उपसृष्ट उच्छेप (Garbage) को खाने से उपसृष्ट होता है। यद्यपि शरीर की सब पेशियों में इल्लियाँ अन्तः कोष्ठित हो सकती हैं तथापि महाप्राचीरा (Diaphragm), अन्तर्पर्शुकी (Intercostal), जिह्वा, नेत्र और चर्वण की पेशियाँ अधिक पसंद की जाती हैं।

प्रतिबन्धन—(१) वधस्थान के आस-पास चूहों का नाश करना। (२) सूअरों को खाने के लिए अच्छा मांस देना। (३) मांस का निरीक्षण करके

जिस पिस्सू के शरीर में भ्रूण होते हैं वह बहुत ही सुस्त हो जाता है। और कुएँ या तालाब की तली में पड़ा रहता है। इसलिए जब तक इनमें काफी पानी रहता है तब तक ये बालटी या डोलची के पानी में बहुत कम आते हैं। परन्तु गरमी के दिनों में जब पानी बहुत कम हो जाता है तब ये पानी में आते हैं और उसके साथ मनुष्यों के आमाशय में चले जाते हैं। यही कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में इसका उपसर्ग और ऋतुओं की अपेक्षा अधिक हुआ करता है। आमाशय में जाने के पश्चात् पिस्सू जठराम्ल से गल जाते हैं और उनके भीतर के भ्रूण स्वतन्त्र होते हैं, जिनमें अधिकसंख्य मर जाते हैं। जो थोड़े से (कभी-कभी बहुत भी) बचते हैं वे जठर की दीवार में घुस जाते हैं।

उसके पश्चात् उनमें क्या परिवर्तन होते हैं वे ठीक-ठीक मालूम नहीं हुए हैं। परन्तु यह माना जाता है कि ये उदावरण के पीछे के धातु में जाकर बढ़ते हैं। उसके पश्चात् नर मादा को गर्भित करके मर जाता है। भ्रूणों की जीवनी के लिये पानी की आवश्यकता होने के कारण और पानी भूमि में होने के कारण वहाँ से मादा अपनी अन्तःप्रवृत्ति से जमीन की ओर होने वाले अंगों की ओर चल देती है। इस प्रवृत्ति को ज्यावर्तना (Geotropism) कहते हैं। इसलिए यह कृमि ९० प्र० श० पैरों पर प्रायः बाहरी टखने के पास निकलता है। इसके अतिरिक्त कभी हाथों में, कभी जिह्वा में, कभी शिश्न या वृषणों में, कभी स्तनों में, कभी चूतड़ में भी यह कृमि निकलता है। भिश्तियों की पीठ पानी से सदव तर रहने के कारण उनमें कृमि कई बार पीठ पर निकला करता है। आमाशय में प्रवेश होने के पश्चात् त्वचा पर निकलने के लिए मादा कृमि को लगभग १२ मास लग जाते हैं और यही उसकी आयुर्मर्यादा है। इसके अन्त में वह अपने बच्चों को पानी में उत्सर्गित करके स्वय मर जाती है। कभी-कभी इससे अधिक काल (१५ वर्षतक) भी लग जाता है, परन्तु यह अपवाद है। पानी में प्रविष्ट होने पर भ्रूणों की वृद्धि उपर्युक्त पद्धति से होती है। इस प्रकार इस कृमि की जीवनी मनुष्य और पिस्सू दोनों में विभक्त रहती है।

रोग का प्रसार—स्नायुक रोग से पीड़ित मनुष्य जब पानी में चला जाता है तब मादा अपने भ्रूण पानी में उत्सर्गित करती है। ये भ्रूण जलपिस्सू से ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार उपसृष्ट जलपिस्सू से दूषित जल के सेवन से यह रोग मनुष्यों पर संक्रान्त होता है। पानी में जाने से जैसे जल दूषित होता है वैसे जलाशय के किनारे पर स्नायुक कृमि के व्रण धोने से पानी दूषित हो

जाता है। इसलिए जहाँ पर बावड़ी (सीढ़ी का कुँआ) और तालाब का पानी पीने के काम में आता है वहाँ पर यह रोग हो सकता है, क्योंकि स्नायुक पीड़ित लोग भी इनके भीतर जाकर पानी लेते हैं। जहाँ पर पीने के पानी के लिए जलदाय विभाग (Water-works department) के बम्बों और कलों का प्रबन्ध होता है वहाँ पर पानी दूषित होने का कोई मौका न मिलने के कारण यह रोग नहीं होता। अर्थात् यह रोग बावड़ी और तालाब का पानी पीनेवाले देहातों और शहरों में ही होता है और वहाँ पर इससे बहुत लोग पीड़ित होते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग अफ्रिका, एशिया मायनर, अरेबिया, तुर्कस्थान, ईरान, ब्राझील इत्यादि देशों में पाया जाता है। भारतवर्ष में यह रोग वायव्य सीमाप्रान्त, पंजाब, राजपूताना, मध्यभारत, बम्बई, मद्रास, मैसूर इन प्रान्तों में होता है। संयुक्तप्रान्त, बिहार, आसाम बङ्गाल, उडीसा इनमें नहीं होता। सक्षेप में यह रोग पूर्व भारत में न होकर पश्चिमभारत में होता है।

प्रतिषेध—खराब पानी के सेवन से यह रोग होता है। इसलिए पीने का पानी[1] हमेशा उबालकर पीना उचित है। कृमिवाहक जल पिस्सू मोटा और दृष्टिगम्य होता है, इसलिए यदि उबालने का कार्य न हो सके तो महीन कपडे से छानने से भी दूषित जल दोषरहित हो जाता है। अतः पानी हमेशा कपडे से छानकर (वस्त्रपूत) पीना उचित है। तालाब सीढ़ी के कुएँ में रोगी के जाने से उनका पानी दूषित हो जाता है अतः जहाँ पर रोग होता है वहाँ पर जिन जलाशयों के भीतर मनुष्य पानी लाने के लिए जा सकता है ऐसे जलाशयों का पानी पीना वर्ज्य करके गहरा या नालीदार कुआँ (Tube well) बनाकर इसका पानी पीने के काम में लाना चाहिए। नहरुआ से पीड़ित लोगों को कुएँ में, नदी में, या तालाब में जाने से मना करना चाहिए। कुछ मछलियाँ (Barbel) स्नायुक कृमियों की इल्लियों को तथा चक्राक्षों को खाती हैं। उनको कुओं में तथा तालाब में छोड़ने से इसका उपसर्ग कम होने में सहायता होती है।

---

१. तत्र व्यापन्नस्य (जलस्य) अग्निक्वथनम् सुश्रुत ॥

धर्मशास्त्र में पानी हमेशा कपडे से छानकर पीने का उपदेश किया गया है :— दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ मनुस्मृति ॥ कपड़े से छानने का उद्देश्य भी लिखा है—जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थं वस्त्रशोधितं पिबेत् ॥ कुल्लूकभट्ट ॥ अष्टांगसंग्रह में लिखा है—घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षरणम् ॥

घरेलू मक्खी

(House fly)

खाद्यपेय सवाहित रोगों के प्रसार में मक्खी का बड़ा भाग होता है। इन रोगों के अतिरिक्त नेत्र और त्वचा के अनेक रोग मक्खियों द्वारा फैलते हैं। बहुतेरे लोग मक्खी को निरूपद्रवी और तुच्छ समझते हैं, परन्तु यह कल्पना गलत है। मक्खियों का हमारे स्वास्थ्य से घनिष्ठ सबन्ध है।

किसी स्थान में मक्खियों उत्पत्ति उसके आसपास मक्खियों के प्रजोत्पादन के लिए तथा उत्पन्न प्रजा के पोषण के लिए उपयुक्त गन्दगी के अस्तित्व की निदर्शक होती है। अतः स्वास्थ्यरक्षा और रोगप्रतिबन्धन की ऐसी कोई पद्धति पूर्ण नहीं कही जा सकती जो मक्खियों की उत्पत्ति की रोकथाम और उत्पन्न मक्खियों का नाश नही करती, मैले तक मक्खियों का प्रवेश नहीं होने देती तथा स्वजनिक एवं सार्वजनिक स्थानों में खाद्यद्रव्यों की मक्खियों से सुरक्षा करने पर ध्यान नहीं देती।

मक्खी की जीवनी—मक्खी की आयु एक महीने के लगभग होती है। वह अपने जीवन में ५-६ बार अण्डे देती है और प्रत्येक बार अण्डों की संख्या १००-१५० तक होती है। अर्थात् एक महीने में एक मक्खी २००० मक्खियाँ उत्पन्न कर सकती है। घोड़े की लीद, मल, कूड़ा-कर्कट, तरकारियों के टुकड़े, छीलन इत्यादि अण्डे देने के स्थान होते हैं। अण्डों की वृद्धि के लिए आर्द्रता, और कुछ गरमी की आवश्यकता होती है। अनुकूल परिस्थिति में ८-२४ घण्टे में अण्डे से इल्ली बन जाती है। इसकी आयु २-५ दिन की होती है जिसमें यह तीन चोलियाँ बदलती है। इसके बाद कुप्पक की अवस्था आती है जिसकी आयु ३-७ दिन की होती है। कुप्पा से मक्खियाँ निकलती हैं। इस तरह अण्डा, इल्ली, कुप्पक और मक्खी इन चार अवस्थाओं में मक्खी का जीवन विभक्त होता है जिसके लिए औसत १०-१२ दिन लगते हैं।

मक्खी रोग कैसे फैलती है—मक्खी की आदतें बड़ी खराब होती हैं। वे मनुष्यों के पाखाना, थूक, बलगम, मूत्र इत्यादि त्याज्य चीजों से बहुत प्रेम करती हैं, उनको खाती हैं। खाने के पश्चात् वहाँ से उठकर मनुष्यों के भोजन के पदार्थों (जैसे रोटी, दूध, मिठाई इत्यादि) पर बैठती हैं, बैठते समय विष्ठा भी त्यागती हैं। भोजन को अपने थूक में घोलकर चूसा करती हैं। अतः पाखाने में जो जीवाणु होते हैं वे उनके टाँगों से, परों से, थूक से तथा विष्ठा से हमारे भोज्य

द्रव्यों में मिल जाते हैं। वैसे ही मनुष्यों की जब आँखें आती हैं तब आँखों पर बैठती हैं और शरीर के पूययुक्त व्रणों पर वैठती हैं और दूसरे व्यक्तियों की आँखों पर तथा शरीर पर बैठकर कुष्ठ, विसर्प, पूय इत्यादि के जीवाणुओं का संसर्ग दूसरे स्वस्थ लोगों को पहुँचाती हैं। मक्खी के परों और टाँगों पर हजारों और आँतों में लाखों जीवाणु पाये जाते हैं। इसके पैरों पर जीवाणु ३६ घण्टों तक, थूक में ८ दिन तक और मल में १८ दिन तक जिन्दे रहते है। एक बार दूषित हुई मक्खी आन्त्रकोप दण्डाणु (बै० एन्टरीटीडस) का सवहन ८ दिन तक, अगारक्षत दण्डाणुओं (B Anthracis) का ५ दिन तक और उनके छुल्लकों का २० दिन तक, क्षयदण्डाणुओं का ७ दिन तक, रोहिणी दण्डाणुओं (बै० डिप्थीरिआ) का एक दिन तक और आमातिसार के कोष्ठों का एक दिन तक कर सकती है।

मक्खियों से रक्षा—(१) अण्डे इल्ली कुप्पा का नाश—घोड़े की लीद, पाखाना, कूड़ा-करकट इत्यादि के नाश का तुरन्त और उचित प्रवन्ध करना चाहिए। घर में कूड़ा रखने के लिए ढकनेदार पात्र होना चाहिए। मैले के लिए भी ढकनेदार पात्र होना चाहिए तथा मैला बन्द गाड़ियों में ले जाना चाहिए। मैले या कूडा जमा करने का स्थान बस्ती से कम से कम एक मील की दूरी पर होना चाहिये। जहाँ पर मक्खियाँ अण्डे देती हैं वहाँ पर सोहागे का १–२% या क्रविपव (Cresol) का ५% घोल छिड़कने से अण्डे या इल्लियाँ मर जाती हैं। खाइयों में जहाँ पर मैला भरा जाता है वहाँ पर खंदक भरने के बाद उस पर मिट्टी खूब ठोंक पीटकर पाटना चाहिए। (२) मक्खियों का नाश—यह कार्य मक्खी पकड़ कागजों (Fly-papers) द्वारा, तार की जाली के पंखों द्वारा, फ्लिट या अन्य कीटक नाशक फुव्वारों द्वारा, फर्मेलिन जैसे विषैले घोल के द्वारा (१ भाग फर्मेलिन २५ भाग पानी में थोडी चीनी के साथ मिलाकर वह पानी एक तस्तरी मे रखने से मक्खियाँ उसको पीकर मर जाती है) और मक्खियों के पिंजरों द्वारा किया जाता है।

द्वि द्वि. त्रि. (D D T.)—इसका पूर्ण नाम द्विनीर-द्विदर्शलत्रिनीर दत्तोण्य (Dichloro-diphenyl-trichloroethene) है। इसका आविष्कार १८७४ में एक जर्मन रसायनज्ञ ने किया, परन्तु इसके कीटकनाशक गुणों का ज्ञान इस महायुद्ध में हुआ। यह स्थिर स्वरूप का बहुगुणी कीटक नाशक है जिसके केवल स्पर्श से मक्खियाँ, मच्छर, खटमल, जूँ तथा अन्य कीटक समूल नष्ट होते हैं। इसका प्रयोग मिट्टी के तेल में बनाए हुए ५% घोल के रूप में किया जाता है। यदि

इसका उपयोग फव्वारे से घरों या झोपड़ियों के किवाड़ों पर तथा भित्तियों पर मास भर में एक वार किया जाय तो उस पर वैठनेवाली सब मक्खियाँ, मच्छर, झिंगुर, खटमल इत्यादि कीड़े नष्ट हो जाते हैं। १००० घनफूट स्थान के लिए १०० तोला मिश्रण पर्याप्त होता है । इसी का उपयोग मक्खियों की उत्पत्ति स्थानों में छिड़कने के लिए भी किया जाता है और उससे उनकी इल्लियाँ नष्ट होती हैं। भित्तियों और कीवाड़ों पर लगाए हुए इस द्रव्य का घातक परिणाम दो मास तक जारी रहता है। पृष्ठ ४०६ देखिए।

मच्छरों की उत्पत्ति के स्थानों पर भी इसका उपयोग करने से (पृष्ठ ४०६) इल्लियों का नाश होता है। पेरिसग्रीन (पृष्ठ ४०७) के समान विमान से भी इसका उपयोग किया जाता है।

इसका २% घोल सिर के वालों में लगाने से जूँ का तथा उनकी इल्लियों का पूर्ण नाश हो जाता है।

धूपेन्य षण्णीरेय (Benzene hexachloride (666)—यह भी द्वि• द्वि• त्रि• के समान कीटक नाशक है। परन्तु बड़े पैमाने पर अभी तक प्रयोग नहीं किया गया है।

द्विप्रोद्ल व्युत्तैलीय (Dimethyl phthalate)—इसको संक्षेप में द्विप्रोव्यु (D M. P.) भी कहते हैं। निम्बुकी तैल (पृष्ठ ४०५) के समान यह कीटक प्रत्यापसारक (Insect repellant) है, परन्तु उससे भी अधिक वीर्यशाली है। त्वचा पर एक वार लगाने से दो तीन घण्टों तक काटनेवाले कीड़ों से त्वचा की रक्षा होती है। यह देखा गया है कि यदि हस्तपादादि अनावृत अंगों पर इससे सिक्त (Impregnated) वस्त्रों का उपयोग किया जाय तो सब प्रकार के दंशक कीटकों से शरीर की रक्षा हो जाती है। हप्ते में एकाध बार इनका सेवन करने से काम चल जाता है।

द्विघृतलव्युत्तैलीय (Dibutylphthalate) इसको संक्षेप में द्वि घृ व्यु (DBP) भी कहते हैं। इसका भी कार्य द्विप्रोव्यु के समान है परन्तु उससे यह अधिक स्थिर है और वातावरण की आर्द्रता के साथ यह अधिक प्रतीकार कर सकता है। यह द्रव्य कुटकी (Mite) नाशन के लिए अधिक सफल होता है।

ये सब द्रव्य मच्छर, भुनगा, जूँ, पिस्सू, वालमक्षिका, किलनी, कुटकी, मक्खियाँ इनके नाशक होने के कारण विषमज्वर, श्लीपद, वालुमक्षिकाज्वर, कालाजार, तन्द्रिक, प्लेग, निद्रारोग, आन्त्रिक, अतीसार, विसूचिका इत्यादि कीटक संवाहित रोगों के प्रतिबन्धन में बहुत ही उपकारक हो गए हैं।

बिन्दूत्क्षेप—वायुसंवाहित रोग

राजयक्ष्मा

पर्याय—क्षय[1], शोष, रोगराट्, तपेदिक, राजयक्ष्मा, Phthisis, Consumption, Tuberculosis.

हेतु—इस रोग का कारण यक्ष्मा दण्डाणु (B. Tuberculosis) है। इसकी लम्बाई २–४ णु और चौड़ाई तिहाई से आधा णु है। इसका अधिकार इतना व्यापक है कि उसके क्षेत्र में जल, स्थल और आकाश में विचरण करनेवाले असंख्य जीवों का समावेश होता है। इन विविध जीवों पर अधिकार करनेवाला यह तृणाणु यद्यपि बाह्यस्वरूप में प्रायः एक सा होता है तथापि विकारकारिता की दृष्टि से इसके मानवी, गव्य, पाक्षिक (Avian) और मात्स्य (Piscine) करके चार भेद किये गये हैं। इसमें प्रथम तीन मनुष्यों में विकार उत्पन्न कर सकते हैं परन्तु अधिक विकार उत्पन्न करने की दृष्टि से मानवी (Hominis) और गव्य (Bovis) दो ही भेद महत्व के हैं। यक्ष्मदण्डाणु के आवरण में स्निग्ध पदार्थ होने से उसमें प्रतीकारकता बहुत होती है। दूध में होनेवाले दण्डाणु ९५° सें. से कम ताप पर नष्ट नहीं होते। भारत में दूध उबाल कर पीने का रिवाज होने के कारण दूध द्वारा क्षय का प्रसार बहुत कम होता है। अंधेरे स्थानों में ये महीनों तक जीवनक्षम और उपसर्गकारी रह सकते हैं। रासायनिक उपसर्ग नाशकों के साथ प्रतीकार करने की शक्ति इनमें बहुत अधिक होती है। जठराम्ल का परिणाम इनके ऊपर कुछ भी नहीं होता। इसलिए खाद्यपेय द्रव्यों के साथ सेवन किए गए सजीव दण्डाणु आन्त्र में पहुँच कर विकृति कर सकते हैं। प्रकाश का परिणाम इनके ऊपर बहुत अच्छा होता है। सुप्रकाशित स्थान में ये ७–८ दिन में और प्रत्यक्ष धूप में ७–८ घंटों में ये मर जाते हैं। यही कारण है कि अंधेरे गन्दे महल्लों और मकानों में क्षय का डेरा जमा

---

१. इन शब्दों की निरुक्ति आयुर्वेद में निम्न प्रकार से दी गयी है—संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः॥ सुश्रुत॥ यच्च राज्ञा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः। देहौषधक्षयकृतेः क्षयस्तत्सम्भवाच्च सः। रसादिशोषणाच्छोषो रोगराट् तेषु (रोगेषु) राजनात्॥ अष्टांगसंग्रह॥ कञ्जम्पशन और थायसीस शब्द संस्कृत क्षय और शोष के ही ठीक पर्याय हैं।

रहता है और उसका प्रसार होता है और सुप्रकाशित और सूर्य प्रकाशित स्थानों में उसके पैर उखड़ जाते हैं और प्रसार नहीं हो सकता।

उपसर्ग स्थान—क्षयी गौ और मनुष्य राजयक्ष्मा के उपसर्ग स्थान होते हैं। क्षयी गौ के दूध में क्षय दण्डाणु उत्सर्गित होते हैं। मनुष्य में राजयक्ष्मा शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यंग में (आमाशय को छोड़कर) हो सकता है और उसके अनुसार अस्थिक्षय, आंत्रक्षय, ग्रन्थिक्षय इत्यादि नाम दिए जाते हैं। सबसे अधिक फुफ्फुस में होता है और उसी को केवल क्षय या राजयक्ष्मा कहते हैं। जिस अङ्ग में विकृति होती है उस अङ्ग के स्राव या मल में दण्डाणु पाए जाते हैं परन्तु फौफ्फुसिक विकृति को छोड़कर अन्य अङ्गों की विकृति में इनकी संख्या अत्यल्प या नगण्य होती है। तृतीयावस्था के फुफ्फुसक्षयी के २४ घण्टे के थूक में इनकी संख्या २ अब्ज से भी अधिक रहती है। इसलिए रोग प्रसार की दृष्टि से फुफ्फुसक्षयी उपसर्ग का प्रधान स्थान होता है।

सहायक कारण—(१) वंश—राजयक्ष्मा के लिए संसार की मनुष्य जाति के सब वंश (Race) एक से होते हैं और कोई भी अग्रहणशील नहीं है। परन्तु तरतम भेद से गोरों की अपेक्षा रंगीन लोग और नागरी एवं सभ्य लोगों की अपेक्षा आदिम वन्य या जंगली (पृष्ठ ३८४) अधिक पीड़ित होते हैं। परन्तु इसका कारण वंश भेद न होकर परिस्थिति आहार, विहार, इत्यादि होता है।

(२) आयु—राजयक्ष्मा सब अवस्थाओं में हो सकता है। परन्तु बचपन में ५ साल की अवस्था तक कम होता है और उसमें उसका स्वरूप फौफ्फुसिक की अपेक्षा मस्तिष्कावरणगत अधिक रहता है। १०-२० साल की अवस्था में इसकी वृद्धि होती है और २०-३० साल की अवस्था में सबसे अधिक दिखाई देता है। उसके पश्चात् वह कम हो जाता है। स्त्रियों में प्रजनन की अवस्था में क्षय अधिक होता है और हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में अधिक दिखाई देता है।

(३) धन्धे—जिन लोगों को धूलि, धूआँ, बालू, तन्तु इत्यादि से भरी हुई वायु में काम करना पड़ता है उनमें क्षय उत्पन्न (पृष्ठ २७०) होने की अधिक संभावना होती है।

(४) परिस्थिति—अधिक जनसंमर्द, गन्दगी, तरी, अँधेरा, खराब हवा इत्यादि से युक्त गुंजान महल्लों और मकानों में रहनेवाले राजयक्ष्मा से अधिक पीड़ित होते हैं। इसी कारण से परदा करनेवाली स्त्रियां इससे अधिक पीड़ित होती हैं।

(५) सामाजिक कुरीतियाँ—परदा, बाल्यावस्था में मातृपदप्राप्ति और जल्दी जल्दी बच्चे होना, एक ही थाली से और प्याले से खान-पान, इतस्ततः थूकना इत्यादि कुरीतियां रोग प्रसार में सहायता करती हैं।

(६) दारिद्र्य या श्रमाधिक्य—इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। दारिद्र्य के कारण लोगों को अधिक काम करना पड़ता है। इसलिए यह रोग अल्पवेतन पर काम करनेवाले मुहर्रिर, लिपिक (क्लर्क), कुली, गिरणियों और कारखानों में कामगार, मजदूर इत्यादि में अधिक हुआ करता है। दारिद्र्य अनेक रोगों की उत्पत्ति का प्रधान कारण (पृष्ठ ३८०) है। दारिद्र्य का मुख्य परिणाम पर्याप्त पौष्टिक आहार न मिलने में होता है जिससे शरीर की प्रतीकारक शक्ति घट (पृष्ठ ७६) जाती है और क्षय तथा अन्य रोग उत्पन्न होते हैं। यूरुप, अमेरिका के लोग धन समृद्धि के कारण राजयक्ष्मा से कम पीडित हो रहे हैं और भारत के लोग अधिकाधिक पीड़ित होते जा रहे हैं।

(७) कुलजप्रवृत्ति—राजयक्ष्मा न कुलज है न सहज। इससे उपसृष्ट माता-पिता के शुक्रकीट और रजाणु गर्भोत्पादनक्षम रहते हैं। इसके दण्डाणु अपरा में से गर्भ में भी नहीं जा सकते। परन्तु उसमें कुछ कुलजता दिखाई देती (पृष्ठ २१५) है, जिसके कारण क्षयी माता पिता के बालक औरों की अपेक्षा राजयक्ष्मा से जल्दी उपसृष्ट हो सकते हैं। परन्तु यदि बालक माता पिता से जन्म के पश्चात् दूर रख लिया जाय तो उसमें रोग नहीं उत्पन्न होता।

(८) अन्य रोगों से सहायता—बच्चों में अस्थिवक्रता, कुकुरखाँसी, रोमान्तिका, स्त्रियों में गर्भावस्था और प्रसव, सब में विषमज्वर, कालाजार, मधुमेह इत्यादि रोग क्षय की उत्पत्ति में सहायता करते हैं।

(९) युद्ध—आधुनिक युद्ध की आपत्तियों से समाज का कोई अङ्ग बच नहीं सकता। इसके कारण सबको अपर्याप्त कदन्न खाना पडता है, कल कारखानों की वृद्धि के कारण शहरों में अगणित लोगों को रहने के लिए गन्दे गुञ्जान महल्लों और घरों में रहना पड़ता है तथा अग्रहणशील लोगों के साथ ग्रहणशील (दिहाती, जङ्गली इत्यादि पृष्ठ ३८४) लोगों को काम करना पड़ता है। इन सब बातों का परिणाम क्षय की वृद्धि होता है।

संक्रमण—फुफ्फुसक्षयी के थूक में अगणित यक्ष्मदण्डाणु (पृष्ठ ४८९) विद्यमान होते हैं। इसलिए रोगी का थूक सबसे भयावह उपसर्गकारी वस्तु होता है। क्षय दण्डाणुओं का संक्रमण निम्न ३ मार्गों से होता है—

(१) वायु द्वारा—थूक सूखने पर उसके छोटे छोटे कण बनते हैं जो झाड़ू लगाते समय, हवा के झोंके के साथ तथा प्रवात के समय वातावरण में उठकर बहुत देर तक लटकते रहते हैं और दूसरे मनुष्यों के शरीरों में नासा द्वारा प्रवेश करते हैं, खाद्यपेय पदार्थों में जाकर उनको दूषित करके उनके सेवन से प्रवेश करते हैं। सूर्य की धूप में गिरा हुआ थूक छः घंटों में सूखकर तद्गत दण्डाणु नष्ट हो जाते हैं (पृष्ठ २५४) परन्तु तर, अँधेरे दुष्प्रव्यजित घरों में इतस्ततः थूकने से गिरा हुआ थूक महीनों तक उपसर्गक्षम हो सकता है। इसलिए ऐसे स्थानों में इनका संक्रमण वायु द्वारा होता है। क्षय संक्रमण का यही मुख्य मार्ग है।

(२) बिन्दूत्क्षेपों द्वारा—क्षयी के खाँसने, छींकने, उच्चैर्भाषण से हवा में असंख्य दण्डाणु थूक के सूक्ष्म कणों के साथ निकला करते हैं। इन बिन्दूत्क्षेपों में जो दण्डाणु होते हैं वे बहुत उग्र स्वरूप के होते हैं। यदि अँधेरे दुष्प्रव्यजित स्थान में रोगी के सामने कोई स्वस्थ व्यक्ति बैठे तो उसके शरीर में अन्तः श्वसन के समय ये दण्डाणु प्रवेश करते है। बिन्दूत्क्षेपों का टप्पा छींक में २-३ फूट और खाँसी में इससे भी कम रहता है।

(३) खाद्यपेयों द्वारा—गौ राजयक्ष्मा से पीडित हो तो उसके दूध तथा मांस में (पृष्ठ १०२, ११८) यक्ष्म दण्डाणु विद्यमान होते हैं जो उनको अच्छी तरह न पकाने से विकारक्षम स्थिति में आन्त्र में पहुच जाते हैं। खाद्य द्रव्यों की दुष्टि हवा से या मक्खियों से हो सकती है। खाद्य द्रव्यों में दूध ही विशेष महत्त्व का है जो क्षय का संक्रमण कर सकता है और इसका महत्व बालकों में क्षय उत्पन्न होने की दृष्टि से है। भारतवर्ष में क्षय का संक्रमण इस मार्ग से बहुत नहीं होता क्योंकि यहाँ सूर्य प्रकाश की विपुलता के कारण गौ क्षय से कम पीड़ित होती है तथा दूध उबालकर पीने का (पृष्ठ १०३) रिवाज होने के कारण दूध के दण्डाणु मर जाते हैं।

प्रतिबन्धन

राजयक्ष्मा दारिद्र्यजन्य रोग होने के कारण उसका प्रतिबन्धन राज्यद्वारा या सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा निम्न पद्धतियों से होना चाहिए—

(अ) क्षयनैदानिकी (T. B Clinic)—यह एक क्षय के लिए स्थापित स्वतन्त्र औषधालय होता है। इसमें रोगियों के बैठने के लिए स्थान, उनकी जाँच करने के लिए परीक्षागृह, नैदानिकीय प्रयोगशाला (Clinical laboratory) क्षरश्मि-साधित्र (X-ray apparatus), औषधालय इत्यादि सब साधन सामग्री

रहती है। इसका अध्यक्ष क्षयज्ञ चिकित्सक होता है और उसके नीचे अनेक चिकित्सक, स्वास्थ्य अभ्यागत (Health visitors) परिचारिकाएँ काम करती हैं। इस प्रकार की नैदानिकी लाख दो लाख लोगों के पीछे एक के हिसाब से स्थापित होनी चाहिए और इसके द्वारा निम्न काम होने चाहिएँ—

(१) जनता में ज्ञान फैलाना—व्याख्यान, निरूपण, आकाशवाणी, हस्त-पत्रिकाएँ इत्यादि के द्वारा जनता में शुद्ध वायु, सूर्यप्रकाश, पौष्टिक आहार, व्यायाम, पर्दे के तथा बाल-विवाह के दोष, क्षय प्रसार के कारण, रोग सन्देह होने पर निदान करके चिकित्सा कर लेने की उपयोगिता इत्यादि के सम्बन्ध में ज्ञान फैलाना चाहिए।

(२) रोग निदान—राजयक्ष्मा कालिक रोग है जिसका उपसर्ग बचपन में हुआ करता है और जो विवर्धमानावस्था और युवावस्था में जागृत् या प्रकट होता है। इसलिए यदि इसका निदान प्रारम्भ में किया जाय तो उसकी रोक-थाम करने में आसानी होती है। इसलिए इसके द्वारा संशयित और असंशयित सब लोगों की जाँच की जाती है। इस कार्य में क्ष-रश्मि बहुत उपयोगी है। आजकल सामूहिक क्ष-रश्मि चित्रणा (Mass radiography) के द्वारा क्षय का निदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त स्वरयन्त्र का फाहा (Laryngeal swab) तथा थूक की सूक्ष्मदर्शक एवं सवर्ध (Cultutre) से जाँच करके भी निदान किया जाता है।

(३) चिकित्सा में मार्गदर्शन—राजयक्ष्मा के लिए जो लोग नैदानिकी में आते हैं उनको आहार-विहार, रहन-सहन के सम्बन्ध में ठीक मार्गदर्शन करना, जो रोगी घर में रहते हैं उनको रोग प्रसार रोकने की दृष्टि से रोगी के रहने के स्थान, थूक का नाश इत्यादि के सम्बन्ध में व्यावहारिक सूचनाएँ देना इत्यादि कार्य भी इसी के द्वारा होने चाहिएँ।

(आ) क्षयी अलग्नकरण—क्षयदण्डाणुओं को स्वस्थ मनुष्यों तक पहुँचने न देना इसका उद्देश्य होता है। यह कार्य क्षयी मनुष्यों को पृथक् करके, बच्चों को क्षयी माता-पिता से हटा करके, उचित चिकित्सा द्वारा क्षयी के थूक में निकलने वाले दण्डाणुओं की संख्या घटा करके, उनके थूक का नाश करके किया जाता है। इसके लिए निम्न साधन होने चाहिएँ—

(१) क्षय रुग्णालय—प्रत्येक रुग्णालय में क्षय के लिए एक स्वतन्त्र विभाग रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शहर के बाहर खुले धूलिविरहित स्थान में क्षय के स्वतन्त्र रुग्णालय भी होने चाहिएँ।

(२) क्षय आरोग्य भवन (T B- sanitorium)—इनमें उत्तम स्थान, स्वास्थ्यजनक परिस्थिति, विपुल शुद्ध वायु और प्रकाश, तज्ज्ञ चिकित्सक और परिचारिकाएँ, आहार-विहार चिकित्सा में सर्वोत्तम मार्गदर्शन इत्यादि अनेक सुखसाध्यता की बातों का मधुर मिलन रहता है। घर की अपेक्षा यहाँ पर सब सुविधाएँ सस्ती मिलती हैं और रोगनिवृत्त होने के पश्चात् आहार-विहार कैसा रखना चाहिए इसकी शिक्षा प्राप्त होती है जिसके कारण रोगी आरोग्यभवन छोड़ने पर उचित आहार-विहार-आचार से रहकर अपना स्वास्थ्य बनाए रख सकता है। इसकी सफलता प्रारम्भ से ही इसका अवलम्बन करने पर, उचित काल तक वहाँ रहने पर तथा छोड़ने के पश्चात् उसके अनुसार सदा के लिए अपना व्यवहार करने पर निर्भर होती है।

भारतवर्ष के प्रधान क्षय आरोग्य भवन—(१) जदवपूर स्यानिटोरिअम—कलकत्ते से ६ मील दूर जदवपूर स्टेशन के पास।

(२) इटकी स्टेट स्या.—राँची से २७ मील दूरी पर इटकी स्टेशन के पास समुद्र समतल से ऊँचाई २३०० फूट।

(३) अलमोडा स्या.—काथागोदाम स्टेशन से ८० मील दूरी पर मोटर से, ऊँचाई ५६०० फूट।

(४) किंगएडवर्ड दी सेवन्थ स्या.—भुवाली-काथा गोदाम स्टेशन से २१ मील दूरी पर मोटर से, ऊँचाई ६००० फूट।

(५) किंगएडवर्ड स्या.—धरमपूर—सिमला पहाड़ पर धरमपूर स्टेशन के पास, ऊँचाई ५००० फूट।

(६) मेरी विल्सन स्या.—तिलौनिया—अजमेर से २५ मील दूरी पर तिलौनिया स्टेशन के पास, ऊँचाई १५०० फूट।

(७) टर्नर स्या. बम्बई—मोईवाडा परेल विभाग में।

(८) हिंदू स्या. कार्ला—पूना से ३५ मील दूरी पर कार्ला-मलवली स्टेशन के पास, ऊँचाई २०–२५ फूट।

(९) वेलएअर स्या. पाँचगणी—पूना से ६३ मील मोटर से, ऊँचाई ४२०० फूट।

(१०) वानलेस स्या. वानलेसवाडी—सांगली और मिरज के बीच वानलेसवाडी स्टेशन के पास।

(११) एडवर्ड दी सेवन्थ टयुबरक्युलर इन्स्टिट्यूट, एग्मोर मद्रास—मद्रास के एग्मोर विभाग में।

(१२) विश्रान्तिपुरम् स्या.—ईस्ट गोदावरी जिले के राजमहेन्द्री स्टेशन के पास।

(१३) यूनियन मिशन स्या. आरोग्यावरम्—मदनपल्ली स्टेशन से चार मील दूरी पर। मद्रास। ऊँचाई २५०० फूट।

(इ) क्षयप्रतिकूलन—इसमें निम्न प्रकार से क्षय प्रसार के लिए प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न की जाती है।

(१) नगर रचना—राजयक्ष्मा गन्दे, गुञ्जान, दुष्प्रव्यजित महल्लों और मकानों के निवासियों में अधिक होता है। इसलिए पुराने नगरों में सुधार समिति (Improvement trust) के द्वारा तङ्ग गलियों और सड़कों को चौड़ी बनाना, मकानों को सुप्रकाशित तथा सुव्यजित करने की दृष्टि से पीछे से या पार्श्व से सलग मकानों को नष्ट करना, नगर में स्थान-स्थान पर खुले स्थान या बगीचे बनवाना, सड़कें सीमेन्ट या अङ्गराल की पक्की बनवाना, उन पर पानी छिड़ने का प्रबन्ध करना। गरीबों के लिए थोडे किराये के स्वास्थ्यप्रद मकान बनवाना इत्यादि कार्य करने चाहिएँ। थूकने के लिए स्थान-स्थान पर पात्र रखना।

(२) दूध रक्षा और दान—राजयक्ष्मा का उपसर्ग बचपन में होता है और बच्चों को दूध की आवश्यकता होती और उसी के द्वारा क्षय का संक्रमण भी होता है। इसलिए गायों की जाँच (पृष्ठ ११६) करके उपसृष्ट गायों का नाश करना चाहिए या उनको अलग करके उनका दूध और मांस बेचना मना करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गरीबों को मुफ्त या सस्ते में दूध मिलने का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

सङ्क्षेप में थूक में प्रथम दण्डाणु मिलने से पूर्व क्षयोपसृष्टों का पता क्ष-रश्मि चित्रण के द्वारा लगाकर उनकी चिकित्सा करके रोग को रोकना; जिनके थूक में दण्डाणु पाये जाते हैं उनको घर में, रुग्णालय में या आरोग्य भवन में अलग करके उनके थूक का नाश करके औरों को उपसर्ग न होने देना; नगर सुधार के द्वारा क्षयविरोधी परिस्थिति निर्माण करना, विना मूल्य या अल्पमूल्य दूध तथा अन्य पौष्टिक द्रव्यों का प्रबन्ध करना ये राजयक्ष्मा प्रतिबन्ध के सामान्य उपाय होते हैं। ये उपाय बिना धन के नहीं हो सकते। इसलिए राज्य संस्था, नगर पालिका तथा अन्य सार्वजनिक संस्था इनको जनता की सहायता से उपर्युक्त उपायों को कार्यान्वित करना चाहिए। इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय धनोत्पादन बढ़ा करके राष्ट्र को धनी करने का भी प्रयत्न राज्य या शासक संस्था के द्वारा होना चाहिए।

(ई) क्षमतावर्धन—आजकल अन्य अनेक रोगों के समान राजयक्ष्मा के लिए टीका द्रव्य उपलब्ध हो गया है। इसको बी० सी० जी० मसूरी कहते हैं। यह मसूरी राजयक्ष्मा दण्डाणुओं से (Bacilli) कालमेटी (Calmette) और ग्यूरिन (Guerin) नामक वैज्ञानिकों ने बनायी। इसलिए तीनों के आद्याक्षर लेकर उसका नामकरण किया गया। इस मसूरी में जो दण्डाणु हैं वे गव्य जाति के हैं और जीवित होते हैं। परन्तु विशेष सकार द्वारा उनकी विकारकारिता नष्ट की गयी है और क्षमताजनकता कायम रक्खी गयी है।

मात्रा—·०५-·१ सहस्रिधान्य (Mg)।

मार्ग—इसका टीका निम्न तीन मार्गों से लगाया जाता है—

(१) चर्मान्तर्य (Indradermal)—भारतवर्ष में इसी का उपयोग किया जाता है। इससे कई बार स्थानिक विद्रधि उत्पन्न होता है और कभी-कभी तत्स्थान संबंधित लसग्रन्थियाँ फूलती हैं या पकती हैं।

(२) प्रभूतवेधन (Multiple puncture)—इसमें त्वचा पर फैलाये हुए टीका द्रव्य में विशिष्ट सुई से और विशिष्ट पद्धति से अनेक वेध किये जाते हैं और वह स्थान २४ घण्टे खुला रक्खा जाता है जिससे वह द्रव्य सूख जाय। इस पद्धति का उपयोग नार्वे-स्वीडन में किया जाता है।

(३) लेखन (Scarification)—इसमें टीका द्रव्य की ३ बूँदें बाहु की त्वचा पर रख कर प्रत्येक बूँद में १ शीतमान (cm) लम्बाई की २ रेखाएँ स्वस्तिक के समान एक दूसरी को काटती हुई खरोंची जाती हैं। इस पद्धति का उपयोग फ्रान्स में किया जाता है।

उपयोग—जो व्यक्ति नैसर्गिक उपसर्ग के कारण क्षम हुए हैं उनमें इसका उपयोग नहीं किया जाता है न करना चाहिए। परन्तु जिनमें नैसर्गिक उपसर्ग-जन्य क्षमता नहीं उत्पन्न हुई और जिसके कारण जिनमें राजयक्ष्मा उत्पन्न होने का डर होता है केवल उनमें उसका प्रयोग किया जाता है। इस टीका का प्रयोग करने से पहले यक्ष्मि प्रतिक्रिया द्वारा अप्रतीकारी (Non-reactors) मालूम करके केवल उन्हीं में इसको काम में लाना चाहिए। इस दृष्टि से नगर के नवजात बालक और जन्म से नगर के दूषित वातावरण से दूर रहने वाले ग्रामीण, वन्य, पर्वतीय जवान इसके प्रयोग के लिए योग्य होते हैं। इसके प्रयोग से यक्ष्मि अप्रतीकारी दो तीन मास में प्रतीकारी बन जाते हैं जो क्षमता भविष्य में उनको नैसर्गिक उपसर्ग के कारण क्षम हुए इतर व्यक्तियों के समान राजयक्ष्मा से बचाती हैं।

सावधानता—(१) यक्ष्मि (Tuberculin) प्रतिकारकों (Reactors) में इसका टीका न लगाना चाहिए। इसलिए टीका लगाने से पहले प्रत्येक व्यक्ति में यक्ष्मि प्रतिक्रिया देखना जरूरी है। (२) यक्ष्मि–अप्रतिकारकों को टीका लगाने के पश्चात् उनमें क्षमता उत्पन्न होने के समय तक अर्थात् यक्ष्मिप्रतिकारक बनने के समय तक उनको राजयक्ष्मा दण्डाणुओं से अदूषित वातावरण में रखना श्रेयस्कर होता है। (३) यदि किसी यक्ष्मि अप्रतिकारक बालक में क्षयी के संसर्ग में रहने का इतिहास मिलता हो तो ६ सप्ताह तक उसको टीका न लगाना चाहिए। उसके पश्चात् फिर भी यदि वह अप्रतिकारक रहा तो टीका लगा सकते हैं।

भारतवर्ष में राजयक्ष्मा प्रतिबन्धन में इस टीका का सामूहिक उपयोग १९४८ से प्रारम्भ किया गया है। यद्यपि तात्विक दृष्ट्या यह टीका राजयक्ष्मा प्रतिबन्धनार्थ एक उत्तम साधन मालूम होता है तथापि अनेक तज्ज्ञों की दृष्टि से इसकी कार्य निष्पत्ति विवादास्पद तथा संदेहास्पद है। केवल यही नहीं, यह मसूरी सजीव जीवाणुओं की होने के कारण तथा उनकी उग्रता की कोई ठीक निश्चिति अपने पास न होने के कारण कुछ तज्ज्ञ इसके पूर्ण विरुद्ध हैं। संक्षेप में राजयक्ष्मा प्रतिबन्धन के सम्बन्ध में इसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता २०–२५ वर्ष के अनुभव के पश्चात् ही निश्चिति से बतायी जा सकती है।

गव्य राजयक्ष्मा प्रतिबन्धन—भारतवर्ष में गायों में राजयक्ष्मा बहुत नहीं (पृष्ठ १०३) होता। इंग्लैण्ड और वेल्स में ४०% गायें क्षयोपसृष्ट रहती हैं। फिर भी समय समय पर यक्ष्मि प्रतिक्रिया द्वारा क्षयोपसृष्ट गायों का पता लगाकर उनको अलग करना या नष्ट करना, उनका दूध या मांस सेवन न करना या अच्छी तरह उबाल कर और पकाकर सेवन करना ये इसके प्रतिबन्धन के सामान्य उपाय हैं।

व्यक्तिगत प्रतिषेध—(१) रोगी को स्वतन्त्र, सुप्रकाशित और हवादार कमरे में रक्खें या क्षयभवन में भेज दें। (२) रोगी के थूक से रोग फैलता है, इसलिए थूक के नाशन पर ध्यान दें। थूकने के लिए ढकनेदार ५% प्रांगविक अम्ल घोलयुक्त थूकदानी का उपयोग करें। कमरे या रास्ते में इतस्ततः न थूकें। यदि बाहर जाना हो तो साथ बोतल या कागज के छोटे-छोटे रूमाल लेकर उसमें थूकें और घर लौटने पर उनको जलवा दें (पृष्ठ ३६)। (३) रोगग्रस्त व्यक्ति के कमरे में न सोवें। उसके साथ विवाह न करें। माता, रोगग्रस्त हो तो बच्चे को न पिलावें। संक्षेप में क्षयी के साथ सम्बन्ध न रक्खें। (४) बालक दुर्बल हों, उनको खसरा, कुकुरखाँसी या अन्य छाती के और गले के विकार हों तो उनकी

तुरन्त चिकित्सा करावें। (५) सोने के कमरों की खिड़कियाँ रात को पूर्णतया न बन्द करें, सोते समय सिर पर कपड़ा ओढ़कर न (पृष्ठ २०९) सोवें; प्रोभूजिन जीवतिक्ती इनसे युक्त पौष्टिक आहार सेवन करें, अत्यधिक परिश्रम न करें, खराब हवा में काम करने का व्यवसाय छोड़कर स्वच्छ हवा में और खुली जगह में काम करने का व्यवसाय पसन्द करें। राजयक्ष्मी का कमरा झाड़ू से साफ न करके जीवाणुनाशक घोल में भिगोये हुए कपड़े से या घोल से साफ करें। राजयक्ष्मा का सन्देह होते ही उसकी परीक्षा और चिकित्सा तज्ज्ञों द्वारा करावें, क्योंकि उस अवस्था में रोग साध्य होता है और औपसर्गिक नहीं होता।

रोहिणी (Diphtheria)

व्याख्या[1]—यह एक तीव्र औपसर्गिक रोग है जिसमें गले में खराबी होकर एक झिल्ली बन जाती है और विषमयता के कारण हृदय दौर्बल्य, पेशियों का घात, वृक्क शोथ इत्यादि उपद्रव होते हैं। मृत्यु प्रायः गले की झिल्ली के कारण श्वासावरोध से या हृद्‌भेद से होता है।

हेतु—इस रोग का कारण रोहिणी द. (B. Diphtheria) या क्लेब्स लौफ्लर का दण्डाणु है। यह सलाई के आकार का ३-४ णु लम्बा और आधा णु चौड़ा होता है।

रोहिणी शीत और समशीतोष्ण प्रदेशों का रोग है। जहाँ पर यह तीव्र जानपदिक स्वरूप धारण करता है। भारतवर्ष में यह रोग बड़े शहरों में और पहाड़ों पर शीतकाल में और वर्षाऋतु में कभी-कभी हुआ करता है। यह बचपन का रोग है जो दस बारह साल की आयु तक अधिक हुआ करता है। रोमान्तिका, कुक्कुरखाँसी, एन्फ्लुएञ्जा तथा गले के अन्य रोगों से पीड़ित हुए इसके जल्दी शिकार बन जाते हैं और उनमें यह रोग अधिक घातक भी होता है। रोगलब्ध क्षमता अल्पकालीन (पृष्ठ ३७०) होने से कई लोग इससे दोबारा पीड़ित हो जाते हैं। कुछ बालक स्वभाव से ही इसके लिए अक्षम होते हैं। इस अक्षमता का ज्ञान शिक की कसौटी (Schick's test) द्वारा किया जाता है।

शिक की कसौटी—प्रयोग से यह सिद्ध हुआ है कि बालकों के रक्त में रोहिणी का प्रतिविष जन्म से ही होता है जिसके कारण अधिकांश बालक इससे

---

१. गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथाङ्कुरैर्निहंत्यसून् व्याधिरियं हि रोहिणी ॥ सुश्रुत ॥

पीड़ित नहीं होते हैं। इस स्वाभाविक प्रतिविष की विद्यमानता का ज्ञान करने के लिए शिक की कसौटी की जाती है। इससे जिन बालकों में प्रतिविष का अभाव दिखाई देता है उनको रोहिणी मरक के समय प्रतिबन्धक टीका लगाने की आवश्यकता होती है। जिनमें प्रतिविष की उपस्थिति सिद्ध होती है उनको प्रतिबन्धन टीका लगाने की उतनी आवश्यकता नहीं होती।

विधि—रोहिणी विष के ·१-·२ घ. शि. मा की सुई बाहु के सामनेवाली त्वचा में (त्वचान्तर्य) दी जाती है। इसमें मारक मात्रा[1] का $\frac{1}{50}$ भाग होता है। जिनके रक्त में स्वाभाविक प्रतिविष की राशि बहुत कम होती है उनमें टीका के स्थान पर रक्तिमा और शोथ २४ घण्टे में उत्पन्न होता है और ४ ५ रोज के बाद विद्रधि सी उत्पन्न होती है, याने जिनके रक्त में स्वाभाविक प्रतिविष होता है उनमें टीका स्थान पर कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं दिखाई देती।

संक्रमण—रोगी के गले में जो कला होती है उसमें असंख्य दण्डाणु होते हैं। ये खाँसने, छींकने और बोलने के समय थूक और कला के सूक्ष्म कणों या बिन्दूत्क्षेपों के साथ बाहर हवा में आते हैं और समीपस्थ मनुष्यों के मुख में श्वास द्वारा प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। बालकों में प्रायः यह रोग पेन्सिल, रूमाल, तौलिया, गिलास इत्यादि मुख के साथ सम्बन्ध रखने वाली चीजों से तथा चुम्बन से फैलता है। दूध से भी यह रोग फैलता (पृष्ठ १०२) है। जब दूध किसी तरह इन जीवाणुओं से दूषित हो जाता है तब इनकी दूध में प्रचुर वृद्धि होती है और उस दूध के सेवन से रोग फैलता है। इसमें दुधार जानवर का कोई भी सम्बन्ध नहीं।

वाहक इस रोग को फैलाने में बहुत भाग लेते हैं। रोगी के सम्पर्क में आनेवालों में से बहुतेरे बालक स्वस्थवाहक बन जाते हैं।

प्रत्येक रोहिणी पीडित मनुष्य के मुख में रोग-निर्मुक्त होने के पश्चात् एक महीना तक दण्डाणु होते हैं। तदनन्तर वे आपसे आप नष्ट होते हैं। क्वचित् ये दो तीन महीनों तक भी गले में रहते हैं। दण्डाणु उपस्थित होने की इस अवस्था में ये लोग अन्य मनुष्यों पर रोग का संक्रमण करते हैं।

प्रतिषेध—(१) अलग्नकरण—रोगी को हवादार स्वतन्त्र कमरे में या अस्पताल में अलग करना तथा गला, नाक, कान, मुख इनके स्राव से दूषित

१. अल्पतम मारकमात्रा—२५० ग्राम वजन के गिनीपिग में प्रवेश करने से जो अल्प से अल्प विष की मात्रा उसका मृत्यु करता है वह अल्पतम मारक मात्रा कहलाती है।

वस्त्रपात्रादि को अच्छी तरह विशोधित करना या जला देना। रोगनिवृत्ति होने के पश्चात् गले में दण्डाणु पूर्ण अनुपस्थित होने के समय तक उनको पृथक् रखना ही उचित है। इसका काल साधारणतया ४-६ सप्ताह का होता है। गले का परीक्षण जीवाणुओं को लिए करके उनकी अनुपस्थिति मालूम होने पर ही रोग-निवृत्त बालक को और स्वस्थ बालकों के साथ मिलने देना चाहिए।

(२) वाहकों की चिकित्सा—रोगी के सम्पर्क में आने वालों तथा अन्य लोगों की वाहकावस्था की दृष्टि से गले की जांच करके जो वाहक हों उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। वाहकावस्था की उत्पत्ति में गले की, नासा की, नासा कोटरों (Sinuses) की खराबी सहायता करती है। इसलिए इनकी ओर भी ध्यान देकर तुण्डिकाओं (टौंसिल) या अन्य अङ्गों की खराबी को दूर करना चाहिए। इसके सिवा गले के दण्डाणुओं का नाश करने के लिए निम्न उपायों का उपयोग करना चाहिए। दहातु अतिलोहकित (पोटास परमैंगेनेट) के १००० में १ भाग के घोल से गले को और नासा को शुद्ध रखना चाहिए। किंवा डायक्लोरामिनटी के तैली घोल का प्रयोग फुहारों के रूप में करना चाहिए। किंवा क्लोरामिन-टी की भाप एक बन्द कमरे में सूँघना चाहिए। वाहकों को खुली हवा और सूर्य प्रकाश में अधिक समय बिताना चाहिए। आजकल नासावाहकों में सूँघने के लिए सल्फापायरीडीन या सल्फाथायोझोल की सूँघनी का भी प्रयोग किया जाता है।

टीका—(३)—रोहिणी में क्षमता बढ़ाने के सक्रिय और निष्क्रिय दोनों पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। रोगी के सम्पर्क में आए हुए लोग, जिनमें रोग की क्षमता नहीं है, जल्दी रोग से पीड़ित होने की सम्भावना होती है, इसलिए उनको प्रतिविष का टीका लगाया जाता है। इसकी मात्रा वयनिरपेक्ष १०००–२००० एकक होती है। इस टीका से २४ घंटे में क्षमता उत्पन्न होती है और ३–४ सप्ताह तक रहती है।

सक्रिय क्षमता जनन—रोहिणी की क्षमता प्रतिविष जन्य होने के कारण इसमें शरीर में प्रतिविष उत्पन्न करने का प्रयत्न निम्न टीकाद्रव्यों से किया जाता है—

(१) विष—प्रतिविष मिश्रण। (२) विषाभ—प्रतिविष मिश्रण। (३) विषाभ—प्रतिविष ऊर्णिकाएँ (T A. F.) (४) स्फटीनिस्सादित विषाभ (A. P. T.) (५) वस्त्र—विषाभ (F. T) इनमें विषाभ प्रतिविष ऊर्णिकाएँ और स्फटी निस्सादित विषाभ इन दोनों का प्रयोग अधिक होता है क्योंकि इनमें औरों की अपेक्षा क्षमताजनन की शक्ति अधिक और तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करने

की शक्ति कम होती है। स्फटी निस्सादित विषाभ आठ वर्ष से कम अवस्था के बालकों के लिए बहुत अच्छा है। इसकी प्रथम मात्रा $\frac{3}{10}$ घ० शि० मा० की होती है और चार सप्ताह के पश्चात् $\frac{1}{2}$ घ० शि० मा० की दूसरी मात्रा त्वचा के नीचे दी जाती है। इससे ९८% बालक क्षम हो जाते हैं। दूसरी मात्रा के कुछ महीनों या वर्षों के पश्चात उतनी ही मात्रा तीसरी बार दे सकते हैं।

विषाभ प्रतिविष ऊर्णिकाएँ आठ साल से अधिक अवस्था के बच्चों में और जवानों में क्षमताजनन के लिए अच्छी होती हैं। इसकी १ घ० शि० मा० की तीन मात्राएँ २ सप्ताह के अन्तर पर अधश्चर्म या पेश्यन्तर्य मार्ग से दी जाती हैं।

इन द्रव्यों से शरीर में जो क्षमता उत्पन्न होती है उसके लिए ३ मास की अवधि लगती है और एक बार जो क्षमता उत्पन्न होती है वह ५-६ वर्ष तक स्थायी रहती है। परन्तु वय बढ़ने पर रोहिणी होने की सम्भावना कम होने के कारण एक बार लगाये हुए टीका से जीवन भर रोहिणी से रक्षा होती है।

(४) व्यक्तिगत उपाय—जिस घर में कोई व्यक्ति रोहिणी से पीडित हो उस घर में बच्चों को न भेजे तथा उस घर के लोगों के साथ उनका सम्बन्ध बन्द करे। मरक के दिनों में बच्चों को पाठशाला में न भेजे तथा प्रतिदिन नीरजी, पोटास परमेंगेनेट या हाइड्रोजन पेरोक्साइड के घोल से कुल्ला करावे।

श्लेष्मक (Influenza)

व्याख्या—वह एक तीव्र औपसर्गिक रोग है जिसमें ज्वर, क्षीणता, श्वसनसंस्थान के विकार उत्पन्न होते हैं।

हेतु—साधारणतया इस रोग का कारण श्लेष्मक द. (ही. एन्फ्लुएन्जा) या फीफर का दण्डाणु माना जाता है। यह दण्डाणु रोग के उत्तर काल में रोगी के थूक में मिलता है। परन्तु इसका वास्तविक कारण एक विपाणु है। जिसके ए और बी करके दो प्रकार किये गये हैं।

प्रसार—विपाणु रोगी की नासा में, नासापश्चिम भाग में, श्वासप्रणालियों में, फुफ्फुस में होते हैं जो खाँसते, छींकते और थूकते समय सूक्ष्म बिंदूत्क्षेपों के साथ हवा में फैलते हैं और श्वास के साथ स्वस्थ मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं। इनका संवहन एक स्थान से दूसरे स्थान पर वायु द्वारा होता है। इसके सिवाय

थूक, नासास्राव इत्यादि से दूषित पदार्थों द्वारा भी यह रोग फैलता है। इस रोग की निम्न विशेषताएँ हैं।

१. यह रोग अत्यन्त शीघ्र फैलनेवाला है और थोड़े समय में सार्वपदिक हो सकता है। इस प्रकार का मरक सन् १९१८ में हुआ था। लोहमार्ग इसके प्रसार में बहुत सहायता करते हैं।

२. जिस स्थान में होता है वहाँ के अधिकांश लोग पीड़ित होते हैं।
३. व्याधित लोगों में प्रतिशत मृत्यु संख्या थोड़ी होती है।
४. प्रत्येक स्थान में इसका दौरा थोड़े दिन तक रहता है।
५. जलवायु के साथ इसके दौरे का कोई सम्बन्ध नहीं है।

६. मनुष्यों के वय, लिंग, व्यवसाय से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सात दिन के पश्चात् रोगी के गले से विषाणु नष्ट होकर वह अनुपसर्गी (Non infective) हो जाता है।

७. रोग से शरीर में जो क्षमता उत्पन्न होती है वह अल्पकालीन होती है। इसलिए इससे दूसरी वार पीड़ित होने की सम्भावना होती है।

केवल भारतवर्ष के सन् १९१८ के मरक में साठ लाख से अधिक लोगों का मृत्यु इससे हो गया।

प्रतिषेध—रोगी के पास न बैठें, यदि सेवा शुश्रूषा के कारण रोगी के पास बैठने की जरूरत पडे तो मुखनासा पर वस्त्र का उपयोग करे। डाक्टरों और वैद्यों को इसकी वहुत आवश्यकता है। सूँघने के लिए रूमाल पर नीलगिरी (यूकलिप्टस) तेल का उपयोग करें। नाक और गले को प्रतिदिन तीन चार वार नमक के पानी से साफ करें। अधिक तीव्र जीवाणुनाशक का प्रयोग अहितकर होता है। जहाँ पर असख्य लोग एकत्र होते है ऐसे स्थानों में न जावें। गरम वस्त्र के उपयोग से शीत से शरीर की रक्षा करे। प्रतिदिन दूध, दही, फल, साग-सब्जी इत्यादि पौष्टिक आहार, खुले स्थान में व्यायाम या टहलने इत्यादि से शरीर का स्वास्थ्य उत्तम दशा में रखने का प्रयत्न करें।

रोगी को स्वच्छ हवादार कमरे में पृथक् करना चाहिए। रोगी खाँसते छींकते समय अपने मुख के सामने रूमाल रखे। थूक का नाश राजयक्ष्मा के समान (पृष्ठ ४९१) करे। थूक से दूषित वस्त्र पात्र उबलते पानी से या उपसर्गनाशक घोल से साफ करे। इसके लिए प्रतिषेधक टीका का भी प्रयोग होता है जिसमें प्रथम आधा सी० सी० और दूसरी वार १ सी० सी० की मात्रा दी जाती है।

कुकुर-खाँसी

(Whooping Cough, Pertussis)

व्याख्या—यह बच्चों की खाँसी है जिसमें आरम्भ में जुकाम होता है और पश्चात् खाँसी के दौरे आते हैं।

हेतु—इस रोग का कारण कुकुरकास दण्डाणु (B. Pertussis) है। बाल्यावस्था में १० साल तक यह रोग अधिक होता है। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में अधिक होता है। शीत और आर्द्र हवा में अधिक होता है। यह रोग प्रायः जाड़े के दिनों में और रोमांतिका के मरक के बाद या उसके साथ-साथ अधिक हुआ करता है। एक बार होने पर शरीर में स्थायी व्याधि क्षमता होती है, जिससे दूसरी बार यह रोग नहीं होता।

संक्रमण—दण्डाणु रोगी के गले में और श्वासनलिकाओं में होते हैं जो खाँसते समय थूक के सूक्ष्म कणों के साथ हवा में फैलकर वायु के द्वारा समीपवर्ती मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं। इसके सिवाय मुख के साथ सम्बन्ध रखनेवाली रबड़, पेन्सिल, गिलास, तौलिया इत्यादि चीजों द्वारा भी यह रोग फैलता है। पाठशाला, स्कूल, क्रीडांगण इस रोग के फैलने के केन्द्र होते हैं।

प्रतिषेध—रोगी को पृथक् करें। दूसरे बालकों को उसके सम्पर्क में न आने दें। रोगी को हमेशा खुली हवा में रक्खें। बालक को न स्कूल भेजें, न ऐसे स्थान में भेजे जहाँ पर बहुत से बालक एकत्र होते हों। रोगी के थूक से दूषित कपड़ों को उबलते पानी से साफ करें। रोग के आरम्भ से ८ सप्ताह तक बालक को पृथक् रक्खें।

प्रतिबन्धन—रोग प्रतिबन्धन के लिए मसूरी का उपयोग होता है। यह मसूरी सद्यः प्राप्त उग्रजीवाणुओं से बनानी चाहिए। अन्यथा उससे विशेष लाभ नहीं होता। इसके १ घ० शि० मा० में (Glaxo) २००० करोड़ जीवाणु रक्खे जाते हैं। इसकी घ० शि० मा० की ३ मात्राएँ ४ सप्ताह के अन्तर पर दी जाती है। यह सक्रिय क्षमताजनन ६–१२ मास की अवस्था के बीच में करना चाहिए। शीत प्रदेशों में जहाँ पर कुक्कुर खाँसी तथा रोहिणी अधिक होते हैं और घातक रहते हैं वहाँ पर इसकी मसूरी के साथ रोहिणी विषाभ प्रयुक्त करके दोनों के लिए एक साथ क्षमता उत्पन्न की जाती है इसके लिए बरोज वेलकम कं० का रोहिणी

कुकुरप्रतिबन्धक मिलता है जिसकी १ घ० सि० मा० की तीन सुइयाँ ४–६ सप्ताह के अन्तर पर लगायी जाती है।

मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर

पर्याय—Cerebrospinal fever, गर्दनतोड़ बुखार।

व्याख्या—मस्तिष्कगोलाणु के उपसर्ग से होनेवाला यह एक संक्रामक रोग है जो जानपदिक (Epidemic) तथा ऐकपदिक (Sporadic) दोनों प्रकारों में उत्पन्न होता है और जिसमें मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के आवरणों में शोथ उत्पन्न होकर पीड़ायुक्त पेशीस्तम्भ, ज्वर, त्वचा पर विस्फोट इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

हेतुकी—इस रोग का प्रधान कारण मस्तिष्कगोलाणु (Meningococcus, Neisseria meningitidis) है।

स्वस्थ मनुष्यों के शरीर में ये नहीं मिलते। ये वाहकों के गले और नासा पश्चिम भाग में तथा रोगियों के गले और नासा पश्चिम भाग में, मस्तिष्कावरण के स्राव में एवं दोषमयता उत्पन्न होने पर रक्त में तथा त्वचा के नीलोहाङ्कों (Petechiae) में मिलते हैं। यद्यपि यह गोलाणु मस्तिष्क सुषुम्नावरण में विकृति उत्पन्न कर सकता है तथापि मस्तिष्क सुषुम्ना की ग्रहणशीलता की अपेक्षा गले की ग्रहणशीलता अधिक होने के कारण जो व्यक्ति इसके सम्पर्क में आते हैं उनमें प्रत्यक्ष मस्तिष्क-रोगपीड़ित होनेवालों की प्रतिशतिता बहुत कम होती है, परन्तु गले की ग्रहणशीलता अधिक होने के कारण नासाग्रसनिकाशोथ (Rhino pharyngitis) होनेवालों की अत एव वाहक (Carrier) बननेवालों की संख्या बहुत अधिक होती है। यह वाहकावस्था १–२ मास तक होती है।

मरक विज्ञान और रोग का प्रसार—रोगी और वाहक दोनों इसका प्रसार करते हैं। इनमें रोगियों की अपेक्षा स्वस्थ वाहक रोग प्रसार में अधिक सहायता करते हैं। इनके खाँसते, छींकते जोर से बोलते समय गले में उपस्थित होनेवाले मस्तिष्कगोलाणु थूक के विन्दूत्क्षेपों के साथ स्वस्थ मनुष्यों के गले में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं। रोग प्रसार का यही प्रधान मार्ग है। यह रोग सासर्गिक है इसमें सन्देह नहीं है। इसलिए रोगी के गले के स्रावों से दूषित वस्त्र पात्रादि द्वारा यह रोग फैल सकता है, परन्तु इसमें उतनी सांसर्गिकता (Contagiousness) न होने से इसके प्रसार का यह गौणमार्ग होता है।

जैसे ऊपर बताया जा चुका है नासाग्रसनिका शोथ इसका वास्तविक विकार

है, परन्तु उसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं रहता। इस विकार से ही आगे चलकर मस्तिष्कावरण शोथ उत्पन्न होता है और मनुष्य वाहक बनता है। यदि अन्तर्मरक काल में (Interepidemic period) गले के स्राव की परीक्षा की जाय तो यह देखा जाता है कि २–४% लोग इसके वाहक होते हैं। जब इनकी प्रतिशकता २० हो जाती है तब मरक उत्पन्न होता है और मरक काल में वाहकों की संख्या ८०% तक पहुँचती है। परन्तु प्रत्यक्ष मस्तिष्कसुषुम्नावरणशोथ उत्पन्न होने की दृष्टि से देखा जाय तो रोगियों या वाहकों के सम्पर्क में आये हुए लोगों में केवल १⁄१०० से ३% तक ही लोग पीड़ित होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मस्तिष्कगोलाणु में मस्तिष्क में विकृति करने की औपसर्गिकता (Infectivity) बहुत ही कम होती है। शीत कटिबन्ध के देशों में इसके मरक आते हैं, भारत में यह रोग मरक का स्वरूप नहीं धारण करता, प्रायः एकैकशः होता है।

सहायक कारण—(१) जलवायु—शीतकटिबन्ध के देशों में यह रोग शीतकाल में हुआ करता है। भारत में वसन्त और ग्रीष्म (मार्च, एप्रिल) में अधिक हुआ करता है, और वह भी स्थानपदिक और स्थानाश्रित होता है।

(२) जनसम्बाधता (Crowding)—बिन्दूत्क्षेपों से फैलनेवाला रोग होने के कारण जहाँ भीड़-भाड़ अधिक होती है वहाँ पर रोग अधिक होता है। इस दृष्टि से बन्दीगृह (Jail) सैन्यावास (Barracks) अनाथालय, छात्रावास नगरों के गुञ्जान महल्ले इत्यादि स्थानों में यह रोग अधिक हुआ करता है और नये वाहक या रोगी बनते जाते हैं। कमरे में बहुत नजदीक सोने से रोगी से या वाहक से यह रोग स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होता है। परन्तु यदि दो बिस्तरों के बीच में ३ फूट से अधिक अन्तर रक्खा जाय तो इसके फैलने की सम्भावना बहुत कुछ घट जाती है।

(३) लिंग और आयु—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह अधिक होता है। इसकी ग्रहणशीलता बाल्य, विवर्धमान और तरुण अवस्था में अधिक होती है। प्रथम वर्ष में यह रोग सबसे अधिक होता है। उसके पश्चात् १५ वर्ष तक बराबर कम होता जाता है, १५-२५ तक स्थिर रहता है, २५ वर्ष पर फिर घटता है और ५५ पर बहुत अधिक घटता है।

(४) आर्थिक और शारीरिक अवस्था—अमीर और गरीब, स्वस्थ और बीमार सभी इससे पीड़ित होते हैं, परन्तु दरिद्री, भिखारी, मजदूर तथा अन्य श्रमजीवी लोग जिनको पेट भर खाना मुश्किल से मिलता है जिनको सर्दी में काम करना

पड़ता है, जिनको शक्ति से अधिक शारीरिक और मानसिक काम सदैव करना पड़ता है, या जिन्होंने प्रसगवशात् किया है, जो सर्दी, जुकाम, नासा-गले के रोग इनसे पीड़ित है उनसे यह रोग अधिक हुआ करता है। इसके अतिरिक्त शरीर की नैसर्गिक क्षमता भी इसके होने न होने में एक महत्व का सहायक कारण होती है।

प्रतिषेध—(१) रोगी को घर के स्वतन्त्र कमरे में या अलप्रकरण अस्पताल में रखना चाहिए। रोग ठीक होने के पश्चात् ३ हप्ते तक रोगी को पृथक् रखना उचित है। (२) रोगी के पास रहनेवालों को तथा वाहक को भी पृथक् करना चाहिए। घर के विद्यार्थियों को पाठशाला या कालेज में न भेजना चाहिए। (३) महामारी के दिनों में प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य स्वच्छ हवा में जाकर व्यायाम करे। मुख और नासा की सफाई पोटास परमेंगनेट (१००० में १), हैड्रोजन पेरोक्साइड (१ प्र० श०), इलेक्ट्रिक क्लोरीन (५०० में १) या नमक के घोल से करे। वाहकों के गले का विशोधन क्लोरामिन टी (Chloromine T) के भाप से करना चाहिए। एक छोटे हवाबन्द कमरे में क्लोरामिन का २% घोल फुव्वारे के साथ फैलाकर उसमें १५-२० मिनिट तक वाहक रक्खा जाता है। इससे उसके गले के जीवाणु नष्ट होते है। वाहकों के लिए तथा स्वस्थ मनुष्यों में प्रतिषेध के लिए आजकल शुल्वाद्वयजीवी (Sulphadiazine) का भी बहुत अच्छा उपयोग होता है। वाहकों के लिए दो धान्य और प्रतिषेध के लिए ५ धान्य दिया जाता है। कूर्चकि (Penicillin) तेल में पेश्यन्तर्य $\frac{3}{4}$–$1\frac{1}{2}$ लाख एकक की मात्रा में उतनी ही उपयुक्त होती है।

(४) टीका—इसको प्रथम १ घ. शि. मा. और ६ रोज के बाद दो घ. शि. मा. सुई से दिया जाता है। (५) रोग के दिनों में चलचित्र, नाटक, सभा, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान, विवाह समारंभ, जहाँ पर सैकड़ों लोग एक समय में एकत्र होते हैं, बन्द करने चाहिएँ। पाठशाला कालेज बन्द करने चाहिएँ या खुली हवा में या बरामदे में होने चाहिएँ। (६) शहर की सफाई की ओर ध्यान देना चाहिए। (७) अस्पताल में रोगियों को देखने की या मिलने की मनाही होनी चाहिए। (८) रोगी के वस्त्रपात्रों का उत्तम विशोधन करना चाहिए। (९) व्याख्यानादि द्वारा रोग का ज्ञान जनता में फैलाना चाहिए। (१०) रोग के सहायक कारणों को दूर करना चाहिए।

मसूरिका[1]

पर्यायनाम—शीतला, माता, चेचक (Small-pox, Variola)

व्याख्या—यह एक तीव्र अत्यन्त औपसर्गिक विस्फोटक ज्वर है जिसमें विस्फोट गाँठदार, पानीदार, पूयदार, अवस्थाओं में से होकर अन्त में सूखते हैं और जिसमें विस्फोटों में पीप पड़ने के समय प्रथम कम हुआ ज्वर फिर से चढ़ता है।

हेतु—इस रोग का कारण एक विषाणु है।

टीका से या पूर्व आक्रमण से जिसकी रक्षा नहीं हुई है ऐसा कोई व्यक्ति इससे नहीं बच सकता। संसार भर में कोई व्यक्ति मसूरिका के लिए सहज क्षम नहीं होता है। औपसर्गिक रोगों में मसूरिका ही एक ऐसा रोग है जो देशकाल, लिङ्ग, वय, व्यवसाय, वंश, जाति निरपेक्ष प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर अपना अधिकार जमाता है। तथापि इसकी कुछ विशेषताएँ भी होती हैं।

(१) आयु—मसूरिका बचपन में अधिक हुआ करती है। जन्म से चार साल की उम्र तक अधिक होती है। गर्भवती स्त्री को होने से गर्भ को भी होती है। आजकल बचपन में टीका प्रयोग होने के कारण जवानों में भी यह काफी दिखाई देती है।

(२) देश—यह रोग संसार के समस्त देशों में पाया जाता है। इसके दो प्रकार होते हैं महामसूरिका (V. Major) और क्षुद्र मसूरिका (V. Minor, Alastrim)। महामसूरिका के सबसे महत्व के केन्द्र भारत और मिश्र हैं। क्षुद्र के कनाडा, अमेरिका के संयुक्त सस्थान वेस्टइंडीज हैं।

(३) ऋतु और जलवायु—गरम, शुष्क, धूलियुक्त हवा इसके लिए अनुकूल होती है, अतः भारतवर्ष में मसूरिका जनवरी से जून तक गर्मी के मौसिम में अधिक होती है। जब वायुमण्डल में गर्मी के साथ आर्द्रता भी बढ़ती है तब मसूरिका कम हो जाती है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष मसूरिका से ५०००० के लगभग मनुष्यों का मृत्यु होता है।

मरक चक्र—मसूरिका की महामारी प्रतिवर्ष गर्मियों में आती है, परन्तु यह देखा गया है कि प्रत्येक ५-६ साल के बाद इसका एक अधिक व्यापक और अधिक

---

१. मसूरमात्रास्तद्वर्णस्तत्सङ्काशाः पिटका घनाः। अष्टाङ्गसंग्रह ॥ या सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिका पित्तकफात्प्रदिष्टा ॥ चरक ॥

घातक आक्रमण होता है। इसके बाद यह कुछ कम होती है और फिर पाँच छः साल के बाद व्यापक आक्रमण आता है। इस तरह मरक की लहरें होती हैं।

क्षमता—मसूरिका के लिए कोई व्यक्ति जन्म से क्षम नहीं हो सकता। मसूरिका से पीड़ित होना, मसूरिकाकरण[1] (Variolation) या टीका लगाना ये क्षमता उत्पन्न होने के तीन मार्ग हैं। मसूरिका से पीड़ित होकर निर्मुक्त होने के पश्चात् शरीर में स्थायी क्षमता उत्पन्न होती है जिसके कारण दूसरी बार वही व्यक्ति प्रायः मसूरिका से पीडित नहीं होता। क्वचित् दूसरी बार या तीसरी बार मसूरिका से पीड़ित होने के उदाहरण मिलते हैं।

रोग प्रसार—रोग का विष रोगी की त्वचा में, श्लेष्मल त्वचा में, मुख नासा के स्रावों में, विस्फोटों के पीप में तथा उनके खुरण्डों में, मलमूत्रादि में, संक्षेप से शरीर के प्रत्येक स्राव और त्याज्य पदार्थों में होता है। अर्थात् इन जहरीली वस्तुओं से दूषित कपडे, रूमाल, तौलिये, बर्तन इत्यादि रोगी के पास की चीजों के द्वारा यह रोग औरों को लग जाता है। मक्खियाँ, चीटियाँ और कीड़े भी इसको फैला सकते हैं। जहरीले द्रव्यों के सूक्ष्मकणदूषित वायु द्वारा भी यह रोग फैलता है और इसके फैलने का मुख्य मार्ग यही है। तथापि इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि अन्य वायुवाह्य रोगों की भाँति यह रोग बहुत दूर नहीं फैलता। मसूरिका का विष बहुत प्रतिरोधक (Resistant) है जो खुरण्डों में तथा सिनक, थूक इत्यादि के सूक्ष्म कणों में बहुत काल तक अपनी रोगोत्पादक शक्ति कायम रख सकता है।

अतः गद्दे, कम्बल, तथा रोगी के अन्य कपड़े, जो अविशोधित अवस्था में ही अलाहिदा रक्खे हुए होते हैं, बहुत काल के पश्चात् भी उपयोग में लाने पर रोग का उपसर्ग पहुँचा सकते हैं। संचयकाल के अंतिम दो दिनों से विस्फोट उत्पन्न होने के समय तक रोग मध्यम संसर्गज और उसके बाद खुरण्ड पूर्णतया उतर जाने के समय तक अत्यन्त संसर्गज होता है।

शरीर में प्रवेश[2]—रोगी के खाँसने, छींकने या थूकने के समय निकले हुए

---

१. भारतवर्ष में मसूरिका से रक्षा करने के लिए मसूरिकाकरण का प्रचार प्राचीन काल से था। धेनुस्तन्य मसूरी वा नराणां च मसूरिका। तज्जलं बाहुमूलाच्च शस्त्रान्तेन गृहीतवान्॥ बाहुमूले च शस्त्रेण रक्तोत्पत्तिकरेण च। तज्जलं रक्तमिलितं स्फोटकज्वर-संभवम्॥

२. त्वगिन्द्रियगतेनज्वरमसूरिकादयः। डल्हण। प्रदुष्टपदनोदकैः। माधवनिदान॥

बिन्दूत्क्षेपों द्वारा, किंवा खुरण्डों के सूक्ष्म कणों द्वारा हवा में फैले हुए विषाणु श्वसन से सस्थान के ऊपर के अंश की श्लेष्मल कला में से शरीर में प्रवेश करते हैं। शरीर प्रवेश का यह साधारण मार्ग माना जाता है। इसके सिवा बाह्य त्वचा के द्वारा भी विष का शरीर में प्रवेश हो सकता है।

प्रतिषेध—मसूरिका के लिए सहज क्षमता नहीं होती, इसलिए रोगी के सम्पर्क में आया हुआ कोई मनुष्य इससे उपसृष्ट हुए बिना नही रह सकता। इसका प्रतिषेध निम्न उपायों के द्वारा करना आवश्यक है।

(१) मसूरीकरण (Vaccination)—मसूरिका प्रतिषेध का यह प्रधान उपाय है। मसूरीकरण टीका का आविष्कार एडवर्ड जेनर ने १७२८ में किया। उस समय गोमसूरिका से टीका का द्रव्य लिया जाता था। अब निम्न प्रकार से बनाया जाता है।

मसूरीलस (Vaccine lymph)—टीका की लस बनाने के लिए गौ, भैंस या अन्य प्राणियों के स्वस्थ बछड़ों का उपयोग किया जाता है। इनकी आयु छः मास से दो साल की होती है। लस बनवाने के लिए उपयोग करने के पूर्व एक सप्ताह तक इनके ऊपर विशेष ध्यान दिया जाता है। तत्पश्चात् उनको एक मेज पर लिटाकर पट्टे से बाँधा जाता है। फिर उदर विभाग के बाल उस्तरे से निकाल कर वह भाग ५% प्रांगविय (कार्बोलिक) घोल से प्रथम विशोधित करके पश्चात् विशोधित तिर्यक्पातित पानी से धोया जाता है। फिर उस आर्द्रभाग को विशोधित जालीदार कपड़े से सुखाते हैं। तदनन्तर विशोधित नश्तर से उस विभाग पर समान्तर लम्बे क्षत किए जाते हैं और तुरन्त उन क्षतों पर पहले की लस छोडी जाती है। लस सूखने पर उदर विशोधित वस्त्र से बाँधकर बछड़े गोशाला में भेजे जाते हैं। पाँच दिन में क्षत के स्थानों पर विस्फोट बनते हैं। तब इनको फिर से मेज पर लिटाकर उदर विभाग प्रथम साबुन और पानी से धोकर और पश्चात् विशोधित कपडे से उसको पोंछकर और कुछ खुरण्ड बने हों तो उनको धीरे से निकाल कर विस्फोटकों की लस उनके आवरणों के साथ वोल्कमन के चम्मच (Volkmann's spoon) से खरोंच कर इकट्ठा की जाती है। क्षत की प्रत्येक रेखा एक ही बार चम्मच से धीरे से खुरची जाती है जिससे कि लस में रक्तांश न आने पावे। बछड़ों के उदर-विभाग पर अन्त में टंकण चूर्ण लगाया जाता है।

इस प्रकार इकट्ठा की हुई लसिका उष्णता से विशोधित किए हुए निष्पेषणी यन्त्र (Triturating machine) के द्वारा भली भाँति मिलायी जाती है। पश्चात्

उसमें ४-६ भाग ५०% मधुरी और तिर्यक् पातित जल का मिश्रण मिलाकर फिर से यन्त्र द्वारा एक की जाती है। मधुरी (ग्लिसरीन) से अन्य जीवाणु नष्ट होते हैं, परन्तु मसूरिका के विषाणु ज्यों के त्यों रहते हैं। इस प्रकार बनायी हुई लस काँच की विशोधित नलिकाओं में आकण्ठ भरकर नलिकाओं में डाट लगाकर तथा पेराफिन मोम से मुँह वन्द कर ठण्डे, अँधेरे स्थान में या वर्फ की सन्दूक में रक्खी जाती है। एक महीने के बाद उसमें से कुछ लसिका अगर पर (Agar plates) रोपित की जाती हैं। यदि उसमें अन्य जीवाणुओं की वृद्धि न दिखाई दे तो छोटी-छोटी पतली नलिकाओं में वह भर दी जाती है और उनका मुँह वन्द करके टीका लगाने के लिए वह स्थान-स्थान पर भेजी जाती है। यदि अगरवर्धन में कुछ वृद्धि दिखाई दे तो अधिक काल लस रक्खी जाती है।

मसूरीकरण कर्म—टीका प्रायः वाहु में वाहर की ओर लगाया जाता है। इसके सिवाय अग्रवाहु में कोहनी के दो इञ्च नीचे सामने की ओर, ऊरुमें वाहर की ओर या पिंडली में भी लगाया जा सकता है। इनमें से स्थान पसन्द करके निम्न तीन पद्धतियों द्वारा टीका लगाया जाता है। (१) प्रथम त्वचा पर लस लगाकर उसमें विशोधित नश्तर से तनिक दवाव के साथ लेखन करना। (२) लस से लिप्त नश्तर या सुई से त्वचा पर लेखना या वेधन करना। (३) या प्रथम त्वचा पर नश्तर से लेखन या वेधन करके पश्चात् काँच के डण्डे से लस को लगाना। इस तरह लगायी हुई लस को पोंछना नहीं चाहिए। त्वचा को थोड़ी देर खुला रखने से वह आपसे आप सूख जाती है। इसके बाद उस स्थान को विशोधित जालीदार महीन कपड़े से ढक के रखना चाहिए।

टीका के लिए सूचनाएँ—(१) टीका लगाने के पूर्व हाथ, स्थान और शस्त्र का विशोधन करे। शस्त्र की शुद्धि मासवदीप (स्पिरिट लैंप) की ज्वाला से या उबलते पानी से करे। टीका स्थान की शुद्धि साबुन और गरम पानी से धोकर पश्चात शुद्ध स्पिरिट या इथर से करे। लस लगाने के पूर्व इथर या स्पिरिट पूर्णतया उड़ जाना चाहिए। शुद्धि के लिए तीव्र जन्तुनाशक घोल का उपयोग न करें, इससे लस की शक्ति घट जाती है। हाथों को भी साबुन और गरम पानी से साफ करे। (२) त्वचा पर शस्त्र से तनिक दवाव के साथ वेधन या लेखन करे जिससे जरा सी रक्तवर्ण लस निकल आवे परन्तु रक्त न निकले। (३) टीका चार स्थानों पर लगाया जावे जिसमें दो एक तरफ और दो दूसरी तरफ हों। दो स्थानों के दरमियान एक इञ्च का अन्तर होना चाहिए जिससे कि उनके विस्फोट

आपस में न मिलने पावें। (४) जब अनेक व्यक्तियों को टीका लगाना हो तो दो या तीन शस्त्र काम में लावें। एक व्यक्ति को टीका लगाने के पश्चात् उस शस्त्र को उबलते हुए पानी में छोड़कर उसमें प्रथम रक्खे हुए शस्त्र को लेकर दूसरे को टीका लगावे। इस प्रकार प्रत्येक समय विशोधित शस्त्र को काम में लावे। नश्तर ठंढा होने पर लस लगाने के लिए उसको काम में लावें। उपसर्ग नाशक द्रव्य के समान उष्णता भी लस को निष्क्रिय बनाती है। (५) केवल स्वस्थ व्यक्तियों को ही टीका लगावें। जो बालक ज्वर, दन्तोद्भेद, त्वग्रोग, प्रवाहिका इत्यादि से पीड़ित हों उनको तथा जहाँ पर परिवार में कोई व्यक्ति विसर्प पीड़ित हों वहाँ टीका न लगावें। (६) टीका के लिए उत्तम प्रकार से संरक्षित ताजी लसिका प्रयुक्त करें।

टीका की प्रतिक्रिया—टीका से एक हलके प्रकार की मसूरिका उत्पन्न होती है जिसमें तीसरे या चौथे दिन के बाद बेचैनी, सुस्ती, भूख कम होना, सिर और पीठ में दर्द, मन्द ज्वर इत्यादि लक्षण होते हैं तथा टीका के स्थान पर प्रतिक्रिया दिखाई देती है, परन्तु विस्फोट सर्व शरीर पर नहीं होते हैं। दूसरे या तीसरे दिन टीका के स्थान पर लाली और उभार हो जाता है। जरा बारीकी से देखने पर उस स्थान पर छोटी-छोटी दस बारह फुन्सियाँ दिखाई देती हैं जो एक-दो दिन में आपस में मिलकर एक पानीदार विस्फोट बनाती है। इस विस्फोट का मध्य कुछ अवनत होता है। दो तीन दिन बीतने पर अर्थात् टीका से ८ वें या ९ वें दिन विस्फोट में मवाद पडता है। ज्वरादि उपर्युक्त लक्षण इस समय में ही होते हैं और विस्फोट के चारों ओर का स्थान लाल याने रक्तवलयान्वित (Areola) होता है। बारहवें दिन से विस्फोट सूखने लगता है, चौदहवें दिन खुरण्ड बनता है जो २१ वें दिन तक गिर पड़ता है और उसके स्थान पर प्रथम कुछ लाल निम्न-मध्य निशान बन जाता है। आगे चलकर इसका रंग कुछ फीका होता है। जितने स्थानों पर टीका लगाया जाता है उतने स्थानों पर इसी प्रकार की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। टीका के विस्फोटकों के ऊपर कोई जन्तुघ्न द्रव्य लगाने की जरूरत नहीं होती है। विस्फोट सूखने के बाद बने हुए खुरण्डों को जबरदस्ती नहीं उतारना चाहिए।

मसूरीकरण क्षमता की अवधि—टीका से स्थायी क्षमता उत्पन्न होती है इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु उसकी अवधि निम्न बातों पर निर्भर होती है। (१) प्रतिक्रिया की अवस्था में विस्फोटकों के चारों ओर गुलाबी या रक्तवर्ण वलय की

उत्पत्ति। जिनमें इस प्रकार का वलय उत्पन्न होता है उनका टीका सफल होता है। (२) निशान की संख्या—एक निशान से कम से कम और चार निशान से अधिक से अधिक कार्य होता है। इसलिए टीका चार स्थानों में लगावे, दो से कम स्थानों में न लगावें। (३) निशान का कुल क्षेत्र—उत्तम क्षमता उत्पन्न होने के लिए टीका के निशानों का कुल क्षेत्र आधा वर्गइञ्च से कम न होना चाहिए। (४) निशान का स्वरूप—खुरण्ड गिर जाने के बाद निशान यदि अवनत और गर्तयुक्त (Foveated) हो तो वे उत्तम क्षमता जनक समझे जाते हैं।

यदि इन चार लक्षणों से युक्त टीका हो तो उससे ६–१० साल तक पूर्ण क्षमता शरीर में होती है, उसके बाद धीरे-धीरे उसकी शक्ति कम होने लगती है परन्तु पूर्णतया नष्ट नहीं होती और थोड़ा बहुत उम्र भर के लिए बचाती है।

पुनर्मसूरीकरण (Revaccination)—उम्र भर मसूरिका से पूर्ण रक्षा करने के लिए दूसरी बार टीका लगाना उचित है। यह पुनर्मसूरीकरण ११-१२ वे साल में करना ठीक है। प्रायः दो बार टीका लगाने से जिन्दगी भर मसूरिका से रक्षा हो जाती है। अधिक से अधिक हर दसवें साल टीका लगवा सकते हैं। बहुत से लोग हर साल टीका लगवाते हैं इससे कोई फायदा नहीं। यदि घर के आस पास मसूरिका का जोर हो, यदि घर में मसूरिका से कोई पीड़ित हुआ हो या मसूरिका के रोगी की परिचर्या करनी पड़े तो ही फिर से टीका लगवाना चाहिए। मसूरिका-पीड़ित रोगी के सम्बन्ध में आने पर टीका लगवाना जरूरी और फायदेमन्द है, परन्तु अधिक विलम्ब करने से यह व्यर्थ होता है। मसूरिका रोगी का सम्बन्ध होने पर रोग से बचने के लिए सम्बन्ध के दो तीन रोज के भीतर टीका लगवाना उत्तम है।

मसूरीकरण की आयु और काल—जन्म के पश्चात् बारह मास के भीतर प्रथम टीका लग जाना चाहिए। उत्तम काल दूसरे से चौथे मास तक होता है। इस अवस्था में बालक न खुरचना जानता है न करवट बदल सकता है। ये दोनों कार्य न होने से विस्फोट सुरक्षित रहते हैं। यदि आस पास चेचक का जोर हो तो दो महीने तक रुकने की जरूरत नहीं, नवजात बालक को भी टीका बिना आपत्ति के लगाया जा सकता है। टीका से उत्पन्न होनेवाली काल्पनिक आपत्तियों के डर से मसूरिका के मरक में बालक को टीका रहित रखना अनुचित है, क्योंकि जितना बालक उम्र में छोटा होता है उतना ही उसके मसूरिका से पीड़ित होने की अधिक सम्भावना होती है। ऋतु के अनुसार ग्रीष्म और वर्षा कनिष्ठ, वसन्त और शरत् मध्यम और हेमन्त और शिशिर उत्तम होते हैं।

टीका के उपद्रव—खराब पुरानी लसिका प्रयोग करने से या हाथ, त्वचा, शस्त्र इत्यादि का ठीक विशोधन न करने से या अन्य कारणों से टीका लगाने पर निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—(१) विसर्प, कोशिकाशोथ (Cellulitis), छाजन (Eczema), विविध प्रकार के सार्वदेहिक विस्फोट, सार्वदेहिक गोमसूरिका (Generalised vacoinia) रक्तक्षय, धनुर्वात (२) मस्तिष्कमज्जाशोथ (Encephalomyelitis)—यह उपद्रव टीका लगने के ७–१२ रोज के बाद सिर दर्द, वमन, अंगघात इत्यादि लक्षणों से प्रारम्भ होता है। धीरे-धीरे लक्षण तीव्र होकर प्रलाप, मूर्च्छा इत्यादि से रोगी का मृत्यु (५० प्रतिशत तक) होता है। इन उपद्रवों के सिवाय टीका से (३) शरीरगत सुप्तरोगों की जागृति हो जाती है। यह स्थिति विशेषतया सहज फिरंग और राजयक्ष्मा में दिखाई देती है।

पीछे (पृष्ठ ५०४) बतायी हुई सूचनाओं के अनुसार हस्तयन्त्रशस्त्रादि के विशोधन से और उत्तम सुरक्षित लस के प्रयोग से उपर्युक्त उपद्रवों का परिहार हो जाता है। इन उपद्रवों में मस्तिष्कमज्जा शोथ का उपद्रव घातक होता है। यह उपद्रव क्यों उत्पन्न होता है इसका यथार्थ ज्ञान अभीतक नहीं हुआ है। इसलिए उसको पूर्णतया रोकने का कोई उपाय मालूम नहीं हुआ। परन्तु निम्न बातों पर ध्यान देने से उसके उत्पन्न होने की सभावना बहुत घट जाती है ऐसा अनुभव है।

(अ) बालक को जन्म के पश्चात् ६ मास के भीतर टीका लगाया जाय। क्योंकि पाठशालागामी बच्चों में पहले-पहल टीका लगाने पर यह उपद्रव अधिक दिखाई देता है।

(आ) एक ही स्थान में त्वग्वेध करके रेखात्मक खरोच (Linear scratch) उत्पन्न किया जाय जिससे सुगर्ताङ्कित क्षेत्र बहुत विस्तृत न हो।

(२) अलग्नकरण—अलग्नकरण जहाँ तक हो सके स्वतन्त्र रुग्णालय में करना ही अच्छा होता है रोगी के साथ सम्बन्ध रखने वालों को भी अलग रखना जरूरी है। रोगी को प्रारम्भ से रोगनिवृत्त होने के पश्चात् त्वचा से सम्पूर्ण खुरण्ड उतर जाने के समय तक अलग करना चाहिए। तत्पश्चात् बाल कटवा कर शरीर को तेल लगाकर और साबुन और गरम पानी से स्नान करके बाहर निकलना चाहिए। रोगी का कमरा गृहान्तर्गत अलग्नकरण (पृष्ठ ३५१) के अनुसार होना चाहिए। रोगी के साथ सम्बन्ध रखनेवालों को भी अन्य लोगों से मिलने के लिए मना करना चाहिए।

(३) विशोधन—रोगी के साथ सम्बन्ध रखनेवाले वस्त्रपात्रादि का और कमरे का अनुषंगी और अन्तिम विशोधन (पृष्ठ ३६५) करना चाहिए।

(४) मसूरिका से मृत शरीर को प्रांगविक अम्ल या फार्मेलिन में भिगाये हुए चद्दर में लपेट के तुरन्त उसको जलवा दें या गाड़ दें।

(५) वैद्य या परिचारक टीका के अलावा रोगी को देखते या शुश्रूषा करते समय ऐसा लम्बा अँगरखा (Overall) पहने कि जो गले में और पहुँचे पर बहुत तग हो। काम समाप्त होने पर उसको निकाल कर फार्मेलिन की भाप से विशोधित करे और हाथों को साबुन और गरम पानी से और पश्चात् लायसोल या अन्य उपसर्गनाशक घोल से साफ करें। इसके सिवा हैड्रोजन पेरोक्साइड या पोटास परमेंगेनेट या क्लोरीन जल से कुल्ले करके गला और नासा पश्चिम भाग की सफाई रक्खें।

त्वङ्मसूरिका

पर्याय नाम—छोटी माता, मोतिया, शीतला, आकड़ाकाकड़ा, Chicken pox, Varicella.

व्याख्या[१]—यह एक औपसर्गिक विस्फोटक रोग है जिसमें त्वचा पर पानीदार विस्फोट समूह में कई वार निकलते हैं और उसी अवस्था में सूख कर गिर जाते हैं।

हेतु—रोग का कारण एक विषाणु है। यह रोग अधिकतर मध्यम-बाल्यावस्था में हुआ करता है। रोमान्तिका रोहिणी से निवृत्त बालक इससे अधिक पीड़ित होते हैं।

संक्रमण—रोगी के साथ प्रत्यक्ष सबन्ध से, खुरण्डों से या रोगी के दूषित पदार्थों से रोग का प्रसार होता है। एक बार होने पर दूसरी बार नहीं होता है।

शरीर में रोग का विष मुख द्वारा या श्वास द्वारा प्रवेश करता है।

मसूरिका से भेद—मसूरिका जब सौम्य या मृदुल होती है तब त्वङ् मसूरिका के समान दिखाई देती है तथा त्वङ्मसूरिका में जब विस्फोट अधिक संख्या में निकलते हैं, या ज्वरादि लक्षण तीव्र होते हैं तब मसूरिका का शक होता

---

१. तोयबुद्बुदसकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः।
स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोय स्रवन्ति च ॥ माधवनिदान ॥

है। व्यावहारिक दृष्टि से त्वङ् मसूरिका को मसूरिका समझने में आपत्ति नहीं होती; परन्तु मसूरिका को त्वङ् मसूरिका समझने में पारिवारिक और सामाजिक आपत्ति है। अतः नीचे दोनों का भेद विस्तार के साथ स्पष्ट किया जाता है।

(१) त्वङ् मसूरिका में मसूरिका की अपेक्षा आक्रमण के लक्षण सौम्य होते हैं। (२) त्वङ् मसूरिका में विस्फोट प्रथम दिन निकलते हैं; मसूरिका में तीसरे या चौथे दिन निकलते हैं। (३) त्वङ् मसूरिका में विस्फोट निकलने पर ज्वरादि लक्षण कम नहीं होते; मसूरिका में होते हैं। (४) मसूरिका में विस्फोट संख्या के अनुसार ज्वर, अवसाद आदि लक्षणों की तीव्रता होती है। त्वङ् मसूरिका मे इस प्रकार का नियम नहीं होता, इसलिए विस्फोट संख्या अधिक होने पर भी यदि अवसादादि लक्षण न हों तो वह रोग मसूरिका नहीं हो सकता। (५) मसूरिका में समस्त पिडकाएँ २४ घण्टे में निकल आती हैं; इसलिए एक समय पिडकाओं की सब अवस्थाएँ दिखाई नही देतीं। त्वङ् मसूरिका में ३-४ दिन तक विस्फोट समूह समूह में निकलते रहते हैं जिससे एक समय में एक स्थान में विस्फोटकों की सब अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। (६) मसूरिका में विस्फोट केन्द्रापसर याने मध्य में कम और माथा तथा शाखाओं में अधिक होते है; त्वङ्-मसूरिका में विस्फोट केन्द्राभिसर याने धड़ पर अधिक और शाखाओं पर कम होते हैं। मसूरिका में विस्फोटों में मवाद पड़ने के समय ज्वरादि लक्षण तीव्र हो जाते हैं। त्वङ् मसूरिका में विस्फोटकों में मवाद प्रायः नहीं पडता, न उस समय ज्वरादि लक्षण बढ़ते हैं। (७) दस साल से कम उम्र के बालक में जिसमें टीका सफलता से लगवाया गया हो यदि विस्फोट अधिक सख्या में निकलें तो त्वङ् मसूरिका समझना चाहिए और यदि प्रारम्भिक लक्षण तीव्र होकर विस्फोट कम निकलें तो मसूरिका समझना चाहिए। (८) प्रथम टीका लगवाने के बाद पाँच साल के भीतर यदि विस्फोट रोग उत्पन्न हो जाय तो वह मसूरिका न होकर त्वङ् मसूरिका होने की अधिक सम्भावना होती है।

प्रतिषेध—मसूरिका के समान इसमें टीका नहीं होता।

रोमान्तिका

पर्याय नाम—खसरा (Measles, Morbilli)

व्याख्या—यह एक औपसर्गिक ज्वर है जिसमें श्वसनसंस्थान का प्रसेक

साल के भीतर कोपलिक के दाग, त्वचा पर गाँठदार विस्फोट, श्वसनसंस्थान के उपद्रवों की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षण होते हैं।

हेतु—रोग का कारण कोई विषाणु है। वह रोगी के रक्त में नासा, मुख, नासा-पश्चिमभाग और श्वसनसस्थान के स्राव में होता है।

सहायक कारण—यह रोग समस्त संसार में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति में निम्न कारण सहायक होते हैं। (१) आयु—रोमान्तिका बचपन का रोग है। सात अष्टमांश रोगी दस साल के भीतर होते हैं। जन्म के पश्चात् छः महीनों तक यह रोग प्रायः नहीं होता और अधिक से अधिक तीसरे और चौथे साल में होता है। दस साल के बाद इसके होने की सम्भावना कम होती जाती है। २०-३० के बीच में फिर से बढ़ती है और ४० के बाद फिर कम हो जाती है। (२) सहवर्ति या पूर्ववर्ति रोग, अस्थिवक्रता, कुकुरखाँसी, ब्रान्कोन्युमोनिया, रोहिणी, लोहितज्वर (Scarlet-fever), इनसे पीड़ित या निवृत्त तथा दुर्बल बालकों में यह रोग अधिक होता है तथा तीव्ररूप धारण करता है। (३) परिस्थिति—गुञ्जान अस्वास्थ्यकर महल्लों और मकानों में निवास तथा हीन भोजन। (४) ऋतु—यह रोग जाड़े के और गर्मियों के दिनों में डिसेम्बर से जून तक होता है। (५) स्थान— देहातों की अपेक्षा बड़े-बड़े शहरों में अधिक होता है।

प्रसार—श्वसन संस्थान, नासा, गला इत्यादि के स्राव में रोग के विषाणु होते हैं। वे खाँसते, बोलते, छींकते समय थूक के या लाला के सूक्ष्म कणों के साथ वायुमण्डल में फैलते हैं और वायु द्वारा समीपवर्ति मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं। इसके सिवाय रोगी के थूक से दूषित वस्तुओं से भी रोग का प्रसार हो सकता है, परन्तु यह मार्ग विशेष महत्व का नहीं है। खाद्य-पेय पदार्थों के सेवन से इसका प्रसार नहीं होता। शरीर पर दाने निकलने से पूर्व चार पाँच दिन इसकी औपसर्गियता सबसे अधिक होती है, उसके बाद कम होती है, और रोगनिवृतावस्था में नगण्य होती है। गर्भवती माता को रोमान्तिका होने पर रोग का विष अपरा में से बच्चे में जाता है और उसको भी रोग (सहज रोमान्तिका) होता है।

प्रतिषेध—रोमान्तिका का संदेह होते ही रोगी को अलग करना चाहिए परन्तु इससे रोग प्रसार रोकने में विशेष सफलता नहीं मिलती क्योंकि विस्फोट निकलने के चार रोज पहले रोगी में औपसर्गियता (Insfectiveness) होती है।

रोगी के कमरे का तथा वस्त्रादि का उत्तम विशोधन करना चाहिए। रोमान्तिका-संनिवृत्त की लसिका (Convalescent serum) से आजकल रोग का प्रतिषेध करने की कोशिश हो रही है। रोग के साथ सम्बन्ध होने के बाद ५ रोज के भीतर इस लसिका का उपयोग करने से प्रायः रोग का प्रतिषेध होता है। ३ वर्ष के बालक के लिए ५ घ० शि० मा० और इससे अधिक वय के लिए वय की दुगुनी। इससे ३ सप्ताह तक बालक क्षम रहता है। जरायूपनाल (Chorio.allantois) में संवर्धित रोमान्तिका विषाणुओं का टीका भी आजकल प्रयुक्त किया जा रहा है। मनुष्यों की लसिका से विशेष पद्धति द्वारा पृथक् किये हुए ग्यामा ग्लोबुलिन (Gamma globulin) का टीका लगा कर बच्चों में क्षमता उत्पन्न करने का प्रयत्न हो रहा है और उसमें काफी सफलता मिल रही है। मात्रा २५० सहस्रिधान्य (Mg) १ वर्ष तक, ५०० सहस्रिधान्य १–३ वर्ष तक और ७५० सहस्रिधान्य ३ वर्ष से ऊपर।

रोमान्तिका से पीड़ित बालक को पाठशाला में न भेजें। यदि रोग जोर से फैल रहा हो तो पाठशालाएँ बंद कर देनी चाहिएँ। किसी घर में रोमान्तिका से कोई व्यक्ति पीड़ित हो जाय तो भी घर के किसी भी बालक को पाठशाला में न भेजें तथा न आने दें। बालकों का स्वास्थ्य सुधारने की ओर ध्यान दे।

कनफेड

पर्याय—हप्पु, औपसर्गिक कर्णमूलिक शोथ (Mumps)

व्याख्या—यह एक औपसर्गिक रोग है जिसमें कर्णमूलिक लालाग्रन्थियों का शोथ होता है, ज्वरादि सार्वदैहिक सौम्य लक्षण होते हैं और पुरुषों में वृषणों में शोथ उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है।

हेतु—यह रोग शहरों में तथा घनी बस्तियों में वसन्त और शरद् ऋतु में होता है। ५–२५ उम्र के बालक और नौजवान इससे अधिक, शिशु और बूढे कम पीडित होते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। इसका उपसर्ग अधिकतर पाठशाला, छात्रालय, जेल इत्यादि स्थानों में शुरू होता है और प्रायः वहीं मर्यादित रहता है। इसका कारण विषाणु है।

संक्रमण—रोग प्रकट होने से पहले कुछ दिन रोग के कारणभूत विषाणु रोगी की लाला में उपस्थित रहते हैं जो खाँसते छींकते समय हवा में लाला कणों के साथ उड़कर समीपस्थ मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। क्वचित् लालादूषित

पदार्थों से भी इसका संवहन हो सकता है। इस रोग के स्वस्थवाहक भी हो सकते हैं जो रोग का प्रसार किया करते हैं। इस रोग का उपसर्ग कभी कभी रोमान्तिका के वाद फैलता है। एक वार इससे पीडित होने पर शरीर में स्थायी क्षमता उत्पन्न होती है जिसके कारण दूसरी वार यह रोग नहीं होता।

हवा में फैले हुए विष का प्रवेश स्वस्थ मनुष्यों के मुख से होता है। वहाँ से विष लालाग्रन्थियों के स्रोत से उन ग्रन्थियों में जाता है।

प्रतिषेध—रोग के प्रारम्भ से रोगी को हवादार कमरे में गले की सूजन पूर्णतया वैठ जाने के वाद एक सप्ताह तक पृथक् रखना चाहिए। रोगी के साथ सम्वन्ध में आये हुए लोगों को अगर वे पहले इससे पीड़ित न हुए हों तो चार सप्ताह तक अलग रखना चाहिए। उपसर्गनाशक द्रव्य से मुख की सफाई रखनी चाहिए। रोग निवृत्त की लसिका इसमें भी प्रतिवन्धनार्थ लाभप्रद होती है।

शैशवीय अंगघात

पर्याय—तीव्र पूर्व पलितमज्जाशोथ, (Acute anterior poliomyelitis, Infantile paralysis)

व्याख्या—ऐकपदिक या जानपदिक स्वरूप में वालकों में होनेवाला यह एक औपसर्गिक तीव्र रोग है जिसमें मुख्यतया सुषुम्ना के धूसर (पलित) भाग स्थित पूर्व शृङ्गों का शोथ होता है जिसके कारण शरीर के एक वा अनेक पेशिसमूहों का घात होता है।

हैतुकी—इस रोग का प्रधान कारण विषाणु है। यह सूक्ष्मतम विषाणुओं में से एक है और इसका व्यास ८–१२ सिणु (Millimicrons) है।

सहायक हेतु—(१) यह रोग संसार व्यापी है परन्तु शीतप्रदेशों में अधिक हुआ करता है और वहाँ पर इसके व्यापक मरक आते हैं। इस समय इसका सबसे अधिक दौरा उत्तर अमेरिका, इङ्गलैण्ड, स्काटलैण्ड, नार्वेस्वीडन इन देशों में है। भारतवर्ष में यह रोग अकेला दुकेला हुआ करता है। परन्तु १९४९ में वम्बई प्रदेश में इसने मरक का स्वरूप धारण किया था। यह रोग ग्रीष्म और वर्षाऋतु में अधिक होता है और शीतकाल में कम हो जाता है। (२) श्लेष्मक सम प्रतिश्याय, खाँसी इत्यादि के पश्चात् इसके होने की सम्भावना वढ़ती है। (३) यह भी देखा गया है कि वच्चों में तुण्डिकोच्छेदन (Tonsillectomy) और कण्ठ-

शाल्कोच्छेदन (Adenoidectomy) करने के पश्चात् जब यह रोग होता है तब वह मस्तिष्कस्कन्ध (Bulber) प्रकार का रूप प्रायः धारण करता है तथा प्रायः घातक भी होता है। इसलिए कुछ लोगों का यह मत है कि इस रोग के मरक के समय यह शस्त्रकर्म तथा अन्य शस्त्रकर्म भी यदि बहुत आवश्यक न हो तो न किया जाय। (४) यह भी देखा गया है कि कुकुरकास, मसूरिका, रोहिणी विषाभ और क्वचित् कूर्चकि इनकी सुई लगने के पश्चात रोग उत्पन्न होता है और अंगघात युक्त रहता है। साधारणतया १ मास में भीतरी सुई का ही इस प्रकार का असर होता है। इसलिए मरक के समय इनके सूचिकाभरण का भी प्रयोग जहाँ तक हो सके न किया जाय ऐसा कुछ लोगों का मत है। (५) यह रोग छोटे बच्चों का है। इसलिए इसको शैशवीय (Infantile) नाम दिया गया है। साधारणतया प्रथमवर्ष में यह रोग कम हुआ करता है क्योंकि उस अवस्था में बच्चों के शरीर में माता से प्राप्त कुछ क्षमता रहती है। पाँच वर्ष की अवस्था तक यह रोग बहुत होता है। $\frac{5}{6}$ रोगी १० वर्ष के भीतर के होते है। इसके पश्चात् उसके होने की सम्भावना घटती है। अधिक से अधिक यह रोग ४५ वर्ष की अवस्था तक हो सकता है। यूरूप, अमेरिका तथा अन्य देशों में जहाँ पर यह रोग अधिक हुआ करता है इसके होने की वयोवस्था धीरे-धीरे अधिकाधिक हो रही है ऐसा अनुभव आ रहा है। भारतवर्ष मे, जहाँ पर यह रोग बहुत कम होता है, ५ वर्ष की अवस्था तक अधिक और उसमे भी प्रथम और द्वितीय वर्ष में सबसे अधिक होता है। (६) कुछ लोगों ने यह बताया है कि गर्भवती स्त्रियों में यह रोग अधिक (तीन गुना) होता है और उसमें यह बताया जाता है कि गर्भ पुल्लिंगी होने पर रोग प्रथम तीन मास में और स्त्रीलिंगी होने पर अन्तिम तीन मास मे होता है। (७) अत्यधिक शारीरिक परिश्रम, खेल-कूद इत्यादि कार्य रोग की प्रारम्भिक अवस्था में करने से और शीत, अभिघात, ताप इत्यादि से अङ्गघात पेशीघात अधिक हुआ करते है तथा घात की तीव्रता भी अधिक हुआ करती है। (८) यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। परन्तु यह देखा गया है कि अंगघात पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों मे अधिक हुआ करते है। इसका कारण स्त्रियों का आर्तव बताया जाता है क्योंकि रोगोत्पत्ति के ४–५ दिन पूर्व या पश्चात् उनमें मासिकधर्म प्रारम्भ होता है।

(९) स्वास्थ्य—स्वस्थ शरीर उपसर्ग के लिए प्रतिकारक होता है यह मानी हुई बात है। विषाणूपसर्ग इसके लिए अपवाद है। विषाणु कोशाश्रयी होने से

स्वस्थ कोशाओं पर ही आक्रमण करते हैं। इसके अनुसार यह देखा गया है कि यह रोग अस्वस्थ बालकों की अपेक्षा स्वस्थ बालकों में अधिक हुआ करता है।

उपसर्ग स्थान—यद्यपि यह रोग सन्निवृत्तावस्था तक औपसर्गिय हो सकता है तथापि रोग प्रकट होने के पश्चात् गले के विषाणुओं की रोगोत्पादन शक्ति लगभग नष्ट हो जाती है जिससे रोगी से रोग प्रसार होने की सम्भावना नगण्य होती है। अधिक से अधिक रोग प्रकट होने के पश्चात् ५ दिन तक होती है। इस रोग की दूसरी विशेषता यह है कि उपसृष्ट व्यक्तियों में केवल १ प्रतिशत व्यक्ति रोग से प्रकट पीड़ित होते हैं। शेष ९९ प्रतिशत वाहक बनते हैं या अप्रगल्भ (Abortive) प्रकार से पीड़ित रहते हैं। इसलिए इस रोग में उपसर्ग के महत्व के स्थान प्रकट रोग से पीड़ित रोगियों की अपेक्षा स्वस्थवाहक और अप्रगल्भ प्रकार पीड़ित व्यक्ति होते हैं। इस रोग में औपसर्गियता बहुत नहीं है। परिवार में अनेक व्यक्ति होते हुए एकाध से अधिक इससे पीड़ित नहीं होते। अधिकसंख्य व्यक्ति वाहक बन जाते है। इन वाहकों की विशेषता यह होती है कि ये अल्पकालिक वाहक होते हैं। क्योंकि अल्पकाल में ये स्वयंक्षम हो जाते हैं। परन्तु इनके द्वारा वाहकों की परम्परा बराबर बनी रहती है।

रोग का प्रसार—रोग के विषाणु वाहकों और रोगियों के नासामार्ग और तुण्डिकाओं में वास करके बढते हैं और बिन्दूत्क्षेपों द्वारा बाहर निकलते हैं। इनका दूसरा स्थान आन्त्र है और वहाँ से ये मल के साथ बाहर निकलते हैं। परन्तु मल में ये नासा और गले के पश्चात् पाये जाते हैं। इस रोग के प्रसार के सम्बन्ध में अनेक मत मतान्तर रहे हैं।

(२) कुछ जीवाणुविज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि मल में विषाणु होने के कारण रोग का प्रसार मुख्यतया मलदूषित जल, दूध तथा इतर खाद्यपेयों के द्वारा और घरेलू मक्खियों द्वारा होता है। अन्वेषण और अवलोकन से यह सिद्ध हुआ है कि दूषित खाद्यपेयों से रोग का प्रसार जरूर होता है, परन्तु वह गौणमार्ग है क्योंकि माता का दूध पीनेवाले बच्चों में भी रोग होता है। जहाँ पर शुद्ध निस्यन्दित (Filtered) पानी का प्रबन्ध है वहाँ पर रोग होता है। मक्खियाँ न होने पर भी रोग होता है। पाश्चरीकृत तथा उबाले हुए दूध का प्रयोग होने पर भी रोग होता है।

(२) मरक के समय रोग फैलने का सूक्ष्म अवलोकन करने के पश्चात्

जीवाणुविज्ञानवेत्ता इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इसके प्रसार का मुख्यमार्ग वाहक संपर्क और मुख्य साधन बिन्दूत्क्षेप है, दूषित खाद्यपेय नहीं है।

शरीर में प्रसार—यह विषाणु आग्रही कोशान्तर्य पराश्रयी (Obligatory intracellular parasite) है। इसका विशेष आकर्षण मस्तिष्क सस्थान की कोशाओं की ओर और उसमें भी सुषुम्ना की पूर्वश्रृङ्ग कोशाओं की ओर होता है और मस्तिष्क में पहुँचने का मार्ग नाड़ियों के अक्षतन्तुओं (Axon) द्वारा रहता है। पहले यह माना जाता था कि नासा में पहुंचे हुए विषाणु गन्धनाडी (Olfactory nerve) द्वारा सीधे मस्तिष्क में पहुँचते है। परन्तु अब यह सिद्ध हुआ है कि ये अन्नमार्ग से सम्बन्धित नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क सुषुम्ना में पहुंचते है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शरीर में ये विषाणु मस्तिष्क संस्थान के अंगप्रत्यंगों के अतिरिक्त अन्यों में विकृति नहीं करते, शरीर में प्रवेश होते ही सर्वप्रथम मस्तिष्क संस्थान की ओर आकर्षित होते हैं तथा केवल अक्षतन्तुओं द्वारा ही शरीर में प्रसार करते हैं।

प्रतिबन्धन—रोगी को रोग के प्रारम्भ से ६ सप्ताह तक तथा रोगी से संबन्धित व्यक्तियों को ३ सप्ताह तक अलग रखना चाहिए। जिस घर में रोगी हो उस घर के बालकों को ३ सप्ताह तक पाठशाला में न जाना चाहिए।

खाद्यपेयों से तथा विन्दूत्क्षेप से फैलनेवाले रोगों की दृष्टि से जो सावधानताएँ रखनी पड़ती हैं वे रक्खी जाँय। रोगी के आस पास भीड़ न होनी चाहिए तथा कमरा हवादार होना चाहिए।

सन्निवृत्त लसिका—मरक के समय रोग प्रतिबन्धन के लिए तथा रोगी के सम्पर्क में आये हुए व्यक्तियों में रोग न होने पावे इसलिए इसकी १० घ० शि० मा० (सी० सी०) की मात्रा त्वचा द्वारा दी जाती है। यदि १ मास में मरक बन्द न हो तो दूसरी बार उतनी ही मात्रा देनी चाहिए।

गि-आवर्तुलि (ग्यामा-ग्लोब्यूलिन)—इसका भी उपयोग पूर्ण प्रतिबन्धन के लिए अच्छा होता है। यदि रोग उत्पन्न होते ही इसका उपयोग किया जाय तो अंगघात की अवस्था बहुत सौम्य हो जाती है।

इनके अतिरिक्त मरक के समय तुण्डिकोच्छेदन, कण्ठशालूकोच्छेदन, प्रतिबन्धक टीका इत्यादि का उपयोग न किया जाय। यदि कोई खास वैकल्य उत्पन्न हो जाय तो तज्ज्ञों द्वारा उसकी चिकित्सा करे।

स्पर्शसंवाहित रोग

कुष्ठ[1]

पर्याय—कोढ़, महारोग, महाव्याधि, रक्तकुष्ठ (Leprosy)।

व्याख्या—यह एक चिरकालानुबन्धी अत्यल्प सांसर्गिक, औपसर्गीय कणिकार्बुद स्वरूप का औपसर्गिक रोग है जिसमें त्वचा में, श्लेष्मलकला में, परिसरीय नाडियों में और लस ग्रन्थियों में विकृति होती है।

हैतुकी—इस रोग का प्रधान हेतु कुष्ठ दण्डाणु (B. Leprea) है। हनसेन (Hansen) ने इन स्थानों में सर्वप्रथम इसका पता लगाया। इसलिए इसको हनसेन का दण्डाणु (Hansen's bacillus) भी कहते हैं।

कुष्ठदण्टाणु—ये कुष्ठियों की त्वचा, श्लेष्मलकला इत्यादि की विकृतियों में बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं और सलाई की गड्डी की भाँति प्रायः इकट्ठा रहते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—कुष्ठ संसारव्यापी रोग रहा है। परन्तु इस समय उसका क्षेत्र भूमध्यसमीपवर्ती देश तथा उसके द्वीप, अफ्रीका, एशिया के दक्षिण चीन, जापान, फिलीपाइन, हिन्द चीन, श्याम, ब्रह्मदेश, भारत, अरबस्तान, जावा, सुमात्रा, आस्ट्रेलिया का उत्तर पूर्व भाग, मेक्सिको, दक्षिण अमेरिका मुख्यतया ब्राझील इत्यादि देश हैं। संक्षेप में वर्तमालकाल में वह उष्णकटिबन्ध का रोग बनकर रह गया है।

---

१ शरीर धातुओं का नाश करने के कारण इस रोग को कुष्ठ कहते हैं—कुष्ठमुशन्ति तत्। कालेनोपचित यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपुः॥ अष्टाङ्गसंग्रह॥ चरकसुश्रुतादि ग्रन्थों में अनेक प्रकार के कुष्ठ वर्णन किये हैं। मुख्य कुष्ठ दो ही हैं जिनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होता है। एक सफेद कोढ़—इसको श्वेतकुष्ठ या श्वित्र कहते हैं। अंग नष्ट करनेवाला दूसरा कोढ—(Lepra mutilans) इसको इसलिए गलत्कुष्ठ कहते हैं—ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च॥ भर्तृहरि॥ कुष्ठ की यह उत्तरकालीन अवस्था है इसलिए इस गलत्कुष्ठ का निर्देश केवल कुष्ठ शब्द से किया जाता है। सफेद कोढ का इससे जरा सा भी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह जीवाणु या कृमि से उत्पन्न नहीं होता—श्वित्रमस्माच्च कुष्ठबाह्यमुदाहृतम्॥ अष्टाङ्गसंग्रह॥ क्लेदकृम्याद्यभावात् सत्यपि त्वग्रोगत्व इत्यर्थ॥ इन्दु॥

भारतवर्ष में इसकी अत्यधिकता (१–१० प्र० श० तक) उड़ीसा और मद्रास का पूर्व किनारा, बंगाल का पश्चिम भाग और विहार का पूर्व भाग इनमें है। इसकी अधिकता (·२–१ प्र० श०) मद्रास का दक्षिणी और पश्चिमी भाग, हैदराबाद, मध्यप्रदेश का दक्षिण पूर्व भाग; उड़ीसा और विहार का पश्चिम भाग, उत्तरप्रदेश और बंगाल का मध्य भाग इनमें हैं। इसकी मध्यमता (·१–·२ प्र० श०) काश्मीर, नेपाल, भूटान, आसाम, बंगाल का पूर्व भाग, मध्यभारत, मध्यप्रदेश का उत्तरी भाग, उत्तरप्रदेश का पश्चिम भाग, मैसूर और बम्बई का दक्षिण भाग इनमें हैं। इसकी अल्पता (·१ प्र० श० से कम) पंजाब, राजपुताना, सिन्ध, कच्छ, सौराष्ट्र और बम्बई का उत्तरी भाग इनमें हैं।

संख्या—संसार में कुष्ठियों की संख्या ५०–७० लाख तक और भारतवर्ष में १०–१५ लाख तक बतायी जाती है। अधिकसख्य कुष्ठी बंगाल, उड़ीसा, मद्रास और उत्तरप्रदेश में होते हैं। उत्तरप्रदेश बहुत जनाकीर्ण होने से चौथाई कुष्ठी उसी में होते हैं।

सहायक हेतु—(१) अवस्था—रोग चिरकालानुवन्धी होने के कारण कुष्ठियों में जवान और बूढ़े दिखाई देते हैं, परन्तु इसका उपसर्ग केवल बचपन में ही हो सकता है। अनुभव के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि बचपन में ३ वर्ष की अवस्था तक कुष्ठ के लिए शरीर बहुत ग्रहणशील होता है। इसलिए अधिकसंख्य कुष्ठियों में इस अवस्था में कुष्ठ का उपसर्ग होता है। तीन से दस वर्ष की अवस्था तक ग्रहणशीलता मध्यम और उसके पश्चात् विवर्धमानावस्था (Adolescent period) में अत्यल्प और उसके पश्चात् शरीर कुष्ठ के लिए पूर्ण प्रतीकारक या क्षम हो जाता है इसलिए कुष्ठ चाहे जवानी में प्रकट हुआ हो चाहे मध्यम अवस्था में, उसका उपसर्ग बचपन का ही होता है। परन्तु संचयकाल लम्बा (५-१० वर्ष या इससे भी अधिक) होने के कारण बाल कुष्ठी प्रायः नहीं दिखाई देते। अधिकसंख्य कुष्ठियों में कुष्ठ का प्रादुर्भाव १५-२४ वर्ष के भीतर हुआ करता है और २४ वर्ष के पश्चात् और १५ से पूर्व कुष्ठोद्भव बहुत कम दिखाई देता है। १० वर्ष के पश्चात् उपसर्ग होने पर रोग तीव्र स्वरूप का और सांसर्गिक (ग्रन्थिक) नहीं होता और युवावस्था के पश्चात् सम्बन्ध होने पर भी उपसर्ग होने की संभावना नगण्य होती है।

(२) लिंग—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में कुष्ठ अधिक (३ : १) दिखाई देता है। स्त्रियों में कुष्ठ की निम्न विशेषतायें होती हैं। (१) प्रायः रोग का स्वरूप

अधिक सौम्य रहता है। (२) उनमें प्रायः रजोदर्शन और रजोनिवृत्ति के समय कुष्ठ का उपसर्ग प्रकट होता है या पहले का प्रकट हुआ कुष्ट अधिक बढ़ता है। (३) कुष्ठज्वर भी प्रायः इसी काल में उत्पन्न होता है। (४) गर्भवती होने पर पहले की कुष्ठ विकृतियों का उपशम हुआ सा दिखाई देता है और स्तन्यकाल में फिर से रोग बढ़ता है जिसमें रक्त में चूने की अधिक कमी होने के कारण हड्डियों के उपद्रव अधिक होते हैं। (५) गर्भवती होने से पहले यदि कुष्ठ का उपसर्ग सुप्त या गुप्त रहा होगा तो प्रसूति के बाद वह स्पष्ट और प्रकट हो जाता है। (६) कुष्ठी स्त्री के गर्भवती होने पर उसे गर्भपात नहीं होता।

(३) सभ्यता—संसार की कोई जाति इससे मुक्त नहीं है। आधुनिक सभ्यता से दूर रहनेवाले जंगली लोगों में यह रोग बहुत कम दिखाई देता है। जब ये लोग सभ्य लोगों की देखादेखी सभ्यता की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करते हैं परन्तु उनके समान उच्च जीवन व्यतीत नहीं कर सकते हैं तब इनमें यह रोग ज्यादा होने लगता है। संक्षेप में जंगली स्थिति में नैसर्गिक जीवन होने के कारण और पूर्ण सभ्य स्थिति (Civilized state) में प्रतिबन्धक उपाय, उच्च जीवन, स्वच्छता इत्यादि के कारण यह रोग कम होता है और दोनों के बीच (Contact zone) के सामाजिक जीवन की दशा में अधिक होता है।

(४) वंश (Races)—एक ही स्थान में रहने वाले अनेक वंशों के मनुष्यों का अभ्यास करने पर यह सिद्ध हो गया है कि मनुष्यों के कुछ वंश कुष्ठ के लिए अधिक ग्रहणशील और कुछ कम ग्रहणशील होते हैं। यह ग्रहणशीलता या अग्रहणशीलता (Non-susceptibility) जैसे कुष्ठोत्पत्ति से सम्बन्ध रखती है वैसे उसके प्रकारोत्पत्ति से भी सम्बन्धित होती है। इसी कारण से ही विभिन्न देशों में कुष्ठ की तीव्रता में भिन्नता पायी जाती है। जैसे, भारत और अफ्रीका में कुष्ठ अधिक होने पर भी सौम्य होता है, फिलीपाईन तथा दक्षिण अमेरिका के कुछ भागों में कम होने पर भी तीव्र रूप धारण करता है तथा दक्षिण चीन, ब्रह्मदेश तथा दक्षिण अमेरिका के कुछ भागों में कुछ अधिक तथा तीव्र स्वरूप धारण करता है।

(५) परिस्थिति—अधिक जनसंमर्द, गंदगी, तरी, प्रकाश और शुद्ध वायु की कमी, गुंजान महल्लों और बस्तियों के अँधेरे, गन्दे, सील, खराब हवा के मकान सहायक होते हैं। कल कारखानों से तथा औद्योगीकरण से इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने के कारण ये रोग प्रसार में सहायता करते हैं। वैसे ही मन्दिर, यात्रा, मेले भी जहाँ पर कुष्ठी बहुत अधिक संख्या में एकत्र होते हैं, रोगप्रसार के स्थान होते हैं।

(६) सामाजिक कुरीतिया—एक बिस्तरे[1] पर सोना, एक थाली से खाना, एक बर्तन से पानी पीना, एक नली से हुक्का पीना इत्यादि घनिष्ठ सम्बन्ध की कुरीतियाँ रोग प्रसार में सहायता करती हैं।

(७) व्यक्तिगत कुरीतिया—आहार-विहार में व्यभिचार, विषयातिसेवन, आलस्य, श्रमाधिक्य, शरीर और कपड़ों को स्वच्छ न रखना इत्यादि।

(८) आहारदोष[2]—बासी और सड़े गले अन्न का, माँस-मछली का सेवन, अतिपक्व और अपक्व (Over cooked and under cooked) अन्न का अति सेवन, इत्यादि अनेक आहार दोष कुष्ठोत्पत्ति में सहायक माने गये हैं। परन्तु इसमें कोई विशेष तथ्य नहीं है। यदि कोई दोष सहायक हो सकता है तो अपर्याप्त, असन्तुलित (Illbalanced) आहार का सेवन सहायक हो सकता है।

(९) कुलज प्रवृत्ति[3]—कुष्ठ में वास्तविक कुलजता (Heredity) नही होती क्योंकि कुष्ठी माता पिता से उत्पन्न हुई प्रजा कुष्ठी नहीं होती। तथापि उसमें कुष्ठोत्पत्ति के लिए अनुकूलता (Predisposition) होती है, जिससे कुष्ठी के साथ उसका सम्बन्ध होने पर औरों की अपेक्षा वह जल्दी उससे पीडित होता है।

(१०) अन्य रोगों का परिणाम—त्वचा के अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के (विशेषतया उपवृक्क ग्रन्थि की अकार्यक्षमता) रोग, अंकुशमुख तथा अन्य कृमि, अतिसार, कालाजार, फिरंग, दाँत, मसूढ़े तथा गले के रोग, विषमज्वर, आन्त्रिक ज्वर, श्लेष्मक (एन्फ्लुएञ्जा) इत्यादि रोगों से पीडित या दुर्वल हुए रोगियों में प्राणशक्ति कमजोर होने के कारण कुष्ठ होने में कुछ सहायता होती है।

---

१. पृष्ठ ३४५ की टिप्पणी देखो।

२. आयुर्वेद के अनुसार कुष्ठोत्पत्ति में आहारदोष एक प्रधान कारण माना गया है जिसमें आधुनिक कुछ शास्त्रज्ञों के अनुसार मछली सेवन का भी उल्लेख है—विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च भजताम्। शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रम मुक्त्वा निषेविणाम्। अजीर्णाध्यशिना चैव। नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्। मधुफाणिनमत्स्यलकुचमूलककाकमाचीः सततमतिमात्रमजीर्णे च समश्नत.॥ चरक॥ इसके सिवाय सड़ी गली बासी वस्तु तथा अन्न सेवन का निषेध सदा के लिए आयुर्वेद में किया है—अचोक्ष दुष्टमुत्सृष्टं पाषाणतृणलोष्ठवत्। द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्न विवर्जयेत्। चिरसिद्ध स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं पुनः। अशातमुपदग्धं। सुश्रुत॥

३. आयुर्वेद में कुलज रोगों के सम्बन्ध में निम्न सिद्धात मिलते है—(१) सब रोगों में कुलज प्रवृत्ति नहीं होती, कुछ इने गिने रोगों में होती है—तत्रादिबलप्रवृत्ताः ये शुक्रशोणितदोषान्वया.। कुष्ठार्शप्रभृतयः। सुश्रुत॥ प्रभृति से राजयक्ष्मा, मधुमेह, अपस्मार

(११) जलवायु—जिस स्थान में वर्षा अधिक होती है उसमें कुष्ठ अधिक होता है तथा जिसमें वार्षिक वर्षा १० इञ्च से कम होती है वहाँ पर कुष्ट कम होता

इत्यादि का बोध होता हैं । (२) कुलज रोग मातापिता के बाज दोष के कारण सन्तान में उत्पन्न होते हैं—शुक्रशोणितस्थितवातादिदोषजनिताः । डल्हण ॥ यहाँ शुक्र से Sperm और शोणित से ova अभिप्रेत हैं । (३) मनुष्य के बीज में शरीर के प्रत्येक अङ्ग के लिए स्वतन्त्र बीज भाग होता है—मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मक स्वसदृशप्रत्यङ्ग-समुदायरूपपुरुपजनकम् । चक्रपाणिदत्त ॥ आधुनिक परिभाषा के अनुसार कुलज प्रवृत्ति (Hereditory character) या संवहन बीजगत वर्णसूत्रों तथा तद्गत गुणियों (पृष्ठ २१९-२१७) के द्वारा होती है । अर्थात् वर्णसूत्रों को प्रत्यङ्ग बीज का पर्याय मान सकते हैं । (३) माता-पिता के जिस प्रत्यङ्ग बीज भाग में दोषों के कारण विकृति होती है, सन्तान के उसी अवयव में विकृति बनती है—यस्य यस्य ह्यगावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्या ङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते नोपजायते चानुपतापात् । चरक ॥ (४) कुलजरोग से पीडित माता-पिता की सन्तान में निरपवाद उस रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है । यदि माता पिता उस रोग के लिए उचित आहार-विहार का और पथ्य का सेवन करे तो उनका बीज उस रोग से दूषित न होकर सन्तान तद्रोगप्रवृत्तिरहित हो सकती है । यदि माता-पिता उचित आहार-विहार और पथ्य से न रहने के कारण दोष वृद्धि अधिक हो तो बीज दूषित होकर सन्तान तद्रोगप्रवृत्तियुक्त होती है—पिता यदि कुष्ठ्यपि भवति, बीज चादुष्टं भवति कुष्ठाधारत्वगादिजनकं, ततो निष्कुष्ठान्येव त्वगादीन्युपतप्तत्वगादिबीजात् सदृशानि जायन्ते । यदा त्वतिवृद्धकुष्ठतया पित्रोर्बीजमपि कुष्ठजनकदोषेण दुष्ट भवति तदा दुष्टत्वगादिबीजभागात् कुष्ठदुष्टैव त्वग्जायते । एवं कुष्ठिनोऽपि यदि हेतुवलाद्बीजे कुष्ठजनको दोषो भवति तदा कुष्ठिनोऽपि कुष्ठवदपत्यं भवति ॥ चक्रपाणि ॥ (५) कुलज रोग पीडित माता-पिता से कुलज प्रवृति युक्त उत्पन्न हुई सन्तान में जन्म के समय से वह रोग नहीं होता, तो आगे जाकर अन्य कारणों की सहायता मिलने पर प्रकट होता है—नैवं, न हि प्रमेहिना जात इत्येतावता उत्पन्नमात्र एव प्रमेही भवति किं तर्हि कालवशेन दुष्टेरभि-व्यक्त्या, यथा कुष्ठिजातस्य कुष्ठम् । मधुकोश व्याख्या । (६) कुलज रोग प्रायः असाध्य (याप्य या अनुपक्रम) होते हैं—जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीज-दोषात्, ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् । चरक ॥ कुष्ठ की कुलज प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सुश्रुत में स्पष्ट लिखा है—स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः यदपत्य तयोर्जात ज्ञेय तदपि कुष्ठितम् । कुष्ठित का अर्थ कुष्ठप्रकृति है 'संजात कुष्ठ' नहीं है (विशेष विवरण के लिए ग्रन्थकार के संशोधित परिवर्धित सुश्रुत सूत्रस्थान के पृष्ठ १९३-१९४ देखिये ।

है। कुष्ठ शीत और उष्ण प्रदेशों में होता है। परन्तु शीत की अपेक्षा उष्ण में अधिक होता है और इस समय यह रोग मुख्यतया उष्ण कटिबन्ध में ही अधिक पाया जाता है। ताप की अपेक्षा जलवायु की आक्लिन्नता (Humidity) इसके उत्पादन और प्रसार में अधिक महत्व रखती है। परन्तु बहुत अधिक आक्लिन्नता भी बहुत पोषक नहीं होती। क्योंकि यह देखा गया है कि बंगाल के अधिक आक्लिन्न (पूर्व) भाग की अपेक्षा कम आक्लिन्न (पश्चिम) भाग मे कुष्ठ अधिक होता है। संक्षेप में ताप और मध्यम आक्लिन्नता इसके लिए पोषक होती है।

(१२) घनिष्ठ सम्बन्ध—कुष्ठी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध कुष्ठोत्पत्ति में सहायक होता है। विशेष करके बाल्य और विवर्धमान अवस्था में सहायक होता है। इस दृष्टि से एकत्र कुटुम्ब में, भिखारियों में कुष्ठियों का होना कुष्ठोत्पत्ति में सहायक होता है।

औपसर्गियता (Infectivity)—धातु विकृति की दृष्टि से कुष्ठ के यक्ष्मिकाभ (Tuberculoid) और कुष्ठार्बुदीय (Lepromatous) करके दो प्रधान भेद किये जाते हैं। साधारणतया यक्ष्मिकाभ कुष्ठ में दण्डाणु बहुत कम होते हैं, कठिनता से पाये जाते है तथा शरीर के बाहर उत्सर्गित नहीं होते हैं। कुष्ठार्बुदीय कुष्ठ में इसके विपरीत स्थिति होती है। इसलिए यक्ष्मिकाभ कुष्ठ की औपसर्गियता नगण्य और कुष्ठार्बुदीय कुष्ठ की अधिक होती है। सांख्यिकों के मत से पहले की अपेक्षा दूसरे की औपसर्गियता बीस गुना अधिक होती है। परन्तु कुष्ठदण्डाणु स्वयं मन्द और अनुग्रस्वरूप का होने के कारण दूसरा प्रकार बीस गुना अधिक औपसर्गिय होते हुए भी अन्य रोगों की तुलना में इसकी औपसर्गियता कुछ भी नहीं होती। अनुभव के आधार पर यह देखा गया है कि कुष्ठार्बुदीय के साथ घनिष्ठ संबन्ध रखनेवालों में भी ३ प्रतिशत से अधिक उपसृष्ट नहीं होते।

खुला कुष्ठी—(Open case)—जिसकी त्वचा या नासा की श्लेष्मल त्वचा से प्रमाणभूत परीक्षण पद्धतियों से कुष्ठ दण्डाणु पाये जाते है उस कुष्ठी को खुला या विवृत कहते हैं। इसी से रोग का प्रसार होता है।

रोग का प्रसार—कुष्ठ बहुत ही मन्द गति से होनेवाला तथा फैलनेवाला रोग होने के कारण और कृत्रिम साधनों से उसके उत्पादन में पूर्ण सफलता प्राप्त न होने के कारण उसका प्रसार ठीक किस प्रकार से होता है इसका अभी तक पूर्ण ज्ञान न हो पाया। फिर भी इसके प्रसार में निम्न साधन सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

प्रदीर्घ प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध—पति पत्नी तथा माता-बालक इनके बीच में जिस प्रकार का प्रदीर्घ घनिष्ठ शरीर सम्पर्क रहता है उसी प्रकार का सम्पर्क कुष्ठोत्पत्ति के लिए आवश्यक होता है ऐसा माना जाता है। कुष्ठोत्पत्ति की दृष्टि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध की आनूपूर्वी (Order) निम्न प्रकार की होती है।

कुष्ठी के साथ एक शय्या पर सोनेवालों में अधिक, एक कमरे में रहनेवालों या सोनेवालों में उससे कम, एक घर में रहनेवालों या सोनेवालों में सबसे कम और घर के बाहर रहनेवालों में नगण्य। घनिष्ठ सम्बन्ध से कुष्ठ दण्डाणु बहुत अधिक संख्या में स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में बराबर प्रवेश करते रहते हैं जिससे उनको कभी न कभी उस पर अधिकार कर लेने का मौका मिल जाता है। पति-पत्नी में प्रदीर्घ घनिष्ठ गात्रसस्पर्श होते हुए भी वयोवस्था अनुकूल न होने के कारण एक का कुष्ठ दूसरे पर सक्रान्त होने की सम्भावना नहीं होती। इसलिए विवाह के पश्चात् पति-पत्नी में से कोई कुष्ठी होने पर उपसर्ग पहुँचने के आधार पर विवाहोच्छेद (Divorce) करने का या माँगने का कोई कारण नहीं होता। परन्तु बाल्यावस्था अनुकूल होने के कारण माता-पिता का कुष्ठ बालक पर संक्रान्त हो सकता है। यही कारण है कि कुष्ठी माता पिता के बच्चे बचपन में उपसृष्ट होकर आगे कुष्ठी हो जाते हैं और कुष्ठरोग कुलज है ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु यदि कुष्ठी माता-पिता के बच्चे जन्म के पश्चात् तुरन्त उनसे सदा के लिए अलग करके स्वस्थ वातावरण में वर्धित किये जाँय तो उनमें कुष्ठ नहीं उत्पन्न होता। इसलिए सम्बन्धविच्छेद पति-पत्नी में होने की आवश्यकता नहीं है, माता-पिता और बालक में होने की आवश्यकता होती है।

अप्रत्यक्ष सम्बन्ध—कुष्ठी के नासा-त्वचादि व्रणों में असंख्य दण्डाणु होते हैं जो उनके स्रावों से बाहर उत्सर्गित होते हैं। अतः कुष्ठी के प्रत्यक्ष संसर्ग से जैसे कुष्ठ का प्रसार होता है वैसे दूषित वस्त्र-पात्र-खाद्यपेय वायु इनके द्वारा भी रोग का प्रसार हो सकता है। इस दृष्टि से कुष्ठी भिखारी तथा साग-तरकारी पान बेचनेवाले व्यक्ति, जिनके साथ खाद्यपेयादि द्रव्यों के लेन-देन का व्यवहार होता है, रोग प्रसार में सहायक होते हैं।

शरीर में प्रवेश—दण्डाणु शरीर में प्रायः नासा के श्लेष्मलावरण से तथा हाथ-पैर, चूतड़, मुख, कर्णपाली इत्यादि अनावृत (Exposed) अंगों की त्वचा में रगड़ या दबाव से उत्पन्न हुए सूक्ष्म व्रणों या क्षतों से प्रवेश करते हैं; क्योंकि इन्हीं स्थानों में कुष्ठ का आरम्भिक तथा प्रगल्भ रूप दिखाई देता है। बच्चों में नासा कुरेदने की आदत होने के कारण नासा में उपसर्ग हो जाता है।

प्रतिषेध—(१) नैदानिकी और चिकित्सा केन्द्र—कुष्ठ का यद्यपि निर्मूलन करना कठिन है तथापि यदि प्रारम्भ से ही चिकित्सा जारी की जाय तो रोग अधिक नहीं बढ़ता और जनता की दृष्टि से लाभ यह होता है कि कोढ़ी की औपसर्गियता (Infectivity) करीब-करीब नष्ट हो जाती है। इसलिए स्थान-स्थान पर नैदानिकी और चिकित्सा का प्रबन्ध तज्ज्ञों द्वारा होना चाहिये। यह रोग दरिद्रियों में अधिक होने के कारण उनकी निदान-चिकित्सा मुफ्त में होनी चाहिये।

(२) अलग्नकरण—कुष्ठ सांसर्गिक रोग होने के कारण कोढियों को सामान्य जन समाज में रहकर घर-घर जाकर भीख माँगना, मन्दिरों में बैठना, दुकानदारी करना, खाने पीने की चीजों से सम्बन्ध रखना या परोसना इत्यादि काम करने से मना करके निम्न प्रकार से उनको अलग रखना चाहिए। यह अलग्नकरण केवल खुले कुष्ठियों (पृष्ठ ५२१) के लिए ही आवश्यक है, इतरों के लिए नहीं, क्योंकि वेही रोग का प्रसार कर सकते हैं।

गृह्य अलग्नकरण—इसमें कोढी स्वतन्त्र मकान में या झोपड़ी में अलग रक्खा जाता है। देहातों में तथा अमीरों के लिए अलग रखने का यह उत्तम मार्ग है। कोढ़ी के वस्त्रपात्र सब स्वतन्त्र होने चाहिएँ। धोबी को कपड़े देने से पूर्व घर में ही उबलते पानी में साफ करके पश्चात् देने चाहिएँ। सिनक-मवाद के कपड़ा को जला देना चाहिए। कोढ़ी के कमरे में रात को न सोना चाहिये। परिवार के बालक कोढ़ी से बहुत ही दूर रक्खे जांय। कोढी का विवाह न करना चाहिये। यदि विवाह हो तो सन्तानोत्पत्ति रोकना उचित है, विवाहोच्छेद करने की जरूरत नहीं है। यदि यह न हो सके तो जन्म से ही उसकी सन्तान से उसको पृथक् करें।

ग्राम अलग्नकरण—इसमें आसपास के अनेक गाँवों के कोढियों को एक गाँव मे इकट्ठा करते है। वहाँ पर वे अपनी झोपडियाँ बनाकर रहते है और खेती-बाड़ी करके निर्वाह कर लेते है। वहाँ पर एक चिकित्सा केन्द्र भी खोला जाता है। इस प्रकार प्रत्येक जिले में एक या दो गाँव कोढ़ियों के लिये बसाये जा सकते हैं।

(३) कुष्ठाश्रम (Leprosarium, Lepar asylum)—अलग रखने का यह सर्वोत्तम उपाय है। इससे समाज कुष्ठ से बचता है और कुष्ठी समाज की घृणित दृष्टि से बच जाता है जिसके कारण उसका जीवन सुखमय हो जाता है। यहाँ पर कुष्ठियों के रहने के लिये स्वास्थ्यप्रद घर होते है, खेती बाड़ी तथा निर्वाहोपयोगी अन्य साधन होते हैं जिनके कारण कुष्ठी खुली हवा मे व्यवसाय करके स्वास्थ्य-

वृद्धि और धनोपार्जन कर सकते हैं। वहाँ पर व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षा की, ग्रन्थालय, नाटक, चलचित्र, मायादीप (Magic lantern) आकाशवाणी इत्यादि के द्वारा मनोरंजन की भी व्यवस्था होती है। विकल कुष्ठियों के लिए आतुरालय (Hospital) होते हैं, औरों के लिये चिकित्सालय होते हैं जहाँ पर तज्ज्ञों के द्वारा सबकी उचित चिकित्सा की जाती है और आहार-विहार के बारे में उचित मार्ग दर्शन होता है।

वास्तव में देश के सब खूले कुष्ठी ऐसे आश्रमों में अलग करने चाहिएँ। इससे देश के सम्पूर्ण निवासी कुष्ट के उपसर्ग से बच जायेंगे और उनमें कुष्ठ का नया उपसर्ग उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार कुष्ठाश्रम से कुष्ठी वर्ष प्रतिवर्ष नैसर्गिक कारणों से घटते ही जायेंगे और एक समय ऐसा आवेगा कि देश से कुष्ठ की पुर्ण निकासी हो सकेगी। परन्तु इस प्रकार के कुष्ठाश्रम चलाने के लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष दरिद्री देश है और कुष्ठियों की संख्या बहुत अधिक (१० लाख के लगभग) है। इसलिये भारत में अनेक कुष्ठाश्रम होते हुए भी उनमें सब कुष्ठियों का समावेश न होने के कारण कुष्ठ रोग धीरे-धीरे बढ़ता ही जा रहा है।

भारतवर्ष की कुष्ठ संस्थाएँ

आसाम—सिलहट लेपर असीलम; लेपर कालनी, तुरा, कागपोकपी ले० कालनी, गोहत्ती म्युनसीपल असीलम, जोरहट मिशन असीलम, कोहिमा ले० असीलम, मणीपूर ले० असीलम।

बंगाल—बायन लेपर होम, बांकूरा, ले० होम, रानीगंज।

बिहार-उड़ीसा—भागलपूर लेपर असीलम, कटक ले० असीलम; पुरी ले० असीलम; राजकुमारी ले० असीलम, देवगढ़; मयूरगंज लेपर असीलम; मुजफ्फरपूर ले० असीलम, पुरीलिया लेपर हास्पिटल अण्ड होम; संबलपूर हाथीबाड़ी कालनी साल्डीहा लेपर कालनी; किंग एडवर्ड मेमोरिअल ले० असीलम, गया।

उत्तरप्रदेश—अलमोड़ा ले० अ, आगरा ले० अ; बनारस ले० अ०, लखनौ ले० अ, नैनी ले० होम, ले० अ० रुरकी; मल्करेन ले० हास्पिटल, देहरादून, भगवान दाई लेपर हास्पिटल, कानपूर; प्रेसेटवे कायरे ले० अ० मेरठ; कुष्ठ सेवाश्रम गोरखपूर।

पंजाब—अम्बाला सिटी ले० अ; पालनपूर ले० अ; रावलपिण्डी ले० अ; लेपर असीलम सुभाथु, ले० अ० चम्पा स्टेट, तारन-तारन ले० असीलम।

राजपूताना—स्टेट लेपर असीलम, जोधपूर।

मध्यभारत—हेण्डरसन मेमोरिअल लेपर; होम, धार, सेहोर, ले० अ० भोपाल।

काठियावाड—जुनागढ़ ले० अ; सिडनहयामक्लार्क ले० अ० इडगर।

मध्यप्रदेश—बैयस्डा ले० होम, चम्बा; चान्दकुरी ले० होम; शान्तीपूर ले० होम, धमतरी; कोटारा ले० अ० एलिचपूर; विक्टोरिया ले० हो० झरगाँव; विक्टोरिया ले० अ० पाटपुरा; राजनान्दगॉव ले० होम, रायपूर ले० असीलम। दत्तपूर कुष्ठधाम, वर्धा, जमदम्वा कुष्ठ निवास, अमरावती।

बम्बई—ले० अ० बेलगाँव, मिरज, नासिक, पोलदपूर, सोलापूर; फ्रेण्डस लेप्रोसेरिअम, वेंगुर्ला; डी० एम्० पी० ले० अ० रत्नागिरी। कुष्ठ निवास, बरोडा।

दक्षिण हैदराबाद—ले० हो० एण्ड हास्पिटल, डिचपल्ली।

मैसोर—बेंगलोर असीलम मैसोर।

मद्रास—लेपर असीलम, चेवाथूर कालीकट, दर्यापूर ले० होम० सानसदूरा; ले० अ० कोडूर; बेन्थीडा ले० अ० नसानपूर, रामचन्द्रपुरम् ले० होम; मोरादाबाद फिलाडेल्फिया ले० अ० सालूर; ले० होम, विजयानगरम्, लेडी वेलिंगडन लेप्रसी स्यानिटोरिअम, तिरूमणी चिंगलपेट; सेट जोसेफ ले० असीलम, मगलोर, कस्तूरबा-गाँधी कुष्ठनिवारण निलयम्, अर्काट।

त्रावणकोर कोचीन—स्टेट ले० अ० त्रावणकोर; मिशन लेपर असीलम, अलप्पे; सी० पिअर्स मेमोरिअल होम फार लेपर्स, नेथ्यूर; कोचीन स्टेट लेपर असीलम, ओडूर।

रतिजन्य उपसर्ग

व्याख्या—रति का अर्थ कामदेवता (Venus veneris) है। उसके जाल में फँसने से जो उपसर्ग उत्पन्न होते है वे रतिजन्य (Veneral) कहलाते है।

रोगप्रसार—उपसर्ग का मुख्य स्थान वेश्याएँ होती है और इन्हीं से रोगों का प्रसार होता है। वेश्याएँ सार्वजनिक या प्रच्छन्न (Landestine) करके दो प्रकार की होती हैं। इनके साथ मैथुन करने से रोग होते है इसलिए इनको मैथुना रोग भी कहते हैं।

संख्या—इस समय रतिजन्य रोगों की संख्या सात तक पहुँच गयी है—

१ उपदंश (Soft sore, Chancroid)

२. सोजाख (Gonorrhoea) ३. फिरंग (Syphilis)

४. वंक्षणीय लसकणिकार्बुद (Lymphogranuloma inguinale)

५. लिंगार्श, रतिजन्य कणिकार्बुद (Granuloma venereum)

६. शिश्नमणिशोथ (Venereal fusospirochetosis)

७. मूत्रप्रसेक शोथ Trichomonas vaginitis जनित

इन रोगों में सामाजिक दृष्ट्या फिरंग और सोजाख अधिक महत्व के हैं। रतिजन्य रोगों से पीडितों में ९०% रोगी इन दोनों के होते हैं और १०% इतर रोगों के रहते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—इनमें प्रथम तीन संसारव्यापी हैं और शेष अधिकतर उष्णकटिबन्ध में पाये जाते हैं। उपदंश सबसे पुराना है जो आयुर्वेद की संहिताओं में उपदंश या ध्वजभंग के नाम पर वर्णित है। फिरंग पोर्तुगीजों के साथ भारत में आया, इसलिए इसको फिरंग नाम दिया गया। ग्रामों की अपेक्षा शहरों में ये रोग अधिक मिलते हैं। यह अनुमान किया गया है कि लगभग १०% लोग इससे पीडित रहते हैं।

अस्वास्थ्य—यद्यपि इनके मरक उत्पन्न नहीं होते तथापि समाज को ये मरक से भी अधिक नुकसान पहुँचाते हैं। इनके कारण ३५% पागलपन, ४०% मानसिक विकार, ४०-६०% अन्धता, ५०% वन्ध्यता, ३०-४०% गर्भस्राव और गर्भपात उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त पक्षाघातादि मस्तिष्क के तथा हृदय रक्तवाहिनियों के अनेक विकार असंख्य लोगों में इनके कारण उत्पन्न होते हैं।

फिरंग[1] (Syphlis)—यह एक बहुत ही विविध और विचित्र स्वरूप का दीर्घकालानुबन्धी मैथुनी रोग है जिसमें त्वचा से लेकर शरीर के विविध अंगों में विकृतियाँ होती हैं जिसमें प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक और चतुर्थक करके चार अवस्थाएँ होती है और जो सन्तान में भी संक्रान्त होता है (पृष्ठ २१५)।

हेतु और प्रसार—इसका हेतु फिरंग चक्रकीटाणु या सुकुन्तलाणु (Treponema or Spirochaeta pallidum) है। इसका उपसर्ग फिरंग पीडित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से (९५%) होता है। प्राथमिक अवस्था मैथुन के २-४ सप्ताह के पश्चात् प्रारम्भ होती है जिसमें गुह्यांग पर कठिन संदंश या क्षत (Hard chancre) उत्पन्न होता है और वंक्षण की लसग्रन्थियों की अभिवृद्धि होती है। ६-१८ सप्ताह के पश्चात् द्वितीयावस्था प्रारम्भ होती है जिसमें त्वचा श्लेष्मल कला पर अनेक

---

१. फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्। तस्मात् फिरंग इत्युक्तः। फिरंगिणोऽङ्गसंसर्गात् फिरंगिण्याः प्रसंगतः। भावप्रकाश

प्रकार के क्षत उत्पन्न होते हैं और इसके अतिरिक्त नेत्र अस्थि, सन्धि, लसग्रन्थि इनमें विकृतियाँ होती है। २-३ साल के बाद तृतीयावस्था प्रारम्भ होती है जिसमें त्वचा में धातुनाशक व्रण और आभ्यन्तरीय अंगों में गोंदार्बुद (Gumma) उत्पन्न होते हैं। १०-२० वर्षों के पश्चात् चतुर्थावस्था उत्पन्न होती है जिसमें नाडीसंस्थान में विकृति होती है। इस अवस्था को नाडी फिरंग (Neuro syphilis) भी कहते हैं। प्रथमावस्था में रोग की औपसर्गियता अधिक, द्वितीयावस्था में बहुत अधिक या सबसे अधिक, तृतीयावस्था में अल्प और चतुर्थावस्था में अत्यल्प होती है। फिरंगी विक्षतों (Lesions) पीडित व्यक्ति उपसर्गी होता है। इसमें जरा सा भी संदेह नहीं है परन्तु उपसर्ग संक्रान्त करने के लिए शरीर पर प्रकट विक्षत होने की आवश्यकता नहीं होती। पुरुष के शुक्र में चक्रकीटाणु उपस्थित रहते हैं जो स्वस्थ स्त्री को उपसृष्ट कर सकते हैं। साधारणतया फिरंगोपसृष्ट होने के प्रारम्भिक दो वर्षों में औपसर्गियता अधिक होती है और उसके पश्चात् प्रतिवर्ष वह घटती जाती है और ५ साल के पश्चात् वह लगभग नष्ट हो जाती है। स्त्रियों में यह काल पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है।

मैथुन के अतिरिक्त फिरंगोपसृष्ट व्यक्ति के चुम्बन से या गात्र संस्पर्श से या फिरंगस्राव दूषित वस्त्र-पात्र-यन्त्र-शस्त्रादि के सम्बन्ध से रोग हो सकता है। माता-पिता के फिरंगोपसृष्ट होने पर उनकी संतान में फिरंग संक्रान्त होता है।

मैथुन और गात्र संस्पर्श से प्राप्त विकार को अर्जित (Acquired) और माता से प्राप्त को सहज (Congenital) कहते हैं।

सोजाख—यह तीव्र औपसर्गिक रोग है जिसमें मूत्र प्रसेक शोथ, मूत्रकृच्छ्र, पूयोत्सर्ग इत्यादि लक्षण होकर उसके साथ साथ या पश्चात् नेत्राभिष्यन्द, अन्तर्हृच्छोथ, सन्धिशोथ इत्यादि उपद्रव तथा अनुगामी विकार होते हैं।

हेतु और प्रसार—इस रोग का कारण गुह्य गोलाणु (Neisseria gonorrhoea) है। मूत्रमार्ग स्राव में ये उत्सर्गित होते हैं। अतः उपसर्ग का मुख्यमार्ग मैथुन है। इसके अतिरिक्त स्राव से दूषित वस्त्रपात्रादि द्वारा, द्रोणी स्नान द्वारा उपसर्ग हो सकता है। स्त्रियों में मूत्रमार्ग स्राव के अतिरिक्त योनिस्राव, गर्भाशय ग्रीवा स्राव भी उपसर्गी होते हैं। नेत्राभिष्यन्द होने पर उसका स्राव भी उपसर्गी होता है। उपसृष्ट व्यक्तियों की औपसर्गियता वरसों तक जारी रहती है।

मैथुनी रोगों का सामाजिक प्रतिषेध—मैथुनजन्य रोग हमेशा वेश्यागमन से होते हैं। वेश्या को अपनी जीविका प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन अनेक

लोगों से मैथुन करना पड़ता है। इस कारण से वे इन रोगों से दूषित हो जाती हैं और पश्चात् अनेक पुरुषों को दूषित करती हैं। इसलिए वेश्याओं की संख्या कम करना, उनकी देख-भाल करके उनको मैथुनजन्य रोगों से बचने की और औरों को बचाने की शिक्षा देना, दूषित वेश्याओं की चिकित्सा का प्रबन्ध करना और वेश्यागमन कम करना ये वेश्याओं द्वारा रोग प्रसार रोकने के प्रधान उपाय हैं। वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, अविवाहित रहना ये समाज की स्त्रियों में वेश्यावृत्ति या कुमार्गाचरण के प्रधान कारण हैं। इनके सिवा बलात्कार से भ्रष्ट हुई स्त्री को पतित समझकर समाज में स्थान न देना यह भी वेश्यावृत्ति को बढ़ाने का एक कारण है। इनके सिवाय दारिद्र्य भी एक कारण होता है। इसलिए इन कारणों को दूर करना मैथुनजन्य रोगों के प्रतिषेध का एक उपाय है। इसके लिए निम्न मार्गों से काम करना चाहिए।

(१) धार्मिक और नैतिक शिक्षा—इसमें आम जनता में ब्रह्मचर्य, पतिव्रत, पत्नीव्रत, आत्मिक बल, मद्यनिवृत्ति, सदाचार इत्यादि के महत्व का प्रचार करना चाहिए; कामोत्तेजक नाटक, चलचित्र इत्यादि के दोष और वेश्यागमन से होनेवाले शारीरिक, मानसिक और कुलज नुकसान उनके सामने स्पष्ट रूप से बतलाना चाहिए जिससे लोगों का आत्मिक बल बढ़े, वे अपने काम को काबू में रख सकें और वेश्यागमन से परावृत्त हो जायँ।

(२) स्त्रियों का प्रबन्ध—बाल-विवाह, वृद्ध-कुमारी-विवाह, अविवाहित रहना इत्यादि प्रथाएँ बन्द करनी चाहिएँ। पतित स्त्रियों के लिए अनाथ महिलाश्रम सरकार की ओर से या गैरसरकारी संस्थाओं से खोले जायँ जहाँ पर उनको धार्मिक तथा हस्त व्यवसायात्मक शिक्षा दी जाय जिससे उनको निर्वाह के लिए वेश्या व्यवसाय करने की न आवश्यकता पड़े, न इच्छा हो सके।

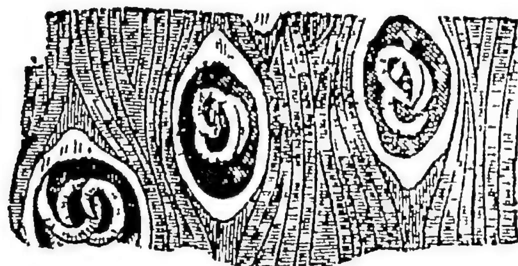
(३) छुट्टियाँ—जिनको अपनी नौकरी के कारण अधिक काल तक स्त्रियों से दूर रहना आवश्यक होता है उनको समय समय पर छुट्टी देने का प्रबन्ध करना जिससे उनको अपनी स्त्रियों को छोड़कर वेश्याओं के पास जाने की आवश्यकता न पड़े।

(४) वेश्या-प्रबन्ध—वेश्या समाज के लिए एक आवश्यक व्यक्ति है। इससे आम जनता दुराचरण से बच जाती है। परन्तु इनकी संख्या कम होनी चाहिए और जो स्त्रियाँ इस व्यवसाय को अङ्गीकार करें उनको मैथुन के पश्चात् जननेन्द्रिय की सफाई, मैथुनी रोग उत्पन्न होने के कारण, उनसे बचने के और औरों को

बचाने के उपाय, इनके संबन्ध में शिक्षा देनी चाहिए। इससे जिनको लाचार होकर इनके पास जाना पड़े वे रोग से पीड़ित नहीं होंगे।

चित्र न० ३४

मांस में अन्तःकोष्ठित कुण्डलाकार



कचकृमि की इल्लियाँ (पृष्ठ ४७५ देखिए)

(५) चिकित्सा का प्रबन्ध—फिरङ्ग और सोजाक के निदान और चिकित्सा में तज्ज्ञ डाक्टरों द्वारा स्थान स्थान पर तथा प्रत्येक दवाखाने में चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिए। स्त्रियों और बच्चों के लिए स्त्री डाक्टर रखना उचित है। गरीबों के लिए औषधियाँ मुफ्त में मिलनी चाहिएँ। ये चिकित्सा के केन्द्र दिन में तथा रात में खुले होने चाहिएँ जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार वहाँ जाकर चिकित्सा कर सके। माता के सोजाख से पीड़ित होने पर प्रसव मार्ग से आते समय बालक की आँखों में वह उपसर्ग पहुँच जाता है और नवजात नेत्राभिष्यन्द से (Opthalmia neonatorum) बालक अन्धा होता है। इसलिए दाई को इस नेत्राभिष्यन्द की प्रतिषेधक चिकित्सा का ज्ञान करा देना चाहिए जिससे आवश्यकता पड़ने पर वह तुरन्त बालक की आँखों की चिकित्सा कर सके। चिकित्सा के अतिरिक्त इन केन्द्रों से जनता में मैथुन रोगों की उत्पत्ति प्रसार, प्रतिषेध, शीघ्र चिकित्सा करने के लाभ इत्यादि विषयों के सम्बन्ध में व्याख्यानादि द्वारा ज्ञान प्रसार करने का प्रबन्ध होना चाहिए।

व्यक्तिगत प्रतिबन्धन—आहार, आचार, विचार, व्यवहार इत्यादि के द्वारा अपने काम पर अधिक से अधिक काबू करने की कोशिश करो। शृङ्गारिक नाटक, चलचित्र (सिनेमा) उपन्यास इत्यादि से दूर रहो। पतिव्रत या पत्नीव्रत बनो। विवाहेतर व्यक्ति से समागम न करो। यदि किसी समय काम के प्रभाव से व्यभिचार करने की नौबत आ जाय तो निम्न नियमों और उपायों द्वारा इन रोगों से बचने की कोशिश करो। मैथुनी रोग पीड़ित तथा दुर्गन्धित

जननेन्द्रिययुक्त व्यक्ति के साथ मैथुन न करो। मैथुन करने से पूर्व शिश्न पर मृद्वसा (वैसलीन) मल लो अथवा शिश्नत्राणक (Condom) का उपयोग करो। इससे जीवाणुओं से शिश्नरक्षा होती है। मैथुन के पश्चात् मूत्रत्याग करके साबुन से शिश्न और फोतों को धो डालो। पश्चात् द० अतिलोहकित (पोटास परमेंगेनेट) के (१::५०००) या रसकपूर के (१::५०००) घोल से इनको साफ करो। इसके पश्चात् यदि गरमी की शंका हो तो शिश्न को पोंछकर उस पर ३३% केलोमल का मरहम अच्छी तरह मलो। यदि सुजाक की शंका हो तो पिचकारी द्वारा मूत्रमार्ग में पोटास परमेंगेनेट (१::१०००) के या पोटार्गोल (एक औंस पानी में १० ग्रेन) के या आरजिरोल (१ ड्राम १ औंस पानी में) के घोल के ५-१० सी० सी० प्रविष्ट करके कुछ मिनटों तक उस घोल को शिश्न में रोकने की कोशिश करो। इसके सिवाय खाने के लिए क्षारातुद्वयंगारीय (वायकार्ब) इत्यादि क्षारीय द्रव्य प्रयुक्त करो।

अन्न जन्य रोग

(Dietetic Diseases)

व्याख्या—अन्न की अपर्याप्तता; अनियमितमात्रता और विषाक्तता के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं वे अन्नज कहलाते हैं।

महत्त्व—शुद्ध अन्नज रोग संख्या में बहुत कम और न फैलनेवाले होते हैं तथा इतने घातक नहीं होते हैं कि मृत्यु के कारणों में उनका निर्देश किया जा सके। फिर भी यदि अकाल मृत्यु के सूक्ष्म और बुनियादी कारणों का विचार किया जाय तो उनमें आहार दोष ही प्रधान मानना पड़ेगा। इसलिए प्रतिबन्धन-क्षम रोगों के प्रतिबन्धक साधनों का विचार करते समय, फिर वे औपसर्गिक भी क्यों न हों, व्यक्ति या समाज के आहार का विचार करना बहुत आवश्यक है, विशेषतया रोगियों के सम्बन्ध में, क्योंकि अन्न दोष के कारण ही वे अनेक रोगों के शिकार बन जाते हैं।

वर्गीकरण—आहार के रोग किसी एक कारण से उत्पन्न न होने से औपसर्गिक रोग के समान उनका ठीक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। स्थूल रूप से उनके निम्न वर्ग किये जा सकते हैं—

(१) कुपोषण जन्य रोग—इसमें प्रोभूजिन, कुलमात्रा इत्यादि की कमी होती होती है। जैसे शोफ, रक्तक्षय (पृष्ठ ९०)।

(२) जीवतिक्तिहीनता रोग—ये एक या अनेक जीवतिक्तियों की कमी से उत्पन्न होते हैं। इनका निर्देश पीछे (पृष्ठ ९०) पर किया गया है।

(३) विषान्न रोग—स्वभावतः विषैले अन्नों के सेवन से होनेवाले रोग। इनका निर्देश (पृष्ठ ८९) पर विषान्न योग में किया गया है।

इन रोगों में बड़े पैमाने पर होनेवाले कुछ रोगों का नीचे विवरण दिया जाता है।

कलायखञ्जता

(Lathyrism)

व्याख्या—विषान्न के सेवन से होनेवाला यह एक प्रकार का ऊरुस्तम्भ या सस्तम्भ अधरांगवात (Spastic paraplegia) है जिसमें नीचे की दोनों शाखाएँ एक साथ विकृत होकर पैरों में दुर्बलता, सख्ती, जलन, चलने में कठिनाई, दृष्टि दोष इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग फ्रांस, इटली, अलजेरिया तथा भारत में पाया जाता है। भारत में यह उत्तर-बिहार, उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत, मध्य-प्रदेश, छोटा नागपूर इनमें दिखाई देता है। यह रोग एकैकशः जैसे होता है वैसे ही परिवार के सब लोगों में भी हो जाता है और कभी-कभी जानपदिक रूप भी धारण करता है।

हेतु—यह रोग अधिकतर जवानों में, पुरुषों में तथा गरीबों में दिखाई देता है। इस रोग की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेक मत प्रचलित है। सब से महत्व का मत यह है कि खेसारी या आकता (त्रिपुटक[1] पृष्ठ १३८) की दाल अधिक सेवन करने से यह रोग होता है। अल्पमात्रा में अल्पकाल तक सेवन करने से नहीं होता परन्तु जब इसकी मात्रा बहुत अधिक और ५-६ मास लगातार सेवन की जाती है तब होता है। इसके सम्बन्ध में लोगों का एक मत यह है कि इसमें विसाइन (Vicine) या डिविसाइन (Divicine) करके क्षाराभ होता है जो विषैला है। दूसरे लोगों का यह मत है कि इन दालों में मेचाग्नि (Selenium) तत्व बहुत अधिक होता है जो विषैला है। खाद्य द्रव्यों में जीवतिक्ति क. व की

---

१. त्रिपुटो मधुरस्तिक्तस्तुवरो रूक्षणो भृशम्।
कफपित्तहरोरुच्यो ग्राहकः शीतलस्तथा॥
किन्तु खञ्जत्वपङ्गुत्वकारी वातातिकोपनः। भावप्रकाश॥

कमी इसकी उत्पत्ति में सहायता करती है। यह रोग जानपदिक रूप धारण करता है। इसलिए कुछ लोग इसका कारण कोई विषाणु मानते हैं।

प्रतिबन्धन—खेसारी तथा आकता दाल का सेवन बिलकुल बन्द करना चाहिए। यदि सेवन करना हो अल्पमात्रा में और अल्पकाल तक करे और दाल को खूब अच्छी तरह पकाकर सेवन करें। इससे तद्गत विष नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त दाल को पकाते समय तथा सेवन करते समय इमली तथा ग्रामलक अम्ल (पृष्ठ ८४) युक्त द्रव्य प्रयुक्त किये जाँय। इससे मेचाग्नि निस्सादित होकर उसका प्रचूषण बहुत कुछ घट जाता है। आहार में जीवतिक्त क, ख और उत्कृष्ट प्रोभूजिन सेवन किये जाँय।

मरकशोफ

(Epidemic dropsy)

व्याख्या—विषान्न योग से होने वाला यह एक जानपदिक स्वरूप का रोग है जिसमें ज्वर, वमन, प्रवाहिका, त्वचा पर विस्फोट और सर्वांग शोफ इत्यादि लक्षण होते हैं और जिसमें आखों में तिमिर (Glaucoma) उत्पन्न होने की संभावना होती है।

हेतु—यह रोग बंगाल में बहुत रहा। तत्पश्चात् यह मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश में भी हुआ। अभी यह गुजरात में भी होने लगा है। यह रोग युवावस्था में अधिक, बाल्यावस्था में कम और शैशवावस्था में नगण्य होता है। पहले इसके हेतु शालिविष (Rice intoxication), विषोपसर्ग (Toxi-infection) और आहारहीनता (Dietetic deficiency) माने गये थे। अब यह निश्चित हो गया है कि इसका हेतु पीले धतूरे के बीज के तेल का (Argemone oil) सेवन है। इस पौधे को सियाँलकाटा, भरभाँड, सत्यानाशी कहते हैं। यह जंगली पौधा है। इसके बीज की सरसों के बीज में मिलावट की जाती है। संक्षेप में इसके तेल की मिलावट का सरसों का तेल सेवन करने से यह रोग होता है। शुद्ध सरसों के तेल से नहीं। चावलों का मुख्याहार इस रोग का सहायक कारण है। इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग मुख्यतया चावलों पर निर्वाह करते हैं वे औरों की अपेक्षा इसके जल्दी शिकार बन जाते हैं।

मिलावट की परीक्षा—सत्यानाशी के तेल से मिलावटी तेल की पहचान निम्न दो कसौटियों द्वारा कर सकते हैं—

(१) एक नलिका में बराबरी में तेल और तीव्र भूयिक अम्ल (Strong Nitric acid) लेनेसे तेल मिलावटीहो तो द्रव का रंग किरमिजी लाल (Crimson red) होता है।

(२) एक नलिका में २ घ. शि. मा. तेल लेकर उसमें उतना ही संकेन्द्रित्त उदनीरिक (HCl) अम्ल मिलावें, और उसको ९२°–९५° फै. ताप के जलावगाह में २ मिनिट गरम करें। तत्पश्चात् उसमें ८ घ. शि. मा. एथिल अल्कोहोल अच्छी तरह मिलाकर फिर १ मिनिट गरम करे। तत्पश्चात् उसमें २ घ. शि. मा. अयसिक नीरेय (Ferric chloride) अच्छी तरह मिलाकर फिर जलावगाह में १० मिनिट तक गरम करें। तेल मिलावटी होने पर उसमें नारंगी लालरंग (Orange red) उत्पन्न होता है। यह कसौटी पहले से अधिक विश्वसनीय है।

प्रतिबन्धन—खाने के तेलों में विशेषतया सरसों के तेल में सत्यानाशी की मिलावट न हो इस बात पर ध्यान देना चाहिए। सरसों का तेल बजार में जाने से पहले मिलावट के लिए देखना चाहिए। मिलावटी तेल सरकार द्वारा जब्त होना चाहिए और मिलावट करनेवाले अपराधियों को कठिन दण्ड करना चाहिए। महामारी के समय सरसों का तेल तथा चावल का सेवन बन्द करना चाहिए।

वातबलासक

(Beri Beri)

व्याख्या—यह एक हीनान्न रोग है जिसमें परिसरीय नाडीशोथ, हृदयातिपात, सर्वांगशोथ, पेशीक्षीणता इत्यादि लक्षण होते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, ब्रह्मदेश, लंका, भारत, उष्ण और अनुष्ण कटिबन्ध के पूर्वीय देशों में हुआ करता है। भारत में यह रोग मद्रास, उड़ीसा, आसाम, बिहार, उत्तरप्रदेश का पूर्व भाग बंगाल में स्थानपदिक स्वरूप का हुआ करता है। भारत में इसका मुख्य केन्द्र कलकत्ता है।

हेतु—यह रोग यन्त्र से साफ किये हुए प्रमृष्ट या सफेद या रंगून चावल खानेवालों में हुआ करता है। चावलों के कना में जो जीवतिक्ति ख होती है वह प्रमृष्ट या यन्त्र से सफेद किये हुए चावल में नष्ट होती है जिससे शरीर में जीवतिक्ति ख विशेषतया ख१ की कमी होती है। इन लोगों में चावल मुख्य

आहार होने से अन्य जीवतिक्तियों की, प्रोभूजिनों की खनिजों की भी कमी रहती है। संक्षेप में असतुलित आहार के साथ जीवतिक्ति ख१ की विशेष कमी इस रोग का प्रधान कारण होता है। ख१ (Thiamine) शरीर के भीतर प्रांगोदीय समवर्त (Carbohydrate metabolism) में उत्पन्न होनेवाले विषों को निर्विष करने का काम करता है। इसकी कमी या अभाव से शरीर में ये विष इक्ट्ठा होकर रोग उत्पन्न करते हैं। संक्षेप में वातवलासक हीनान्नजनित आहार-अन्तर्विषाक्तता (Intoxication) है। पीछे पृष्ठ ७३,८४ और १३३ देखिए।

प्रकार—वातवलासक में मुख्य विकृति नाडीशोथ है परन्तु उसके स्वरूप और तीव्रता में बहुत विविधता पायी जाती है। उसके आधार पर इसके निम्न प्रकार किये जाते हैं।

(१) सौम्य—इसमें केवल पैरों में कमजोरी होती है।

(२) जीर्ण शुष्क प्रकार (Chronic dry)—इसमें पैरों की कमजोरी के साथ पेशियों की कृशता, पिण्डलियों में पीडनासहता, श्रम करने पर हॅफनी, हस्तभ्रंश (Wristdrop) पादभ्रंश (Footdrop) इत्यादि लक्षण होते हैं।

(३) आर्द्र या शोफ युक्त (Wet or Oedematous)—इसमें पैरों पर प्रथम सूजन उत्पन्न होकर वह ऊपर चेहरे तक फैलती है और हृदयावरण, फुफ्फुसावरण उदरावरण इनमें पानी इकट्ठा होता है।

(४) तीव्र हार्दिक प्रकार (Acute Cardiac)—इसमें हृदय की कमजोरी और हृदयातिपात ये मुख्य लक्षण होते हैं।

(५) शैशवीय (Infantile)—माता के वातवलासक से पीड़ित रहनेपर बालक में २–९ महिने में यह रोग उत्पन्न होता है।

मरक शोफ और वातवलासक में भेद—इन रोगों में अनेक बातों में साम्यता होती है। प्रारम्भ में ये दोनों एक ही समझे गये थे। परन्तु इन में निम्न भेद हैं।

(१) परिसरीय नाड़ीशोथ वातवलासक की मुख्य विकृति है, मरकशोफ की नहीं। (२) ज्वर और पचन संस्थान के लक्षण वातवलासक की अपेक्षा मरकशोफ में अधिक हुआ करते हैं। (३) आँखों में तिमिर और त्वचा पर विस्फोट मरक शोफ में प्रायः होते हैं। (४) वातवलासक शिशुओं में भी दिखाई देता है परन्तु मरक शोफ उनमें नहीं होता। (५) मरक शोफ केवल सरसों का तेल सेवन करनेवालो में होता है।

प्रतिषेध—प्रमृष्ट या सफेद चावलों का सेवन न कर उसके बदले हो सके तो हाथ कुटे चावलों का या भुजिया चावलों का सेवन किया जाय। आहार में चावल की मात्रा कम करके गेहूँ; दूध, दही, मक्खन, साग-सब्जी, मांस-मछली, फल जीवतिक्ति ख युक्त द्रव्य सेवन करें।

चावल रखने के स्थान सूखे सुप्रकाशित हों। वोरे जमीन पर न रख कर तख्तों पर रक्खे जाँय। चावलों को अधिक काल तक रखना हो तो धान के रूप में रक्खें। इस प्रकार रखने से उनमें किसी प्रकार की खराबी नहीं होती।

शशवीय यकृद्दाल्युदर

व्याख्या—अन्नदोष के कारण शिशुओं और छोटे बच्चों में होनेवाला यह एक रोग है जिसमें ज्वर, यकृदभिवृद्धि, उदराभिवृद्धि, मलावरोध, कामला, जलोदर इत्यादि लक्षण होते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—यह रोग बंगाल, मद्रास, आंध्र, मैसोर, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, बम्बई, राजस्थान इनमें बहुत पाया जाता है।

हेतु—यह रोग लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अधिक होता है। मुसलमान, खिश्चन, सिख, यूरूपियन, एंग्लोइण्डियन, पारसी इनमें बहुत कम और हिन्दुओं में सबसे अधिक होता है। गरीबों की अपेक्षा मध्यम और उच्च वर्ग के लोगों में अधिक दिखलाई देता है। मद्रास में तेलगू, कन्नड़, मलयाली लोगों में बहुत कम, तामील लोगों में बहुत अधिक और वह भी ब्राह्मणों में होता है। शाकाहारियों में यह रोग होता है।

इसका वास्तविक कारण अभी तक ठीक ज्ञात नहीं हुआ है। परन्तु आहार दोष इसमें एक मुख्य कारण है। उत्कृष्ट प्रोभूजिन तथा जीवतिक्तियों की कमी तथा स्नेह और शर्करा तथा मिष्टान्न की अधिकता यही आहार दोष माना जाता है। दुधमुँहा बच्चा हो तो दूध में यह दोष हो सकता है। इसके अतिरिक्त बच्चों को ऊपर से बहुत कुछ मिष्टान्न दिया जाता है।

आहार दोष के अतिरिक्त आन्त्रस्थ विष और विषाणु या अन्य जीवाणु का उपसर्ग भी कारण माने जाते हैं।

प्रतिबन्धन—गर्भिणी तथा बच्चों को दूध पिलानीवाली स्त्री को उत्कृष्ट प्रोभूजिन और जीवतिक्ति युक्त आहार सदैव देना चाहिए। यदि बच्चे के माता का दूध

पीनेपर इससे पीडित होने की आशंका हो तो माता का दूध छोड़कर उसको जहाँ तक हो सके अच्छे डिब्बे का ही दूध देना श्रेयस्कर है। बच्चों को ऊपर से मिठाई या अन्य चीनी की चीजे न देनी चाहिएँ।

सर्प-विषदष्ट-विज्ञान

चिकित्सा

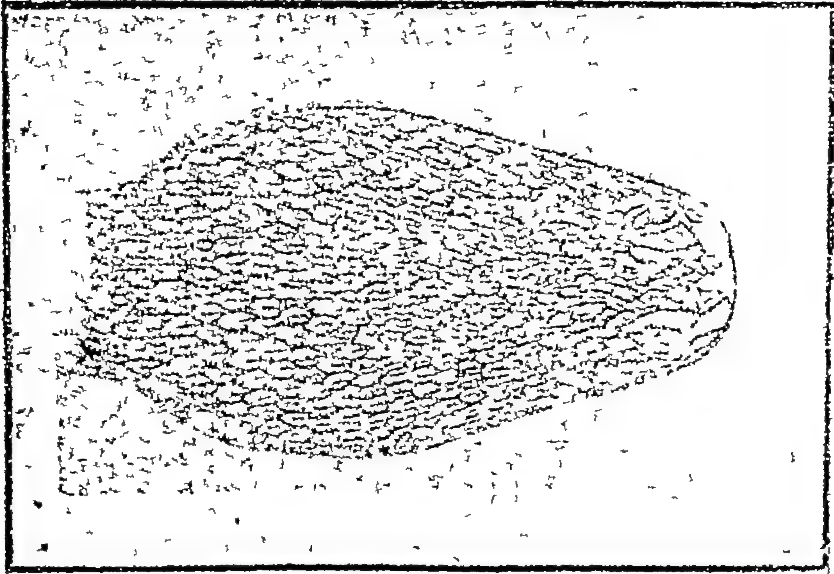
कुत्ते के काटने में और साँप के काटने में बहुत साम्यता है। जसे सब कुत्ते विषैले (पागल) नहीं होते वैसे सर्व साँप विषैले नहीं होते, तथा जैसे पागल कुत्ते के काटने पर भी उचित चिकित्सा करने से जलसन्त्रास रोग उत्पन्न होकर मरने का डर नहीं होता, वैसे विषैले साँप के काटने पर तत्काल उचित चिकित्सा करने से मरने का डर करीब-करीब दूर हो जाता है। इसलिए श्वानदष्ट के समान औपसर्गिक या संक्रामक न होने पर भी प्रतिबन्धनक्षम होने के कारण सर्पदष्ट का समावेश प्रतिबन्धनक्षम रोगों के साथ किया गया है।

सर्प—यह एक ऐसा विचित्र प्राणी है कि उससे सभी आदमी भय खाते हैं। प्रतिवर्ष समस्त संसार में सर्पदंश से एक लाख से और भारतवर्ष में २५ हजार से अधिक लोगों का मृत्यु होता है। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि काटनेवाला प्रत्येक साँप विषैला नहीं होता तथा विषैले साँप का प्रत्येक दंश घातक नहीं होता। अर्थात् प्रत्येक सर्पदंश से मृत्यु होने का कोई कारण नहीं है। परन्तु सर्पदंश से मृत्यु का जो अटूट सम्बन्ध मनुष्य ने जोड़ दिया है उससे सर्पदंश होते ही या सर्पदंश का खयाल होते ही मनुष्य डर के मारे बेहोश हो जाता है और उसी में उसका मृत्यु हो जाता है। एक सर्प चिकित्सक ने यह अनुमान किया है कि सर्पदंश से मरनेवाले लोगों में आधे लोग केवल डर से मरते हैं। भारतवर्ष में बंगाल, बिहार, युक्त प्रांत और उड़ीसा में सर्पदंश से अधिक लोगों का मृत्यु होता है। इसलिए अन्य प्रतिबन्धनक्षम रोगों के निदान और चिकित्सा के समान प्रत्येक को सविष और निर्विष साँप की पहचान तथा सर्पदंश चिकित्सा का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है।

सविष और निर्विष साँप—संसार में साँपों की १७०० जातियाँ है। इनमें ३०० सविष और शेष निर्विष हैं। भारत मे ३२० जाति के सर्प हैं जिनमे ३० सामुद्र और ३८ भौमिक सविष है। इन भौमिकों में मूँगे और अधिकसंख्य खलहीन व्याल घातक नहीं होते। इसलिए केवल २४ जाति के

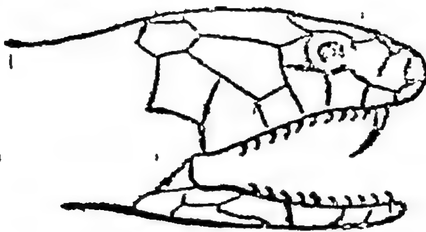
साँप घातक हो सकते हैं। जैसे-२ जाति के नाग, २ जाति के खड्ड व्याल २ जाति के खड्डहीन व्याल और १० जाति के करेत।

रसेल व्याल का सिर



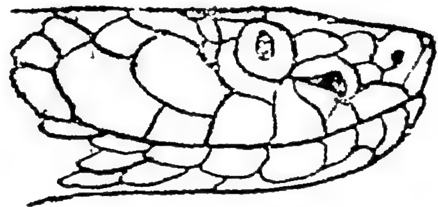
चित्र न० ३५

विषदन्त



चित्र नं० ३६

गढेदार व्याल



चित्र न० ३७

सर्प शरीर—साँप पृष्ठवंशी (Vertebrate) प्राणी है। उसके सिर, धड और पुच्छ तीन अङ्ग होते हैं। पैर नहीं होते। सिर पर दो आँखे होती हैं जिनके ऊपर पलक नहीं होते, केवल पारदर्शक छिलके होते हैं। इसलिए साँप हमेशा निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ मालूम पड़ता है। उसकी पुतली आकार मे गोल या दीर्घवृत्त होती है। आँखों के नीचे आगे की ओर दो नथने होते हैं।

सर्पों को कान नहीं होते। सुनने का काम कुछ आँखों से[1] होता है और कुछ उनके शरीर से होता है। जो लहरें जमीन में उत्पन्न होती हैं (जैसे चलने की आहट) उनका ज्ञान उन्हें शरीर से होता है। उसके मुख में दाँत और जिह्वा होती है। जिह्वा का अग्र दो[2] भागों में विभक्त होता है। साँपों के दाँत भक्ष्य को पकड़ने के लिए बनाये गए हैं, चर्वण के लिए नहीं। उनका रुख गले की ओर होता है। इसलिए साँप से पकड़ा गया कोई प्राणी न छूट सकता न साँप किसी पकड़े हुए प्राणी को छोड़ना चाहे तब उसको छोड़ सकता है। उसको ख्वाह-म-ख्वाह खाना ही पड़ता है। साँप समूचे भक्ष्य को हड़प कर लेता है। उसकी जिह्वा रसज्ञान के लिए न होकर स्पर्शज्ञान और गन्धज्ञान के लिए होती है। सविष सर्पों में साधारण दाँतों के सिवाय विषदन्त (दंष्ट्रा, (fangs) होते हैं। साँपों का मुख विस्तारक्षम होने से वे बड़े-बड़े प्राणियों को निगल जाते हैं। सिर के पीछे ग्रीवा होती है जिसमें उसकी पसलियाँ रहती हैं। नाग में पसलियाँ लम्बी होने के कारण उसके क्रुद्ध होने पर फन बन जाता है। औरों में पसलियाँ छोटी होने से फन नहीं बनता। ग्रीवा के बाद धड़ होता है और अन्त में पूँछ होती है जो समुद्री साँपों में चपटी रहती है।

सर्प स्वभाव—साँप स्वयं मनुष्यों पर आक्रमण नहीं करता। वह डरपोक[3] है जो मनुष्य के डर से भागता है या कहीं छिप जाता है। परन्तु जब मनुष्य का[4] पैर उस पर गिरता है या उस पर मनुष्य प्रहार करता है और

---

१. इसलिये साँप चक्षुःश्रव कहलाता है—

अतस्तदाकर्णिफलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ॥
इति स्म चक्षुःश्रवसा प्रियानले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥ नैषध ॥
तमाशु चक्षुःश्रवसा समूहं मन्त्रेण तार्क्ष्योदयकारणेन ॥
नेता नये नैव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ॥ किरात ॥

२. इसलिये साँप को द्विजिह्व कहते हैं।

पित्र्यवंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ॥
यः समीप इव धर्मदीधितिः स द्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ रघुवंश ॥

३. व्याघ्रे च महदालस्यं सर्पे चैव महद्भयम्।
पिशुने चैव दारिद्र्यं तेन तिष्ठन्ति जन्तवः ॥

४ पदाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा।
ते दशन्ति महाक्रोधास्त्रिविधं भीमदर्शनाः ॥ सुश्रुत ॥
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ रघुवंश ॥

जब उसको भागने के लिए स्थान नहीं होता तब वह मनुष्य पर आक्रमण करता है। उस समय कुछ साँप अपनी पूँछ पर खड़े होते हैं, अपना फण[1] विस्तारित करते है, अपनी लम्बी पतली जिह्वा बड़ी तेजी से मुख के बाहर-भीतर करते है और साँस को भीतर खींचकर जोर से उसको बाहर छोड़ कर बड़ी आवाज (फूत्कार) करते हैं। उस समय ऐसा मालूम होता है कि साँप अपने विष को हवा में चारों ओर फेंक रहा है। यह भीमदर्शन शत्रु को डराने के लिए होता है। और जब शत्रु डरकर भाग जाता है तब यह भी अपना भयानक रूप छोड़कर दूसरी ओर चल देता है। जब लाचार होता है तब यह काटने की कोशिश करता है और जब पैर से कुचला जाता है तब जरूर काटता है। परन्तु दंश करने पर अधिकसंख्य ($\frac{४}{५}$) सर्प निर्विष होने के कारण, सब सविष सर्प घातक न होने के कारण और घातक सर्प भी हर वक्त घातक दंश करने में असमर्थ होने के कारण मनुष्य के बचने की बहुत[2] संभावना होती है। इसलिए सविष और निर्विष सर्पों की पहचान और सविष-निर्विष दंश की पहचान सर्पदष्ट को सान्त्वना देने के लिए तथा चिकित्सा करने के लिए बहुत आवश्यक है।

सविष सर्प की पहचान

(१) शरीर से—पूँछ—जमीन पर रहनेवालों की पूँछ गोल और समुद्र में रहनेवालों की चपटी होती है। चपटी पूँछवाले सब साँप विषैले और गोल पूँछवाले दोनों प्रकार के होते हैं। इसलिए प्रथम साँप की पूँछ देखो। यदि चपटी हो तो उसको विषैला समझो। यदि गोल पूँछ का हो तो उसका पेट देखो।

उदर के शल्क (Ventrals)—पेट के शल्क (Scales) के अनुसार साँपों के तीन विभाग किए जा सकते है। प्रथम विभाग में वे सर्प आते हैं जिनके पेट पर पीठ के समान और खुर के आकार के छोटे-छोटे छिलके (शल्क चित्र ३९) होते हैं। दूसरे विभाग में वे सर्प आते हैं जिनके पेट पर पटियाएँ होती हैं परन्तु वे पेट की पूरी चौड़ाई के बराबर नहीं होती। इनके दोनों ओर छोटे शल्कों की दो तीन पंक्तियाँ (चित्र ३८) होती हैं। इन दोनों विभाग के सर्प निर्विष होते हैं। तीसरे विभाग में वे सर्प आते हैं जिनके पेट पर पूरी चौड़ाई की पटियाएँ (Plates चित्र ४०) होती हैं। इस

---

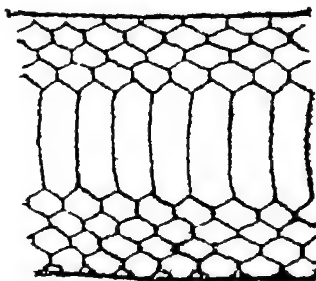
१. निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फटा।
विष भवतु मा वास्तु फटाटोपो भयंकरः ॥ पञ्चतंत्र ॥

२. सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम्।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत्। पचतन्त्र ॥

विभाग में सविष और निर्विष दोनों प्रकार के सर्प होते हैं। उदर के शल्कों के सम्बन्ध में निम्न दो नियम मार्गदर्शक होते हैं। (१) पूरी चौड़ाई भर के बराबर लम्बी पटियाएँ जिनके उदर पर नहीं होतीं वे सब साँप निर्विष होते हैं। परन्तु सब निर्विष साँपों के उदर पर छोटी पटियों का होना जरूरी नहीं है। (२) सब सविष साँपों के उदर पर चौड़ाई भर के लम्बे पट्टक होते हैं, परन्तु पूरे लम्बे पट्टक (पटिया) होने से सब साँप सविष नहीं होते।

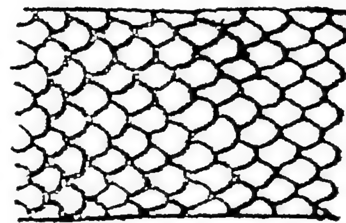
सिर के शल्क—उदर पर पूरी चौड़ाई भर की लम्बी पटियाएँ होने पर यदि सर के ऊपर के शल्क शरीर के शल्क के बराबर छोटे छोटे हों तो वह साँप विपैला (चित्र ३५) होता हैं। यदि इसमें फलक (Shields) हो तो सविष और निर्विष दोनों प्रकार का होता है।

चित्र न० ३८-उदर शल्क



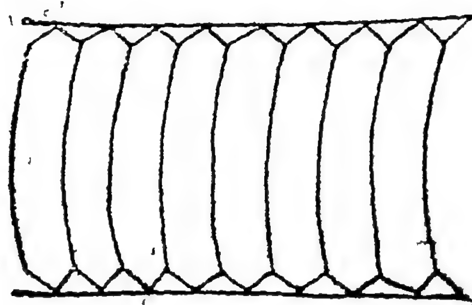
मध्यम, निर्विष

चित्र नं० ३९-उदर शल्क



छोटे, निर्विष

चित्र नं० ४० उदर शल्क



चौडे सविष, निर्विष

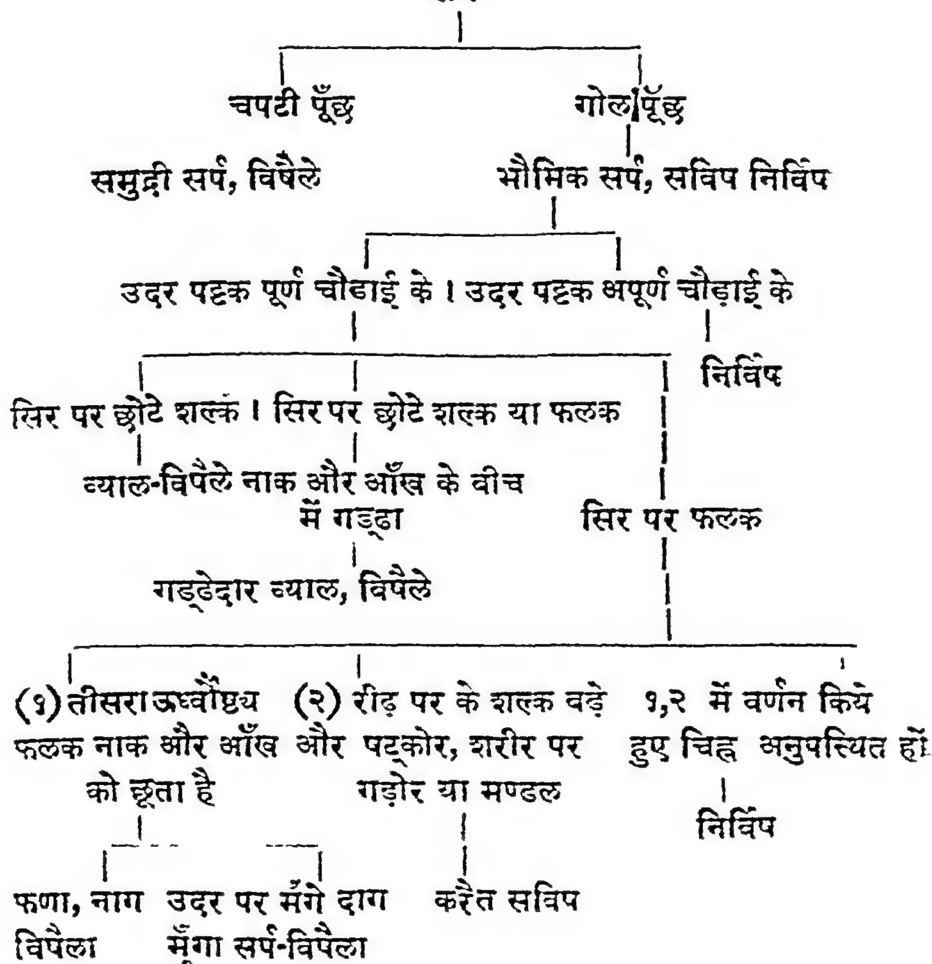
तीसरा ऊर्ध्वौष्ठ्य (Supralabial) फलक—यदि वह फलक नाक और आँख के फलक को छूता हो तो साँप विपैला होता है। यदि फन हो तो नाग और फन न हो तो मूँगा साँप समझना चाहिए।

पृष्ठमध्य के शल्क (Vertebrals)—यदि ये शल्क पट्कोर और औरों की अपेक्षा बड़े हों तो भी साँप विषैला याने करैत वर्ग का होता है।

संक्षेप में उदर के पट्टक पूर्ण चौड़ाई भर के बराबर होने पर यदि साँप में ३-४ तक वर्णन किये हुए चिह्नों में से एक चिह्न मिले तो वह साँप सविष और इनमें से एक भी चिह्न न मिले तो वह साँप निर्विष समझना चाहिए।

सविष निर्विष सर्पज्ञान का नक्शा

सर्प

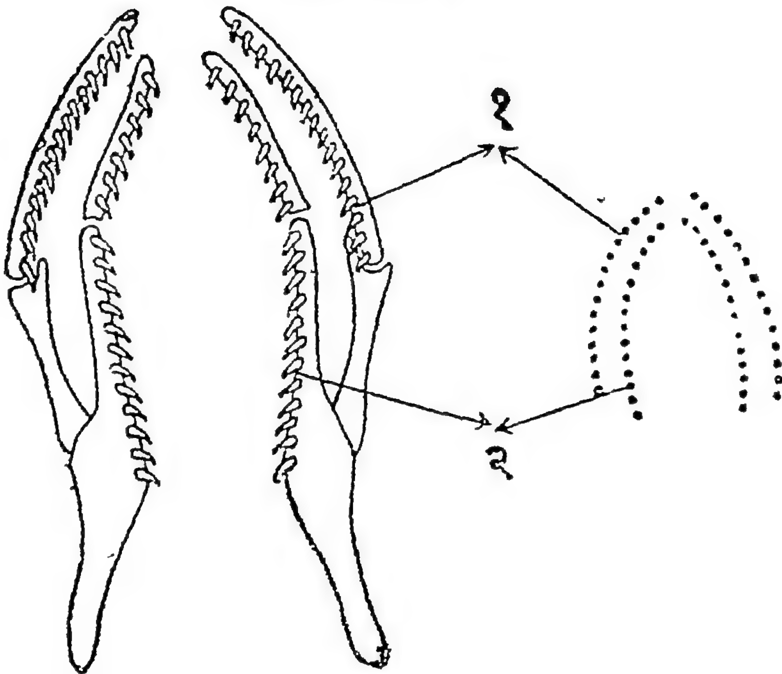


दाँत (चित्र नं० ४१)—सर्प के ऊपर के जबड़े में दाँतों की चार पंक्तियाँ होती हैं। दो पंक्तियाँ बीच में होती हैं और उनके दाँत तालुदन्त (Palate teeth) कहलाते हैं, दो पंक्तियाँ दोनों ओर किनारे के पास होती हैं। नीचे के जबड़े में

केवल किनारे की दो पंक्तियाँ होती हैं। ऊपर और नीचे के जबड़े के किनारे के दाँत हनुदन्त या सीमान्त दन्त (maxillary or marginal) कहलाते हैं। तालुदंत पंक्ति हनुदन्त पंक्ति की अपेक्षा गले की ओर अधिक लम्बी होती है। सविष और निर्विष साँपों में तालुदन्त मिलते हैं परन्तु ऊर्ध्व हनुदन्तों में फर्क होता है। विषैले साँपों में ऊर्ध्व हनुदन्त के स्थान में विषदन्त (चित्र नं ३६) होते हैं। साधारणतया प्रत्येक तरफ एक विषदन्त होता है, क्वचित् दो या तीन भी होते हैं। ये दन्त[1] अंकुश सम काफी मोटे, लम्बे और नालीदार होते हैं और पीछे की ओर एक प्रणाली से विष की थैली के साथ इनका सम्बन्ध होता है। विष की थैली प्रत्येक तरफ एक होती है और आँख के नीचे और पीछे रहती है। उसके संकोच

चित्र न० ४१

निर्विष साँप के दन्त



१. हनुदन्त २. तालुदन्त

से सूचिकाभरण की तरह दंश के समय त्वचा में विष का उत्सर्ग होता है। ये हमेशा पीछे की ओर झुके हुए रहते हैं। जब साँप काटना चाहता है तब वह

१. तेषां बडिशवद्दंष्ट्राः। सुश्रुत ॥

जबड़ा खोलकर सिर पीछे की ओर करता है जिससे विषदन्त भली-भाँति खड़े हो जाते हैं और दंश के समय अच्छी तरह त्वचा में चुभ जाते है। समुद्र सर्प में विषदन्त छोटे होते हैं और जमीन पर रहनेवालों में वडे होते है। व्याल (Vipers) वर्ग में ये अधिक लम्बे होते हैं। कुछ साँप (जैसे अफ्रिका का रिंघाल सर्प Ringhal) जब दष्टव्य चीज नजदीक नहीं होती है तब फूत्कार के साथ ६-८ फुट तक विष को तुषार के रूप में फेंक सकते हैं। विषदन्तों के ऊपर एक कोश होता है जिससे उनका रक्षण होता है।

साँप मिलने पर ऊपर के जबडे के किनारे पर सुई फेरने से यदि कई दाँतों का पता लग जाय तो साँप निर्विष और यदि केवल एक या दो ही बड़े दाँतों का पता लग जाय तो सविष समझना चाहिए।

दंश स्थान—यदि साँप न मिले तो दंश स्थान में निर्विप साँप होने पर बहुतेरे दाँतों के नन्हें-नन्हें निशान चार पंक्तियों में दिखाई देते हैं। ये चिन्ह सहज ही में देखना कई बार असंभव होता है। तब उदुब्ज काँच (Convex lens) द्वारा देखने से स्पष्ट देखे जा सकते हैं। जब साँप अग को टेढ़ा पकड़ता है तब एक ही छेद हो सकता है। जब साँप अग को मोटाई के कारण ठीक पकड नहीं सकता तब केवल खरोंच बनते हैं। सक्षेप में निर्विप साँप के निशान बहुत बारीक और कम गहरे होते हैं और सविष साँप[1] के निशान दो या चार गहरे होते हैं।

स्थानिक लक्षण[2]—निर्विप साँप में विप न होने के कारण अन्य कारण से त्वचा कट जाने पर जो लक्षण होते हैं वे ही दिखाई देते हैं। सविष साँप मे त्वचा कट जाने के सिवाय विप का स्थानिक परिणाम होता है। अतः विषैले साँप के काटने से शीघ्र या थोडी देर बाद दंश स्थान पर पीड़ा, जलन या सुन्नता मालूम होगी, उसमें खून जमने नहीं पावेगा और बराबर कई घण्टे तक बहता रहेगा। वहाँ पर सूजन आ जावेगी तथा उसके चारों ओर का भाग हरा या नीला

---

१. पदानि यत्र दन्तानामेक द्वेवा बहूनि वा। निमग्नानि। सुश्रुत॥
दष्ट्रापदानि चत्वारि। अष्टागसग्रह॥

२. दशस्तु सविपः सर्वः सशोफो वेदनान्वितः।
तुधते ग्रथितःकश्चित् कण्डूमान् दह्यते भृशम्।
निर्विषो विपरीतोस्मात् ॥ अष्टागसंग्रह ॥

सा हो जावेगा। निर्विष साँप के काटने पर दंशस्थान पर खून जम कर घाव बन्द हो जायगा और जरा सी पीड़ा होने पर भी जलन, सूजन और हरा नीलापन इनमें से कुछ भी नहीं होगा। संक्षेप में रक्तस्राव, सूजन, जलन, पीड़ा, सुन्नता और हरा नीलापन ये स्थानिक लक्षण सविष साँप के निदर्शक होते हैं। व्याल के दंश में ये स्थानिक लक्षण अधिक तीव्र होते है।

सर्प विष सीधे रक्त में पहुँचने[1] पर अपना विषैलापन प्रकट कर सकता है। मुख द्वारा शरीर में पहुँचने पर इसका असर नहीं होता। इसलिए त्वचा श्लेष्मल त्वचा में जब तक विदार, घाव, व्रण इत्यादि नहीं होते तब तक विष का स्पर्श इनके ऊपर होने से कुछ भी परिणाम नहीं होता।

सर्पदंश से मृत्यु का प्रमाण—विषैले साँप को जब जी भर के काटने का अवसर मिलता है तब वह अधिक से अधिक विष दंश में अन्तःक्षिप्त कर सकता है। यह राशि भिन्न भिन्न प्रकार के साँपों में भिन्न भिन्न (२–३० बूँद तक) होती है। ऐसे दंश से बचने की आशा बहुत कम होती है। परन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि सर्पदष्ट सौ मनुष्यों मे नब्बे मनुष्य बच जाते हैं और केवल दस मनुष्य मरते है। इसके निम्न कारण है। (१) भारतवर्ष में ३०० प्रकार के भौम सर्प होते है और उनमें केवल ४० प्रकार के साँप विषैले हैं। इन विषैले साँपों में नाग, फुरसा, चन्द्र बोरा ये साँप अधिक काटते है। इसका विचार करने पर यों कहा जा सकता है कि सर्पदष्ट व्यक्तियों में केवल $\frac{1}{10}$ लोग (१० प्रतिशत) विषैले सर्प से काटे जाते हैं। (२) गड्ढेदार व्याल और मूंगे सर्प विषैले होने पर भी उनके दंश से मृत्यु होने की संभावना नहीं होती। (३) कई बार साँप को जी भरकर काटने का सुअवसर नहीं मिलता। (४) काटने के पूर्व यदि किसी प्राणी को या मनुष्य को दंश किया हो तो विष अत्यल्प मात्रा में निकलता है या बिलकुल नहीं निकलता। (५) दंश के स्थान के ऊपर लुगा, धोती, कपड़ा, अँगरखा या वस्त्र हो तो अधिकांश विष उस पर लग जाता है, और व्राव में नहीं पहुँचता। अतः दंशस्थान में मारक मात्रा न पहुँचने से विषैले साँप से काटे हुए मनुष्यों में भी आधे बच जाते है।

चिकित्सा

गरल अत्यन्त तीव्र विष है जो अत्यल्पकाल में दंशस्थान से शरीर में फैलकर

---

१. विषमाहेयमप्राप्य रक्तं दूषयते वपुः।
रक्तमण्वपि तु प्राप्तो वर्धते तैलविन्दुवत्॥ अष्टागसंग्रह॥

अपना विषैला प्रभाव डालता है। इसलिए निम्न पद्धतियों से सर्प दंश की तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिए।

(१) विषस्तम्भन—दंश स्थान के विष को शरीर में फैलने से रोकने का काम रज्जुबंधन (Ligature) से होता है। यह कर्म सबसे पहले[1] और अत्यन्त शीघ्रता से करना चाहिए। इससे विष का शोषण रुक जाता है और अन्य प्रकार की स्थानिक तथा सार्वदैहिक चिकित्सा के लिए अधिक समय मिलता है। रज्जुबधन का कर्म केवल शाखाओं के दशों के लिए उपयोगी है, धड़ पर तथा सिर पर के दशों के लिए इसका उपयोग नहीं कर सकते। बंधन के लिए रबड़ की रस्सी (Rubber cord) सबसे उत्तम होती है। यदि यह न हो तो सायकल की ट्यूब भी काम में ला सकते हैं। यदि रबड़ की कोई चीज न मिले (और उसके मिलने के लिए समय नष्ट न करना चाहिए) तो साफा, पगड़ी, मुड़ासा, धोती, लुगरा, साड़ी, हाथरुमाल, सुतली या अन्य जो चीज मिले उसको दंश के ऊपर बाँधना चाहिए।

रज्जुबन्धन के लिए सूचनाएँ—(१) दंश के पश्चात् शीघ्रता से यह कर्म करें। दस मिनिट से अधिक विलम्ब करने पर यह कर्म व्यर्थ होता है और जितनी अधिक शीघ्रता की जाती है उतनी अधिक सफलता मिलती है। (२) जिस स्थान पर केवल हड्डी हो वहाँ पर बाँधना चाहिए जैसे, पैरों के दंश में जानु के ऊपर और हाथों के दश में कोहनी के ऊपर। बधन का उद्देश्य हृदय की ओर का रक्त और लसिका-प्रवाह बंद करने का होता है। जहाँ पर दो हड्डियाँ होती है (जैसे कि अग्रबाहु और जघा) वहाँ बंधन कसने पर भी हड्डियों के बीच का

---

१. सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः।
दशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरंगुले ॥
प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनाऽन्यतमेन वै।
न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम् ॥
अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मन्त्रकोविदः।
सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्ध्वा विषप्रतिकरी मता ॥ सुश्रुत ॥
अम्बुवत् सेतुबन्धेन बन्धेन स्तभ्यते विषम्।
न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धाभिपीडिताः ॥ अष्टांगसंग्रह ॥

रज्जुबधन का उपाय केवल शाखाओं के लिए होता है यह 'शाखादष्टस्य' से स्पष्ट होता है।

रक्त-संचार नहीं रोका जा सकता है जिसके कारण बंधन व्यर्थ होता है। (४) बाहु या ऊरु के बंधन के सिवा यदि दंश स्थान इस बन्धन के पास न हो तो दूसरा बन्धन दंशस्थान से कुछ अंगुल ऊपर बाँधना चाहिए। यदि दंश उँगली में हो तो उँगली के मूल में यह बन्धन बाँधना उचित है। (५) बंध[1] इस तरह कसके बाँधे कि सिरा और लसवाहिनियों में रक्त और लस का प्रवाह पूर्णतया बन्द हो जाय, धमनीगत रक्तप्रवाह रोकने की आवश्यकता नहीं होती। यदि वह भी बंद हो जाय तो कोई आपत्ति नहीं होती, परन्तु सिरा रसायनीगत प्रवाह किसी हालत में जरा सा भी जारी न रहना चाहिए, अन्यथा रज्जुबंधन व्यर्थ होता है। धमनीगत प्रवाह अधिक देर तक बिलकुल बन्द होने पर रक्त की कमी से स्थानिक धातुओं का नाश और कोथ होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए प्रत्येक २०-३० मिनिट के पश्चात् बन्धन को थोड़े सेकण्डों के लिए ढीला करना चाहिए। नीचे का अंग गुलाबी रङ्ग का होने पर फिर से बन्धन को कसना चाहिए।

नाग और करैत का विष बन्धन से दंशस्थान में रुक जाता है, स्थानिक कोशाओं पर उसका कोई परिणाम नहीं होता जिससे बन्धन छोड़ने पर फिर से उसका शोषण होकर वह अपना घातक कार्य कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि इनमें बन्धन से कालहरण होता है परन्तु चिकित्सा में कुछ भी सफलता नहीं मिलती। व्याल का विष भी बन्धन से रुक जाता है, परन्तु उसमें स्थानिक कोशाओं पर कार्य करने की शक्ति होने के कारण अधिकांश विष दंश स्थान तथा समीपवर्ती भाग की कोशाओं में अटक जाता है जिससे बन्धन छोड़ने पर भी विष का शोषण जल्दी नहीं होता। संक्षेप में व्यालदंश में बन्धन से बहुत लाभ होता है।

(२) विषहरण—इसमें दंश स्थान में गिरे हुए विष का निम्न उपायों से निर्हरण किया जाता है।

(अ) क्षालन—रज्जुबन्धन के पश्चात् प्रथम दंशस्थान तथा उसके आसपास की त्वचा अच्छी तरह पोछना चाहिए या पानी से साफ धोना चाहिए। कई बार

---

१. बन्धो देशानुसारेण नातिगाढश्लथो हितः।
दंशपूतित्वशोफादीन् कुरुते ह्यतिपीडितः॥
अशक्तः शिथिलो रोद्धुं विषं देशान्तरं व्रजत्॥ अष्टांगसंग्रह॥

गाढ़ का मतलब धमनीगत प्रवाह को रोकनेवाला, शिथिल का मतलब सिरा रसायनीगत प्रवाह को भी न रोकनेवाला। बन्ध ऐसा होना चाहिए कि वह शिथिल न हो याने सिरा रसायनीगत प्रवाह को रोके और गाढ न हो याने धमनीगत प्रवाह को न रोके।

विष दंशस्थान के बाहर त्वचा पर भी गिरता और सूख जाता है। ऐसी त्वचा पर छेद करने से और भी विष रक्त में मिलने का डर रहता है। इसलिए प्रक्षालन का कार्य आवश्यक है।

(आ) भेदन[1] (Incision)—धोने के बाद साफ चाकू से या नश्तर से प्रथम दंश की गहराई के बराबर गहरा चीरा लगाना चाहिए। चीरने के समय बड़ी रक्तवाहिनियों का और वातनाड़ियों का (Nerves) ख्याल रखना चाहिए। पश्चात् स्तनचूषक (Breast Pump), तुमड़ी, मुख या पीडन से रक्त निकालना चाहिए। पीछे दूसरी बार गहरा चीरा सूजन के किनारे तक देना चाहिए। चीरा हमेशा दंश से आरे के समान सूजन के किनारे की ओर लगाना चाहिए। यदि चीरा देने के कुछ समय के बाद सूजन बढ़ जाय तो सूजन के किनारे तक फिर से चीरा लगावें।

(इ) अङ्ग छेदन (Amputation)—यह कर्म हाथ-पैरों की अँगुलियों के दंश में उपयोगी होता है। दंश होते ही यदि वह उँगली काट दी जाय तो यह कर्म जीवरक्षा करने में समर्थ होता है। प्रायः यह कर्म मनुष्य को स्वयं करना चाहिए या दस मिनट के भीतर यदि दष्ट मनुष्य डाक्टर के पास पहुँच जाय तो वह भी इसको कर सकता है।

(ई) आचूषण[2] (Suction)—चीरा लगाने के बाद इसका प्रयोग करना उचित है। चूपण के लिए तुमडी बेहतर है। यह न मिले तो मुख का भी उपयोग

---

१. निष्पीड्य चोद्धरेद्दंश मर्मसम्यगतं तथा।
न जायते विषवेगो बीजनाशादिवाङ्कुरः॥ अष्टांगसंग्रह॥
उद्धरेदिति उत्कृत्य (शस्त्रेण) अपहरेत्॥ चक्रपाणिदत्त॥

२. दहेद्दंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते।
आचूषणाच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः॥ सुश्रुत॥
त्याज्यो दुष्टः प्रियोप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥ रघुवंश॥
प्रतिपूर्य मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत्॥ सुश्रुत॥
आचूषेत् पूर्णवक्त्रो वा मृद्भस्मागदगोमयैः।
प्रच्छायान्तररिष्टाया मांसलं तु विशेषतः॥ अष्टांगसंग्रह॥

मुख में वस्त्र मृत्तिकादि पदार्थ रखकर आचूषण का जो उपाय बताया गया है वह मुखगत व्रणों का (यदि कोई हों तो) विष से सम्बन्ध कम करने के लिए है। यदि मुख में व्रण न हो तो इन चीजों की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु सूक्ष्म व्रणों का ज्ञान किसी

कर सकते हैं। मुख में जिह्वा, तालु, मसूड़ों पर कहीं भी व्रण न होने चाहिए। अर्थात् व्रणित मुख का उपयोग चूषण के लिये निषिद्ध है। चूषण के पूर्व तेल या घी से कुल्ला करना उचित है। इससे यदि कोई सूक्ष्म व्रण हो तो उससे शोषण का कार्य नहीं हो सकता। चूसने पर चूसा हुआ विष थूकना चाहिए।

(३) विषनाशन स्थानिक—इनमें दंशस्थान में औषधियों के द्वारा विष का नाशन किया जाता है। इसके लिये निम्न औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं।

पोटास परमैंगनेट—सस्ती और देहातों में भी मिलनेवाली यह औषधि सर्प दंश में बहुत उपयोगी है। चीरा लगाने के बाद इसके स्फटिक दंश स्थान पर खूब रगड़ना चाहिए या ३-५% घोल से दंश स्थान को धोना चाहिए या १-२% घोल पिचकारी से दंश स्थान में तथा उसके आसपास में आधा इञ्च गहराई तक कई जगह सुई चुभोकर प्रविष्ट करना चाहिए जिससे कि वह वहाँ से चूने लगे। इस तरह १०-२० सी० सी० घोल दंश स्थान में प्रविष्ट कर सकते हैं। इसके बाद स्थान को मालिश करना तथा सेंकना चाहिए। सूई के द्वारा औषधि घोल का उपयोग सर्वोत्तम है।

निरियाद—इस औषधि से दंशस्थान पर कपड़े की पट्टी भिगोकर रक्खी जाती है।

प्रतिगरल—इसका उपयोग सुई से दंश के आसपास किया जाता है।

(४) विषनाशन सार्वदैहिक—प्रतिगरल (Anti venine)—बम्बई की हाफकीन संस्था में आजकल बहुत वीर्यशाली नवीन प्रकार की (Lyophilised

---

को नहीं हो सकता और यदि मुख में व्रण हों तो बन्धन और उत्कर्तन के पश्चात् व्रणित मुख से चूषण करनेवाले उपकारक व्यक्ति को उपकार के बदले अपकार और अपाय हो जायगा। 'उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत्' इस दृष्टि से मुखचूषण रूप उपाय में गुप्तरूप से होनेवाले अपाय को दूर करने के लिये चूषण के पूर्व मुख वस्त्रादि से भरने के लिए जो कहा है वह इसी दृष्टि से है। चरक में भी लिखा है—दंशात्तु विषद ष्ट्स्याविसृतं वेणिका भिषग् बद्ध्वा। निष्पीडयेदृश दशमुद्धरेन्मर्मवर्ज्यं वा। तदंशं वा चूषेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन ॥ चिकित्सा ॥ २३ ॥ इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—यवचूर्णेन पांशुना वा मुखपूरणं विषसम्बन्धपरिहारार्थम्॥ चूषण के लिये सींग और तुमड़ी भी लगाने के लिए कहा है—प्रच्छन्नशृङ्गजलौकाव्यधनैः स्राव्यं ततो रक्तम् ॥ चरक ॥

पूर्वं राजिमता वेगेऽलाबुभिः शोणितं हरेत् ॥ सुश्रुत ॥

polyvalent Antisnake venom serum) प्रति गरल लसिका बनायी जाती है। इसका उपयोग प्रायः सब सविष साँपों के लिए होता है। इसकी बुकनी होती है जो तिर्यक् पातित (Distiled) पानी में घोलकर सिरा द्वारा दी जाती है। प्रत्येक कूपिका के साथ १० सी० सी० पानी दूसरी कूपिका में दिया हुआ रहता है। प्रथम २० सी० सी० की मात्रा दी जाती है और दो घण्टे के पश्चात् या उससे भी पहले रोगी की स्थिति के अनुसार दूसरी २० सी० सी० की मात्रा दी जाती है। तदनन्तर ६ घण्टे पर लक्षण निवृत्ति तक बराबर इसका प्रयोग किया जाता है। यदि सिरा में देना असंभव हो तो पेशी में या त्वचा में भी दे सकते हैं परन्तु मात्रा दुगुनी या तिगुनी देनी चाहिए। गोनस (Russel's viper) के दंश में दंशस्थान के आसपास भी कुछ प्रतिगरल लसिका सुई द्वारा प्रविष्ट करनी चाहिए।

तिरियाक (Tiriyaq)—यह औषधि डा० लोरबीर की प्रयोग शाला में (Dr Lorbeers laboratory 104 mall, Post box No 63, Lahore) बनायी गयी है। इसके १२ बूँद १ चमच भर पानी में मिला करके प्रत्येक पाँच मिनिट पर रोगी को दिए जाते हैं। दवा देने का काम प्रारंभ करने पर स्थानिक बन्धन छोड़ना चाहिए। औषधि प्रदान के समय रोगी को इधर उधर घुमाना चाहिए तथा उसके हाथ पैरों को मालिस करनी चाहिए। यह औषधि खाली पेट पर अधिक फलदायी होती है। इसलिए पहले कुछ खाया हो तो उसको वमन करावें। औषधि का प्रयोग पूर्ण लक्षण निवृत्ति के पश्चात् एक दो बार करना चाहिए। साधारणतया इसके लिए ½–२ घण्टे लग जाते हैं। परन्तु कभी कभी इससे अधिक समय लग सकता है। यह कड़वी औषधि है, परन्तु जो मनुष्य सर्पविष से विषाक्त रहता है उसको यह औषधि मीठी मालूम होती है। इसका अर्थ यह है कि औषधि का परिणाम होने लगने पर धीरे धीरे औषधि अधिकाधिक कड़वी मालूम होने लगती है। इसके साथ साथ दंशस्थानिक पीड़ा भी कम होने लगती है। अन्त में पूर्णतया मिट जाती है। रोगी को रात को केवल दूध देना चाहिए।

सहायक चिकित्सा—व्याल दंश से रक्तस्राव, रक्तवहन केन्द्र तथा हृदय का अवसाद, दंश स्थान में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग इत्यादि उपद्रव हो सकते हैं। इसलिए तीव्र गरम काफी, पिच्युट्रिन या अड्रीन्यालिन, कपूर, कार्डियोझोल इत्यादि हृदयोत्तेजक औषधियाँ; क्यालसियम क्लोराइड (५% घोल के ५–१० सी० सी० सिरा द्वारा) घोड़े की लसिका, हीमोप्लास्टिन इत्यादि

रक्त-स्तम्भक औपधियाँ; मालागोलाणु तथा धनुर्वात दण्डाणु लसिका, प्रतिजीवी (Antibiotic) इनमें से कोई एक या अनेक औपधियाँ रोगी को आवश्यकतानुसार दी जायँ।

आजकल सहायक औपधियों में कार्टिसोन (२५ मि० ग्रा० मुख द्वारा) या कार्टिकोट्रोपिन (२५ मि० ग्रा० पेशी द्वारा) प्रत्येक छः घण्टे पर आवश्यकतानुसार दो-तीन बार दिया जाता है।

सर्पदष्ट का चिकित्सा क्रम

(१) साँप काटते ही दंश स्थान के ऊपर पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार बंधन लगाना चाहिए और यदि साँप मिल गया हो तो उसके शरीर से तथा दाँतों से और यदि न मिला हो तो दंश चिह्न से वह सविष या निर्विप है इसका पता लगाना चाहिए।

(२) यदि निर्विप हो तो दंश स्थान को दहातु अतिलोहकित के घोल से धोकर रोगी को निर्भयता का विश्वास दिलाना चाहिए, क्योंकि अधिकसंख्य रोगी केवल डर के मारे मर जाते हैं।

(३) यदि सविप हो तो द० अ० के घोल से धोने के पश्चात् चक्कू से दंश-स्थान को पाछें, पश्चात् सींग, तोमड़ी या पीड़न से रक्त को निकालें, गरम द० अतिलोहकित के घोल से धोकर पश्चात् उस स्थान के आसपास वही घोल या प्रतिविप लसिका प्रविष्ट करें।

(४) यदि दंश हाथ पैर की अंगुली में तो उसको तुरन्त काट दें।

(५) यदि उपलब्ध हो तो तिरियाक या प्रतिगरल लसिका का तथा हृदयोत्तेजक, रक्त स्तम्भक औपधियों का तथा कार्टिसोन आदि का उपयोग करें।

(६) रोगी को केवल दूध, मधु, काफी, पानी इत्यादि तरल पदार्थ खाने के लिए दें, पूर्ण आराम से रक्खें।

सर्प से सुरक्षित रहने के उपाय

(१) सर्प हमेशा जंगल, लम्बी घास, चीटियों की बाँबी, चूहों के बिल, चूना, ईंटें, पत्थर इत्यादि के ढेर में रहते हैं। अतः मकान के चारों ओर इनको न रहने देना चाहिए।

(२) मकान के भीतर सर्प, चूहों की खोज में आते हैं। अतः मकान के भीतर चूहों के बिल न रहने देना चाहिए।

(३) मकान के भीतर साँप प्रायः नालियों के द्वारा तथा किवाड़ों के दरारों में से आते हैं। अतः मोरियों के द्वार पर जाली लगवा देनी चाहिये और दरवाजे के किवाड़ बिना दरार या सुराख के बनवाकर रात को सिटकनी से अच्छी तरह बन्द करने चाहिएँ।

(४) जहाँ पर सर्प का भय अधिक हो वहाँ पर रात को जमीन पर न सो कर चारपाई या तख्त पर सोना चाहिए।

(५) जहाँ पर सर्प रहने का अँदेशा होता है वहाँ पर काम के समय हाथ डालने के पूर्व लकड़ी या लाठी से तलाशी लेना चाहिए।

(६) सर्प प्रायः रात को घूमते फिरते हैं तथा डरपोक होने के कारण आहट से दूर भागते हैं। इसलिए रात को बाहर जाते समय लम्बे बूट पहनकर तथा हाथ में घुँघरूदार[1] लकड़ी लेकर जाना चाहिए।



१. सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक्।
निशि चात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान्॥ वाग्भट॥
छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ तथा दिवा।
तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्त्याशु पन्नगा॥ चरक॥

द्वादश अध्याय

ग्राम-स्वास्थ्य-रक्षा-प्रबन्ध

भारतवर्ष के अस्सी प्रतिशत लोग ग्रामों में रहते हैं। इसलिए भारतवर्ष के स्वास्थ्य का विचार और प्रबन्ध करते समय प्रथम ग्रामों के स्वास्थ्य का विचार और प्रबन्ध करना चाहिए। परन्तु व्यवहार में इससे विपरीत स्थिति दिखाई देती है। ग्रामों के स्वास्थ्य का प्रबन्ध निम्न उपायों द्वारा करना चाहिए।

(१) शिक्षा—देहाती लोग अनपढ़, अज्ञानी और अंधविश्वासी होते हैं। इसलिए ग्राम स्वास्थ्य सुधार की नींव इन लोगों में स्वास्थ्यविषयक शिक्षा के द्वारा ही डालनी चाहिए। जब तक लोग स्वास्थ्य के नियमों से काफी परिचित होकर उनके पालन में दत्तचित्त नहीं होंगे तब तक ग्रामों के स्वास्थ्य में बहुत उन्नति होने की आशा नहीं की जा सकती है। शिक्षा का प्रचार, साक्षरता तथा अन्य साधनों (पृष्ठ ३५०) द्वारा करना चाहिए।

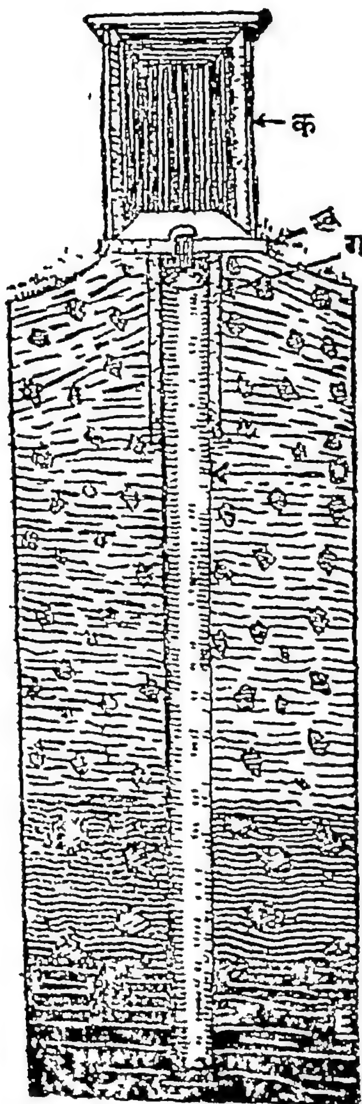
(२) निवासस्थान—देहाती लोग प्रायः झोपड़ियों में रहते हैं। पैसे की कमी से पक्के मकान देहातों में बहुत कम मिलते हैं। ये झोपड़ियाँ इतस्ततः फैली हुई और हवा तथा प्रकाश से विरहित हुआ करती हैं। यदि हो सके तो शहरों के समान देहातों का भी निर्माण (पृष्ठ १२) होना चाहिए। इसके सबन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि देहाती पुरुषों को तथा स्त्रियों को भी अधिक काल तक खुली हवा में और प्रकाश में काम करना पड़ता है। इसलिए, अस्वास्थ्यजनक मकानों के दुष्परिणाम जैसे शहरों में दिखाई देते हैं वैसे देहातों में नहीं दिखाई देते।

(३) जल—देहातों में पानी के लिए कुएँ, तालाब, नदी इत्यादि काम में लाए जाते हैं। इनके भीतर सब प्रकार की गन्दगी की जाती है जिससे इनका जल सब प्रकार से दूषित होकर पीने योग्य नहीं होता। इनके जल का उपयोग पीने के लिए करना हो तो इनको किस प्रकार रखना चाहिए इसका विचार पीछे (पृष्ठ २७-३७ तक) किया गया है। उन नियमों के अनुसार कुएँ, तालाब इत्यादि का उपयोग करने से पीने के पानी का प्रश्न हल हो सकता है। परन्तु उत्तम

उपाय तो यह है कि प्रत्येक देहात में लोकसंख्या के अनुसार एक या अनेक आदर्श कूप (पृष्ठ ३६) सरकार या बोर्ड की ओर से बनाए जायँ और केवल पीने के पानी के लिए उनका उपयोग करने के लिए लोगों को कहा जाय। इन तालावों, कूओं की देख भाल, मरम्मत इत्यादि सरकार की ओर से होना चाहिए और यही काम सबसे महत्व का होता है।

चित्र न० ४२

संच्छिद्र शौचागार



क-ऊपर की बनावट, ख-बैठक, ग-भाकीर की नाली, D-बाम की टट्टी की नाली, E-पानी।

(४) मलदूरीकरण—देहातों में इस विषय में बडी लापरवाही दिखाई देती है। लोग प्रायः इतस्ततः, मकानों के पास, गाँव के पास किसी खेत में या नदी तालाब के किनारे पर मल त्याग किया करते हैं और तालाव या नदी में आवदस्त के लिए जाते हैं। इस प्रकार की गन्दी आदत से जमीन और पानी खराब होकर अंकुशमुख कृमिरोग, विसूचिका, अतीसार, आन्त्रिकज्वर इत्यादि खाद्यपेय संवाहित (पृष्ट ३८८) रोग फैलते है इसलिए मल त्यागने का प्रबन्ध निम्न प्रकार से करना चाहिए।

(अ) निजी शौचागार—देहातों में जो धनी या जमींदार लोग पैसा खर्च कर सकते हैं वे अपने घर में विशेष प्रकार के दूषक टकी (पृष्ठ ८९९) के शौचस्थान (Home Septic tank latrines) बनवावें। ये शौचस्थान जलसंवहन पद्धति के अनुसार ही बनाए जाते है। केवल उनमें जल की टकी नहीं होती। मल त्यागने के बाद पानी डाला

जाता है। शौच स्थान के पीछे थोड़े अन्तर पर टंकी बनायी जाती है। इसमें दो कमरे होते हैं। प्रथम कमरा कक्कड कोठरी का काम करता है। टंकी से निकलनेवाला पानी निस्यन्दन क्यारियों में न जाकर शोषण गर्त (Soakage well) में चला जाता है। यह गढ़ा कुएँ के पास न रखना चाहिए।

(आ) सार्वजनिक शौचस्थान—देहात के बाहर तालाब या कुँए से दूर इनको बनाकर वहाँ पर सब लोग जावें और उसकी सफाई के लिए एक या दो मेहतर तैनात किए जायँ। वहाँ पर इकट्ठा हुआ मैला दूषक टंकी के द्वारा या खाई में भर कर या भट्टी में जलाकर नष्ट किया जा सकता है।

(इ) खाइयाँ—किंवा गाँव से कुछ दूरी पर एक विशेष स्थान में खाई खोद कर उसका भी उपयोग कर सकते हैं। खाई के चारों ओर टट्टियाँ लगाने से शौचस्थान बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसमें मलत्याग करे और पश्चात् मलके ऊपर पास में पडी हुई मिट्टी डालकर उसको पूर्णतया ढक दे। इस तरह एक खाई भर जाने पर दूसरी खाई दूसरे स्थान में बना दी जावे। जब वह स्थान खाइयों से भर जावे तो उसका उपयोग खेती के लिए किया जावे और खाइयों के लिए समीपवर्ति दूसरा स्थान लिया जावे। जब वह स्थान भी भर जाय तब प्रथम स्थान फिर से काम में लिया जावे। यह पद्धति बहुत सस्ती और आसान है।

(ई) शौचकूप (Pit latrines) या सछिद्रशौचागार (Bored hole latrines) (चित्र नं० ४२)—ये शौचागार तालाब या जल कूप से दूर ऊँची सूखी भूमि में ६–२० फूट गहरे और एक से डेढ़ फूट चौडे बनाए जाते हैं। इनके चारों ओर नालियाँ बनाई जायँ जिससे बरसात का पानी इनके भीतर न जा सके। इनके भीतर अलकतरे से पोती हुई लकड़ी की बैठक लगाई जाती है और वर्षा और लोगों की दृष्टि से बचने के लिए उस पर छोटी सी झोपड़ी बनायी जाती है। जब ये भूपृष्ठ से तीन फूट तक भर जाते हैं तब मिट्टी से बन्द किए जाते हैं और दूसरे स्थान में दूसरे शौचस्थान बनाये जाते हैं। दो महीने में भूमिगत मल का नाश हो जाता है। इसलिए दो महीने के पश्चात् पहले स्थान का उपयोग किया जा सकता है।

(५) कूड़े का नाश—देहातों में मकान के पास गढे बना कर उसी में कूड़ा कचरा इकट्ठा करने की रीति है। वह रीति अच्छी नहीं है। कूड़े के सड़ने से मक्खियाँ पैदा होती हैं और चूहे भी तकलीफ देते हैं। कूडे को जला देना ही अच्छा है। इसके लिए बीहाइव भ्राष्ट्र (पृष्ठ २७२ चित्र नं० ७) उत्तम होता

है। गोबर लीद इत्यादि को खेत में गढ़ा बनाकर मकान से दूर इकट्ठा करना चाहिए या किसानों को बेच देना चाहिए।

(६) मृत का नाश—मृत मनुष्यों का नाश दहन या दफन के नियमों के अनुसार किया जाता है। देहातों में मृत जानवरों के बारे मे बड़ी लापरवाही दिखाई देती है। इनकी लाशें इतस्ततः पड़ी रहती हैं और इनके सड़ने से बहुत दुर्गन्ध पैदा होती है। इनको जमीन में गाड़ना चाहिए।

(७) संक्रामक रोगों से रक्षा—देहातों में विषमज्वर तथा विसूचिकादि खाद्यपेय संवाहित रोग बहुत हुआ करते हैं। इनके प्रतिषेध के लिए उचित उपाय करने चाहिएँ। साधारणतया गाँवों में जो गढ़े होते हैं उनको पटवा देना चाहिए। आसपास घना जङ्गल हो तो उसको कटवा देना चाहिए। गाँव में क्विनीन मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए। जहाँ पर डाक घर होता है वहाँ पर सरकार की ओर से क्विनीन मिलने का प्रबन्ध किया गया है। पानी पीने के जलाशय का विशोधन प्रत्येक साल मे एक दो बार पोटास परमैंगेनेट या ब्लीचिंग पाउडर से करना चाहिए। इसके अलावा जिस समय जो रोग जारी हो उसके प्रतिषेध के उपाय करने चाहिएँ। गाँवों में दवाखाने का प्रबन्ध करने से तथा उसके ऊपर पूर्ण शिक्षित चिकित्सक रखने से ग्रामस्वास्थ्यरक्षा के प्रबन्ध में बहुत सहायता होती है। यदि प्रत्येक गाँव में दवाखाने का प्रबन्ध न हो सके तो घूमनेवाले औषधालय (Travelling Dispensaries) रखने चाहिएँ जिससे प्रत्येक देहात में हफ्ते में एक या दो बार चिकित्सक पहुँच जाय, लोगों के रोगों की चिकित्सा करे तथा कोई सक्रामक रोग होने की सम्भावना हो या जारी हुआ हो तो उसके प्रतिषेध के उपायों को काम में लावे और जनता को भी उसके प्रतिषेध के योग्य मार्ग बतावे।



त्रयोदश अध्याय

यात्रास्वास्थ्यरक्षा प्रबन्ध

भारतवर्ष यात्रा-भूमि है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष असख्य स्थानों में असंख्य मेले होते है जहाँ पर हजारों से लेकर लक्षावधि लोग इकट्ठा होते हैं। आगगाड़ी की सुविधा और स्वास्थ्य-विभाग की दक्षता के कारण प्रत्येक स्थान के मेले में यात्रियों की सख्या अधिकाधिक हो रही है। यात्रा में स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध करना बहुत आवश्यक होता है, क्योंकि यहाँ पर ही विसूचिका जैसे घातक रोग उत्पन्न होते हैं और यात्रा से लौटते वक्त चारों ओर फैलते हैं। मेले में स्वास्थ्य का प्रबन्ध निम्न प्रकार से करना चाहिए।

(१) निवास स्थान—(Accomodation)—प्रत्येक यात्रा के स्थान में यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएँ और सराएँ होती हैं। परन्तु मेले के समय ये अपर्याप्त होती हैं। इसलिए यात्रियों को टिकने का कुछ प्रबन्ध करना पडता है। इसके लिए मेले के पास कहीं खुले स्थान का उपयोग करना चाहिए। उस स्थान पर गढ़े या गन्दे पानी के संचय हों तो उनको पटवा देना चाहिए तथा घना जङ्गल हो तो उसको कटवा देना चाहिए। उस स्थान तक मुख्य सड़क से पक्की सडक बनानी चाहिए। वह स्थान छोटे-बड़े रास्ते के द्वारा कई भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग में झोपडियाँ बनानी चाहिएँ। प्रत्येक झोपड़ी पर नम्बर लगावे और भीतर रहने वालों की संख्या भी निश्चित की जावे। झोपड़ियों के अलावा तम्बू-पाल-शामियाना इत्यादि में टिकने का प्रबन्ध किया जा सकता है। यह सब प्रबन्ध यात्रा प्रारम्भ के पूर्व पूर्ण हो जाना चाहिए।

(२) जल का प्रबंध—यदि मेला नदी के किनारे पर हो तो मेले के स्थान के ऊपर, जिधर से जल का प्रवाह मेले की ओर जा रहा हो, पीने के पानी के लिए कुछ भाग सरक्षित करना चाहिए। मेले के स्थान के नीचे का घाट स्नानादि के लिए रखना चाहिए। सबसे नीचे स्मशान रहे। नदी के किनारे पर मल-मूत्रादि का त्याग करने से लोगों को मना करना चाहिए। मेले के स्थान में तथा आस-पास पीने के लिए योग्य जल के कुएँ हों तो उनको मेले के पूर्व

पोटास परमेंगेनेट से या ब्लीचिंग पाउडर से शुद्ध करना चाहिए। प्रत्येक कूएँ के ऊपर पानी निकालने के लिए डोर डोलची रखना चाहिए। कूएँ के तथा पीने के घाट के आस-पास गन्दगी करने से मना करने के लिए एक मनुष्य वहाँ पर रखना चाहिए जो वहाँ की सफाई भी करे। मेले के स्थान पर यदि पानी पहले से न हो तो वहाँ पर कुछ नलिका कूप (पृष्ठ ३४) बनाने चाहिएँ। यात्रियों को पीने के पानी का प्रबन्ध करने की दृष्टि से स्थान-स्थान पर विशुद्ध जल से भरी हुई टंकियाँ रखना भी फायदेमन्द होता है। इन टकियों में आप-से-आप बन्द होनेवाली टोटियाँ लगाने से अधिक पानी नष्ट नहीं होता तथा टंकी का पानी खराब होने का डर भी नहीं रहता।

(३) खाद्यपेय का प्रबन्ध—मेले में बेचने के लिए आने वाले दूध तथा अन्य खाद्य द्रव्यों का निरीक्षण स्वास्थ्यनिरीक्षकों को करना चाहिए। सड़ी, गली, बासी खराब चीजों को बेचना मना करना चाहिए। अगर कोई मनुष्य इस प्रकार की चीजों को बेचता हुआ दिखाई दे तो उन चीजों का नाश करने का अधिकार स्वास्थ्याधिकारियों को होना चाहिए। पूरी-मिठाई इत्यादि खाने की चीजें मक्खियों से सुरक्षित बन्द या जालीदार आलमारियों में रखने की सख्त ताकीद होनी चाहिए। मेले के क्षेत्र में खाद्य द्रव्यों के दूकानदारों और खोमचेवालों के लिए अनुज्ञप्ति (Licence) आवश्यक होनी चाहिए जिससे उनका नियंत्रण करने में और आवश्यकता पड़ने पर उन पर वैध कार्यवाही करने में आसानी हो सके।

(४) मैले का प्रबन्ध—मेले में पीने के लिए शुद्ध जल और खाद्यद्रव्यों का जो महत्व होता है उतना ही या उससे कुछ अधिक महत्व मैले के प्रबन्ध का होता है क्योंकि उससे खाद्यपेय दूषित होने की सभावना रहती है। यह प्रबन्ध निम्न पद्धतियों से किया जाय।

खात शौचस्थान—खाइयों का स्थान मेले के स्थान से बहुत दूर न होना चाहिए, वरना लोग उनका उपयोग नहीं करेंगे। झोपड़ियों के एक या दो विभाग के पीछे एक शौचस्थान होना चाहिए। शौचस्थान में ४०-५० फूट लंबी डेढ़ से तीन फूट गहरी और १०-१२ इञ्च चौड़ी खाई खोदी जाती है। इस खाई के चारों ओर ऊँची टट्टियाँ खड़ी कर दी जाती है। खाई से जो मिट्टी निकलती है वह महीन बनाकर खाई के किनारे से छः इञ्च पीछे पास ही रख दी जाती है। शौच के लिए बैठनेवाला मनुष्य खाई के दोनों किनारों पर अपने पाँवों को रखकर बैठता है जिससे मल, मूत्र, और जल सब खाई में ही गिरते है। प्रत्येक

व्यक्ति के लिए स्वतंत्र शौचस्थान बनाने के लिए प्रत्येक तीन फूट की दूरी पर खाई के आरपार टट्टियाँ लगा दी जा सकती हैं। प्रत्येक दिन लोगों के शौच कर चुकने के पश्चात् भगी खाई में थोडी थोड़ी मिट्टी डाल देता है। खाई में जब मल अधिक भर जाता है तब मल के ऊपर चूना छोड़कर खाई को पास की मिट्टी से भर दिया जाता है और सात-आठ फूट के अन्तर पर पहिले की तरह खाई खोदकर और टट्टियाँ लगाकर नए शौचस्थान बना दिए जाते हैं।

खाई के बदले जमीन में मिट्टी के गमले रखकर और पावदान के लिए ईंटों को रखकर पूर्ववत् टट्टियाँ लगाकर भी शौचस्थान बनाए जा सकते हैं। इस तरह एक स्थान में बीस-पच्चीस मनुष्यों के लिए मल त्याग का प्रबन्ध किया जा सकता है। यदि हो सके तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतंत्र शौचस्थान बीच में टट्टियाँ लगाकर बनाया जा सकता है। खाई की अपेक्षा गमले के शौचस्थान में फायदा यह है कि उसका स्थानांतर करने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु दोष यह है कि प्रत्येक समय लोगों के मल त्याग कर चुकने के पश्चात् मल को हटाकर गमलों को साफ करके रखना पडता है। स्त्री पुरुषों के लिए अलग-अलग शौचस्थान होने चाहिएँ। प्रत्येक शौचस्थान के पीछे एक स्वतंत्र मेहतर होना चाहिए। स्त्रियों के विभाग में मेहतरानियाँ होनी चाहिएँ। मेहतरों के द्वारा शौचस्थान तथा उसके आस-पास का भाग स्वच्छ रखने पर ध्यान देना चाहिए तथा रात को वहाँ पर प्रकाश का उत्तम प्रबन्ध करना चाहिए, वरना लोग इतस्ततः रास्ते में ही शौच किया करते हैं। जहाँ पर मेले में लोग रहते हैं वहाँ पर प्रति सौ मनुष्यों के पीछे एक पाखाना और जहाँ पर लोग दिन में बाहर से आते हैं वहाँ पर प्रति पाँच सौ मनुष्यों के पीछे एक पाखाना के हिसाब से पाखानों की सख्या नियत करनी चाहिए। इन स्थानों में इकट्ठा हुआ मल गाड़ियों में भरकर कहीं दूर खाइयों में डालकर या भट्ठों में जलाकर नष्ट कर देना चाहिए।

पेशाबखाना—प्रत्येक विभाग के कोने पर पेशाब खाने बनाने चाहिएँ। ये भी टट्टियों से घेरकर रखने चाहिएँ। स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग होने चाहिएँ। पेशाब करने का स्थान निम्न प्रकार से बनाया जाता है—जमीन में चार पाँच फूट गहराई का गढा खोदा जाता है जिसमें पृष्ठ भाग से एक फूट तक चूने के ढिम्मे झाँवें भर दिए जाते हैं और उन पर मिट्टी के तेल का खाली कनस्टर रख दिया जाता है जिसमें रसकपूर के तीव्र (५०० में १) घोल में भिगोया हुआ लकड़ी का बुरादा भरा रहता है।

कूड़े का प्रबन्ध—मेले के स्थान में जो कुछ कूड़ा कचरा पड़ता है उसको उठाकर इकट्ठा करने के लिए स्वतन्त्र मेहतर रखने चाहिएँ। प्रत्येक दो हजार मनुष्यों के पीछे एक मेहतर के हिसाब से उनकी संख्या नियत करनी चाहिए। विभाग की लोकसख्या के अनुसार प्रत्येक विभाग में एक या दो मेहतर तैनात करके उनसे प्रत्येक विभाग की सफाई का काम कराना चाहिए। कूडे को इकट्ठा करने के लिए प्रत्येक चौराहे पर तथा बीच बीच में पात्र रखने चाहिएँ तथा कूड़े को ले जाने के लिए हाथ गाड़ियाँ तथा बैल गाड़ियाँ भी रखनी चाहिएँ। इस प्रकार इकट्ठा किया हुआ कूड़ा मेले के स्थान के बाहर जमीन में भर देना चाहिए, बीहाइन्ह जैसे (पृष्ठ २७३) भट्ठे मे जला देना चाहिए या मैले को जलाने के काम में लाना चाहिए।

मृतों का प्रबन्ध—जहाँ पर असंख्य लोग इकट्ठा होते हैं वहाँ पर दुर्घटनाओं से या बीमारियों से कुछ लोग जरूर मर जाते हैं। उनको जलाने के लिए मेले के स्थान के नीचे नदी के किनारे पर या कहीं पर एक स्थान नियत करना चाहिए। लावारिस मृत मनुष्यों को तथा मृत जानवरों को उठाने के, जलाने के या गाड़ने के लिए कुछ डोम भी तैनात करने चाहिएँ।

वैद्यकीय प्रबन्ध—सम्पूर्ण मेले के लिए एक स्वास्थ्याधिकारी (Medical officer of Health) होना चाहिए जिसका अधिकार सम्पूर्ण मेले के स्वास्थ्य और वैद्यकीय विभागों पर हो। उसकी सहायता करने के लिए कई स्वास्थ्य निरीक्षक (Sanitary Inspectors) होने चाहिएँ। मेले के कई विभाग बनाकर प्रत्येक विभाग के लिए स्वास्थ्य निरीक्षक तैनात करना चाहिए जो प्रतिदिन अपने विभाग में चक्कर लगाकर मेहतरों, डोमों, कहारों, जमादारों की सहायता से उस विभाग की सफाई का पूरा प्रबन्ध किया करें, मेहतरों के द्वारा अतीसार, प्रवाहिका, हैजा इत्यादि रोगों से पीड़ित लोगों का पता भी लगावें और उनकी सूचना स्वास्थ्याधिकारी को पहुँचावें।

मेले के प्रत्येक विभाग में एक-एक दातव्य औषधालय भी होना चाहिए जहाँ पर, पूर्ण शिक्षित वैद्य की देख-रेख मे मामूली बीमारियों के लिए औषधि मिलने की व्यवस्था हो। औषधालयों के अलावा अत्यन्त बीमार लोगों के लिए साधारण अस्पताल और सक्रामक रोगों से पीडित रोगियों के लिए अलग्नकरण रुग्णालय (पृष्ठ २५२) होने चाहिएँ। रोगियों को ले जाने के लिए औषधालयों में, आरक्षियों के थानों (पुलिस स्टेशनों) पर, स्वयं सेवकों के कार्यालयों में डोली,

म्याना, पालकी, अवस्तार (Stretchers) इत्यादि साधन तथा मनुष्य भी तैयार रखने चाहिएँ। इन रुग्णालयों में तज्ज्ञ डाक्टरों की देख-देख में चिकित्सा, सेवा, शुश्रूषा इत्यादि का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।

संक्रामक रोगों का प्रबन्ध—मेले के समय कोई संक्रामक रोग उत्पन्न न होने पावे इसी प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए। इस दृष्टि से आनेवाले यात्रियों का वैद्यकीय परीक्षण करने का प्रबन्ध होना जरूरी है। अधिकसंख्य यात्री आग-गाडियों से आते हैं। अतः बडे बडे स्थानकों पर यात्रियों का परीक्षण किया जाय और यदि कोई यात्री संक्रामक रोग से पीड़ित मालूम हो तो उसको औरों से अलग करके वहाँ पर उसकी चिकित्सा की जाय और उसको मेले में न जाने दिया जाय।

टीका का प्रबन्ध—मेले में अधिकतर विसूचिका, आन्त्रिक इत्यादि खाद्यपेय-संवाहित रोग उत्पन्न होते हैं। अतः मेले में आनेवाला प्रत्येक यात्री इनके लिए क्षम या प्रतिकारक होना आवश्यक है। यह कार्य टीका द्वारा किया जा सकता है। इसके लिए एक संयुक्त टीका द्रव्य भी रहता है। यह टीका ८-१० दिन पहले लेना उचित है। अतः मेले के बहुत पहले समाचार पत्रों द्वारा तथा अन्य मार्गों द्वारा जनता को सूचित कर देना चाहिए कि जो मेले में आना चाहते है वे ८-१० दिन पहले इसका टीका लगा ले और साथ उसका प्रमाण पत्र लावें। इसके लिए मेला स्थान के आस पास अनेक प्रदेशों में सरकार द्वारा निःशुल्क टीका का प्रबन्ध होना चाहिए। मेले के स्थान पर आने पर जबरदस्ती टीका लगाने की पद्धति अनुचित है। टीका लगाने पर ८-१० दिन तक शरीर में ऋणावस्था (Negative) होती है जिसमें पुरानी प्रतिकारिता नष्ट होती है और टीकाजन्य उत्पन्न नहीं होती। इस अवधि में यदि विसूचिका-आन्त्रिक आदि का उपसर्ग हो जाय तो रोग बलवत्तर होता है। अतः टीका एक सप्ताह पहले ही लगना उचित है।

मेले में विसूचिका या अन्य संक्रामक रोग उत्पन्न हो जायँ तो मेले को तुरन्त बन्द कर देना चाहिए।

चतुर्दश अध्याय

विद्यालयों का वैद्यकीय निरीक्षण

आजकल प्रत्येक लड़के और लड़की को विद्याभ्यास के लिए पाठशाला या विद्यालय में जाना परिस्थिति के कारण एक आवश्यक कर्म हो गया है। इससे प्रत्येक को अपनी आयु का उत्कृष्टकाल प्रतिदिन ३–५ घण्टे, प्रतिसप्ताह ६ दिन और प्रतिवर्ष ६–८ मास विद्यालयों के भीतर तथा उनके क्रीडाङ्गण में बिताना पड़ता है। इन विद्यालयों में विविध आकृति, प्रकृति और संस्कृति के विद्यार्थी इकट्ठे होते है। यदि विद्यालयीन प्रकाश, प्रवीजन, स्वच्छता, बैठने के आसन इत्यादि के ऊपर तथा विद्यार्थियों के अभ्यास, आचार, आहार, आरोग्य इत्यादि के ऊपर ध्यान न दिया जाय तो सिवा हानि के और कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए विद्यालयों का वैद्यकीय निरीक्षण एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है।

उद्देश्य—(१) सांसर्गिक या औपसर्गिक (Contagious and infectious) रोगों से पीड़ित विद्यार्थियों का पता लगाना जिससे वे रोग औरों में और समाज में अधिक न फैलने पावें।

(२) विद्यार्थियों के शारीरिक दोषों का पता लगाना जो उनके विद्याभ्यास में बाधा उत्पन्न किया करते हैं और उनको दूर करने का यदि हो सके तो, प्रयत्न करना।

(३) शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी के विद्याग्रहण सामर्थ्य का पता लगाना।

(४) विद्यालय तथा उसके सामन्त भाग को पूर्ण आरोग्यप्रद बनाना।

(५) विद्यार्थियों के मातापिताओं या प्रतिपालकों (Guardians) से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करके विद्यार्थियों के दोषों को दूर करने के कार्य में उनका सहयोग प्राप्त करना।

(६) स्वास्थ्यरक्षक अभ्यासों का परिचय करा करके तदनुसार विद्यालयों में कर्माभ्यास कराना और अपने घरों में भी व्यवहार करने की शिक्षा देना।

वैद्यकीय निरीक्षक—(Medical inspectors)—उपर्युक्त उद्देश्यों की सिद्धि के लिए सुशिक्षित चिकित्सकों (वाल रोग तज्ज्ञों) की आवश्यकता होती है जो वद्यकीय निरीक्षण का काम कर सके। साधारणतया ५००० विद्यार्थियों के पीछे एक निरीक्षक पर्याप्त होता है। विद्यार्थियों और विद्यालयों का निरीक्षण उसके मुख्य दो कार्य होते हैं। इसलिए निरीक्षक शरीर परीक्षण का, नेत्र, नासा गला, कान इनके रोगों का तथा मसूरिका, रोमान्तिका, मोतिया शीतला, रोहिणी, कनफेर, कण्ठमाला इत्यादि बच्चों में होनेवाले संक्रामक रोगों का अच्छा तज्ज्ञ होना चाहिए। वैसे ही प्रकाश, प्रवीजन, पानीय जल व्यवस्था, स्वच्छता, पेशावखाना, पाखाना, मोरी-परनाले इत्यादि की दृष्टि से विद्यालयों का निर्माण कैसा हो इसका भी वह ज्ञाता होना चाहिए।

वैद्यकीय निरीक्षकों के कर्तव्य—(१) विद्यालयों में आनेवाले सब विद्यार्थियों की प्रारम्भ में और सत्रान्त में वैद्यकीय जाँच यथानियम और यथा-समय करके प्रत्येक विद्यार्थी के स्वास्थ्य का अभिलेख (Record) तयार करें और वर्ष के अन्त में एक ऐसा वृत्तान्त विद्यालयाधिकारियों के सामने रक्खें कि जिससे विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की वर्तमान स्थिति का ज्ञान तथा स्वास्थ्यसुधार का मार्ग-दर्शन हो जाय।

(२) समय समय पर विद्यार्थियों के खेल कूद, व्यायाम इत्यादि का निरीक्षण करना।

(३) व्याख्यान और निरूपण (Demonstration) द्वारा विद्यालयों के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों में बच्चों के रोगों की पहचान, प्रसार, प्रतिषेध की, शारीरक्रिया विज्ञान की, स्वास्थ्यप्रद आचार-विचार की जानकारी फैलाना, मामूली दुर्घटनाओं के प्रथमोपचार का कर्माभ्यास कराना और व्यायाम खेल-कूद के सामान्य सिद्धान्तों का परिचय करना।

(४) समय समय पर स्वास्थ्य और स्वच्छता की दृष्टि से विद्यालयों और छात्रावासों का निरीक्षण करके उनके गुण दोषों का षाण्मासिक या वार्षिक वृत्तान्त अधिकारियों और प्रतिपालकों के पास भेजना और उनके जो दोष हों उनको दूर करा लेना।

(५) यदि किसी बालक के रुग्ण होने की सूचना मिल जाय तो उसकी जाँच करके उसके सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन करना।

(६) रोग प्रतिबन्धन की दृष्टि से प्रतिवर्ष एक या दो बार विद्यालयों और छात्रावासों के उपसर्ग नाशन की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करके उसके अनुसार उपसर्गनाशन, रंग-सफेदी इत्यादि आवश्यक कार्य करा लेना।

(७) किसी औपसर्गिक रोग के मरकप्रादुर्भाव की सूचना प्राप्त होते ही उसकी जाँच करके उसके प्रतिबन्धन की दृष्टि से आवश्यक कार्यवाही करना।

(८) यदि कोई नया विद्यालय बनता हो तो उसके लिए प्रशस्त स्थान बतलाना तथा विद्यालय-निर्माण के समय प्रकाश, प्रवीजन, स्वच्छता इत्यादि की दृष्टि से उसकी देख रेख करना।

अध्यापकों का भी वैद्यकीय परीक्षण करना। उनके स्वास्थ्य का भी विद्यार्थियों की और विद्यालय की उन्नति पर प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ अध्यापक विद्यालय की अधिक अच्छी सेवा कर सकता है।

वैद्यकीय निरीक्षण प्रपत्र—विद्यार्थियों की वैद्यकीय जाँच में निम्न बातें समाविष्ट करनी चाहिएँ—

(१) सामान्य जानकारी (General information)—नाम, वय, लिंग, जाति, पता, विद्यालय का नाम, निरीक्षण-तिथि, कक्षा। शरीर की ऊँचाई, तोल, विविध अङ्गों के मुख्यतया छाती के प्रमाण या नाप, सहनन (Nutrition), शरीर और बालों की स्वच्छता (जूएं), वस्त्रों की स्वच्छता, पर्याप्तता, पादत्राण।

(२) निजी वृत्त (Personal history)—इसमें बालक पहले कभी किसी औपसर्गिक रोग से पीडित हुआ हो तो उसका वृत्त, टीका, दो बार टीका इत्यादि कुलजवृत्त में राजयक्ष्मादि कुलज (पृष्ठ २१५) रोगों से यदि कोई पीडित हुआ हो तो उसका वृत्त समाविष्ट करें।

(३) अङ्ग परीक्षा—इसमें नेत्र, नासा, गला, कर्ण, दांत इत्यादि का, दृष्टि, श्रवण, भाषण, कृमिदन्त, कण्ठशालूक (Adenoids), तुण्डिकाएँ (Tonsils), मुखश्वसन, मुखदुर्गन्ध इत्यादि की दृष्टि से परीक्षण होता है।

(४) [illegible] —इसमें विषमज्वर, राजयक्ष्मा, कण्ठमाला, अस्थिवक्रता, रक्तक्षय इत्यादि तथा हृदय, फुफ्फुस, यकृत्, प्लीहा इत्यादि के रोग, तिर्यग्दृष्टि, कटे ओठ, फटा तालू, बौनापन, मुद्गरपाद (Talipes) तथा छाती आदि के विरूपविकृताकारों का समावेश होता है।

(५) परीक्षाधिष्ठित मार्गदर्शन—इसमें माता-पिताओं, प्रतिपालकों तथा अध्यापकों के लिए बालकों के संबन्ध में आहार, अभ्यास काल, व्यायाम, खेल कूद, स्वच्छता इत्यादि के बारे में निरीक्षकों को स्वास्थ्योपयोगी सूचनाएँ देनी चाहिएँ। जैसे, यदि कोई विद्यार्थी अस्वास्थ्य के कारण व्यायामक्षम न हो तो उसको खेल कूद तथा व्यायाम से मुक्त करने की तथा यदि कोई विद्यार्थी आँख या कान की खराबी से दूर से देख या सुन नहीं सकता तो उसके समीप बैठाने की सिफारिश करनी चाहिए। इसके साथ साथ विद्यार्थी सूचना और मार्गदर्शन के अनुसार काम कर रहा है या नहीं इसको भी निरीक्षकों को देखना आवश्यक होता है।

(६) अनुसरण पत्रक (Follow-up card)—इसमें विद्यार्थियों में जो दोष या विकार होते हैं वे लिखे हुए रहते हैं और उनके मार्गदर्शनार्थ विशेषज्ञों के पास जाने के लिए तथा उनकी चिकित्सा कर लेने के लिए मार्गदर्शन रहता है। केवल वैद्यकीय परीक्षा व्यर्थ है यदि विद्यार्थियों में पाये जानेवाले रोगों को दूर करने का प्रयत्न न किया जाय।

वैद्यकीय परीक्षण के अनुसार उपरि लिखित प्रपत्र (सारणी) बनाते समय निम्न व्यावहारिक बातों पर भी ध्यान देना चाहिए। जैसे कमरे में प्रवेश करते समय की चाल या गति (Gait), नाम, आयु इत्यादि पूछते समय उसकी मनोवृत्ति तथा मुखचर्या (Facial expression), उत्तर देने की तत्परता या सत्वरता, उत्तर देते समय उसकी श्रवणशक्ति, विशेषतया शब्दार्थ-बधिरता (Word deafness पूछे हुए शब्द का ठीक अर्थ समझकर उत्तर देने की असमर्थता) इत्यादि। वैद्यकीय परीक्षण में नेत्रपरीक्षण में विशेष ध्यान दिया जाय क्योंकि विद्यार्थी के जीवन में नेत्रों पर जितना बोझा पड़ता है उतना दूसरी इन्द्रिय पर नहीं पड़ता। नेत्र परीक्षण में भेंगापन (Strabismus), पक्षाघात (Ptosis), अभिष्यन्द, रोहे (Trachoma), शब्दार्थ अन्धता (शब्द को पढ़कर उसका ठीक अर्थ बताने की असमर्थता Word-blindness) इत्यादि पर ध्यान दिया जाय।

उपसर्गपीड़ितों के प्रति कर्तव्य—जब विद्यालय का कोई विद्यार्थी सांसर्गिक या औपसर्गिक रोग से प्रकट या प्रच्छन्नतया पीड़ित होता है तब उसको विद्यालय में आना बन्द करना चाहिए। रोहिणी, रोमान्तिका, कनफेर, कुकुरखाँसी इन रोगों के लिए इस नियम की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त उस कक्षा के अन्य विद्यार्थियों की जांच इन रोगों की दृष्टि से करनी चाहिए और जो विद्यार्थी उपसृष्ट विद्यार्थी के सदैव समीप बैठते हैं उनके गले का

स्राव जीवाणुओं की दृष्टि से जाँचना चाहिए। केवल यही नहीं, यदि रोगी बालक अपने परिवार में ही रहता हो (भारत में अस्पताल में भेजने का रिवाज कम है) तो परिवार के या (पृष्ठ ३५२) घर के अन्य बालकों को भी पाठशाला में आने से रोकना चाहिए।

शालेयनिरोधन का काल

रोग	उपसृष्ट बालक	परिवार के बालक
रोहिणी	रोगनिवृत्ति के पश्चात् ४ सप्ताह	उसके पश्चात् २ सप्ताह
रोमान्तिका	" ४ "	" ३ सप्ताह
कनफेर	" ३ "	पहले न पीड़ित होनेवालों को ३ सप्ताह
शैशवीय अंगघात	६ सप्ताह	३ सप्ताह
मोतिया शीतला	पपड़ी पूर्णतया उतर जाने के दिन तक	उसके पश्चात् २ सप्ताह
मसूरिका	"	उसके पश्चात् १० दिन
राजयक्ष्मा	ज्वर और खांसी होने पर वन्द करना	वन्द करने की आवश्यकता नहीं है।
कुकरखाँसी	६ सप्ताह या कासनिवृत्ति तक,	पहले न पीड़ित होनेवालों को उसके पश्चात् २ सप्ताह
खुजली, दाद, आँखें उगना	ठीक होने के दिन तक,	वन्द करने की आवश्यकता नहीं

रोगनिवृत्त होने के पश्चात् बालक जब फिर से विद्यालय में आवें तब रोगनिर्मुक्ति का चिकित्सक द्वारा प्रदत्त प्रमाणपत्र जरूर लिया जावे। वैसे ही जब पहले पहल विद्यार्थी विद्यालय में भरती होने आता है तब उसके परिवार में ३ सप्ताह के भीतर उपर्युक्त रोगों से कोई पीड़ित नहीं हुआ इस प्रकार का चिकित्सक से दिया हुआ प्रमाण पत्र लेना चाहिए।

विद्यालय-निर्माण

भवन (Building)—विद्यालय भवन की वास्तु स्वास्थ्यप्रद (पृष्ठ २४४) और सुगम होनी चाहिए। भवन के पास लोहमार्ग या उसके स्टेशन, गिरणियों,

कल-कारखाने, सार्वजनिक बाजार इत्यादि शोरगुल और वातावरण गंदा करनेवाले स्थान न होने चाहिएँ। उसके चारों ओर खुला स्थान तथा चहारदीवारी या तार हो।

यदि उसमें नीचे तलघर (Basement) बनाया जाय तो वह काफी ऊँचा, सुप्रकाशित और सुप्रव्यजित हो। मुख्य भवन दोतल्ला रहे ता अच्छा होता है। विविध कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए आवश्यक कमरों के अतिरिक्त सब विद्यार्थियों के मनोरंजन के लिए एक सार्वजनिक कमरा (Common room) भी होना चाहिए। विद्यार्थियों के इन कमरों के अतिरिक्त प्रधानाध्यापक, उसका कार्यालय, इतर अध्यापक, वैद्यकीय निरीक्षक, व्यायाम इत्यादि के लिए स्वतन्त्र कमरे होने चाहिएँ।

मल-मूत्रोत्सर्गस्थान—ये विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार होने चाहिए। साधारणतया प्रति २० विद्यार्थियों के पीछे १ शौचस्थान और एक मूत्रस्थान होना जरूरी है। यदि भवन दो तल्ला हो तो प्रत्येक तल्ले के लिए इनका अलग-अलग होना श्रेयस्कर है। ये पढ़ने के कमरों से दूर एक ओर अलग होने चाहिएँ और यदि हो सके तो वहाँ तक जाने के लिए सायवान होना चाहिए। इनके पात्र चीनी मिट्टी के, चिकने और सुखमार्जनक्षम हों जिससे उनकी सफाई आसानी से की जा सके। जहाँ पर पानीकल का प्रबन्ध है वहाँ पर इनकी सफाई का प्रबन्ध स्वयजलवहाऊ पद्धति से (Automatic flush) करना ही श्रेयस्कर है। मलमूत्रोत्सर्गस्थानों के पास एक मार्जनगृह भी रखना आवश्यक है जहाँ पर विद्यार्थी मलमूत्र त्यागने के पश्चात् तथा खेल कूद के पश्चात् हाथ पैर मुख इत्यादि की स्वच्छता कर सकें।

गाँवों या कस्बों में मलमूत्रोत्सर्ग स्थानों की सफाई के लिए स्वतन्त्र मेहतर तैनात करने चाहिएँ जो दिन में अनेक वार उनकी सफाई किया करें। यदि हो सके तो मलमूत्र का विनियोग दूषक टंकी की पद्धति से (पृष्ठ २९९) किया जाय।

पानीय जल—प्रत्येक विद्यालय में पीने के पानी का उत्तम प्रबन्ध होना जरूरी है। नगरों में जहाँ पर पानीकल का प्रबन्ध होता है वहाँ पर विद्यालय में पानी की टोंटी लेने से काम हो जाता है। परन्तु जहाँ पर पानीकल नहीं है वहाँ पर इसके ऊपर विशेष ध्यान देना जरूरी होता है। यदि पीने के पानी के लिए कुएँ का उपयोग होता हो तो वह कूँआ आदर्श स्वरूप का (पृष्ठ ३६) हो और समय समय पर उसके जल का रासायनिक तथा रोगाणुओं की दृष्टि से परीक्षण किया

जाय। यदि हो सके तो विद्यालय के अहाते के भीतर गम्भीर नलिकाकूप बनाकर उस पर हाथपम्प लगाना अच्छा है। कुएँ का पानी होने पर या दिन भर का कल का पानी न होने पर विद्यालय में पीने का पानी पात्रों में रखने की आवश्यकता होती है। पानी रखने का स्थान स्वच्छ, मलमूत्रोत्सर्ग स्थान से दूर होना चाहिए। पानी रखने के पात्र ढक्कनदार और टोंटीदार हों जिससे पानी में धूलि इत्यादि न पहुँच सके तथा उसमें पीने के पात्र डुबोने की आवश्यकता न रहे। आजकल इसके लिये पानीय जल स्रोत (Drinking fountain) मिलते हैं, वे दीवाल में लगाये जाँय। इनसे सीधा पानी पी सकते हैं। प्यालों की जरुरत नहीं पड़ती। बच्चों को पानी के लिए यदि प्याले रक्खे जायँ तो पानी पीने के पश्चात् प्रत्येक समय उसकी सफाई होनी चाहिए। एक का जूठा पात्र दूसरे को न लेना चाहिए। इसकी अपेक्षा टोंटी से सीधा पानी पीना अच्छा है। यदि कूएँ का पानी अच्छा न हो या जलवाह्य रोगों के मरक जारी हों तो पानी को उबालकर काम में लाना चाहिए या उसमें नीरजी (पृष्ठ ४५) या अन्य उपसर्ग-नाशक द्रव्य को छोड़ना चाहिए।

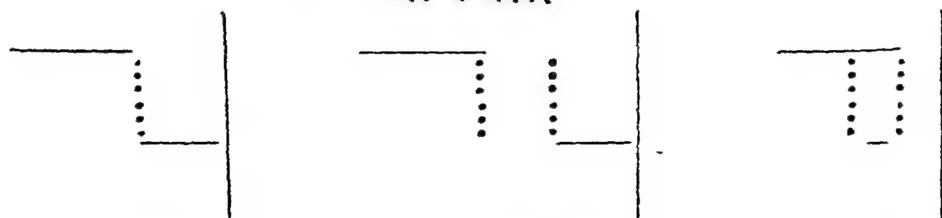
प्रकाश, प्रवीजन और बैठने का स्थान—पढ़ाने के कमरे सुप्रकाशित, सुप्रव्यजित और काफी ऊँचे तथा प्रशस्त होने चाहिएँ।

प्रकाश—विद्यालय के प्रत्येक वर्ग में जहाँ पर पढ़ाई होती है तथा जहाँ पर विद्यार्थी पढ़ते हैं, काफी खिड़कियाँ होनी चाहिएँ जिससे वह सदा-सर्वदा सुप्रकाशित रहे। प्रकाश ऊपर से या बाईं ओर से आना अच्छा है। सामने से आया (पृष्ठ २०७) हुआ प्रकाश आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करता है। यदि विद्यालय रात्रि में भी चलता हो तो कमरों में काफी सख्या में और योग्य स्थानों में विद्युद्दीप होने चाहिएँ। नलिकादीप (Tube light) आँखों के लिये हानिकर सिद्ध हुए हैं। अतः इनका उपयोग न करें। प्रवीजन—पढ़ाई के वर्ग भली भाँति सुप्रव्यजित भी होने चाहिएँ। प्रकाश की दृष्टि से काफी खिड़कियों का और रोशनदानों का होना जैसे आवश्यक है वैसे प्रवीजन की दृष्टि से भी उनका होना आवश्यक होता है। कमरे में प्रत्येक विद्यार्थी को प्रति घंटा १५००–१८०० घनफूट शुद्ध हवा मिलनी चाहिए। यह कार्य तभी हो सकता है जब छत की ऊँचाई १२ फूट हो तथा प्रत्येक विद्यार्थी को १५ वर्गफूट क्षेत्रफल की फर्श मिल जाय। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक कमरे में बैठने वाले विद्यार्थियों की संख्या १५ वर्गफूट के हिसाब से निर्धारित करना चाहिए।

वैठने का प्रवन्ध—इसके लिए वैठक और डेक्स (Desk) का संयुक्त आसन श्रेयस्कर समझा जाता है। परन्तु इन दोनों की ऊँचाई और आपस का अन्तर ठीक होना जरूरी है। यदि डेस्क नीची और वैठक ऊँची हो तो पुस्तक आँखों से वहुत दूर जायगी जिससे विद्यार्थी को पढ़ते या लिखते समय आगे की ओर झुकना पड़ेगा। यदि डेस्क ऊँची हो और वैठक नीची हो तो पुस्तक वहुत समीप आ जायगी और पढ़ना-लिखना ठीक तौर से नहीं वनेगा। आगे झुकने से रीढ़ पर जोर पडकर वह कमजोर और वक्र हो जाती है और छाती सिकुड़कर साँस का काम अच्छी तरह (पृष्ठ १८१) नहीं हो सकता। हृदय पर अधिक वोझ पड़ता है और आँखों पर जोर पड़कर वे कमजोर तथा अदूर दृष्टि (Myopic) हो जाती हैं। साधारणतया लिखने-पढ़ने के लिए पुस्तक १२–१५ इञ्च दूरी पर होना चाहिए। इससे अधिक दूर या समीप होना अच्छा नहीं। इस दृष्टि से वैठक और डेस्क के वीच का अन्तर भी महत्व का होता है। इस अन्तर के अनुसार डेस्क के तीन प्रकार किए जाते हैं। जव डेस्क के वैठक की ओर के किनारे की लम्वरेखा वैठक के किनारे से दूर रहती है तव उसको अधिक (Plus) डेस्क कहते हैं। जव लम्व रेखा वैठक के किनारे से ठीक मिलती है तव उसको शून्य (Zero) डेस्क कहते हैं। जव लम्व

चित्र न० ४३

डेस्क के प्रकार



रेखा वैठक पर आती है तव उसको न्यून (Minus) डेस्क कहते हैं। वैठने की दृष्टि से सर्वोत्तम डेस्क न्यून प्रकार का होता है। वैठक इतनी ऊँची होनी चाहिए कि उस पर वैठने पर विद्यार्थी की जांघें फर्श से समान्तर रहें, उसके पैर फर्श पर ठीक खड़े हो सकें और उसके तलुवे फर्श पर सपाट टिक सकें। डेस्क इतना ऊँचा होना चाहिए कि विद्यार्थी ठीक सीधा वैठकर उस पर अपनी कोहनी और अग्रवाहु आराम से रख सके तथा उसके नीचे के स्थान में अपने घुटने आसानी से हिला सके। डेस्क का ढाल लिखने के लिए १५° और पढ़ने के लिए ४५° अंश का होना चाहिए। आसन में पीछे की ओर पीठ के लिए सहारा होना जरूरी है। यह सहारा मुख्यतया कटिप्रदेश में मिलना चाहिए, इससे अधिक ऊँचा न हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि एक नाप के आसन सबके लिए योग्य नहीं हो सकते। विद्यार्थियों के लिए आसन उनकी ऊँचाई के अनुसार होना जरूरी है। इसलिए बैठने के आसन एक नाप के न बनाकर सब प्रकार के विद्यार्थियों को उपयोगी हो जायँ इस दृष्टि से अनेक प्रकार के बनाये जायँ। आजकल विविधयोज्य (Adjustable) डेस्क मिलते हैं। उनका उपयोग करना उचित है। नीचे ऊँचाई के अनुसार आसन के नाप दिये जाते हैं।

ऊँचाई के अनुसार आसन के नाप

विद्यार्थी ऊँ.	फर्श से बैठक की ऊँ.	बैठक की चौ.	बैठक से डेस्क की ऊँ.
२½–४ फूट	१२ इञ्च	१० इञ्च	८ इञ्च
४–४½ ”	१४½ ”	११ ”	८½ ”
४½–५ ”	१६ ”	१२ ”	९½ ”
५–५½ ”	१८ ”	१३ ”	१०½ ”

कमरे में बैठने के आसन समान्तर होने चाहिएँ। वे खिडकियों से ९० अंश का कोण बनाकर रक्खे जायँ। जिस तरफ विद्यार्थियों को देखना हो उस तरफ की दीवार में खिड़कियाँ न हों, न उस तरफ से प्रकाश आवे क्योंकि उससे विद्यार्थियों को देखने में कठिनाई होती है तथा उनकी आँखों पर अनिष्ट परिणाम होता है।

देखरेख—विद्यालयों में केवल पढ़ाना मात्र ही काम नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यवहार में छात्रों के ऊपर ध्यान देकर उनकी बुरी आदतों को छुड़ाने का और अच्छी आदतों को डालने का प्रयत्न करना चाहिए। पढ़ाई के समय उनके बैठने की पद्धति पर जरूर ध्यान देना चाहिए। वैसे ही इतस्ततः मलमूत्र त्यागना कूड़ा फेंकना और थूकना इनसे उनको रोकना चाहिए। मलमूत्र त्यागने का काम उसके लिए बनाए हुए स्थानों में करना जरूरी है। थूकने के लिए बरामदे के बाहर कोनों में कई जगह प्रांगविक अम्ल युक्त लकड़ी के बुरादे से भरे हुए ष्ठीवनपात्र रक्खे जायँ जिनमें विद्यार्थी थूकें। अध्यापकों को भी विद्यार्थियों के समान इन नियमों का पालन करना जरूरी है। प्रत्येक विद्यार्थी खेल-कूद में भाग लेता है कि नहीं इस पर भी ध्यान रखना चाहिए। विद्यार्थियों को मध्यावकाश में यदि विद्यालय की ओर से जलपान दिया जाता हो तो उस पर और यदि न दिया जाता हो तो जो खोमचेवाले खाद्यपदार्थ बेचने के लिए विद्यालय के पास आते हैं उन पर ध्यान देना जरूरी है।

क्रीडाङ्गण—प्रत्येक विद्यालय के चारों ओर खुला स्थान होना चाहिए। इसका उपयोग खेल कूद के लिए करना चाहिए। विद्यालय के पास क्रीडाङ्गण होने से विद्यालय में प्रकाश प्रवीजन का प्रबन्ध आप से आप अच्छा हो जाता है तथा आस पास की सफाई की ओर ध्यान अधिक रहता है। क्रीडांगण में खेल कूद के विविध साधन पर्याप्त रहें तथा वहाँ पर पानी छिड़कने का भी प्रबन्ध हो जिससे धूल से हवा खराब न हो सके।

छात्रावास—ये भी स्वास्थ्यकर स्थानों में होने चाहिएँ। उनमें प्रकाश, प्रवीजन, मलमूत्रस्थान, स्नानगृह, मोरी-परनाले इत्यादि स्वास्थ्यरक्षक साधनों का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए ६० वर्गफुट स्थान मिलना चाहिए। एक कमरे में एक या दो से अधिक विद्यार्थी न रखने चाहिएँ। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक मेज, एक कुरसी और एक तख्त इससे अधिक सामान कमरे में न होना चाहिए। पुस्तकादि रखने के लिए दीवार में आलमारी होनी चाहिए। छात्रावास के चारों ओर खुला स्थान होना जरूरी है। कमरे एकहरे होने से प्रवीजन अच्छा होता है। इसलिए जहाँ तक हो सके वैसे ही होना श्रेयस्कर है। छात्रावास में कुछ सार्वजनिक कमरे (Common rooms) भी होने चाहिएं, जहाँ पर मनोरञ्जन के कुछ साधन उपलब्ध हों।

छात्रावास के कमरों में २-४ सप्ताह पर एक वार द्वि. द्वि. त्रि या अन्य (पृष्ठ ४८१) कीटक नाशक द्रव्य का फुहारा लगाने का प्रबन्ध हो। रसोई घर की खिड़कियों पर जाली होनी चाहिए ताकि भीतर मच्छर मक्खियाँ न आ सकें। रसोइयों और परोसियों का वैद्यकीय परीक्षण करके स्वस्थ लोग रक्खे जाँय। खाद्यपेय सवाहित रोगों से पीड़ित या वाहक कदापि न रक्खे जाँय। छात्रावास अनुज्ञप्त (Licenced) और अननुज्ञप्त दो प्रकार के होते हैं। अनुज्ञप्त पर विद्यालय या संस्था का नियन्त्रण रहता है और अननुज्ञप्त छात्रावास कुछ लोग अपनी वैयक्तिक जिम्मेदारी पर चलाते हैं जिस पर विद्यालयाधिकारियों का नियन्त्रण नहीं हो सकता। अतः ऐसे छात्रावासों में विद्यार्थियों को न रहने देना चाहिए। इन अनुज्ञप्त छात्रावासों का भी निरीक्षण समय समय पर स्वास्थ्य निरीक्षकों द्वारा होना जरूरी है। इसके अतिरिक्त उनको जो अन्न मिलता है वह सन्तुलित है या नहीं इस पर भी ध्यान देना चाहिए।

रसोईघर छात्रावास से एक ओर कुछ दूरी पर होना चाहिए। वहाँ तक जाने के लिए एक सायवान हो तो अच्छा है। मूत्रस्थान और शौचस्थान दूसरी ओर कुछ दूरी पर होने चाहिएँ। इनकी संख्या विद्यार्थियों की कुल संख्या के

अनुसार काफी होनी चाहिए। इनका प्रबन्ध भी विद्यालय के शौच-मूत्र स्थानों के अनुसार होना चाहिए।

..................विद्यालय

वैद्यकीय निरीक्षण-प्रपत्र

क्रमाक (१९—)

१. विद्यार्थी का नाम.......................... ....कक्षा..............

पिता का नाम..................................व्यवसाय...................

वय... .. ... वर्ष .... मास..........

ऊँचाई........ फी .... इं..............

भार........... पौ............

छाती : (१) साधारण...इं. (२) सांस लेने पर...इं. (३) सांस छोड़ने पर...इं..

बाँह.............इं. नितम्ब...........इं.

प्राणशक्ति (Vital Capacity) हृदयगति.........प्रति मि.

दृष्टि : दाहिनी........... बाँयी..........

२. नेत्र : दाहिना........... बाँया..........

कर्ण : दाहिना........... बाँया..........

दाँत : .... मसूड़े..........

जिह्वा : .... तुण्टिका.........

हृदय........... फुफ्फुस..........

यकृत........... प्लीहा..........

कोष्ठ........... चर्मकान्ति..... ...

आसन (Posture)...........

पदतल (Foot)..............

अन्य कुछ :.................................. ....

३. पूर्ववृत्त : (इसमें विद्यार्थी या उसके माता-पिता यदि किसी रोग या कष्ट से पीड़ित हों या पीड़ित रहे हों तो उसका स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिये। उसी प्रकार उसने यदि कोई विशेष टीका लगवाया हो तो उसका भी उल्लेख रहना चाहिये।)

दिनांक: ....

(वि. चिकित्सक)

.... विद्यालय

वैद्यकीय अनुसरण-प्रपत्र (Follow-up-Card)

क्रमांक : (१९--)

विद्यार्थी नाम .... कक्षा ....

आपकी वैद्यकीय परीक्षा से ज्ञात हुआ कि आप में निम्नलिखित दोष हैं:—

१. ....

२. ....

३. ....

४. ....

५. ....

६. ....

अतः आपसे अनुरोध है कि आप,

... ...

... ...

दिनांक : ... ...

(वि. चिकित्सक)



सूचना:—चिकित्सालय में जाते समय या विद्यालय के चिकित्सक से मिलने के लिये इस प्रपत्र को दिखाइये।

पंचदश अध्याय

मातृरक्षा और बालसंगोपन

माता की महत्ता

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः ।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ महाभारत ॥

माता का स्थान—मनुष्य अपने रहने के लिए जो स्थान बनवाता है उसमें सबसे नीचे नींव (पृष्ठ २४७) होती है, उसके ऊपर चौतरा होता है और उसके ऊपर रसोईघर, सेजघर इत्यादि (पृष्ठ २५०) मनुष्योपयोगी विविध खण्ड बनते हैं। यदि निर्माण के समय नीचे के ये दो अंग देखभाल करके मजबूत बनाए गए हों तो ऊपर का निवासस्थान आसानी से बन जाता है और टिकाऊ भी रहता है। परन्तु यदि निर्माण के समय उनकी ओर ध्यान न देने से वे कमजोर हो गए हों तो उनकी कमजोरी के अनुसार या तो ऊपर का निर्माण असंभव हो जाता है, या निर्माण के समय ही वह गिर सकता है या निर्माण पूरा होने पर उसमें दरार इत्यादि उत्पन्न होने से वह सदा के लिए कमजोर रहकर किसी समय भी गिरने का डर रहता है। इसलिए वासस्थान में स्थैर्य और मजबूती लाने की दृष्टि से निर्माण के समय उसके नीचे के अंगों की अच्छी तरह देख भाल करके उनमें मजबूती उत्पन्न करना प्रत्येक गृहनिर्माता का अत्यन्त महत्त्व का कर्तव्य है। यदि इस प्रकार से देखभाल न की जाय तो गृहनिर्माण का व्यय और परिश्रम व्यर्थ में जाने का डर रहता है।

मनुष्यों के शरीर भी उन्हीं के द्वारा अपनी आत्माओं[1] के लिए बनाए हुए वासस्थान ही होने के कारण उनके भी चूने-मिट्टी के वासस्थानों के समान नींव

---

१. सन्तान में अपना ही आत्मा अवतीर्ण होता है और प्रजानन्तु अविच्छिन्न रखने से आत्मा की परम्परा अटूट रहती है ऐसी भारतीयों की कल्पना है—पुत्र आत्मा मनुष्यस्य । महाभारत ॥ अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादभिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि सजीव शरदा शतम् ॥ श्रुति ॥ तया सह तथाभूतया यदा पुमान् व्यापन्नबीजो मिश्रीभावं

और चौतरे के तौर पर अंग होते हैं और उनके ऊपर शरीर की मजबूती और तन्दुरुस्ती निर्भर होती है। शरीर की नीव का काम माता और पिता दोनों के द्वारा होता है, जिसका विवरण कुलजता और प्राजननिकी (पृष्ठ २१२) में पीछे हो चुका है। अर्थात् नीव का भी आधा कार्य माता के द्वारा होता है। शरीर का चौतरा केवल माता के द्वारा होता है, क्योंकि केवल उसी के ऊपर बालक के शरीर का निर्माण होता है। इससे यह स्पष्ट है कि भावी पीढ़ी के शरीर-निर्माण में रुपए में बारह आने का काम अकेली माता के द्वारा होता है। परन्तु माता निर्जीव नीव और चौतरे के समान केवल बालक के शरीर का बोझ ढोने का काम नहीं करती, वह रस रक्तादि धातुओं से, हृदयादि अंगों से[1] तथा मन एवं बुद्धि से उसमें सहायता करती है। इसलिए भावी सन्तति के शरीरस्वास्थ्य के लिए ध्यान देने की दृष्टि से अगर किसी एक व्यक्ति की ओर अधिक परिश्रम केन्द्रित करने हो तो माता की ओर परिश्रम केन्द्रित करने चाहिएँ।

मातृरक्षा का महत्व – जैसे किसी वस्तु या व्यक्ति का महत्व उसकी उपस्थिति की अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति से ही अधिक स्पष्ट होता है, वैसे ही मातृरक्षा का महत्व मातृरक्षा करने से होनेवाले लाभों को सामने रखने की अपेक्षा मातृरक्षा न करने से होनेवाली हानियों को सामने रखने से अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसलिए यहाँ पर उसकी अस्पष्ट कल्पना शब्दाङ्कित की जाती है।

शिशु, माता, मृत्युसंख्या—माताओं की रक्षा न करने से गर्भस्राव (Abortion), गर्भपात (Miscarriage), मृतजनन (Still births), जन्म के पश्चात् अत्यन्त

गच्छति तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीर- धात्वात्मा शुक्रभूतो गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेनाभिसंसर्गमेति ॥ चरक ॥ चूने मिट्टी के निर्जीव वासस्थानों में और रसरक्तादि के सजीव वासस्थानों में यह भेद है कि मनुष्य निर्जीव वासस्थान अपने लिए, पुत्रपौत्रादि के लिए तथा इतरजनों के लिए बनवा सकता है। परन्तु सजीव वासस्थान न अपने लिए, न दूसरों के लिए बन सकते हैं, वे केवल अपनी औरस सन्तति के लिए बनते हैं और वे भी प्रत्येक के लिए स्वतन्त्र होते हैं।

१. अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते।
तस्मात्प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवा ॥ वाल्मीकिराम० ॥

यहाँ पर पुत्रशब्द अपत्यदर्शक है। इस प्रकार पुत्रशब्द का प्रयोग किया जाता है— 'इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरिताश्च तौ' इस श्लोक की टीका में अरुणदत्त लिखते हैं— पुत्रशब्दोऽपत्यमात्रोपलक्षणार्थोऽत्र ॥ अष्टाङ्ग हृदयशारीर ॥ १ ॥

दुर्बलता (Debility) के कारण हसे भर में मृत्यु, सहज (Congenital) रोगों और व्यङ्गों की उत्पत्ति और उनके कारण अल्पायु में मृत्यु इत्यादि भावी प्रजा की दृष्टि से अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। भारतवर्ष में वार्षिक मृत्यु सख्या का ⅕ वाँ हिस्सा केवल वर्ष के भीतर के बालकों का होता है। प्रत्येक सहस्र बालजन्मों के पीछे १२६ के कराब (सन् १९४६) बालक एक वर्ष के भातर मरत हैं जिनमें ३३% के करीब बालक जन्म के पश्चात् १ सप्ताह के भीतर और ५०% के करीब एक मास के भातर मर जाते हैं।

शिशु-मृत्यु-संख्या-तुलना

भारत	१२६	अमेरिका	३१
इङ्गलण्ड	३२	स्वाडन	२२

इस भयानक बालमृत्यु के अतिरिक्त मातृ रक्षा न हाने से माताएँ प्रसूतिज्वर (Puerperal sepsis) रक्तक्षय, गर्भापतानक (Eclampsia) तथा अन्य विषमयताओं (Toxaemias) के कारण स्वय मर जाती है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष इस प्रकार लाखों स्त्रियाँ मर जाती हैं, क्योंकि प्रत्येक सहस्र प्रसव के पीछे १५-२५ तक स्त्रियाँ प्रसूतिज्वरादि कारणों से बेमौत मरती हुई शहरों में पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त जो स्त्रियाँ योग्य रक्षा न होने के कारण प्रसवजन्य अन्य कारणों से सदा के लिए रागी, अशक्त और परावलम्बी बनकर ससार सुख भोगने के लिए अयोग्य बन जाती हैं उनको गिनती नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि गर्भधारण, प्रजनन और शिशु संवर्धन जैसे भारी और दुर्घटना पूर्ण कार्य करते समय कुछ माताओं का और बालकों का बलिदान हाना अपरिहार्य है। इसलिए ससार के अत्यन्त उन्नत और सधन देशों में मातृरक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध होने पर भी अनेक माताओं का मृत्यु हो जाता है। परन्तु भारत की तुलना में वहाँ पर उनके मरने का अनुपात केवल चौथाई या उससे भी कम (इग्लंण्ड में १००० जीवित बालक जन्मों क पीछे ३-४) होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि भारतवर्ष में स्त्रियों को प्रजननकालावधि (Child bearing period) में समुचित सहायय देकर उनकी रक्षा की जाय तो लक्षावधि माताओं तथा बालकों का अकाल मृत्यु टल सकता है और अनेक भयानक दौर्बल्यकर रागों से उनका छुटकारा हो सकता है।

मातृरक्षा के तत्व— गर्भधारण और प्रसव ये दोनों कार्य स्त्रीदेह प्रकृति के अन्तर्गत होते हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। परन्तु इनका स्थान विकृति

के बहुत समीप होने के कारण जरा सा व्यतिक्रम होने पर वे तुरन्त विकृत रूप धारण करते हैं। इसलिए किसी प्रकार का व्यतिक्रम न होने देना मातृरक्षा का सामान्य तत्त्व है। प्रत्येक स्थिति में व्यतिक्रम किस प्रकार से हो सकता है तथा हुआ करता है इसकी कल्पना नीचे स्पष्ट की जाती है।

(१) गर्भवती स्त्री के ऊपर अपने पालन-पोषण के साथ-साथ अपने ही शरीर के भीतर बढ़नेवाले गर्भ के पालन-पोषण की जिम्मेदारी होती है। इसलिए संतुलित आहार, शुद्ध जलवायु सेवन, आराम, निद्रा, स्वास्थ्यप्रद घरों में रहना, अन्तर्बाह्य स्वच्छता इत्यादि स्वास्थ्यरक्षा के सामान्य नियमों में गर्भवती[1] स्त्री की दृष्टि से कुछ परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। विशेष करके आहार में बालक की दृष्टि से अनेक पौष्टिक द्रव्यों की आवश्यकता होती है।

(२) प्रसव एक प्रकार का शस्त्रकर्म है जिससे माता और गर्भ का सम्बन्ध-विच्छेद किया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि इसके लिए न शस्त्र की आवश्यकता होती है, न किसी शस्त्रवैद्य की जरूरत पड़ती है, जैसे पके हुए[2] फल या पत्र को निसर्ग पेड़ से अलग कर देता है उसी प्रकार गर्भाशय में परिपक्व हुए गर्भ को निसर्ग गर्भाशय से (माता से) अलग कर देता है। नैसर्गिक जीवन बितानेवाली जङ्गली स्त्रियों में प्रसव का कार्य निर्बाध हुआ करता है, परन्तु अनैसर्गिक जीवन बितानेवाली सभ्य स्त्रियों में प्रसव कार्य निर्बाध करने में निसर्ग असमर्थ हो जाता है और जितनी अनैसर्गिकता अधिक होती है उतनी निसर्ग की असमर्थता भी अधिक हुआ करती है। ऐसी स्त्रियों के प्रसवों में उसका सहायता की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में इसलिए औषधि, वस्त्रयन्त्रशस्त्रादि प्रसवोपकरण, प्रशस्त प्रसूतिगृह, प्रजननकुशल परिचारिका या प्रसाविका तथा प्रसवज्ञ वैद्य (स्त्री या पुरुष) इनकी आवश्यकता होती है।

---

१. कालस्य परिणामेन मुक्त वृन्ताद्यथा फलम्।
प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितु भुवम्॥
एव कालप्रकर्षेण मुक्तो नाडीनिबन्धनात्।
गर्भाशयस्थो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते॥ सुश्रुत॥

२. तस्मादहिताहारान्प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्। साध्वाचारा चात्मान मुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्यामिति॥ पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभयताऽन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या॥ चरक॥

(३) प्रसव[1] के पश्चात् प्रसव के परिश्रमों के कारण, नौ मास गर्भधारण करने के कारण तथा प्रसवकालीन तथा उसके पश्चात् रक्तस्राव के कारण प्रसूता अत्यन्त दुर्बल होती है, कुछ काल तक गर्भाशय व्रणित रहता है और उसको बालक को पिलाना पड़ता है। इसलिए इस अवस्था में उसको पूर्ण आराम, गुह्यांगों की तथा वस्त्रों की स्वच्छता और पौष्टिक सुपाच्य स्तन्यजनक आहार की आवश्यकता होती है। संक्षेप में पौष्टिक और पर्याप्त आहार, उचित काल तक आराम, गर्भवती और प्रसूता के स्वस्थवृत्त और तदनुसार आचरण नियमों की जानकारी, स्वच्छ विशोधित प्रसवोपकरण, प्रजनन कुशल अनुभवी, बिना कारण हस्तक्षेप न करनेवाली परिचारिका या प्रसाविका इत्यादि साधन सामग्री की उपलब्धता मातृरक्षा के सामान्य तत्व हैं।

मातृरक्षा और बाल-संगोपन-आयोजना
(Scheme)

भारतवर्ष अत्यन्त दरिद्री देश होने कारण यहाँ की अधिकसंख्य स्त्रियों को जीविका कमाने के लिए अत्यधिक काम करना पड़ता है। गर्भवती तथा प्रसूता होने पर भी पीछे का काम छूटता नहीं। अस्वास्थ्यकर और अस्वच्छ निवास स्थानों में रहना पड़ता है, खाने के लिए पर्याप्त और पौष्टिक अन्न नहीं मिलता, दूध के अभाव में बच्चों को अधिक काल तक पिलाना पड़ता है और इन सबके ऊपर विषमज्वर जैसे कुछ रोग पीछे लगे रहते हैं। इन सब बातों का परिणाम उनका स्वास्थ्य सदा के लिये खराब रहने में होता है। इसी में जल्दी-जल्दी बच्चे हो जायँ तो कहना ही क्या? प्रत्येक समय माता का स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा अधिक गिरता जाता है और बच्चे भी अधिक कमजोर होते जाते हैं जो कुछ दिनों या मासों में मर जाते हैं और माता भी एक बार काल-कवलित हो जाती है। यदि इन आपत्तियों से राष्ट्र को बचाना हो तो निम्नप्रकार से माता की रक्षा करनी चाहिए—

प्रसवपूर्व रक्षा (Ante natal)—बालक का स्वास्थ्य पूर्णतया माता के स्वास्थ्य पर निर्भर रहता है और माता के अस्वास्थ्य का परिणाम गर्भ पर होता है। इसलिए प्रसवपूर्व काल में उनमें रक्तक्षय, फिरंग तथा जो अन्य विकार हों

---

१. तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा गर्भवृद्धिक्षपितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च। तस्मात्तां यथोक्तेन विधिनोपचरेत्। भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानामभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकावगाहनान्नपानविधिभिर्विशेषतश्चोपचरेत्॥ चरक॥

उनकी उचित चिकित्सा करनी चाहिए। कमजोर स्त्रियों में गर्भ धारण होने पर एक प्रकार की विषमयता (Toxaemia) उत्पन्न होती है जिसका परिणाम अत्यधिक वमन, गर्भापतानक (Eclampsia) इत्यादि भयानक विकार उत्पन्न होने में तथा माता और बालक दोनों की मृत्यु में होता है। इसलिए इस विषमयता के प्रारम्भ का ज्ञान गर्भिणी में कर लेना बहुत जरूरी है जो मूत्र परीक्षा और रक्त पीडन परीक्षा से हो जाता है और यदि मालूम हो जाय तो उसकी चिकित्सा कर सकते हैं। गर्भ अपने पोषण के लिए पूर्णतया माता पर निर्भर रहता है। केवल यही नहीं, माता के आहार पर माता की अपेक्षा उसका अधिकार अधिक रहता है। इसका उत्तम उदाहरण चूना है। गर्भ को हड्डी बनाने के लिए चूने की आवश्यकता होती है। यदि माता के आहार में इसकी पर्याप्त राशि न हो तो बच्चा अपने लिए आवश्यक सब चूना ग्रहण करता है और माता को उसकी कमी हो जाती है जिसका परिणाम अस्थिमृदुता (Osteomalacia) रोग उत्पन्न होने में और आगे चलकर श्रोणी गुहा की हड्डियाँ टेढ़ी होने में होता है। इस प्रकार की टेढ़ी हड्डियाँ प्रसव में बाधा उत्पन्न करती हैं जिसके कारण माता और बालक दोनो का मृत्यु हो जाता है। सात्मीकरण और प्रचूषण के लिए जीवतिक्ति घ (पृष्ठ ७१) की आवश्यकता होती है। यदि चूना और जीवतिक्ति घ की माता के आहार में कमी हो तो बालक में हड्डियाँ तथा दाँत ठीक नहीं बनते हैं और अस्थि वक्रता (Rickets) और कृमिदन्त नामक रोग उत्पन्न होते हैं। गर्भिणी को आहार द्रव्यों के द्वारा अधिक अयस् (Iron) की भी आवश्यकता होती है क्योंकि गर्भ उसका अयस् लेकर अपने यकृत् में संगृहीत करता है। यदि अयस् की कमी आहार में रहे तो गर्भिणी में रक्तक्षय उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त क (उपसर्गनाशक) ख इत्यादि जीवतिक्तियों की भी अधिक आवश्यकता होती है। इनके न होने से प्रसूतिज्वर, गर्भपात, गर्भस्राव इत्यादि माता और बालक का नाश करनेवाली आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए माता को जिस प्रकार पौष्टिक पर्याप्त आहार मिले इस प्रकार का प्रबन्ध करना चाहिए। प्रसवकाल के पहले कुछ काल तक अत्यधिक शारीरिक परिश्रम से गर्भपात का डर रहता है। इसलिए उनको काम से छुट्टी (पृष्ठ २५८) मिलनी चाहिए। संक्षेप में प्रसव पूर्वकाल में गर्भिणी को पौष्टिक आहार मिलने का, रक्तक्षयादि विद्यमान रोगों के निदान और चिकित्सा का, उसके रक्त, मूत्र और अपत्य मार्ग की जाँच का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। इस प्रकार का प्रबन्ध होने से बेमौत मरनेवाली असंख्य माताओं की तथा उनके बालकों की रक्षा हो जायगी।

माता का परीक्षण—स्वास्थ्य अभ्यागता या प्रसाविका के द्वारा प्रतिमास एक बार प्रत्येक गर्भवती स्त्री का परीक्षण माता और बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर होता है। यह परीक्षण का कार्य प्रसवपूर्व नैदानिकी (Prenatal clinic) में या उसके घर में किया जा सकता है। इनमें कुछ परीक्षण के कार्य उसके घर में करना ही उचित होता है क्योंकि उससे उसके घर की परिस्थिति तथा पर्यावरण का पता (Environmental Conditions) लग जाता है।

वैद्यकीय परीक्षण—इन सर्वसाधारण परीक्षणों में वैद्यकीय परीक्षण होना जरूरी है। प्रथम पूर्ण वैद्यकीय परीक्षण गर्भावस्था के ६–१६ सप्ताह के बीच में हो। इसका उद्देश्य स्त्री गर्भधारण और प्रसव का भार सहन करने के लिए योग्य है या नहीं, उसमें फिरंग, यक्ष्मा, विषमयता, रक्तक्षय इनमें से कोई विकार है या नहीं इसका पता लगाना तथा उसको आहार-विहार, आचार-विचार के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन करना यह होता है।

दूसरा वैद्यकीय परीक्षण ३२–३६वें सप्ताह में किया जाय। इसका उद्देश्य माता के उदरपरीक्षण से गर्भगति (Presentation) तथा गर्भांग स्थिति या गर्भासन (position) मालूम करने का और उसके साथ यदि उसमें प्रसव की दृष्टि से कुछ अदल-बदल करने की जरूरत हो तो उसको प्रसाविक हस्तकर्मों द्वारा (Obstetric manipulations) ठीक करने का होता है।

तीसरा वैद्यकीय परीक्षण ३८–३९वें सप्ताह में अर्थात् ठीक प्रसवपूर्व होता है। इसका उद्देश्य प्रसव सुरक्षित होने की दृष्टि से गर्भशीर्ष और श्रोणि (Pelvis) इनके नाप में कोई बेमेल तो नहीं है इसको जानने का होता है।

इन परीक्षाओं के लिए प्रयोगशाला तथा प्रसाविक यन्त्रोपकरण की आवश्यकता होती है जो घर में नहीं प्राप्त हो सकती। अतः ये परीक्षाएँ प्रसवपूर्व नैदानिकी में की जाँय।

प्रसवकालीन (Natal) रक्षा—प्रसूति के समय प्रशस्त, स्वच्छ, स्वास्थ्यकर प्रसूतिगृह, प्रजननकुशल परिचारिका, शुद्ध वस्त्र पात्र तथा अन्य सामग्री और यदि जरूरत पड़े तो प्रसवज्ञ स्त्री या पुरुष चिकित्सक इत्यादि की आवश्यकता होती है। गरीबों में इससे विपरीत स्थिति होती है। प्रसव का कमरा अँधेरा,[1]

---

१. प्रसव के लिए गन्दी दाई और गन्दा कमरा प्रयुक्त करने का जो रिवाज हमारे यहाँ दिखाई देता है वह हमारे अज्ञान का फल है। आयुर्वेद में इसके लिए आदर्श दाई और स्थान बताए गए हैं। दाई–अहतवाससो (शुद्ध वस्त्रवाली) [illegible]. प्रियदर्शना:

गन्दा, हवाबन्द और बहुत छोटा रहता है, दाई अत्यन्त गन्दी, अज्ञानी और बिना कारण प्रसव की नैसर्गिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करनेवाली होती है और वस्त्र-पात्रादि साधन सामग्री अत्यन्त गन्दी रहती है। इन सब बातों का परिणाम माता में प्रसूतिज्वर और बच्चों में नेत्राभिष्यन्द और तज्जन्य अन्धता (पृष्ठ ५२९) तथा धनुर्वात जैसे भयानक रोग उत्पन्न होने में होता है। अतः इस अवस्था में माता की रक्षा करने की दृष्टि से अल्पदाम में या मुफ्त में प्रशस्त प्रसूतिगृह, प्रजननकुशल परिचारिका, निर्जीवाणुक वस्त्रपात्रादि साधन सामग्री तज्ज्ञ चिकित्सक इत्यादि के मिलने का प्रबन्ध होना जरूरी है।

प्रसवोत्तर (Post-natal) रक्षा—प्रसव के पश्चात् माता को ६ से १२ सप्ताह तक पूर्ण आराम की आवश्यकता होती है। गरीबी के कारण बहुतेरी स्त्रियाँ आराम नहीं ले सकतीं जिससे उनका स्वास्थ्य खराब होता है और गर्भाशयभ्रंश, उसकी अनुसवृति (Subinvolution ठीक संकुचित न होना), अत्यार्तव इत्यादि अनेक गर्भाशय के विकार उत्पन्न होते हैं जो भावी प्रसूति में बाधा उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था में अन्तर्बाह्य स्वच्छता की भी बहुत आवश्यकता होती है जिसके लिए स्वच्छ कपड़ों की जरूरत पड़ती है। बच्चे को पिलाने के लिए तथा अपना गिरा हुआ स्वास्थ्य फिर से प्राप्त करने के लिए दूध तथा अन्य पौष्टिक द्रव्यों की आवश्यकता होती है। यदि पर्याप्त स्तन्य न आता हो तो बच्चे को भी शुद्ध पवित्र दूध की आवश्यकता होती है। बच्चे को पिलाने की उचित पद्धति का ज्ञान भी आवश्यक होता है। इस अवस्था में बच्चे के अधिकतर रोग उसको ठीक तौर पर न पिलाने से हुआ करते हैं। यदि बाहर का दूध पिलाना हो तो उसकी मात्रा, मिश्रण करने की पद्धति, कूपी की सफाई इत्यादि का ज्ञान आवश्यक होता है। इसलिए इस अवस्था में आराम की दृष्टि से वेतन के साथ छुट्टी मिलने का, सस्ते दर से दूध मिलने का, यदि आवश्यक हो तो कौमारभृत्यकुशल परिचारिका या चिकित्सक मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए।

बाल-संगोपन-केन्द्र (Child welfare centre)—इस आयोजन को कार्यान्वित करने के लिए स्थान स्थान पर बाल संगोपन केन्द्र स्थापित करने

परिणतवयसः प्रजननकुशलाः (गर्भनिष्कासन में चतुर) प्रगल्भाः कृत्तनखाः (स्वच्छ हाथ करके), स्त्रियः सूतिका पर्युपासीरन्। अष्टांगसंग्रह ॥ सूतिकागार और कुमारागार कैसा होना चाहिए इसके लिए पृष्ठ २४५ की पादटिप्पणी देखो।

चाहिएँ। इन केन्द्रों में एक अध्यक्ष होना चाहिए और ऐसा होना चाहिए कि जिसने कौमारभृत्य का विशेष अभ्यास और अनुभव प्राप्त किया हो। उसके नीचे अनेक स्वास्थ्य अभ्यागत (Health visitors) स्त्रियाँ होनी चाहिएँ। इनके नीचे अनेक परिचारिकाएँ या प्रसाविकाएँ (Midwives) होनी चाहिएँ। काम करने के लिए एक कार्यालय होना चाहिए जहाँ पर एक प्रशस्त प्रशाल (Hall) में प्रसूति और बाल-संगोपन की दृष्टि से उपयोगी अनेक चित्र, नक्शे हों, जहाँ पर सब स्त्रियाँ अपने बच्चों के साथ आकर आपस में मिल सकें तथा कार्यालयाध्यक्ष तथा उनकी सहायक इनके साथ सलाह मशविरा कर सकें। वहाँ पर समय समय पर व्याख्यानों और निरूपणों के द्वारा माताओं को मातृरक्षा और बाल-संगोपन के सामान्य मूलभूत नियमों की जानकारी कराने का प्रबन्ध होना चाहिए। इसके अतिरिक्त गर्भिणी और उसके विकारों का निदान तथा उपचार का भी प्रबन्ध वहाँ पर होना चाहिए। यदि हो सके तो सूतिकागार भी रक्खा जाय जहाँ पर प्रसव के लिए माताएँ प्रविष्ट करके १५ दिन रक्खी जा सकें और उनका सब प्रबन्ध किया जा सके।

केन्द्र के कार्य—(१) प्रतिवर्ष एक बार बाल प्रदर्शनी (Baby show) की आयोजना करके सर्वोत्तम बालकों को पारितोषिक देना।

(२) गर्भवती और प्रसूता का आहार विहार, अन्तर्बाह्य स्वच्छता, बालरक्षा, स्तन्यपान या दुग्धपान इत्यादि के सम्बन्ध में उचित यम-नियमों का विवरण करने वाली हस्त पत्रिकाएँ या पुस्तिकाएँ छपवाकर मुफ्त में या अत्यल्प दाम में उनको जनता में बाँटना।

(३) बालिका विद्यालयों और महाविद्यालयों में मातृरक्षा और बालसंगोपन का विषय उनके अभ्यास क्रम में रखने का और यदि न हो तो उसको पढ़ाने का प्रबन्ध करना।

(४) नगर के विविध महल्लों में तथा केन्द्र के अधिकार क्षेत्र के भीतरी विविध गाँवों में तथा कस्बों में इस विषय के सम्बन्ध में लोकप्रिय उपयुक्त व्याख्यान और निरूपण मायादीप के साथ देने का प्रबन्ध करना। इसके अतिरिक्त प्रान्त के आकाशवाणी केन्द्र पर देहाती कार्यक्रम पर इस प्रकार के व्याख्यान देना।

(५) जो माताएँ केन्द्र में विचार विमर्श के लिए या चिकित्सा के लिए आयँगी उनको ठीक रास्ता बताना तथा उनकी और उनके बच्चों की जाँच करके चिकित्सा का प्रबन्ध करना।

(६) सुसज्ज प्रसूतिगृह स्थापित करके प्रसव के लिए १५ दिन माताओं को रखने का प्रबन्ध करना।

(७) जो माताएँ केन्द्र में नहीं आ सकतीं और इनकी ही संख्या बहुत अधिक होती है उनको उनके घरों पर सब प्रकार से सहायता करने के लिए स्वास्थ्य अभ्यागताओं और प्रसाविकाओं (Midwife) को तयार करना और मुफ्त में या अल्पदाम पर प्रत्येक माता को ये जिस प्रकार प्राप्य हो सकें उस प्रकार का प्रबन्ध करना।

(८) माताओं को तथा बच्चों को शुद्ध गौ का दूध केन्द्रद्वारा मुफ्त में या अल्पदाम में मिलने का प्रबन्ध करना। दूध के अतिरिक्त बच्चों को खाने-पीने की अन्य वस्तुओं का भी इसी प्रकार प्रबन्ध करना।

(९) अत्यन्त दरिद्री स्त्रियों को पौष्टिक भोजन या सिद्धान्न मिलने का प्रबन्ध करना।

(१०) स्वास्थ्य अभ्यागताओं के द्वारा केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में प्रत्येक घर की गर्भवती स्त्री को सहायता मिल रही है कि नहीं, प्रसाविकाएँ अपना कार्य ठीक कर रही हैं कि नहीं इसकी देखभाल करना।

स्वास्थ्य अभ्यागत सेवा (Health Visitors' service)—ये प्रसूति तन्त्र और कौमारभृत्य विषय की तज्ज्ञ और जहाँ तक हो सके वैद्यकीय उपाधिप्राप्त होनी चाहिएँ। प्रत्येक ५०० जन्म के पीछे एक के प्रमाण इनकी संख्या होनी चाहिए। अपने अधिकार क्षेत्र के प्रत्येक घर में जाकर गर्भवती स्त्री को गर्भावस्था और प्रसूतावस्था के स्वास्थ्य रक्षा के नियमों को बताना; अन्तर्बाह्य स्वच्छता, शुद्ध वायु सेवन, स्तनपान (Breast feeding) इत्यादि की महत्ता उनके सामने रखना; उनकी मामूली शिकायतों के लिए पथ्य और घरेलू औषधियाँ बताना; बाल संगोपन के सामान्य नियम, बाहर का दूध हो तो दूध तयार करने की पद्धति, देने का समय, कूपी की सफाई इत्यादि विषयों का ज्ञान कराना; प्रसव के समय प्रसाविका की देखरेख और यदि आवश्यक हो तो उसको सहायता करना, प्रसव के पश्चात् एक वर्ष भर समय समय पर घर पर जाकर माता और बालक की देखभाल करना ये इसके प्रधान कार्य होते हैं।

प्रसाविका सेवा (Midwifery Service)—प्रत्येक स्त्री को प्रसव के समय दूसरी स्त्री की सहायता की आवश्यकता होती है। सब स्त्रियाँ यह कार्य नहीं

कर सकतीं क्योंकि इसके लिए प्रसव प्रक्रिया का ज्ञान,[1] हस्तकौशल, स्वच्छता, शौर्य, विषादाभाव इत्यादि अनेक गुणों की आवश्यकता होती है जो प्रत्येक स्त्री में नहीं मिल सकते। इसलिए एवंगुणविशिष्ट प्रसाविकाएँ केन्द्र में सदैव रहनी चाहिएँ और गरीबों को मुफ्त, मध्यम वर्ग को अल्प वेतन पर तथा धनी लोगों को उचित वेतन पर प्रसव के लिए मिलनी चाहिएँ। इस कार्य के लिए बहुत अधिक प्रसाविकाओं को तयार रखने की जरूरत पड़ेगी। केन्द्र इतनी प्रसाविकाओं को नहीं रख सकेगा। इसलिए जो स्त्रियाँ यह व्यवसाय करती हैं उनका उपयोग कर लेना अच्छा है। इनमें अधिकसंख्य नीच जाति की कुसाविकाएँ (Quack midwives) होती हैं। उनको उचित शिक्षा प्रदान करके समाजोपयोगी बनाने का कार्य केन्द्र के द्वारा होना चाहिए। प्रसाविकाओं की शिक्षा में स्वच्छता और प्रसव में अनावश्यक हस्तक्षेप न करना इन दो बातों पर जोर देना चाहिए तथा प्रत्येक को साबुन, नख कूर्च (Nail brush), कैंची, नाल बन्धन के लिए कौशेयसूत्र इत्यादि उपकरण एक पेटिका में देकर उनका योग्य उपयोग कैसे किया जाय इसका कर्माभ्यास उससे करवाना चाहिए। कुसाविका के कारण माताओं में प्रसूतिज्वरादि और बालकों में धनुर्वातादि भयानक रोग उत्पन्न होकर उनका मृत्यु होता है।

केन्द्र का कार्य सुचारु रूप से चलने के लिए मुक्त हस्त से पैसा खर्च करने की आवश्यकता होती है। यह कार्य शासक या धनी लोग कर सकते हैं। परन्तु कार्य सफलता प्राप्त होने के लिए अनुराग और सहानुभूति होनी चाहिए। इसलिए नियुक्ति करते समय जिनको इस कार्य में नैसर्गिक अनुराग या प्रेम है उन्हीं को पसन्द करना चाहिए।

---

(१) प्रसव में भी शस्त्र कर्म (पृष्ठ ५७७) के समान रक्त दिखाई देने के कारण शौर्य (ढाढस) और क्लेशसहिष्णुता की आवश्यकता होती है। जब से ये दोनों गुण लिखे पढ़े उच्चवर्णों के स्त्री पुरुषों में नष्ट हुए हैं तब से शल्यतन्त्र और प्रसूतितन्त्र उनके हाथों से निकल अनपढ़ अस्वच्छ नीच जातियों के स्त्री पुरुषों के हाथों में चले गए हैं। इससे इन शास्त्रों की अवनति हुई और असंख्य स्त्री पुरुष बालक रोगग्रस्त होकर मरने लगे। प्रसाविका के लिए अनुराग की भी आवश्यकता होती है। चरक में इनके (पृष्ठ ५७९ की पाद टिप्पणी भी देखो) आदर्श लक्षण दिए हैं—सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिष्ण्वोऽभिमताः । चरक ॥

दिवा बाल रक्षा घर (Day nurseries or creches)—कल कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों को दिन में अपने छोटे बच्चों को घर पर अकेले छोड़कर आना पड़ता है। इससे वे बच्चे माता के दूध और देख-भाल से वञ्चित होते हैं। इससे उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। कुछ माताएँ बच्चा घर में न रोवें और किसी को तक्लीफ न दें, इसलिए लाचार होकर उनको अफीम खिलाती हैं। इससे उनका स्वास्थ्य और गिर जाता है। इस आपत्ति को दूर करने लिए कारखानों के पास काम के समय में बाल रक्षा घर होने चाहिएँ। इन घरों की देखभाल करने के लिए तज्ज्ञ परिचारिकाएँ होनी चाहिएँ। यहाँ पर स्त्रियाँ काम के समय बच्चों को छोड़ सकती हैं यदि हो सके तो बीच-बीच में आकर उनको स्वयं पिला सकती हैं। वहाँ पर ठीक समय पर दूध पिलाने का प्रबन्ध होना चाहिए। यहाँ पर बालक अच्छे सुप्रकाशित और सुप्रव्यजित स्थान में रहने के कारण, अफीम से बचने के कारण और ठीक समय पर खाना पीना मिलने के कारण अच्छी तरह परिवर्धित होंगे। बालसगोपन की दृष्टि से प्रत्येक कारखानों के पास बालरक्षा घर का होना इसलिए अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य देशों में इसका व्यवहार आजकल बहुत हो रहा है।

षष्ठदश अध्याय

जीवनसांख्यिकी

(Vital statistics)

जीवन-सांख्यिकी मनुष्यों के जीवनेतिहास का संख्या शास्त्र है जिसमें हवा, आरोग्य, अनारोग्य, मृत्यु इत्यादि अनेक जीवन विषयक घटनाओं का विचार किया जाता है इसके लिए सबसे पहले विचारणीय क्षेत्र के भीतर के सब लोगों की निर्दोष गिनती होनी चाहिए। उसके पश्चात् सम्पूर्ण जन्मों का तथा मरण और आयु के साथ मरणों का ठीक पञ्जीकरण (Registration) होना चाहिए। इन तीनों के आधार पर जीवन विषयक अन्य घटनाओं का विचार कर सकते हैं। जीवनसांख्यिकी का उपयोग अत्यन्त छोटे वृन्द, वर्ण या जाति से लेकर बड़े-बड़े देश या राष्ट्रों के लिए किया जाता है और उससे उनके आरोग्य, देशसात्म्य (पृष्ठ ३३४) तथा परिस्थितिसात्म्य का पता चल जाता है। भारतवर्ष में पहले पहल जनगणना का काम १८७१ में हुआ और उसी के साथ जन्म मृत्यु पञ्जीकरण भी प्रारम्भ हुआ। परन्तु अज्ञान, शैथिल्य, विचार वैचित्र्य, संशयवृत्ति इत्यादि के कारण इसमें अभी तक भी निर्दोषता न आ सकी। इसलिए जीवन-सांख्यिकी के आधार पर भारतीयों की स्थिति के सम्बन्ध में जो अनुमान निकाले जाते हैं, वे उतने अचूक नहीं हो सकते जितने होने चाहिएँ।

जनसंख्या विवरण

जनसंख्यागणन (Estimation of population)—जीवन सांख्यिकी का मूलाधार जनसंख्या है। जन्ममृत्यु अनुपात निकालने में जनसंख्या हर (Denominator) का स्थान लेती है। प्रत्येक स्थान की जनसंख्या प्रतिदिन बदलती रहती है, इसलिए १ जुलाई के दिन जो संख्या होती है वह सब कामों के लिए ग्रहण की जाती है और उसको मध्यम जनसंख्या (Mean population) कहते हैं। जनसंख्या निकालने की निम्न पद्धतियाँ हैं—

(१) प्रत्यक्ष लोगो की गिनती करके—प्रत्येक दस साल के पश्चात् इस प्रकार गिनती की जाती है। इसका दिन १ एप्रिल होता है। इसका प्रारम्भ १८७१ में हुआ और पिछली गणना १९५१ में हुई।

(२) आवागमन पर—एक बार किसी स्थान की जनसंख्या मालूम होने पर भीतर आनेवाले (Immigrants) और बाहर जानेवाले (Emigrants) की तथा जन्ममृत्यु की पञ्जिका (Register) से किसी दिन की जनसंख्या उनकी न्यूनाधिकता को मूलसंख्या से घटाने बढाने पर मालूम की जा सकती है। यह पद्धति इङ्गलैण्ड जैसे छोटे-मोटे टापू के लिए व्यवहार्य है।

(३) जन्म अनुपात के आधार पर—इसके लिए जिस वर्ष की जनसंख्या निकालनी हो उस वर्ष के भीतर के जन्मों की संख्या और पिछले १० वर्ष के भीतर का औसत जन्म अनुपात इन दो आँकडों की आवश्यकता होती है। उसके पश्चात् निम्न सूत्र से जनसख्या निकाली जा सकती है—

$$\text{जनसख्या} = \frac{\text{वार्षिक जन संख्या} \times १०००}{\text{दशवार्षिक औसत जन्म अनुपात}}$$

मान लीजिये कि १९२६–१९४५ के दस साल की औसत जन्म अनुपात प्रतिसहस्र ४० है और १९४६ की कुल जन्म सख्या ८०० है तो १९४६ में जनसंख्या

$$\text{जनसंख्या} = \frac{८०० \times १०००}{४०} = २०००० \text{ होगी}$$

(४) समान्तर श्रेणी पद्धति (Arithmetrical progression method)—इसमें दशवार्षिक वृद्धि के आधार पर एक वार्षिक औसत वृद्धि निकाली जाती है और उतनी संख्या प्रतिवर्ष मिला करके अभीष्ट वर्ष की जनसंख्या मालूम की जाती है। मान लीजिये कि १९२१ में किसी नगर की जनसख्या २० सहस्र है और १९३१ में वह २५ सहस्र हो गयी तो वार्षिक संख्यावृद्धि $\frac{५०००}{१०} = ५००$ हुई। यदि १९२५ की जनसख्या मालूम करना हो तो प्रत्येक वर्ष की ५०० के हिसाब से २००० की संख्या १९२१ की जनसख्या में मिलाने से १९२५,१ एप्रिल की जनसंख्या (२७०००) होगी। यदि मध्यवर्ष की निकालनी हो तो $\frac{१}{४}$ वर्ष की १२५ संख्या उसमें और (२७१२५) मिलाना चाहिए।

(५) गुणोत्तर श्रेणी पद्धति (Geometrical progression method)—इस पद्धति में भी पिछली पद्धति के समान संख्यावृद्धि निश्चित गति से होती है ऐसा माना जाता है। भेद इतना ही है कि इसमें अभीष्ट वर्ष की जनसंख्या उपर्युक्त पद्धति के

अनुसार साधारण वृद्धिव्याज के समान (Simple interest) न निकाल करके, चक्रवृद्धि (Compound) व्याज के समान निकाली जाती है। इसका अर्थ यह है कि मूल जनसंख्या के ऊपर जो अधिक संख्या प्रतिवर्ष बढती है उसके ऊपर भी मध्य वार्षिक वृद्धि के अनुसार संख्यावृद्धि निकाल कर वह जोड दी जाती है। यह पद्धति गणित पद्धति से अधिक सूक्ष्म है। किसी नगर की जनसंख्या १९११ में ३२००० है और १९२१ में ३६००० हो गयी तो १९३१ में उसकी संख्या गणित पद्धति से ४०००० होगी और इस पद्धति से ४००२५८ होगी। इसको इग्लैण्ड के महापञ्जिकार (Registrar General) की पद्धति कहते हैं कि क्योंकि उसने इसका आविष्कार किया है।

जनसंख्या की घनता (Density of Population)—जनसंख्या की घनता प्रति वर्गमील में रहनेवाले मनुष्यों की संख्या से प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि घनता की निश्चित अस्वास्थ्यजनक मर्यादा नहीं बतायी जा सकती है तथापि भिन्न भिन्न वयोवस्थानुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए जितना स्थान मिलना चाहिए उतना न मिलने पर उसके दुष्परिणाम प्रारम्भ होते हैं और जितनी घनता अधिक, उतने दुष्परिणाम भी अधिक होते हैं। ग्रामों में स्थान की कमी न होने से ये नहीं दिखाई देते, कस्बों में इनका प्रारम्भ होता है और बड़े बडे शहरों में, राजधानियों में, व्यापारी नगरों में ये पराकोटी तक पहुंच जाते हैं।

अतीव जनाकीर्णता के दुष्परिणाम—(१) मर्यादा से अधिक भीड़ होने पर सबसे पहला परिणाम वातावरण दूषित होने में (पृष्ठ १२, २०) होता है और उससे अनेक विकार उत्पन्न होते हैं।

(२) मनुष्य एक दूसरे के बहुत समीप रहने से विन्दूत्क्षेपोत्सर्ग होने (पृष्ठ ३४५) के अवसर बढ़ते हैं। साधारणतया छींकने से या जोर से खाँसने से श्लेष्मा के विन्दूत्क्षेप ३-४ फूट तक दूर चले जाते हैं। इसलिए जनाकीर्णता बढ़ने पर विन्दूत्क्षेपोपसर्ग से होनेवाले सभी रोग (पृष्ठ ३४५) अधिक हुआ करते हैं।

(३) जनाकीर्णता बढ़ने से दाद, खुजली, नेत्राभिष्यन्द जैसे नासर्गिक रोग (पृष्ठ ३७४) भी बढ़ते हैं।

(४) तन्द्रिक जैसे रोग भी (पृष्ठ ४२७) अधिक भीड से फैलता है।

(५) अत्यधिक जनाकीर्णता का परिणाम कूड़ा-कर्कट तथा अन्य प्रकार की गन्दगी बढ़ने में होकर तद्द्वारा वातावरण के अतिरिक्त स्थली, जल और अनुस्थली जल भी खराब होता है।

(६) जनसंबाधता में ग्रहणशील मनुष्य उपसृष्ट व्यक्तियों के घनिष्ठ संबंध में आकर उनमें विविध औपसर्गिक फैलने की सम्भावना बढ़ती है और सबका परिणाम समाज में मरण बढने में होता है।

(७) आवारा, बदमाश, मद्यपी, चोर इस प्रकार के समाज कंटकों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण औपसर्गिक रोगों के समान ये पातक समाज में बढ़ते हैं।

(८) घनता अधिक होने पर कुटुम्ब निवासों की कमी होती है जिसके कारण अनेक पुरुष अविवाहित रहते है और अनेक विवाहित लोग अपनी पत्नियों को ग्रामों में रख देते हैं। इससे पुरुषों में परदारागमन या वेश्यागमन की प्रवृत्ति बढ़ती है।

(९) निवासों में ज्यादा भीड़ होने से पति-पत्नी को उचित रीति से एकान्तवास करने को अवसर नहीं मिलता। इसके विपरीत पति-पत्नी न होनेवाले स्त्री-पुरुष को छल, कपट से या अन्य तरह से एकान्तवास करने का अवसर मिल जाता है। इससे बाल-बच्चों में लैंगिक प्रवृत्तियाँ और स्त्री-पुरुषों में अनैतिक सम्बन्ध बढते हैं।

संक्षेप में जनाकीर्णता से केवल व्याधियाँ ही नहीं बढ़तीं अपितु अनीतिमत्ता बढ़ती है और यही जनाकीर्णता का सबसे बड़ा अभिशाप है।

जनाकीर्णता सारणी (प्रतिवर्ग मील)

प्रदेश	१९४९	१९५१
आसाम	१८७	१०६
उडीसा	२७१	२४४
उत्तर-प्रदेश	५१८	५२७
पश्चिम-बंगाल	७१०	८०६
पंजाब	३४०	३३८
बम्बई	२७२	३२३
बिहार	५२१	५७२
मद्रास	३९१	४४६
मध्य-प्रदेश	१७०	१६३
मैसूर	२४९	३०८
राजस्थान	१०२	११७
हैदराबाद	१९८	२२७

जन्म-विवरण

जन्मानुपात (Birth-rate)—जन्मानुपात मालूम करने के लिए संपूर्ण जन्मों का पञ्जीकरण (Registration) होना आवश्यक है। इसके लिए कुछ स्थान नियत होने चाहिएँ और उन स्थानों पर माता पिता, प्रतिपालक, पारिवारिक लोग, प्रसाविका अपने सम्बन्ध के सब जन्मों को निश्चित समय के भीतर (साधारणतया ७ दिन) निवेदित करें। मसूरीकार (Vaccinators) तथा नगरपालिका के जमादार इनको अपने भ्रमण के समय इस बात पर ध्यान देना चाहिए और यदि कहीं भूल दिखाई दे तो उसको ठीक करना चाहिए।

संपूर्ण जनसंख्या पर गिने हुए जन्म किसी वश, जाति या राष्ट्र की प्रगति या परागति के सूचक होते हैं, परन्तु उससे उस वशादि के लोगों की प्रजोत्पादन क्षमता (Fertility) का ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि सपूर्ण जनता में बाल और बूढ़े रहते हैं जिनका प्रजोत्पत्ति से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। जन्मानुपात का सम्बन्ध विवाह संस्था, आथिक स्थिति और मौसिम के साथ होता है। बालविवाह, बहुपत्नीकता, विधवा विवाह, आर्थिक अभ्युदय ये जन्मानुपातवर्धक होते हैं और इनसे विपरीत जन्मगतिरोधक होते है। ऋतु का सम्बन्ध भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न दिखाई देता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं होता कि प्रत्येक स्थान में वर्ष के कुछ मास अधिक जन्म के होते हैं।

वार्षिक जन्मानुपात—प्रति सहस्र जनसंख्या के पीछे वर्ष भर मे जन्मनेवाले जीवित बालकों की जो संख्या होती है उसको वार्षिक जन्मानुपात कहते हैं। इसका सूत्र—

$$\text{जन्मानुपात} = \frac{\text{वर्ष भर में जन्मसंख्या} \times १०००}{\text{मध्यम जनसख्या}}$$

यदि किसी नगर की जनसख्या १०००० हो और वार्षिक जीवित जन्मों की संख्या २५० हो तो उपर्युक्त सूत्र के अनुसार वार्षिक जन्मानुपात।

$$\frac{२५० \times १०००}{१००००} = \text{२५ प्रति सहस्र होगा।}$$

यह वार्षिक जन्मानुपात प्रजोत्पादनक्षम तथा अप्रजोत्पादनक्षम स्त्री पुरुष सबके आधार पर निकाला जाता है (पीछे देखिये)। इसलिए इसको कच्चा जन्मानुपात (Crude birthrate) कहते हैं। इससे समाज की फलवत्ता (Fertility) की कल्पना आ नहीं सकती। इसके लिए गर्भधारण योग्य वय की स्त्रियों का विचार

करने की आवश्यकता होती है। जब गर्भधारण योग्य (१५-४५ वय की) प्रति-सहस्र स्त्रियों में उत्पन्न होनेवाले जन्मों के आधार पर जन्मानुपात निकाला जाता है तब उसको साधारण फलवत्ता अनुपात (General fertility rate) कहते हैं। इससे केवल वर्तमानकालीन प्रजोत्पादन क्षमता का पता चलता है, भविष्य काल में वह समाज अपनी संख्या बनाये रक्खेगा या नहीं इसका पता नहीं चलता। इसके लिए प्रतिसहस्र गर्भधारण योग्य वय की स्त्रियों को होनेवाली लड़कियों की संख्या गिनी जाती है। इसको पुनरुत्पादन अनुपात (Reproduction rate) कहते हैं।

जनसंख्या नियन्त्रण—जब मरणानुपात से जन्मानुपात अधिक रहता है तब जनसंख्या बढ़ती है। जब यह संख्या तत्तत्कालीन परिस्थिति से बहुत अधिक होती है और 'भूमि को भार' होने लगता है तब अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, धरणिकंप, जनपदोद्ध्वंसक रोग इत्यादि निसर्गकृत और युद्ध जैसी मनुष्यकृत आपत्तियाँ उत्पन्न होकर उनमें से एक या अनेकों के द्वारा मनुष्यों का संहार होता है और भूमि का भार हलका हो जाता है। माल्थस (Malthus) नामक शास्त्रज्ञ ने यह बताया कि जनसंख्या वृद्धि का परिणाम अन्न की कमी में होता है और उससे रोग, अकाल और आपस में युद्ध होकर आप से आप जनसंख्या कम हो जाती है। इन आपत्तियों को टालने के लिए बुद्धिमान मनुष्यों ने विज्ञान की सहायता से अधिक अन्न की उपज करना, भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न वस्तुओं तथा धान्यों को उत्पन्न करके विनिमय से सबको पर्याप्त धान्य की रसीद पहुँचाना और व्यक्तिगत जनन निरोध करना ये तीन उपाय काम में लाए हैं।

संततिनिग्रह (Birth-control)—जननसंख्या कम करने के जो अनेक उपाय हैं उनमें अविवाह, प्रौढ़ विवाह, ब्रह्मचर्य और गर्भनिरोधक साधनों का उपयोग ये प्रधान उपाय हैं। इनमें प्रथम तीन उपाय बहुत कठिन हैं और लाचारी से काम में लाए जाते हैं। चौथा उपाय विज्ञान की उन्नति के कारण बहुत सरल हो गया है और लोग बहुत खुशी से उसको काम में लाने लगे हैं। आधुनिक शान-शौकत का सभ्य जीवन बितानेवाले अधिकसंख्य लोगों को ख्वाह-मख्वाह उपर्युक्त उपायों को अंगीकार करना पड़ रहा है और उसका परिणाम यूरुप के तथा अन्य देशों के सभ्य लोगों में और उनका अनुकरण करनेवाले भारतीयों में भी जनन-अनुपात मन्द होने में हो रहा है। शानशौकत के जीवन का परिणाम स्त्री पुरुषों की प्रजोत्पादनक्षमता कम होने में भी होता है जो उपर्युक्त उपायों को जननगति मन्द करने में सहायता करता है। इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान की उन्नति के कारण

निसर्गकृत अनेक आपत्तियों के साथ मुकाबला करना मनुष्यों के लिए बहुत आसान हो गया है। परन्तु इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विज्ञान के कारण युद्ध तथा अन्य मनुष्यकृत आपत्तियों की सभावना, गभीरता तथा संहारकता बढ़ गयी है जिसका मुकाबला मनुष्य विज्ञान साथ होते हुए भी निसर्गकृत आपत्तियों के समान आसानी से नही कर सकता।

मृत-जन्म (Still-births)—जन्म के समय जब बालक मरा हुआ बाहर निकलता है तब उसको मृत जन्म कहते हैं। इसका समावेश न जनन में होता है न मरण में। ये स्वतन्त्र लिखे जाते हैं।

मरण-विवरण

मरणानुपात (Death-rate)—जन्मानुपात के समान मरणानुपात मालूम करने के लिए मरे हुए लोगों का ठीक पञ्जीकरण होना जरूरी है। इसमें लिंग, वय और कारणों का भी समावेश होना चाहिए। यह कार्य विशिष्ट कार्यालय के अतिरिक्त श्मशानभूमि और कब्रस्तान पर भी होना चाहिए। मरणानुपात से किसी जाति, देश या राष्ट्र की आरोग्यविषयक स्थिति का अनुमान किया जाता है। भारतवर्ष का मरणानुपात अन्य देशों के मुकाबले में बहुत अधिक है, क्योंकि यहाँ पर विसूचिका, प्लेग, मसूरिका इत्यादि रोग हमेशा जानपदिक रूप धारण करते है, आन्त्रिक जैसे रोग स्थानपदिक हो गए है और इनके अतिरिक्त विषमज्वर, कालाजार, राजयक्ष्मा इत्यादि उष्ण कटिबन्ध और शीत कटिबन्ध के अनेक रोग अपने पैर जमा करके रह गए हैं।

जन्मानुपात के समान मरणानुपात प्रति सहस्र जनसख्या के पीछे गिना जाता है। इसको भी कच्चा मरणानुपात (पृष्ठ ५८९) कहते हैं—

$$\text{वार्षिक मरणानुपात} = \frac{\text{वर्ष की मरणसंख्या} \times १०००}{\text{मध्यम जनसख्या}}$$

निवास के लिए संस्कार (Correction for residence)—मरणानुपात वस्तुतः अनुपात (Ratio) होने के कारण मरनेवाला मनुष्य अश (Numerator) और हर दोनों में आना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जिस स्थान में उसका जन्म दर्ज हुआ या उसके पश्चात् के दसवार्षिक जनसख्यान (Census) में जिस स्थान मे उसका नाम दर्ज हुआ उस स्थान में उसका मृत्यु भी दर्ज होना चाहिए। अन्य स्थान में मरने का आपत्ति प्रवासियों पर आ सकता है। परन्तु इसकी

अपेक्षा वन्दियों पर यह आपत्ति अधिक आती है जो प्रायः दूसरे जिलों या प्रान्तों में स्थानान्तरित किये जाते हैं। वैसी ही स्थिति वड़े-वडे रुग्णालयों के रोगियों की होती है जो शस्त्रकर्म या विशेषज्ञ की चिकित्सा के लिए अपने स्थान छोड़कर प्रसिद्ध रुग्णालयों के स्थानों मे चले जाते है। वैसी ही स्थिति काशी जैसे वड़े तीर्थ स्थानों के अनेक निवासियों की होती है जो मरने के लिए अपना स्थान छोड़कर वहाँ रहते है। इसका तात्पर्य यह है कि मरनेवाले मनुष्य का पञ्जीकरण मरने के स्थान में तथा जहाँ से वह आया वहाँ पर भी होना चाहिए। इस प्रकार मृत मनुष्य के पञ्जीकरण में स्थानान्तर करके जो गति निकाली जाती है उसे निवासार्थ सस्कारित मरणगति कहते है।

विशेषक मरणानुपात (Specific death rates)–जव मृत मनुष्यों के लिंग और वय का विचार करके मरणानुपात निकाला जाता है तव उसको लिंग विशिष्ट (Sex-specific) और वय विशिष्ट (Age-specific) मरणानुपात कहते हैं। मनुष्यों की मृत्युसंख्या पर वय का वहुत प्रभाव पड़ता है। वयविशिष्ट मरणानुपात निकालने से पता चलता है कि मरनेवालों में वाल और वूढ़े अधिक होते हैं और नौजवान कम होते है। इङ्गलैण्ड में वयानुसार कम मृत्युसख्या का काल ५-३५ उम्र का और भारत में १०-१५ उम्र का है।

लिंग वयविशिष्ट मरणानपात—स्त्री पुरुषों में वयानुसार मृत्युसंख्या का विचार करने पर पता चलता है कि उनमे वहुत अन्तर रहता है, साम्यता नहीं होती।

लिङ्गानुसार विशिष्ट मरण अनुपात का विचार करने से यह पता चलता है कि प्रथम वर्ष के भीतर मरनेवालों मे लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ कम होती हैं। धीरे-धीरे वालिकाओं का मरण अनुपात वढ़कर ६-७ की अवस्था में वह वालकों के वरावर हो जाता है। उसके पश्चात् उनका मरण अनुपात धीरे-धीरे वालकों की अपेक्षा अधिक होने लगता है जो १५-२० वर्ष की अवस्था में सवसे अधिक होता है। उसके पश्चात् वह धीरे धीरे कम होने लगकर ३५ वर्ष की अवस्था में वालकों के वरावर हो जाता है। उसके पश्चात् वह वालकों के मरण अनुपात से कम हो जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि प्रजोत्पादन की अवस्था में (१५-३५ वर्ष) स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षाअ धिक मरती है।

वार्षिक मरणानुपात के समान साप्ताहिक या मासिक मरणानुपात भी निकाला जाता है, परन्तु उसका उपयोग समाज की स्वास्थ्यविषयक स्थिति का अनुमान निकालने के लिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनेक आकस्मिक

कारणों से मरणानुपात में घट बढ़ हो जाती है। इसका उपयोग पिछले वर्षों के उसी समय के मरणानुपात के साथ तुलना करने के लिए बहुत अच्छा होता है। यदि कुछ बढ़ मालूम हो तो विसूचिका, मसूरिका तथा अन्य उस ऋतु में होनेवाले आकस्मिक कारणों के बारे में जाँच करनी चाहिए।

जीवन सारणी (Life Table)—इससे किसी समाज या देश की मृत्यु-संख्या सम्बन्धी वस्तु स्थिति का पता लगता है। इसका मुख्य उपयोग जीवनांकिक (Actuarial) गणित, जो जीवन बीमा (Insurance) के लिए आवश्यक होता है, में है। फिर भी समाज के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी स्वास्थ्याधिकारियों को होता है। इसमें विविध वय के लोगों में बचनेवालों की सख्या प्रदर्शित की जाती है।

इङ्गलैण्ड और भारत की तुलनात्मक जीवनसारणी (१९३१)

वय	इंग्लैण्ड वेल्स	भारत
०	१०००००	१०००००
१	९२८१४	७५१२६
५	९००६९	६०१६१
१०	८९०२३	५६४६७
१५	८८३६०	५४११२
२०	८७२४५	५१२०३
२५	८५८२४	४७७८७
३०	८४४१६	४३९३१
३५	८२८८५	३९४६१
४५	७८३५७	२९४३९
५५	७००४१	१९४७६
६५	५४८९९	१०७७३
७५	२९६६५	३[illegible]४८
८५	६३७७	३१६
९५	२३२	०
१००	१५	०

उपर्युक्त सारणी से यह स्पष्ट होगा कि भारत में जन्म के पश्चात् ५ वें वर्ष तक ४०% बालक मर जाते हैं और इंग्लेण्ड में केवल १०%। वैसे ही ७५ वर्ष के वय तक भारत में केवल ३·८% बचते हैं और इङ्गलेण्ड में ३०% तक बचते हैं।

मृत्यु संख्या सारणी (Mortality Table)—इसमें वयोवस्थानुसार मरनेवालों की संख्या दी हुई रहती है। नीचे भारतवर्ष की मृत्युसंख्यासारणी दी गयी है। इसमें प्रथम स्तम्भ में वय, दूसरे में लाख जन्मों में उस वय में बचनेवालों की संख्या और तीसरे स्तम्भ में मरनेवालों की संख्या है। परन्तु उसकी खूबी यह है कि प्रत्येक वय के सामने जो मृत्यु संख्या है वह उस वय और उसके नीचे के वय के बीच में मरनेवालों की है। जैसे शून्य वय के सामने २४८७४ संख्या है। यह संख्या जन्म से १ वर्ष वय के भीतर मरनेवालों की है। ५ वें वर्ष के सामने ३६९४ संख्या है वह ५ वे और १० वें वर्ष के बीच में मरने वालों की है।

वय	उत्तरजीवी	मृत
०	१०००००	२४८७४
१	७५१०६	१४९६५
५	६०१६१	३६९४
१०	५६४६७	२३५५
१५	५४११२	२९०९
२०	५१२०३	३४१६
२५	४७७८७	३८५६
३०	४३९३१	५४७०
३५	३९४६१	१००२२
४५	२९८३९	९९६३
५५	१९४७६	८७०३
६५	१०७७२	६९२५
७५	३८२८	३५३२
८५	३१६	३१६
९५	०	

संयुक्त मरणानुपात (Combined death rate)—जब स्वतन्त्र (जैसे स्त्री और पुरुष के या दो भिन्न स्थानों के) मरणानुपातों को मिलाकर दोनों के लिए एक सामान्य मरणानुपात निकाला जाता है तब उसको संयुक्त मरणानुपात कहते हैं। यह मरणानुपात केवल दो मरणानुपातों की औसत लेकर नहीं निकाला

जाता परन्तु दोनों की जनसंख्या का भी उसमें विचार किया जाता है। इसलिए इसका सूत्र निम्न प्रकार का होता है।

$$\frac{\text{जनसंख्या} \times \text{मरणानुपात} + \text{जनसंख्या} \times \text{मरणानुपात}}{\text{जनसख्या} + \text{जनसंख्या}}$$

मान लीजिए कि किसी स्थान में स्त्रियाँ ५०००, पुरुष ६००० हैं और स्त्रियों का मरणानुपात २० और पुरुषों का १५ है तो ११००० की जनसंख्या से मरणानुपात निम्न प्रकार से निकाला जायगा —

$$\frac{५००० \times २० + ६००० \times १५}{५००० + ६०००} = \text{१७·३ प्रति १०००}$$

प्रमापीकृत मरणानुपात—पाँच साल के पहले और ५० साल के पश्चात् मनुष्यों का मरणानुपात औसत (सब वर्षों के) मरणानुपात से अधिक रहता है, तथा ५ और ५० के बीच मे मरणानुपात औसत से कम रहता है। वैसे ही पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का मरणानुपात कुछ मन्द रहता है। इसलिए यदि किसी नगर में बच्चों और बूढ़ों की संख्या अधिक हो तो वहाँ का मरणानुपात कुछ अधिक होगा और यदि स्त्रियों की संख्या अधिक हो तो कम होगा। जब किसी स्थान में लिंग वय का उपर्युक्त वैषम्य होता है तब दूसरे स्थान के मरणानुपात से उस स्थान के मरणानुपात की तुलना करने से पहले कुछ सस्कार करके उस लिंग-वयजन्य वैषम्य को दूर करना पड़ता है। इस प्रकार लिंग-वयजनित वैषम्य को सस्कार द्वारा दूर करके जो मरणानुपात निकाला जाता है उसे प्रमापीकृत (Standardised) मरणानुपात कहते हैं। प्रमापीकरण के लिए इंगलेण्ड और वेलस का आधार लिया जाता है।

शिशु मृत्युसख्या (Infant mortality)—प्रति सहस्र जीवित जन्मों के पीछे १ वर्ष के भीतर के बच्चों की मृत्युसख्या से शिशुमरणानुपात बताया जाता है—

$$\text{शिशु मरणानुपात मृत्यु संख्या} = \frac{\text{१ वर्ष के भीतर की मृत्यु संख्या} \times १०००}{\text{वार्षिक जनमसंख्या}}$$

मान लीजिये कि किसी नगर में साल भर में ६०० जन्म दर्ज हुए हैं और १ वर्ष के भीतर के बच्चे ७५ मर गए हैं तो $\frac{७५ \times १०००}{६००} = १२५$ शिशु मरणानुपात होगा।

अधिकसंख्य वच्चों का मृत्यु अल्पायु में मातृपद, माताओं का अज्ञान, जल्दी जल्दी वच्चे होना, अस्वास्थ्यजनक परिस्थिति, वच्चों का ठीक पोषण न होना, मसूरिका, रोमान्तिका, धनुर्वात इत्यादि के कारण हुआ करता है। इसका अर्थ यह होता है कि अज्ञान, अस्वास्थ्यजनक परिस्थिति, दुष्पोषण, दारिद्रय जहाँ पर अधिक हैं वहाँ पर वच्चों का मृत्यु अधिक होता है और जहाँ पर ये कारण दूर किए जा रहे हैं वहाँ पर इनकी मृत्यु सख्या घटती है। इसलिए किसी स्थान, प्रदेश या देश का शिशुमरणानुपात वहाँ की स्वास्थ्य और सार्वजनिक आरोग्य विषयक स्थिति का द्योतक माना जाता है। वच्चों के मरणानुपात में भारत और मिश्र (Egypt) संसार के सव देशों में अग्रसर हैं।

जन्म-मरण-शिशुमरण-अनुपात की तुलनात्मक सारणी

देश	जन्म अनुपात	मरण अनुपात	शैशवीय मरणानुपात
इंगलैण्ड वेल्स	१५·७	११·६	३०
जर्मनी	१६·२	१०·४	५३
स्वीडन	१६·२	१० ०	२१
स्वीट् जर्लण्ड	१८·१	१०·१	३१
इटली	१९·६	९·८	६३
स्पेन	१९·९	१०·८	६९
फ्रान्स	२०·४	१२ ६	४७
जेकोश्लोवाकिया	२२·१	११·७	८२
आस्ट्रेलिया	२३·३	९·६	२५
अमेरिका	२३·४	९·६	२९
न्यू जीलैण्ड	२४·६	९·३	२३
भारतवर्ष	२५ ५	१६·७	१३७
कनाडा	२६·६	९·०	४१
जापान	२८·४	११·०	६०
लका	४०·३	१२·६	८२
मिश्र	४२·६	२०·३	१३९

व्यवसाय और आयुर्मान—व्यवसाय का मनुष्यों के स्वास्थ्य और आयुर्मान से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। व्यवसाय का स्वास्थ्य और आयुर्मान पर क्या प्रभाव पड़ता है इसको मालूम करने के लिए प्रत्येक भिन्न व्यवसाय में काम करनेवाले लोगों को छाँटकर उनकी मृत्युसख्या निकालनी पड़ती है। भारत में इस प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया, परन्तु विलायत में किया गया है। इससे यह पता चला है कि रूई, सन कागज, खनिज, अम्ल, नेपाली जैसी विषैली धातु इत्यादि के कारखानों में काम करनेवालों में तथा धूप वर्षा इत्यादि में काम करनेवालों में मरणानुपात बहुत तेज होता है। वैसे ही बैठे व्यवसाय करनेवालों का स्वास्थ्य सदैव गिरा रहता है।

विशेष मरणानुपात—जब विविध कारणों के अनुसार मनुष्यों का मृत्यु का अनुपात निकाला जाता है तब उसको विशेष (Special) मरणानुपात कहते हैं। भारतवर्ष में इसके लिए मृत्यु के कारण निम्न ७ भागों में बाँटे जाते हैं—

१ विसूचिका
२ मसूरिका
३ प्लेग
४ ज्वर (विषम, आन्त्रिक, आवर्तक, रोमान्तिका कालाजार तथा अन्य ज्वर
५ अतीसार, प्रवाहिका
६ श्वसन संस्थान के रोग
७ इतरकारण

विशेष मरण-अर्घ सारणी (१९४७)

विभाग	मरण	प्रतिसहस्त्रअर्घ	प्रतिशतता
विसूचिका	१०३१०१	० ४	२.२
मसूरिका	२४५०९	०.१	०.५
प्लेग	७५२७४	०.३	१.६
अतिसार	२०२१०२	०.८	४.३
श्वसन रोग	३७१०४५	१ ५	७.८
ज्वर	२५८७३१९	१०.८	५४.६
इतर	१३७४१५०	५.७	२९.०

व्याधिप्रकरणानुपात—यदि रोगों से मरनेवालों के वय का विचार किया जाय तो कौन रोग किस अवस्था में अधिक घातक होता है इसका ज्ञान होता है। जैसे क्षय से मरने वालों का विचार करने पर यह पता चलता है कि क्षय १५ वर्ष के पश्चात् अधिक घातक होता है और २०–३५ वर्ष के बीच में उसकी घातकता अत्युच्च होती है।

विवाह विवरण

विवाह—विवाह अनुपात प्रतिसहस्र जनसंख्या के पीछे एक वर्ष में होनेवाले विवाहों की संख्या से बताया जाता है—

$$\text{विवाह अनुपात} = \frac{\text{१ वर्ष की विवाह संख्या} \times \text{१०००}}{\text{कुल जनसंख्या}}$$

विवाह अनुपात प्रदर्शित करने की इस पद्धति की अपेक्षा विवाहयोग्य अवस्था के अविवाहित मनुष्यों की संख्या पर निकाला हुआ अनुपात अधिक सूक्ष्म और विश्वसनीय होता है।

हिन्दुओं में विवाह एक आवश्यक धार्मिक संस्कार है जो अल्पावस्था में किया जाता है। इससे हिन्दू पुरुषों में केवल आधे ही अविवाहित रहते हैं और उनमें ३/७ पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के होते हैं। हिन्दू स्त्रियों में केवल १/३ स्त्रियाँ अविवाहित रहती हैं और उनमें ३/७ दस वर्ष से कम और ६/१० पन्द्रह वर्ष से कम उम्र की होती हैं। इङ्गलैण्ड में तथा अन्य पाश्चात्य देशों में विवाह आवश्यक धार्मिक संस्कार नहीं माना जाता, वह केवल जनसंख्या की पूर्ति (Replenish) करने का साधन माना जाता है। इसलिए उन देशों में अविवाहितों तथा विलम्ब विवाहितों की संख्या बहुत अधिक रहती। इङ्गलैण्ड में ३/५ या २/३ स्त्री पुरुष अविवाहित और केवल १/३ विवाहित होते हैं। हिन्दुओं में विधवा विवाह निषेध का परिणाम विधवाओं की संख्या बढ़ने में होता है। विलम्ब विवाह और विधवा विवाह के कारण पाश्चात्य देशों में विधवाओं की संख्या बहुत कम मिलती है। नीचे इङ्गलैण्ड और भारत में प्रतिसहस्र स्त्रियों में वयानुसार विधवाओं का प्रमाण दिया जाता है।

विधवा प्रमाण सारणी (१०००)

वय-वर्ष	भारत	वय-वर्ष	इङ्गलैण्ड
सकल संख्या	१५४·८	सकल संख्या	७३·२
०—५	१·१	०—५	०
५—१०	४·८	५—१०	०
१०—१५	९·७	१०—१५	०
१५—२०	३३ ५	१५—२०	०
२०—४०	१३४·५	२०—२५	१·५
४०—६०	५०७·१	२५—३५	१३·१
६० और अधिक	८०२·३	३५—४५	५० ५
		६५ और अधिक	५६६·९

विवाह अनुपात का आर्थिक स्थिति, रहन सहन और गतकालीन जन्मानुपात से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अ र्थिक स्थिति अच्छी होने पर, रहन-सहन सादी और अल्पव्ययी होने पर तथा भूतकालीन जन्मानुपात अधिक होने पर विवाह बढ़ते हैं और उससे विपरीत स्थिति होने पर घटते हैं। किसानों में जिस साल फसल अच्छी होती है उस साल अधिक विवाह होते है। धनी लोग बहुव्ययी रहन-सहन के कारण तथा विवाह के पश्चात् उससे अधिक व्यय करके शान से रहने की आकांक्षा रखने के कारण जल्दी विवाह नहीं करते। गरीब अल्पव्ययी रहन-सहन के कारण जल्दी विवाह करने के लिए तयार रहते हैं।

अवन्ध्यता, फलवत्ता और परिणामी फलवत्ता—स्त्रियों की गर्भधारण-योग्यता को अवन्ध्यता (Fecundity) कहते हैं। यह योग्यता स्तन गुह्यांग, मासिक धर्म इत्यादि द्वारा प्रदर्शित होती है। फलवत्ता(Fertility) प्रजोत्पादन की संख्या को कहते हैं। प्रथम गुणवाची है और द्वितीय कर्मवाची है और उसमें कर्मसंख्या का भी समावेश होता है। औसत फलवत्ता (Avarage fertility) उस भागफल को कहते हैं जो कुल विवाहितो (पति पत्नी) की संख्या से उनसे हुए बालकों की संख्या को भाग देने से आता है—

$$\frac{\text{जन्मसंख्या}}{\text{विवाहसंख्या}} = \text{प्रतिविवाह औसत फलवत्ता}$$

स्त्रियों में अधिक से अधिक फलवत्ता १७–१९ वर्ष की अवस्था में .होती है। उसके पश्चात् वह धीरे-धीरे घटती जाती है। डा० डङ्कन ने यह बताया है कि १५–१९ के बीच में विवाहित होनेवाली स्त्रियों की औसत फलवत्ता ९·१२ होती है और ३०–३४ के बीच में विवाहित होनेवाली स्त्रियों में केवल ४·५ रह जाती है। फलवत्ता की घट होने के कारण विलम्बविवाह जननिरोध (पृष्ठ ५९०) में सहायता करता है। गर्भधारण का कार्य जल्दी प्रारम्भ होने से उस काल की उत्तर मर्यादा (अर्थात् रजोनिवृत्ति) भी कम हो जाती है। प्रत्येक पतिपत्नी से जितनी प्रजा उत्पन्न होती है उतनी बचती नहीं। इसलिए प्रति सौ जोड़ों के पीछे जितनी प्रजा बचती है उसको परिणामी (Effective) फलवत्ता कहते हैं।

आयुर्मान विवरण

इसमें किसी नगर, प्रान्त या देश के निवासियों की औसत आयु कितनी होती है तथा विविध अवस्थाओं में पदार्पण किए हुए लोगों की उर्वरित आयु कितनी हो सकती है इन बातों का मुख्यतया विचार किया जाता है। औसत आयुर्ज्ञान का उपयोग देश की स्वास्थ्य विषयक परिस्थिति मालूम करने के लिए और उर्वरित आयुर्ज्ञान का उपयोग बीमा कम्पनियों को बीमा धन की किस्तबन्दी करने के लिए होता है।

आदर्श औसत आयु वही कही जा सकती है जो किसी स्थान के एक दिन में जन्मे हुए अधिक से अधिक निवासियों की उन सबों का देहावसान होने के काल तक प्रतिवर्ष मरनेवालों और बचनेवालों की संख्या पर अधिष्ठित होती है। परन्तु यह असम्भव सी बात है। इसलिए पिछली जनसंख्या से प्राप्त लिङ्गवयानुसार मरणानुपात (विशेषकमरणानुपात पृष्ठ ५९२) के आधार पर लोगों की औसत आयु निकाली जाती है। यह पद्धति कुछ सदोष होती है क्योंकि इसमें यह माना जाता है कि भूतकालिक मरणानुपात के अनुसार भविष्य में भी मरणानुपात जारी रहेगा।

यदि दशवार्षिक जनसंख्या के आधार पर अवस्था के अनुसार बचनेवाले लोगों की सारणी (पृष्ठ ५९३) बनायी जाय तो उसको आयुर्मान सारणी (Lifetable) कहते हैं। नीचे संसार के सब प्रमुख देशों के लोगों की आयुर्मान सारणी दी जाती है। इस सारणी से यह स्पष्ट होगा कि संसार में भारतियों की औसत आयु सबसे कम है और इसका मुख्य कारण बालमृत्यु (पृष्ठ ५९६) है।

जन्मकालीन औसत आयुर्मान सारणी

(Expectation of life at birth)

देश	वर्ष	पुरुष	स्त्री
स्वीडन	१९४१–४५	६७·०६	६९·७१
इंगण्लैंड वेल्स	१९४८	६६·३९	७१·१५
आस्ट्रेलिया	१९४६–४८	६६·०७	७०·६३
डेन्मार्क	१९४१–४५	६५·६२	६७·७०
न्यूजीलैण्ड	१९३४–३८	६५·४६	६८·४५
कनाडा	१९४७	६५·१८	६९·०५
स्विटजरलैण्ड	१९३९–४४	६२·६८	६६ ९६
फ्रांस	१९४६–४८	६२·५०	६८·००
अमेरिका	१९३९-४१	६१·६०	६५·८९
नार्वे	१९२२–३१	६०·९८	६३·८४
जर्मनी	१९३२–३४	५९·८६	६२·८१
आयर्लैण्ड	१९४०–४२	५९·०१	६१·०२
जापान	१९४९–५०	५६·१९	५९·६१
बेलजियम	१९२८–३२	५६·०२	५९·७९
हंगेरी	१९४१	५४·९२	५८·२२
फिन्लैण्ड	१९४१–४५	५४·६२·	६१·१४
आस्ट्रिया	१९३०–३३	५४·४७	५८·५३
इटली	१९३०–३२	५३·७६	५६ ००
रशिया (युरूप)	१९२६–२७	४१·९३	४६·७९
भारत	१९२१–३१	२६·९१	२६·५६





अकारादि विषय-सूची

ख

ग

हिन्दी-अँग्रेजी शब्दकोश

अक्षांश Latitude
अग्न्याशय Pancreas
अग्रहणशील Insusceptible
अंकुश कृमि Hook worm
अंकुशकृमि रुग्णता Ancylostomiases
अंगघात Paralysis
अगारक्षत Anthrax
अंगाराल Coaltar
अंगारवात Coal gas
अजीवाति Azote
अजन Antimony
अण्डा Ova or egg
अण्डापूप Omelet
अतीवजनाकीर्णता Over crowding
अतीसार Dysentery
,, दण्डाण्वीय ,, Bacillary
,, आम ,, Amoebic
अधस्तल Hypostatic
अधिचर्म Epidermis
अधिच्छद Epithelium
अधिचूषण Adsorption
अधिसूचना Notification
अननुज्ञप्त Unliscenced
अनभिपुत Unfermented
अनिलमापक Anemometer
अनीर Aneroid
अनुज्ञप्त Liscenced
अनुज्ञप्ति Liscence
अनुपान Beverage
अनुष्ण कटिबन्ध Subtropical
अनुषंगी Concurrent
अनुसंधान Investigation
अनुस्थली Subsoil
अनूर्जता Allergy
अनूर्जिक Allergic
अनोपसर्गिक Noninfectious
अन्तर्विषता Intoxication
अन्तःकिण्व Enzyme
अन्तःकोष्ठित Encysted
अन्तःपथ Inlet
अन्तरावहन Perflation
अन्तःशल्यता Enbolism
अन्तर्रोपण Inoculation
अपक्षालक Detergent
अपचार Delinquency
अपतन्त्रक Hysteria
अपस्मार Epilepsy
अपतानक Tetanus
अपरा Placenta
अप्रवेश्य Impervious
अभिक्षमता Premunity
अभिलेख Record
अभिषवण Fermentation
अभिपुत Fermented
अभ्यागतिक Exotic
अभ्रक Mica

असैथुनी Asexual
अम्लोत्कर्ष Acidosis
अयस Iron
अर्जित Acquired
अर्श Piles
अलग्नकरण Isolation
अलर्क Rabies
अल्पमनस्कता Oligophrenia
अवटुका Thyroid
अवमिश्रण Dilution
अवलोकन Observation
अवश्यायांक Dew Point
अवसाद Sediment,deposit
अवसाद Sedimentation
अवस्कर Refuse
अवस्करण Scavenging
अविलेय Insoluble
अंश Degree
अस्थिमृदुता Osteomalacia
अस्थिवक्रता Rickets

आ

आकाशवाणी Radio
आक्लिन्न Humid
आक्लेद Humidity
आगगाडी Railway Train
आगणन Estimation
आचूषण Aspiration
आढक Gallon
आतप उद्वेष्टन Heat cramps
आतप ज्वर Heat fever
आतपमूर्च्छा Heat apoplexy
आतप विषण्णता Heat exhaustion
आतिथेय Host
आतुरालय Hospital
आत्मकामुक Auto erotic
आत्मान्तर्विषता Autointoxication
आन्तरीक्ष जल Rain water
आन्तरीक्षिकी Meteorology
आन्त्रिक Enteric Typhoid
आप्रवासन Immigration
आप्रवासी Immigrant
आम Crude
आमरूपी Amoeba
आमातिसार Amoebic dysentery
आरक्षी Police
आर्द्रता Moisture
आवरण Membrane
आवर्तुलि Globulin
आश्लेप Gluten
आस्राति osmosis

इ

इल्ली Larva

उ

उडनशील Volatile
उच्छिष्टांग Garbage
उत्पत Volatile
उत्कट Dominant
उत्प्रवासन Emigration
उत्प्रवासी Emigrant
उदर्द Urticaria
उदश्यामिक Hydrocyanic
उदांगार Hydrocarbon

उद्धावन Flushing
उद्बाष्प Vapour
उद्बाष्पन Evaporation
उद्भेद Outburst
उद्वर्तन Anabolism
उद्वेष्टन Cramps
उन्दग्राही Hygroscopic
उन्दमापक Hygrometer
उपजाऊ Fertile
उपजुष्ट Infested
उपदंश Soft chancre
उपसर्ग Infection
उपसर्गी Infective
उपसर्गज ,,
उपसर्गकाल ,, Period
उपसर्ग नाशक Disinfectant
उपसर्गनाशन Disinfection
उपसर्गान्तर Cross-infection
उपसृष्ट Infected
उष Calory
उषंकरी Calorific

ऊ

ऊरुस्तम्भ Spastic paraplegia
ऊर्जा Energy
ऊष्ण कटिबंध Tropics
ऊष्ण कटिबन्धज Tropical

ऋ

ऋतु Season
ऋण Negative

ए

एकक Unit
एकशर्करेय Monosaccharide
एकपदिक Sporadic

ओ

ओला Hail stones
ओस Dew

औ

औपसर्गिक Infectious
औपसर्गियता Infectivity

क

कचकृमि Trichina
कचकृमिरुग्णता Trichiniasis
कटिबन्ध Zone
कठिनता Hardness
कर्णक्ष्वेड Tinnitus aurium
कण्ठगालुक Adenoids
कर्कट Cancer
कर्णफेड Mumps
कर्दम Gangrene
कर्बूर ज्वर Spotted fever
कलायखञ्जता Lathyrism
कला Minute, membrane
कसौटी Test
कापालिक Cephalic
कामला Jaundice
कायाणु रस Cytoplasm
काल ज्वर Kala-azar
कालिक Chronic
किण्व Ferment
किलनी Tick
किलनीवह Tick borne
किलाट Cheese

किलाटि Casein
किलाटिजन Casenogen
कीटक Insect
कीटघ्न, कीटकनाशक Insectecide
कीटाणु Protozoa
कुकुरखांसी Whooping cough
कुचला Nux Vomica
कुटकी Mite
कुटकीवह Mite borne
कुप्पा Pupa
कुलज Heredatory
कुलजता Heredity
कुष्ठ Leprosy
कुष्ठाश्रम Leprosarium
कुहरा Fog
कूडाकचरा Refuse
कूप्यन्नता Botulism
कूर्च Brush
कूर्चकि Penicillin
कृत्रिम Artificial
कृमि Worm
कृमिदन्त Caries tooth
केकड़ा Crab
केंचुआ Round Worm
केन्द्र Centre
केन्द्रापसर Centrifugal
केन्द्राभिसर Centripetal
कोथ Gangrene
कोशा Cell
कोशान्तर्य Intracellular
कोशाघु Cellulose
कोष्ठ Cyst
क्षम Immune
क्षमता Immunity
क्षमताजनन Immunization
क्ष-रश्मि X-rays
क्षार Alkali
क्षारातु Sodium
क्षाराभ Alkaloid
क्षारीय Alkaline
क्षिप्रकारित Activated
क्षुल्लक Spore
क्षुल्लकोद्वह Spore bearing

ख

खनिज Mineral
खपडा (खर्पर) Tile
खराद Lathe
खसरा Measles
खात Trench
खातपूरण Trenching

ग

गन्त्र Engine
गंधक Sulphur
गन्ना Sugarcane
गरमी Heat, Syphilis
गर्दनतोड़ बुखार Cerebro-spinal fever
गर्भनिरोधन Contraception
गर्भशातन Abortion
गलक्षत Sore throat
गलगण्ड Goitre
गलफड़ा Gills

गव्य Bovine
गिरणी Mill
गोलाणु Coccus
ग्रसनिका Pharynx
ग्रहणशील Susceptible

घ

घनता Density
घर्मराजिका Prickly heat
घ० मि० मा० C M.
घोंघा Oyster

च

चक्राणु Spirillum
चक्रः िटाणु Spirochaeta
चक्रवात Cyclone
चक्राक्ष Cyclops
चलचित्र Cinema
चालिसा Quarantine
चिरकालीन Chronic
चीनी मिट्टी China clay
चूर्णातु Calcium
चूषक Sucker

ज

जनसंबाधता Crowding
जनसङ्कीर्णता ,,
जनाकीर्णता ,,
जन्मोत्तर Postnatal
जम्बुकी Iodine
जरठता Sclerosis
जलपिस्सू Water flea
जलसी Hydrophobia
जलमृद् Permutit
जलवायु Climate
जलवायुसात्म्य Acclimatization
जलसन्त्रास Hydrophobia
जवी Oat
जसद् Zinc
जाति Species
जानपदिक Epidemic
जारक Oxygen
जारण Oxidation
जीर्ण Chronic
जीवतिक्ति Vitamin
जीवाणु Micro-organism
जूँ Louse
जूडी बुखार Malaria
ज्यावर्तना Geotropism

झ

झिंगा Lobster

ट

टीका Inoculation

त

तन्तु Fiber
तन्त्वि Fibrin
तत्व Element
तन्द्रिक Typhus
तलछट Deposit
ताप Temparature
तापमापक Thermometer
ताल तेल Palm oil
तिक्ताति Ammonia

तिक्ती अम्ल Amino acid
तिर्यक् पातन Distillation
तुण्डिकाएँ Tonsills
तृणाणु Bacteria
तृणाणुभक्ष Bacteriophage
तेजोद्गार Radio active
तैलपर्ण तैल Terpentine
त्वग्ग्राह Pellagra

द

दण्डाणु Bacillus
दण्डाणवीय Bacillary
दलदल Marsh
दलदल वायु Marsh gas
दुग्धमापक Lactometer
दुग्धिक Lactic
दुर्गन्धहर Deodorant
देशना Index
देशप्रकृति Climate
दैनदिन Diurnal
दोषहर Antiseptic
द्रोणी Trough
द्विजारेय Dioxide
द्विशर्करेय Disaccharide

ध

धनुर्वात Tatanus
धमनी Artery
धरातली Terestrial
धान्य Gram
धुंध, धुंधर Mist
धूपन Fumigation
धूम Fumes
धूमनी Chimney
धूम्रजतु Asphalt

न

नगरपालिका Muncipality
नलिका कूप Tubewell
नलिका दीप Tubelight
नाडी Nerve
नाडी फिरंग Neurosyphilis
नाडी शोथ Neuritis
नाडयवसन्नता Neurasthenia
नाहरवा Guinea worm
निता(था)रक Filter
निदान Diagnosis
निद्राचार Somnambulism
निपीड Pressure
निरीक्षण Inspection
निरीक्षक Inspector
निरीन्द्रिय Inorganic
निरोधक Quarantine
निर्झर Springs
निर्बुद्धता Idiocy
निर्व्यूह Extractives
निषिक्त Impregnated
निस्साद Deposit, Precipitate
निःसार Skimmed
निःस्तुष Decorticated
निस्यन्दक Filter
निस्यन्दन Filteration
निस्यन्द Filtrate
निस्यन्दनशील Filtrable
नीरजी Chlorine

नीरजित Chlorinated
नीरेय Chloride
नीलगिरीतैल Eucalyptus Oil
नीललोहित Violet
नीललोहितातीत Ultra violet
नेत्राभिष्यन्द Opthalmia
नैदानिकी Clinic
न्यष्टि Nucleus
न्यून बुद्धिता Imbecility

प

पनीर Cheese
परिरक्षण Preservation
परिचारक Nurse
परोपजीवी Parasite
परोसिया Waiter
पर्यावरण Environment
पलितमज्जाशोथ Poliomyelitis
पशुप्रियता Zoophilism
पागल Rabid Insane
पागलपन Insanity
पाच्यता Digestibility
पाटन Dumping
पाटस्थली Madesoil
पार प्रवीजन Cross Ventilation
पारभास Tanslucent
पारान्ध Opaque
पाला Frost
पाश Trap
पित्तमसूरी Bilivaccine
पिसान Flour
पिस्सू Flea
पिस्सूवह Flea borne
पीतज्वर Yellow fever
पुनरावर्तन Relapse
पुनरावर्तक ज्वर Relapsing fever
पुरुषत्व Personality
पूत्युपजीवी Saprophytic
पूयजनक Pyogenic
पूयदन्त Pyorrhoea
पूर्वसर Precursor
पूर्वघनास्रि Prothormbin
प्रचूषण Absorption
प्रजारक Ozone
प्रजारण Ozonization
प्रतिकारता Resistance
प्रतिचक्रवात Anticyclone
प्रतिबन्धन Prevention
प्रतिबन्धनक्षम Preventable
प्रतियोगी Antibody
प्रतिशीताद Antiscorbutic
प्रतिषेध Prevention
प्रतिलम्बन Emulsion
प्रत्यावृत्ति Recrudescenee
प्रत्यालर्क Antirabic
प्रमात्रा Quantum
प्रमाप Standard
प्रमृष्ट Polished
प्रवात Winds
प्रवाहिका Diarrhoea
प्रवीजन Ventilation
प्रशीताद Scurvy
प्रशीतन Refrigeration
प्रशीतक Refrigerator
प्रसमूहन Agglutination

प्रसारक Vector
प्रस्थ Litre
प्रांगार Carbon
प्रांगारिक Carbonic
प्रांगविक Carbolic
प्रांगोदीय Carbohydrate
प्राजननिकी Eugenics
प्राणवायु Oxygen
प्राणशक्ति Vitality
प्राणिपदिक Epizootic
प्रास्रवणजल Upland water
प्रेरणविधि Plenum system
प्रोभूजिन Proteins
प्लीहा Spleen

फ

फिटकरी Alum
फिरंग Syphilis
फुफ्फुसपाक Pneumonia
फुहारा Spray
फुहारी कूप Artesian well
फौफ्फुसिक Pulmonory

ब

बहुशर्करेय Polysaccharide
बाष्प Steam
बाष्पित्र Boiler
बिन्दूत्क्षेपोपसर्ग Droplet infection

भ

भारमापक Barometer
भास्वर Phosphorus
भास्वीय Phosphate
भिन्नमनस्कता Schizophrenia
भुजिया Perboiled
भूयनकर Nitrifying
भूयाति Nitrogen
भूयात्य Nitrogenous
भूयिक Nitric
भूराल Lava
भूसी Chaff
भौगोलिकप्रविभाग Geographical distribution
भ्राजातु Magnesium
भ्रूण Embryo

म

मण्ड Starch
मधुम Glucose
मधुमेह Diabetes melitus
मधुजन Glycogen
मधुरी Glycerine
मध्यम Average
मनश्चिकित्सा Psychotherapy
मनः शारीरिक Psychosomatic
मनोमस्तिष्क रूग्णता Psychoneurosis
मनो रूग्णता Psychosis
मनोविज्ञान Psychology
मनोवैकल्य Mental deficiency
मन्दाति Argon
मरक Epidemic
मरक विज्ञान Epidemiology
मलिनोदक Sullage
मलोदक Sewage
मसूरिका Small Pox
मसूरिका Variole
मसूरिकाक्षरण Variolation

मसूरीकरण Vaccination
मसूरीलस Vaccine Lymph
मस्तु Whey
महामारी Epidemic
मस्तिष्कसुषुम्ना ज्वर Cerebrospinal
मानवप्रियता Anthropophilism
मानवीकृत Humanised
मानवोचित "
मानसिक Mental
मायादीप Magic lantern
मारक Malignant
मारात्मक "
मांस रस Muscle plasma
मिह Urea
मिहकी Purin
मिहिक अम्ल Uric acid
मैथुनी Sexuxl
मैदा Whiteflour

य

यकृत् Liver
यकृदाल्युदर Cirrhosis
यकृच्छोथ Hepatitis
यक्ष्मि Tuberculin
यव्य Malt
यव्यधु Maltose
यव्यित Mated
यूका Louse
यूकावह Louse borne

र

रक्तक्षय Anaemia
रक्तष्ठीवन Hemoptysis
रंगान्धता Colour blindness
रतिजन्य Venereal
रदनिनः Rodents
रन्धन Cooking
रश्मि Rays
रसकपूर Hg perchlor
रागक Pigment
रुक्छत्रक Ergot
रुधिरकायाणु Erythrocyte
रेखांश Longitude
रोगाणु Pathogenic germs
रोगाणुनाशन Disinfection
रोगनिवृत्त Convalscent
रोमान्तिका Measles
रोहिणी Diphtheria

ल

लवण Salt
लस Lymph
लसिका Serum
लोहक Manganese
लोहकित Manganate
लोहमार्ग Railway
लोहित ज्वर Scarlet fever

व

वक्राणु Vibrio
वत्सातंच Rennet
वन्ध्यकरण Sterilization
वर्गीकरण Classification
वम्रसुव्युद Formaldehyde
वम्रि Formalin
वर्णसूत्र Chromosomes

वातपी Aerobe
वातबलासक Beri-Beri
वातभी Anaerobe
वातरक्त Gout
वातवेश्म Caisson disease
वातावरण Atmosphore
वातानुकूलन Air conditioning
वातायन Ventilator
वातेरण Aeration
वातेरित Aerated
वाय्वन्तः शल्यता Air embolism
वालुमक्षिका Sand fly
वाहक Carrier
वाहकता Carrier state
विकिरण Radiation
किकिरणज Radient
विक्षार Soda
विनियोग Disposal
विलयन Solution
विलेय Soluble
विलेयक Solvent
विलेयता Solubility
विष Toxin
विषम ज्वर Malaria
विषाभ Toxoid
विषाणु Virus
विषुववृत्त Equator
विसूचिका Cholera
विस्फोटक Eruptive
वृक्क Kidney
वृक्कशोथ Nephritis
वृन्द Herd
वेश्म Chamber
वैदलवर्ग Pulses
वैयक्तिक Individual
व्यक्तित्व Individuality
व्यवायक Gamete
व्यवायकायाणु Gametocyte
व्याधिक्षमता Immunity
व्यूहाणु Molecule
व्रण Ulcer

श

शाकाम्ल Vegetable acids
शिम्बी Legume
शुक्लि Albumin
शुक्ल्याभ Albuminous
शुल्वारी Sulphur
शूक Cereals
शून्यक Vacuum
शैलपर्वत ज्वर Rocky mountain fever
शैशवीय Infantile
शोणितातिपित्तता Hemophilia
शोफ Oedema
शौचकोष्ठ Commode
शौचकुण्ड Closet
श्यामजन Cynogen
श्लिषि Gelatin
श्लीपद Filaria
श्वासशृङ्ग Breathing trumpet
श्वित्र Leucoderma

स

सक्रिय Active
संक्रमण Transmission

संक्रामक Infectious
संखाद Compost
संखिया Arsenic
संघटक Componant
संघटन Composition
संघनन Condensation
संघटित Condensed
संचयकाल Incubation peri od
संचायी Cumulative
संचयाधार Reservoir
सं लित Balanced
संनिवृत्त Convalscent
संपीडक Compressor
समभाररेखाएँ Isobars
समशीतोष्ण Temparate
समवर्त Metabolism
संवर्धन Culture
संस्पर्श Contact
संसर्ग „
संस्थान System
सहज Congenital
सहभोजी Commensals
सहवासी „
सहिष्णुता Toleration
साधित्र Apparatus
सार्वपदिक Pandemic
सांगिक Contagious
सांस्पर्शिक „
सीपमछली Shell-fish
सीसविषता Plumbism
सुखावसान Euthanasia
सुषव Spirit
सुषुम्ना Spinal column
सूक्ष्मदर्शक Microscope
सूक्ष्मदर्शकातीत Ultramicroscopic
सूक्ष्मश्लीपदी Microfilaria
सूत्र कृमि Thread worm
सूर्यातपदग्ध Sunstroke
सूर्यरश्मि चिकित्सा Heliotherapy
सेन्द्रिय Organic
सोजाख Gonorrhoea
सौर Solar
सौरागार Solarium
स्थली Soil
स्थानपदिक Endemic
स्थानक Station
स्नायुक कृमि Guinea worm
स्नेह Fat
स्नेह विलेय Fatsoluble
स्निग्ध Fatty
स्फटिक Crystal
स्फीत कृमि Tapeworm
स्वयमभिलेखी Selfrecording

ह

हड्डीतोड बुखार Dengue fever
हीनता Deficieney
हीनान्न रोग Deficiency diseases

—ooXoo—

लेखक के अन्य ग्रन्थ—

(१) रक्त के रोग—रक्तरोग की इस द्वितीय आवृत्ति में प्रथम आवृत्ति के संपूर्ण विषयों का पूर्ण संशोधन किया गया है, अनेक विषयों का संवर्धन किया गया है, अनेक विषयों का रूपान्तरण किया गया है तथा अनेक नये विषय समाविष्ट किये हैं। इससे ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या पहले से ड्योढ़ी हो गयी है।

इसके प्रथम अध्याय में रक्त के उत्पत्ति-स्थिति-विनाश के सम्बन्ध में जो भी ज्ञातव्य बातें होती हैं वे सब सविस्तर वर्णन की गयी हैं। दूसरे अध्याय में विविध रोगों के कारण रक्त में जो अनेक परिवर्तन हुआ करते हैं उनका साङ्गोपाङ्ग और सोपपत्तिक विवरण भौतिक, रासायनिक और काय्राण्विकीय करके तीन स्वतन्त्र प्रकरणों में किया है। इसलिए यह अध्याय रक्त रोगों की दृष्टि से जितना महत्व का है उतना ही रक्तेतर अन्य संस्थानों के रोगों की दृष्टि से महत्व रखता है। तृतीय अध्याय में हैतुकी, सम्प्राप्ति, शारीरिक विकृति निदान, वर्गीकरण, साध्यासाध्यता, पूर्वविधानता, तथा चिकित्सा इनकी दृष्टि से रक्त के संपूर्ण रोगों का तथा रक्तसम्बन्धित अन्य रोगों का समष्टिरूप से वैश्लेषिक विहंगावलोकन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में रक्त, प्लीहा, लसग्रन्थियों के रोगों का तथा रक्तक्षयकर अन्य विकारों का एक-एक करके स्वतन्त्रतया वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आयुर्वेद संहिताओं में ग्रन्थान्तर्गत विविध विषयों के सम्बन्ध में जो भी ज्ञातव्य बातें पायी जाती हैं उनको यथास्थान पादटिप्पणियों में निर्दिष्ट करके साथ साथ उनका स्पष्टीकरण और तौलनिक विवरण किया गया है। संक्षेप में रक्त तथा रक्त रोगों के सम्बन्ध में प्राचीन एवं अर्वाचीन व्याधितत्वपरिज्ञान विद्यार्थियों और चिकित्सकों के सामने रख कर ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। इसलिए इस एक ग्रन्थ के परिशीलन से अनेक अंग्रेजी तथा संस्कृत ग्रन्थों के पढ़ने का फल प्राप्त होता है। पृष्ठ संख्या ८०० से ऊपर। मूल्य १०)

(२) सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान—यह प्रथमावृत्ति का पुनर्मुद्रण न होकर संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण है। इसकी प्रथमावृत्ति २५ वर्ष पहले लिखी गई थी। अतः उसमें अनेक दोष आ गये थे, अनेक विषय अपूर्ण रह गये थे, तथा अनेक सम्बन्धित विषय छूट गये थे। इस संस्करण में वे सब दोष दूर कि गये हैं, अपूर्ण विषय पूर्ण किये गये हैं सम्बन्धित अनेक नवीन विषय समाविष्ट किये गये हैं तथा काश्यपसंहिता, चक्रपाणि की भानुमती टीका इत्यादि नवीन प्रकाशित ग्रन्थों का पूर्ण उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त पुरानी आवृत्ति के अक्षर अक्षर का संशोधन किया गया है। इससे इस संस्करण में सौ से अधिक पृष्ठ बढ़ गये हैं और ग्रन्थ बिलकुल नया बन गया है। अब यह संस्करण संशोधत परिवर्धित नई तुलनात्मक टीका के कारण सुश्रुत संहिता का सूत्रस्थान नहीं रहा है, अपितु आयुर्वेद के सर्व साधारण परिचय तथा मूलभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से एक स्वतन्त्र प्रमाणभूत ग्रन्थ बन गया है। इस कारण से प्रथम आवृत्ति में इसके साथ जो निदान स्थान रहा वह इस संस्करण में निकाल दिया गया है। बढ़िया कागज पर सुन्दर मुद्रण। सुपर रायल पृष्ठ ४५०   मूल्य ९)

(३) सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान—यह भी प्रथमावृत्ति का पुनर्मुद्रण न होकर संशोधित द्वितीय संस्करण है। सुश्रुत शारीर की श्रेष्ठता केवल इसी के पढ़ने से मालूम हो सकती है।   मूल्य ८)

(4) Comparative Survey of Aurvedic Nosology This book is divided into three parts, The first part gives some important imformation about the origin aquisitions and utility of Aurveda, as well as its appreciation by master minds of the West. I have also given my own view on the comparative study of the two sciences. The second part deals with the subject proper and compares the Aurvedic science of diseases with the Western science in etiology, pathology, symptomology, diagnosis, prognosis and treatmant The third part gives original references to Aurvedic as well as other sanskrit works.

This book is written with a view to prove the scientific nature of Ayurveda by comparing it with the most developed and scientific western medicine. No attempt is therefore, made to appeal to sentiment in perferance to scientific reasoning as is generally done It is hoped that it will serve the purpose for which it is written and help in disseminating the correct knowledge of Ayurveda मूल्य १)

(५) जीवाणु विज्ञान—इस ग्रन्थ में उपसर्गकारी तृणाणु (Bacteria) कीटाणु (Protozoa) विषाणु (virus) इनका विस्तृत विवरण, उनके प्रकार, उनसे उत्पन्न होनेवाले विविध औपसर्गिक रोग उनकी सम्प्राप्ति निदान तथा चिकित्सा इत्यादि विषय वर्णित हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भमें आयुर्वेदोक्त जीवाणु विज्ञान पर स्वतन्त्र प्रकरण दिया है और ग्रन्थके भीतर विषयानुरूप आयुर्वेद की दृष्टि से तुलनात्मक टिप्पणियां दी गई हैं। पृष्ठ ९०० तृतीयावृत्ति। मूल्य १०)

(6) Aurvedic conception about urine formation in the human body—This small pamphlet describes in detail Aurvedic Conception of urine formation and explains the pathology of certain diseases founded on that conception with original quotations. मूल्य ≈)

(७) औपसर्गिक रोग प्रथम भाग तृ० आवृत्ति—इस आवृत्ति में द्वितीयावृत्ति का पूर्ण संशोधन किया गया है, शुल्वौषधियों (Sulphadrugs) और प्रतिजीवी औषधियों (Antibiotics) के ऊपर स्वतन्त्र प्रकरण दिये हैं। कुछ नये रोग समाविष्ट किए गये हैं, पुराने रोगोंका विस्तार किया गया है, ज्वर, कृमि, कीटाणु, तृणाणु इनके चित्र दिये गये हैं, विषय सूची अधिक विस्तृत की गई है और पारिभाषिक शब्दोंके अवबोधन में सरलता प्राप्त होने की दृष्टि से अंगरेजी-हिन्दीके स्थान में हिन्दी अंग्रेजी शब्दकोष दिया गया है ! इन सब संशोधनों और परिवर्तनों के कारण इस आवृत्ति में ग्रन्थ का कायाकल्प होकर उसमें दो सौ पृष्ठ बढ़ गये हैं। पृष्ठसंख्या ७५० मूल्य १०)

(८) औपसर्गिक रोग द्वि० भाग द्वितीयावृत्ति—इस आवृत्ति में प्रथमावृत्ति का अद्ययावत् संशोधन किया गया है रोगों का क्रम संस्थानों के अनुसार (जैसे त्वग्विकारी, ज्वरकारी, श्वसनसंस्थान, पचनसंस्थान, इत्यादि) बदल दिया है, अनेक नये रोग समाविष्ट किये हैं, प्रथम आवृत्ति के विषयों तथा रोगों का विवरण तथा प्रतिपादन बहुत अधिक विस्तार के साथ किया गया है, अन्त में विषय सूची और हिन्दी अंग्रेजी शब्दकोष दिया है। इन सब विशेषताओं के कारण ग्रन्थ का पूर्ण कायाकल्प हो गया है। पृष्ठ ७०० से ऊपर मूल्य १०)

(९) आयुर्वेद शिक्षा पर कुछ विचार—इस पुस्तिका के प्रथमार्ध में आयुर्वेद की कोणशिलाओं का अर्थात् आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों का विवरण है। उत्तरार्ध में आयुर्वेद की सफलता की दृष्टि से विद्यार्थियों तथा वैद्यों में जिन गुणों की आवश्यकता होती है उसका विवरण दिया है। मूल्य ।)

(१०) हाथी मरा भी तो नौ लाख का—इस पुस्तिका में चिकित्स्य पुरुष शारीर, रोग और रोगी, वैद्यकीय परीक्षा, रोगक्रम, रोगहेतु, जीवाणुवाद, क्षेत्रप्राधान्यवाद, व्याधिक्षमता, रोगप्रतिबन्ध, बी० सी० जी०, यक्ष्माहेतु, औषधिय इत्यादि विषयों में आयुर्वेद और एलोपाथी की तुलना करके इस अवनत दशा में भी आयुर्वेद के सिद्धांतों की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है मूल्य ।)

(११) मूत्र के रोग—इसमें मूत्रण संस्थान का स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर, कार्यविज्ञान, वृक्ककार्यक्षमता की (Kidney function) कसौटियाँ, मूत्रपरीक्षण, विविध प्रमेह, वृक्क के रोग, रक्तनिपीड (Blood pressure), मधुमेह उदकमेह इत्यादि मूत्र के सम्पूर्ण रोगों का सविस्तर वर्णन किया गया है। स्थान-स्थान पर चित्र तथा आयुर्वेद की दृष्टि से तुलनात्मक पाद-टिप्पणियाँ दी गयी हैं। विषय सूची और हिन्द-अंग्रेजी शब्दकोश भी दिया गया है। पृष्ठ ६०० मूल्य ६)

प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१